तुलसीदास

(एक समालोचनात्मक अध्ययन)

प्रयाग-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत
अंग्रेज़ी 'थीसिस' का हिन्दी रूपांतर

लेखक
माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, डी० लिट्०
लेक्चरर हिन्दी विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय

१९४२
प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद्
प्रयाग

प्रथम संस्करण, मई सन् १९४२

५०० प्रतियाँ

मूल्य ६)

मुद्रक : श्रीगिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,

हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग

पूजनीया माता
श्रीमती यशोदा देवी
तथा
पूज्य पिता
श्रीमान् मोहनलाल
के
श्री चरणों में

प्रस्तावना

ग्यारह वर्ष से अधिक हुए, फर्वरी सन् १९३१ में मैं ने तुलसीदास की रचनाओं के काल-क्रम का एक प्रारंभिक अनुसंधान प्रयाग विश्वविद्यालय की एम्० ए० परीक्षा के लिए कवि का अध्ययन करते हुए किया था, तभी मुझे यह प्रतीत हुआ था कि तुलसीदास का अध्ययन कदाचित् मैं डॉक्टर की उपाधि के लिए विषय के रूप में ले सकता हूँ। अवकाश मिलने पर काल-क्रम संबंधी अपना यह अध्ययन मैं ने और पूर्ण किया और तदनंतर उस को एक निबंध के रूप मे लिख कर श्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा को दिखाया, जिन्हों ने उसे प्रकाशन के योग्य समझ कर 'हिंदुस्तानी' में भेज दिया। निबंध उक्त पत्रिका की जनवरी तथा अप्रैल सन् १९३२ की संख्याओं मे प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष श्रद्धेय डॉक्टर साहब की प्रेरणा से मैं ने हिंदुस्तानी अकैडेमी के तत्वावधान में होने वाली प्रथम कान्फ्रेंस के सामने "मूल गोसाईं चरित की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार" शीर्षक एक निबंध पढ़ा जो 'हिंदुस्तानी' की जुलाई सन् १९३२ की संख्या मे प्रकाशित हुआ। अपने इन दोनों ही निबंधों की कुछ प्रतियाँ सम्मति के लिए मैं ने देश-विदेश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो को भेजीं, और उत्तर मे प्राप्त सम्मतियो से ऐसा प्रोत्साहित हुआ कि उसी के परिणाम स्वरूप अनेक बाधाओं के निरंतर उपस्थित होने पर भी मैं अपने संकल्प से विचलित नहीं हुआ और ईश्वर की कृपा से अंत मे कृतकार्य हुआ। इस बीच सन् १९३६-३७ मे प्रयाग-विश्वविद्यालय से जो सहायता मुझे रिसर्च स्कालर-शिप के रूप में मिली कृतज्ञतापूर्वक उस का भी स्मरण करना आवश्यक होगा।

ग्यारह वर्षों के इस दीर्घकाल मे मेरे तुलसीदास के अध्ययन के चार विभिन्न प्रयास हो चुके हैं। प्रथम प्रयास कतिपय स्फुट लेखों के रूप मे विभिन्न पत्रिकाओं मे मिलता है जिन का एक संग्रह 'तुलसी-संदर्भ' नाम से स्थानीय विवेक-कार्यालय से प्रकाशित हुआ था। दूसरा प्रयाग-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि के लिए 'थीसिस' के रूप में सन् १९३७ में तैयार हुआ था। तीसरा वही संशोधित और परिवर्धित रूप में सन् १९४० में तैयार हुआ था जब मुझे

दुबारा उसे उपस्थित करना पड़ा था और जो डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। और, चौथा प्रयास प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में है। निरंतर एक के बाद एक प्रयास अधिक पूर्ण और अधिक व्यवस्थित हुआ है और मुझे सतोष है कि जिस रूप मे वह पाठकों के हाथों मे रक्खा जा रहा है वह बहुत कुछ उस का अंतिम रूप है जिस मे जल्दी परिवर्तन होने की मुझे आशा नहीं है। इस अंतिम रूप को तैयार करने मे मुझे उपाधि-प्राप्ति के बाद भी कितना परिश्रम करना पड़ा है इस का अनुमान इस बात से हो सकेगा कि इस का एक तिहाई भाग आमूल नवीन है। "कृतियों का पाठ" तथा "आध्यात्मिक विचार" शीर्षक दो अध्याय यद्यपि पिछले प्रयास मे भी थे किंतु प्रस्तुत प्रयास के लिए उन्हे पुनः लिखना पड़ा है, और "कृतियों का कालक्रम" शीर्षक अध्याय अधिकांश नए सिरे से लिखना पड़ा है। शेष अध्यायों में भी पर्याप्त नवीन सामग्री तथा नवीन उद्भावनाएँ हैं। प्रस्तुत प्रयास मे पिछले की तुलना मे एक कमी अवश्य ज्ञात होगी, वह है "मानस-रहस्य" शीर्षक एक अध्याय की। मेरा अनुमान है कि 'रामचरित मानस' की कथा का एक रहस्य-पूर्ण 'आध्यात्मिक' अर्थ भी है जो उस के 'आधिभौतिक' और 'आधिदैविक' अर्थों का पूरक है। अपने इस अनुमान को एक रूप देने का प्रयत्न मैं ने पिछले प्रयास में किया था, किन्तु इधर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ और कार्य उस दिशा में करने के उपरात ही यह अंश वास्तव में पूर्ण हो सकेगा, इस लिए प्रस्तुत प्रयास में मैं ने उसे रोक लिया है। यदि अवकाश और साधन प्राप्त हुए तो शीघ्र ही उस को भी देने का यत्न करूँगा।

दो एक बाते मुझे अपनी विवेचन-प्रणाली के सबंध में भी कहनी हैं। इस समस्त प्रयास मे सब से पहले मैं ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि मैं सत्य का अनुसंधान करूँ, और इस अनुसंधान मे मैं ने यथासभव वैज्ञानिक विधियो का अनुसरण किया है। मुझे सतोप है कि इस प्रयोग में कदाचित् मैं निरंतर वास्तविकता के अधिकाधिक निकट पहुँचता रहा हूँ क्यों कि मैं देख रहा हूँ कि मेरे इस दीर्घकालीन अध्ययन मे जो भी नई सामग्री प्रकाश में आती गई है उस ने प्रायः मेरे पूर्वकल्पित निष्कर्षों का समर्थन किया है। दूसरी बात जिस पर मैं ने बराबर ध्यान रक्खा है वह यह है कि मै इस महाकवि का स्वतंत्र अध्ययन करूँ, और उस के सबंध मे किसी प्रकार के तुलनात्मक या ऐतिहासिक विस्तार मे न जाऊँ। केवल उस के व्यक्तित्व, उस की कृतियों, उस की कला

और उस के विचारों को ठीक ठीक समझने का प्रयत्न करूँ। इस सीमित परिधि में जो कुछ मैं कर सका हूँ वह इस ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत है। महाकवि की कृतियों के साधारण पाठ के लिए 'मानस' का गीता प्रेस-संस्करण, 'सतसई' का एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल-संस्करण, तथा शेष के नागरी प्रचारिणी सभा-संस्करण मैं ने ग्रहण किए हैं।

'थीसिस' के लिखने तथा उस के प्रस्तुत रूपांतर के प्रकाशन के संबंध में जिन से मुझे सहायता मिली है उन के प्रति आभार-प्रदर्शन करना शेष है। 'थीसिस' के लिखने के संबंध में सब से पहले मैं श्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, स्वर्गीय श्री सर जार्ज ए० ग्रियर्सन तथा श्री डॉक्टर टी० ग्राहम बेली को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन के प्रारंभिक प्रोत्साहन से ही मैं इस महान् कार्य में प्रवृत्त हुआ था। खेद है, श्री ग्रियर्सन इस कार्य को समाप्त देखने के लिए जीवित न रहे। इस के अनंतर मैं अपने निरीक्षक-परीक्षकों सर्वश्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, तथा रावराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता-प्रकाश करना चाहता हूँ जिन्हों ने 'थीसिस' की विभिन्न रचना-स्थितियों पर मेरा पथ-प्रदर्शन किया और अपने अमूल्य परामर्शों से उसे संपन्न बनाया। पुनः मैं स्थानीय हस्तलेख-विशेषज्ञ श्री सी० ई० हाईलेस का आभारी हूँ जिन की सहायता से मैं ने हस्तलेखों के अनेक नमूनों का विश्लेषण किया है। इस ग्रंथ के लिखने में प्रयुक्त समस्त सामग्री के उन अधिकारियों के प्रति भी मैं आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ जिन्हों ने अपनी वस्तुएँ निरीक्षण तथा उपयोग के लिए मुझे उदारतापूर्वक प्रदान कीं; विशेष रूप से मैं राजापुर, बाँदा के श्री मुन्नीलाल उपाध्याय तथा गोस्वामी जी के स्थान के अन्य अधिकारियों का कृतज्ञ हूँ जिन्हों ने तुलसीदास की उस प्रस्तर मूर्ति का प्रतिचित्र लेने दिया जो प्रस्तुत ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर लगा हुआ है।

प्रकाशन के संबंध में मैं प्रयाग-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर श्री पं० अमरनाथ झा जी का आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ जिन्हों ने कृपा कर के 'थीसिस' के प्रकाशन का मुझे अधिकार प्रदान किया तथा इस संबंध में हिंदी परिषद् को यूनीवर्सिटी की ओर से धन से भी सहायता प्रदान की; इस सहायता के बिना परिषद् के लिए इस ग्रंथ के मुद्रण को शीघ्र हाथ में लेना संभव न होता। अपने एम्० ए० कक्षा के विद्यार्थियों, विशेष कर के श्री रामसिंह तोमर के प्रति भी मैं कृतज्ञता-प्रकाश करना चाहता हूँ जिन्होंने

'थीसिस' के कतिपय अंशों के अनुवाद तथा प्रूफ-संशोधन और अनुक्रमणिका तैयार करने में मेरी बड़ी सहायता की है। अंत में मैं स्थानीय हिंदी साहित्य प्रेस के मैनेजर तथा कर्मचारियों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्हों ने भरसक पुस्तक को शुद्ध छापने में मेरे साथ पूर्ण सहयोग किया। मुझे दुःख है कि युद्ध की अनिश्चित परिस्थितियों के कारण छपाई में जो थोड़ी जल्दी करनी पड़ी है उस के कारण छापे की भूलें कुछ न कुछ रह ही गई हैं, आशा है कि विश पाठक उन्हें शुद्धि-पत्र देख कर शुद्ध कर लेंगे।

हिन्दी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग
२ मई, सन् १९४२

माताप्रसाद गुप्त

विषय-तालिका

२. जीवन-वृत्त

४. कृतियों का पाठ

५. कृतियों का काल-क्रम

६. कला

७. आध्यात्मिक विचार

१-२. प्रस्तावना । ३. 'रामचरित मानस' : (१) राम का निर्गुण ब्रह्मत्व । (२) राम का सगुण ब्रह्मत्व । (३) अवतार-धारण मे 'माया' का आश्रय । (४) निर्गुण की अपेक्षा सगुण रूप में गूढ़त्व तथा राम में कर्मों के आरोप का अनौचित्य । (५) राम का विष्णुत्व । (६) विष्णु का ब्रह्मत्व । (७) अपनी माया-द्वारा सृष्टि की रचना तथा सहार (८) राम का विभवत्व। (९) अवतार-हेतु । (१०) अवतार में चतुर्व्यूहत्व । (११) लक्ष्मण का शेषत्व । (१२) लक्ष्मण में विश्व का करण-कारणत्व । (१३) राम का शेषत्व । (१४) लक्ष्मण का ब्रह्मत्व । (१५) भरत में विश्व-पोषकत्व । (१६) शत्रुघ्न में शत्रुसूदनत्व । (१७) वानरादि में देवत्व । (१८) वानरादि मे सगुण ब्रह्म-उपासकत्व । (१९) सीता का मूल प्रकृतित्व । (२०) सीता का योगमायात्व तथा परम शक्तित्व । (२१) लोक में राम-सीता की पूर्ण व्याप्ति । (२२) सीता का लक्ष्मीत्व । (२३) लक्ष्मी का परम-शक्तित्व । (२४) माया की त्रिगुणात्मिकता । (२५) माया का मूल प्रकृतित्व । (२६) माया का कार्य-क्षेत्र । (२७) माया का स्वतः जड़त्व तथा रामाश्रय से क्रियाशीलत्व । (२८) माया का रामाधीनत्व । (२९) माया की सृष्टि । (३०) विराट् । (३१) संसार का मिथ्यात्व । (३२) जीवत्व । (३३) शरीर का अनात्मत्व । (३४) जीव में यथार्थ ईश्वरत्व । (३५) जीव पर माया का प्रभुत्व । (३६) जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व । (३७) माया के दो रूप : विद्या तथा अविद्या । (३८) अविद्या के दो रूप : आवरण तथा विक्षेप । (३९) जीव तथा ब्रह्म के अभेद-ज्ञान से भव-नाश । (४०) ब्रह्म-ज्ञान से ब्रह्मत्व । (४१) बोध-ज्ञान । (४२) मुक्ति-साधन के लिए विषय-विराग तथा परमार्थ-चिंतन की आवश्यकता । (४३) कर्म-मार्ग से मुक्ति की असंभावना । (४४) भक्ति-मार्ग से मुक्ति की अनिवार्यता । (४५) भक्ति-साध्य, ज्ञान-विज्ञानादि उसके साधन । (४६) भव-शमन में ज्ञान तथा भक्ति दोनों की समर्थता किन्तु ज्ञान-साधन की दुरूहता और निर्बलता तथा भक्ति की सुगमता और सबलता । (४७) भक्ति बिना मुक्ति असंभवप्राय । (४८) मुक्ति के लिए राम-कृपा की आवश्यकता । (४९) राम-कृपा की सुलभता । (५०) राम-भक्ति और अविद्या । (५० अ) कथाश्रवण में अतृप्त अनुराग राम-भक्ति की एक भूमिका । (५१) राम-कथा का केन्द्र सत-समाज । (५२) सत-असंत-लक्षण । (५३) संत-कृपा की आवश्यकता । (५४) गुरु-कृपा की आवश्यकता । (५५) नामस्मरण

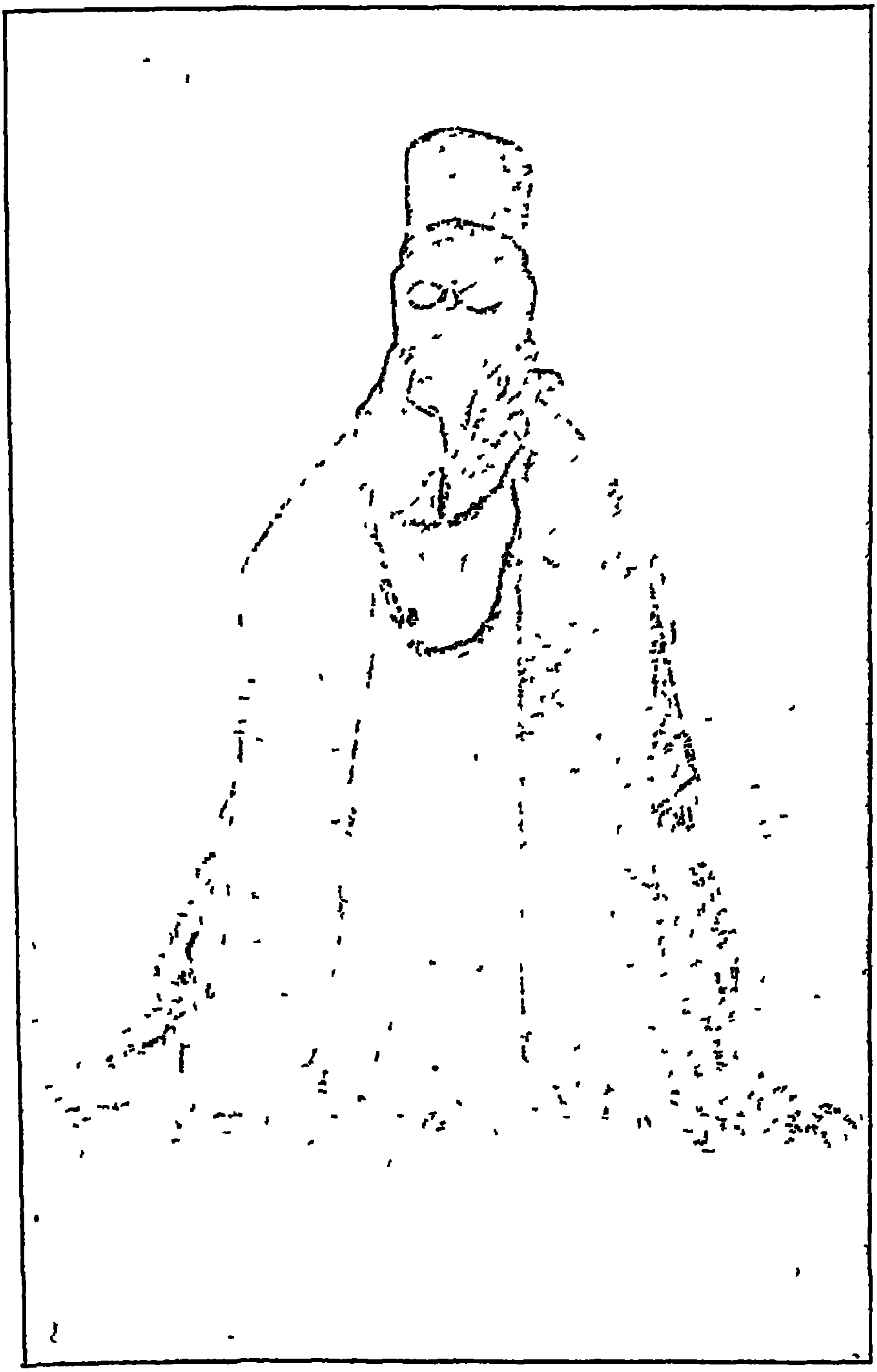
रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका। (५६) स्वरूपासक्ति—। (५७) यश-कीर्तनासक्ति—। (५८) पूजासक्ति—। (५९) रामतीर्थ यात्रा—। (६०) ब्राह्मण सेवा—। (६१) अनात्म विषयों से मन का निर्लिप्त रखना—। (६२) लोक निरपेक्षा युक्त अनन्याश्रय बुद्धि—। (६३) वासनाविहीन तथा व्यापक प्रेम—। (६४) सर्वस्व-भाव—। (६५) लोक संग्रह वृत्ति—। (६६) स्वदोषानुभूति तथा भागवत भक्ति—। (६७) तितिक्षा वृत्ति—। (६८) तन्मयता—। (६९) शुद्ध प्रेमासक्ति—। (७०) कर्ममूलक, ज्ञानमूलक तथा भक्तिमूलक भक्तिमार्ग। (७१) शिवभक्ति रामभक्ति की एक स्वतंत्र भूमिका। (७२) राम के पारमार्थिक स्वरूप के साक्षात्कार से भव-नाश। (७३) साक्षात्कार का साधन ध्यान। (७४) ध्यान के लिए निर्गुण स्वरूप की अनुपयुक्तता तथा सगुण की उपयुक्तता। (७५) ध्यान के लिए उपयुक्त राम के कतिपय अवतारी स्वरूप। (७६) योग द्वारा मोक्ष और चित्त शुद्धि, किन्तु रामभक्त के लिए वह अनावश्यक। (७७) ब्रह्मा रामभक्त। (७८) ब्रह्मादि अन्य जीवों से अभिन्न। (७९) मुक्ति के तीन प्रमुख भेद-सायुज्य, सामीप्य, तथा सालोक्य—और भेद भक्ति।
४. 'विनय पत्रिका': (१) राम का निर्गुण ब्रह्मत्व। (२) सगुण ब्रह्मत्व। (३) विष्णुत्व। (४) विष्णु का ब्रह्मत्व। (५) राम का मूल प्रकृतित्व। (६) राम का विभवत्व। (७) अवतार के कारण। (८) लक्ष्मण का शेषत्व। (९) राम का शेषत्व। (१०) भरत का विश्व-पोषकत्व। (११) शत्रुघ्न का शत्रु-सूदनत्व। (१२) वानरादि का देवत्व। (१३) सीता का आदि शक्तित्व। (१४) माया का रामाश्रयत्व। (१५) सृष्टि-विस्तार। (१६) राम का करण-कारणत्व। (१७) जगत् का मिथ्यात्व। (१८) आत्म परिचय और भवनाश के लिए विषय-विराग की आवश्यकता। (१९) जीव मे यथार्थ ईश्वरत्व। (२०) मन के कारण भव-बंधन। (२१) स्वरूप-विस्मरण के कारण ही भव बंधन। (२२) स्वरूप-ज्ञान। (२३) रामभक्ति से भवनाश। (२४) अन्य साधनो से उस की प्राप्ति में कठिनता। (२५) भक्ति साधन की अपेक्षाकृत सुगमता। (२६) रामभक्ति बिना मुक्ति असंभव। (२७) मुक्ति के लिए रामकृपा आवश्यक। (२८) राम कृपा की सुलभता। (२९) रामभक्ति के बिना 'विवेक' असंभव। (३०) चरित्र-श्रवण रामभक्ति की एक भूमिका। (३१) सतसंग रामभक्ति की एक अन्य भूमिका। (३२) संत-लक्षण। (३३) संत कृपा से राम-प्राप्ति। (३४) गुरुकृपा—रामभक्ति की एक अन्य भूमिका। (३५) नाम जप—। (३६)

स्वरूपासक्ति—। (३७) यशकीर्त्तनासक्ति—। (३८) रामतीर्थ सेवन—। (३९) ब्राह्मण-सेवा—। (४०) लोक से निरपेक्षता तथा उपास्य के प्रति अनन्याश्रय-बुद्धि—। (४१) सर्वस्वभाव—। (४२) भागवतभक्ति—। (४३) स्वदोषानुभूति। (४४) अन्य भूमिकाएँ (४५) शिवभक्ति एक स्वतंत्र भूमिका। (४६) हनुमानभक्ति (४७) नित्यलीला वाले राम का साक्षात्कार। (४८) शिव तथा ब्रह्मा रामभक्त। (४९) क्रिया मार्ग द्वारा राम की पूजा। ५. 'अध्यात्म रामायण': (१) राम का निर्गुणत्व। (२) सगुणत्व। (३) मायाश्रय से अवतार। (४) माया के आश्रय से मानव। (५) राम में कर्मों के आरोप का अनौचित्य। (६) राम का विष्णुत्व। (७) विष्णु का परत्व। (८) राम का मूलप्रकृतित्व। (९) राम का विभवत्व। (१०) अवतार लेने के अनेक कारण। (११) राम का चतुर्व्यूहत्व। (१२) लक्ष्मण का शेषत्व। (१३) लक्ष्मण का करणत्व। (१४) लक्ष्मण में रामत्व। (१५) लक्ष्मण में विष्णुत्व। (१६) लक्ष्मण का विराट्-पुरुषत्व। (१७) लक्ष्मण का विष्णुत्व। (१८) राम का शेषत्व। (१९) लक्ष्मण का शेषांशत्व। (२०) लक्ष्मण का नारायणांशत्व। (२१) भरत का नारायण का शंखत्व। (२२) शत्रुघ्न का नारायण का चक्रत्व। (२३) वानरादि का देवत्व। (२४) सीता का मूल प्रकृतित्व। (२५) सीता का योगमायात्व (२६) सीता का परम शक्तित्व। (२७) लोक में राम-सीता व्याप्ति। (२८) सीता का लक्ष्मीत्व। (२९) मूल प्रकृति, योग माया, शक्ति तथा लक्ष्मी की अभिन्नता। (३०) माया, अविद्या, संसृति, तथा बंधन की भी उन से अभिन्नता। (३१) माया का त्रिगुणात्मिकत्व। (३२) माया का मूल प्रकृतित्व। (३३) माया का आदि शक्तित्व। (३४) माया द्वारा सृष्टि के लिए राम का सान्निध्य। (३५) माया का रामाश्रयत्व। (३६) माया राम की एक नर्तकी मात्र है। (३७) 'अव्याकृत' और 'वैराज'। (३८) अव्याकृत और मूल प्रकृति आदि की अभिन्नता। (३९) 'महत्तत्व (४०) 'अहंकार'। (४१) अहंकार के तीन भेद। (४२) 'सूक्ष्म तन्मात्राएँ'। (४३) पंच स्थूल भूत। (४४) दश इंद्रियाँ। (४५) इंद्रियों के देवता तथा मन। (४६) सूत्रात्मक लिंग शरीर। (४७) 'विराट्'। (४८) 'जगत्'। (४९) 'विराट्' विष्णु का स्थूल शरीर। (५०) 'सूत्र' विष्णु का सूक्ष्म शरीर। (५१) राम अनेक रूप से लोक-पालक। (५२) वही। (५३) राम का विश्व का उपादान कारणत्व। (५४) जीवत्व। (५५) बुद्धि अविद्या-जनित। (५६) बुद्धि में ज्ञान शक्ति का अभाव। (५७) बुद्धि से तीन अवस्थाएँ। (५८) जगत् का मिथ्यात्व। (५९) आत्मा में विश्व

चित्र-सूची

संक्षेप और संकेत

अध्यात्म० = 'अध्यात्म रामायण'
इं० ऐं० = 'इंडियन ऐंटीक्वेरी'
कविता० = 'कवितावली'
कृ० गी० = 'कृष्ण-गीतावली'
जा० मं० = 'जानकी मंगल'
तु० ग्रं० = 'तुलसी-ग्रंथावली'
दो० = दोहा
दोहा० = 'दोहावली'
ना० प्र० प० = 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'
नो० = नोटिस
पा० = पाद-टिप्पणी
प्र० = प्रकाशक
पा० मं० = 'पार्वती मंगल'
बरवै० = 'बरवै रामायण'
बाहुक = 'हनुमान बाहुक'
भ० टी० = 'भक्तमाल टीका'
मानस = 'रामचरित मानस'
मि० ब० वि० = 'मिश्रबंधु विनोद'
मू० गो० च० = 'मूल गोसाईंचरित'
रा० ल० न० = 'रामलला नहछू'
रामाज्ञा० = 'रामाज्ञा-प्रश्न'
वा० रा० = 'वाल्मीकि रामायण'
विनय० = 'विनय पत्रिका'
वै० सं० = 'वैराग्य संदीपिनी'
शि० सिं० स० = 'शिवसिंह सरोज'
सत० = 'सतसई'
सन् = सन् ईस्वी
समी० = समीकरण
सं० = संवत् विक्रमीय
हिं० = हिन्दी
हिं० खो० रि० = हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज-रिपोर्ट



राजापुर की प्रस्तर-मूर्ति

१

भूमिका

१. महाकवि तुलसीदास का अध्ययन हिंदी-साहित्य के अध्ययन का सर्वप्रमुख अंग रहा है। नवीन परिपाटी पर इस अध्ययन का प्रारंभ कब से होता है, उसका विकास किस प्रकार होता है, उस विकास में प्रमुख रूप से किन महानुभावों के हाथ लगते हैं, वे इस अध्ययन को किस प्रकार आगे बढ़ाते हैं, अब भी कौन-कौन सी दिशाएँ ऐसी हैं जिन में कार्य करने की आवश्यकता है, और उन दिशाओं में अध्ययन के लिए हमें किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए यही इस अध्याय के विषय हैं।

२. नवीन परिपाटी के इस अध्ययन का एक प्रकार से श्रीगणेश करने वाले स्वर्गीय श्रीयुत एच्० एच्० विल्सन महोदय थे। 'एक प्रकार से' मैंने इस लिए कहा कि यद्यपि आप ने स्वतः हमारे महाकवि की रचनाओं का अध्ययन सभवतः न किया होगा पर आप के बाद के कई लेखकों ने जो तुलसीदास का अध्ययन हमारे सामने उपस्थित किया उस मे दिए हुए जीवन-वृत्त के प्रमुख साधन आप ही थे। "ए स्केच अव् दि रेलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज़" नामक आप का वह निबंध जिस में हमारे कवि का उल्लेख हुआ था पहले-पहल सं० १८८८ में 'एशियाटिक रिसर्चेज़' में[1] प्रकाशित हुआ था। कवि के जीवन-वृत्त संबंधी आप की सूचना के आधार नाभादास जी का छप्पय और उस पर प्रियादास जी की टीका के अतिरिक्त कुछ जन-श्रुतियाँ थीं। इस सूचना में कवि की जाति, जन्म-स्थान, काशी मे कार्य-क्षेत्र, गुरु-परंपरा, जन्म-काल, देहावसान-तिथि और रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला गया है। तुलसीदास आप का मुख्य विषय न होने के कारण यद्यपि हमें यह आशा न करनी चाहिए कि जन-श्रुतियों के संग्रह करने मे आप ने कोई विशेष श्रम किया होगा फिर भी वे हमारे लिए महत्व की हैं, क्योंकि एक तो वे पीछे संकलित की हुई जन-श्रुतियों से कुछ

[1] जिल्द १६, पृ० ४८

भिन्न हैं, और दूसरे उतनी प्राचीन हैं कि उन से पहले किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा संकलित की हुई दूसरी जन-श्रुतियाँ इस समय अप्राप्य हैं।

३. 'हिंदी और हिंदुस्तानी' के कदाचित् प्रथम इतिहास लेखक स्वर्गीय गार्साँ द तासी ने सं० १८९६ मे अपने महत्वपूर्ण इतिहास 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदुई ए इंदुस्तानी' का जो पहला खंड प्रकाशित किया उस में[1] उन्हों ने हमारे कवि का परिचय देते हुए उपर्युक्त विल्सन साहब का ही आश्रय लिया। इस इतिहास के परिवर्धित और संशोधित संस्करण मे जो सं० १९२७–२८ में प्रकाशित हुआ आप ने कवि के ग्रंथो और उन की प्रतियों के संबंध में कुछ नवीन सामग्री अवश्य उपस्थित की पर जीवन-वृत्त ज्यों का त्यों रक्खा।

४. इन प्राथमिक अध्ययन-कर्ताओं में एक और भी अधिक स्मरणीय नाम है स्वर्गीय एफ्० एस्० ग्राउस महोदय का जिन्हो ने कवि की सब से अधिक महत्वपूर्ण रचना 'मानस' का कई वर्षों के निरंतर परिश्रम के अनंतर अंग्रेज़ी अनुवाद कर के हमारे कवि का यश पाश्चात्य देशों में फैलाने का प्रयत्न किया। इस ओर आप का पहला प्रयास सं० १९३३ में दिखाई पड़ा जब 'दि प्रोलॉग टु दि रामायण अव् तुलसीदास : ए स्पेसिमेन अव् ट्रासलेशन' नामक आप का लेख एशियाटिक सोसाइटी बगाल के जरनल मे[2] प्रकाशित हुआ। पूरे ग्रंथ का अनुवाद तो खडों में सं० १९३४ से १९३८ तक निकलता रहा। इस अनुवाद की भूमिका में आप ने जो कवि का जीवन-वृत्त दिया है वह विल्सन साहब की ही सूचना के आधार पर है, पर उक्त सूचना का उपयोग आप ने सावधानी से किया है, और उसकी कुछ भूलो पर भी दृष्टिपात किया है।

५. सं० १९३४ में लिखने वाले 'सरोज' के लेखक स्वर्गीय श्री शिवसिंह सेंगर का नाम भी उल्लेखनीय है। 'सरोज' में पहले[3] हमारे कवि के संबंध में लिखते हुए आप ने उस का एक सक्षिप्त जीवन-वृत्त दिया, और फिर अन्यत्र[4] किन्हीं पसका-निवासी बेनीमाधव दास रचित एक वृहत् 'गोसाईंचरित्र' की सूचना दी जिसे आप ने लिखा कि आप ने देखा था। फिर भी आप ने यह नहीं लिखा कि कवि का जो जीवन-वृत्त आप ने दिया है वह इस 'गोसाईंचरित्र' के आधार

[1] पृ० ५१६
[2] पृ० १
[3] पृ० ४२७
[4] पृ० ४३२

पर लिखा गया था अथवा स्वतंत्र रीति से, और न आप ने उक्त 'गोसाईंचरित्र' के प्राप्ति-स्थान का निर्देश किया। परिणाम यह हुआ कि कवि के प्रेमियों में उक्त 'चरित्र' की उत्सुकता जगा कर आप ने उस के समाधान का कोई मार्ग नहीं दिखाया। इसी लिए आप के परवर्त्ती लेखकों ने यद्यपि आप की 'चरित्र' विषयक सूचना का उल्लेख तो किया पर आप के लिखे हुए कवि के जीवन-वृत्त को कोई महत्व नहीं दिया। इस संबंध में विशेष उल्लेख-योग्य सर जॉर्ज ग्रियर्सन हैं, जिन्हों ने अपना 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान' लिखते समय आप के 'सरोज' का पूरा उपयोग किया पर उसी में हमारे कवि का जीवन-वृत्त देते हुए कदाचित् अपने स्वतंत्र अनुसंधानो से आप के उल्लेखो का विरोध देखने पर ही आप के निष्कर्षों का उल्लेख भी नहीं किया।

६. किंतु यशस्वी स्वर्गीय सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन की सेवाओं की इस क्षेत्र में तुलना नहीं हो सकती। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आप ने हमारे महाकवि के जीवन और रचनाओ के संबंध में पहले ही पहल अनुसंधान किया, यह दुःख का विषय है कि उसका परिचय आप के पीछे आने वाले विद्वानो ने नहीं दिया। इस दिशा मे आप ने पहला उल्लेख-योग्य प्रयास सं० १९४३ में किया। जब वेन की अंतर्राष्ट्रीय ओरियंटल काग्रेस के सामने[1] आप ने "हिंदुस्तान का मध्यकालीन साहित्य, विशेषरूप से तुलसीदास" नामक अपना सारगर्भित निबंध पढ़ा। इस लेख में आप ने हमारे कवि के जीवन, उस की कृतियो और विचारों पर भी नया प्रकाश डाला। पीछे सं० १९४६ में प्रकाशित होने वाले आप के 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान' नामक ग्रंथ में कवि के विषय में जो सूचना दी गई है[2] वह बहुत कुछ इसी निबंध का रिप्रिंट मात्र है। किंतु सं० १९५० में 'इंडियन एंटीक्वेरी' में आप के जो 'नोट्स ऑन तुलसीदास' प्रकाशित हुए[3] वह इस क्षेत्र मे आप की उज्वल कीर्ति के स्तंभ हुए। इन 'नोट्स' का पहला अंश कवि की तिथियों की गणना से संबंध रखता है। गणना परिश्रम-पूर्वक ज्योतिष के मान्य सिद्धांतों के अनुसार की गई है। इस जाँच मे आप को जो सहायता स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी से मिली थी उसे कृतज्ञता-पूर्वक आप ने स्वीकार किया है। दूसरा अंश कवि की

[1] 'अरीशे' खंड, पृ० १७९

[2] पृ० ४७

[3] पृ० ८९, १२२, १९७, २२५, और २५३

कृतियों से संबंध रखता है। इस में पहले कवि की कृतियों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है, जिस में छः छोटे और छः बड़े ग्रंथों को कवि की रचना माना गया है, और शेष उन की रचना कहे जाने वाले ग्रंथों को अस्वीकृत किया गया है। इस के अनंतर कृतियों का सविस्तर अलग-अलग परिचय दिया गया है। तीसरे खंड में कवि के जीवन-वृत्त से सबंध रखने वाली परंपराओं और जनश्रुतियों का संग्रह है। अंत में आप ने सुधाकर द्विवेदी जी तथा बाबू रामदीन सिंह के प्रति आभार-प्रदर्शन किया है जिन की सहायता से आप ने यह 'नोट्स' प्रस्तुत किए हैं। इस अन्वेषण की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इतनी वैज्ञानिक रीति से हिंदी के किसी कवि अथवा लेखक के संबंध में आज तक अन्वेषण किया गया है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता। सं० १९५५ में एशियाटिक सोसाइटी अव् बेंगाल की कार्यवाही में आप का एक नोट "तुलसीदास के कवित्त रामायण की रचना-तिथि" विषयक निकला[1] जिस में आपने 'कवितावली' के महामारी तथा उस से मिली-जुली जान पड़ने वाली घटनाओं से संबंध रखने वाले छंदों का आश्रय लेते हुए अपना यह विचार उपस्थित किया कि उन छंदों में उल्लिखित महामारी प्लेग या ताऊन थी। इस विषय में आपका दूसरा नोट "तुलसीदास और बनारस में प्लेग के विषय में दूसरा नोट" विषयक फिर उसी वर्ष और उसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ[2]। इस में आप ने महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के इस अनुमान का उल्लेख किया कि बाहुपीड़ा जिस से कवि अपने जीवन के अंतिम अंश में व्यथित हुआ था संभवतः प्लेग की गिल्टी थी और उसी से उस का देहांत भी हुआ। सं० १९६० में आप का "तुलसीदास—कवि और सुधारक" नामक सुंदर पर संक्षिप्त लेख रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में प्रकाशित हुआ।[3] उसमें कवि के देहात के संबंध में आप ने जो उल्लेख किया उससे यह जान पड़ता है कि इस के पूर्व प्लेग से कवि के देहात का जो आप का विचार हो रहा था वह आप को पीछे ठीक नहीं जॅचा और उसे आप ने छोड़ दिया।[4] सं० १९६४ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जरनल में आप का "आधुनिक हिंदू धर्म और नेस्टोरियनों के प्रति उस का ऋण" विषयक एक लेख प्रकाशित

[1] पृ० ११३

[2] पृ० १४७

[3] पृ० ४४९

[4] पृ० ४५०

हुआ[1] जिस में आप ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि भारतीय भक्ति-मार्ग की एक प्रकार से उत्पत्ति का श्रेय 'नेस्टोरियन' नामधारी उन ईसाई मिशनरियों को है जो किसी समय दक्षिण भारत में आकर बसे थे। आप के इस विचार का प्रतिवाद अनेक तर्कपूर्ण युक्तियों से भारत और योरप के विद्वानों ने तत्काल—उसी वर्ष के उसी पत्र में ही—किया[2] पर आपका विचार इन प्रतिवादों से कदाचित् अधिक प्रभावित नहीं हुआ, क्योंकि सं० १९६९ में प्रकाशित होने वाले 'इंपीरियल गज़ेटियर' के लिए तुलसीदास के संबंध में आपने जो वृत्त लिखा[3] उसमें आप के इस विचार की प्रतिच्छाया स्पष्ट है। सं० १९७० में आप का एक लेख "क्या तुलसीदास की रामायण अनुवाद-ग्रंथ है?" विषयक रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में प्रकाशित हुआ[4] जिस में आपने बड़े युक्ति-पूर्वक बलिया से प्रकाशित होने वाले एक संस्कृत रामायण को 'मानस' का मूल और 'मानस' को उसका अनुवाद कहे जाने का निराकरण किया। हमारे कवि के संबंध में आप का कदाचित् अंतिम उल्लेख-योग्य लेख सं० १९७८ में 'एनसाइक्लोपीडिया अव् रेलीजन ऐंड एथिक्स' मे निकला।[5] यह लेख संक्षेप में पर विशद रूप से तुलसीदास के संबंध में आप के विचारों का परिचय देता है, और पढ़ने योग्य है। तुलसीदास के अध्ययन में श्री ग्रियर्सन एक युग के विधायक हुए। सं० १९४३ मे पढ़े गए आपके प्रथम निबंध से लेकर ४० वर्ष पीछे तक कवि की जीवनी और कृतियों के संबंध में जो कुछ भी लिखा गया उस के अधिकाश का श्रेय आप के कार्य को ही मिलना चाहिए इस में सदेह नहीं।

७. एक लेख पादरी ई० ग्रीव्स साहब का सं० १९५६ में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' मे "गुसाईं तुलसीदास का जीवन-चरित्र" शीर्षक प्रकाशित हुआ जो 'तुलसी-ग्रथावली' तीसरे खड में पुनर्मुद्रित हुआ। लेख छोटा है और अच्छा है पर कोई नवीनता उस में नहीं है। आप ने अंग्रेज़ी भाषा में हिंदी-साहित्य का जो इतिहास लिखा है उस में हमारे कवि के संबंध में जो कुछ लिखा है वह यद्यपि और भी संक्षिप्त है, पर उस की अपेक्षा अच्छे ढंग से लिखा गया है।

[1] पृ० ३११
[2] पृ० ४७७ और आगे
[3] जिल्द २, पृ० ४१८
[4] पृ० १३३
[5] जिल्द १२, पृ० ४६९

८. तुलसीदास के अध्ययन के इतिहास में एक और उल्लेख-योग्य तिथि सं० १९५९ है, जिसमें इंडियन प्रेस के मालिक श्री चिंतामणि घोष ने हिंदी के पाँच प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' प्रकाशित किया। संपादक थे महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू (अब डॉक्टर) श्यामसुंदर दास, बाबू कार्तिक प्रसाद और बाबू अमीर सिंह। प्रारंभ में इस संस्करण में एक बड़ी सी भूमिका है जिस में कवि के जीवन-वृत्त तथा उसकी कृतियों पर विचार किया गया है। पर यह भूमिका अधिकांश में ग्रियर्सन साहब की खोजों के आधार पर लिखी गई है। संपादन अवश्य परिश्रम से किया गया जान पड़ता है, पर अपने ढंग का पहला प्रयास होने के कारण इसमें त्रुटियाँ भी अनेक हैं इसमें संदेह नहीं। लिपि, उच्चारण और व्याकरण से संबंध रखने वाली त्रुटियों पर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होगा। यह त्रुटियाँ किसी विस्तृत जाँच के बाद नहीं, साधारण तौर पर देखने से ही मिली हैं, और केवल उदाहरण के लिए नीचे रक्खी जाती हैं :—

'व' का कहीं-कहीं 'ब' होगया है : जैसे 'अवध' 'अबध' रूप में भी मिलता है।

और कहीं-कहीं 'ब' का 'व' हो गया है : जैसे बरूथ, बसन, वस्तु, बायस, वरियहि, वासिन्ह, विचारू, बिचित्र, वृषकेतु बृष्टि, वेगि, वेषा, वैद्य, व्यसन, और व्यापक में 'ब' के स्थान पर 'व' मिलता है। यह अवश्य संभव है कि 'ब' को 'व' का रूप जान-बूझ कर दिया गया हो।

'ए' रूप साधारण है पर 'ये' भी मिलता है।

'अउर' रूप साधारण है पर कहीं-कहीं 'और' भी मिलता है।

'कै' रूप साधारण है पर 'कइ' रूप भी मिलता है।

'नि' और 'न्हि' दोनों से बने हुए रूप बहुवचनों में मिलते हैं।

'कहहुँ' और 'कहउँ', और इसी प्रकार 'कहहु' और 'कहउ' भी मिलते हैं।

'कहेहु' और 'कहेउ', 'किएहु' और 'कियेहु', 'कीन्हेहु' और 'कीन्हेउ' भी समान रूप से पुस्तक भर में मिलते हैं।

यदि इस प्रकार की त्रुटियाँ न होतीं तो यह संपादन कदाचित् उस से भी अधिक महत्वपूर्ण होता जो पीछे किया गया—मेरा आशय है उस संस्करण से जो 'तुलसी-ग्रंथावली' में प्रकाशित हुआ और जिस के विषय मे हम आगे विचार करेंगे।

९. स्वर्गीय लाला सीताराम की सेवाएं भी उल्लेखनीय हैं। गोस्वामी जी के आप बड़े भक्त थे। सं० १९६५ में राजापुर के 'मानस' अयोध्याकांड की प्रति का पाठ बड़े परिश्रम से संपादित कर आप ने प्रकाशित किया। स० १९७१ के रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में आप का एक विचारपूर्ण निबंध "तुलसीदास के रामायण की मौलिकता" विषयक प्रकाशित हुआ।[1] इन के अतिरिक्त इस क्षेत्र में लेखों तथा भूमिकाओ आदि[2] के रूप में कुछ और भी सेवाएं आप ने कीं जो प्रशंसनीय हैं।

१०. मिश्रबंधु की सेवा इस क्षेत्र में भी, जैसे अन्य क्षेत्रों में, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सं० १९६७ में आप लोगों का 'हिंदी-नवरत्न' नामक सुप्रसिद्ध समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उस समय तक हमारे कवि के जीवन-वृत्त और उसकी कृतियो के सबंध में बहुत-कुछ लिखा जा चुका था, फिर भी निकट से उस की रचनाओं का अध्ययन करना और काव्य-संबंधी उस के सिद्धातो का निश्चय करना रह ही गया था। यह कार्य मिश्रबंधु ने अपने हाथ में लिया और इस उपेक्षित पक्ष पर स्वतंत्रता-पूर्वक अपने विचार उपस्थित कर आप लोगों ने एक प्रकार से तुलसीदास की समालोचना की नींव डाली। 'हिंदी-नवरत्न' में आप लोगों ने हमारे कवि को न केवल हिंदी साहित्य वरन् संसार-साहित्य के कवियों में सर्वोच्च स्थान दिया। जिन प्रमुख विशेषताओं के कारण आप लोगों ने हमारे कवि को इतना ऊँचा स्थान दिया है उन का उल्लेख आवश्यक होगा। "कवि की कविता" का परिचय देते हुए आप लोगों ने उस के गुणों और दोषों पर अलग-अलग विचार किया है। जिन गुणो का आप लोगों ने उल्लेख किया है उन की संख्या २१ है, और जिन दोषो का आप लोगों ने उल्लेख किया है उनकी संख्या १६ है। अत्यंत संक्षेप में गुण क्रमशः इस प्रकार हैं :—

✓(१) कथा-वर्णन में गोस्वामी जी कोई बात यकबारगी नहीं कह देते बल्कि आने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की सूचना पहले ही से देते रहते हैं।

[1] पृ० ४१६

[2] 'माधुरी', वर्ष ६, खंड २, पृ० २९०, "गोस्वामी तुलसीदास और रामचरित"; वही, वर्ष १२, खंड २, पृ० ३६४, "मानस की रचना का स्थान और समय"; तथा 'सेलेक्शन्स फ्रॉम हिंदी लिटरेचर', भाग ३, पृ० ८

(२) पात्रों के उचित अथवा अनुचित आचरणों पर अपनी सम्मति प्रकट करते चलते हैं।

(३) रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट न कर पाठक को मुख्य कथा पर तुरंत पहुँचा देते हैं।

(४) अमुक उवाच कहे बिना भी बात कह देते हैं पर यह विदित हो जाता है कि बात किस ने कही।

(५) बड़ी-बड़ी घटनाओं मे आकाशवाणी करा देते हैं।

(६) निंद्य मनुष्यों पर सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं।

(७) कथा में घटा-बढ़ी करने के सबध मे कवि ने स्वय लिख दिया है—"नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं" आदि।

(८) समय तथा स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ा कर लिखा है।

(९) युद्ध-वर्णन में इस बात का ध्यान रक्खा है कि शिथिलता कहीं न आने पावे।

(१०) अपने नायक तथा उपनायक के शीलगुण का एकरस निर्वाह किया है।

(११) विप्रगण की महिमा का सदा गान किया है, और यह कहा है कि गुणी अथवा गुणहीन सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं।

(१२) इंद्र तक देवताओं को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और ऋषि-मुनियों से कम माना है।

(१३) राम के अतिरिक्त सभी देवताओं का पूजन केवल इसी लिए किया है कि उन के सहारे राम की भक्ति प्राप्त हो अथवा वह और दृढ़ हो।

(१४) सगुण ब्रह्म की उपासना की है।

(१५) रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है पर कहीं-कहीं उन को विष्णु का अवतार भी कह दिया है।

(१६) राम के लिए अकसर सिफारशी बातें कही हैं।

(१७) भक्ति को ज्ञान आदि से ऊँचा कहा है।

(१८) माया दो प्रकार की कही है, एक राक्षसों की और दूसरी परमेश्वर की।

(१९) तपस्या को भी बड़ा पद दिया है।

(२०) स्त्रियों की हर जगह निंदा की है, और भाग्य पर विश्वास प्रकट किया है। और

(२१) दीनता और निरभिमानता के साथ अपनी रचना के परमोत्तम होने का विश्वास भी प्रकट किया है।

जिन दोषों का आप लोगों ने उल्लेख किया है वे साधारण हैं, उन्हे दोष नहीं त्रुटियाँ ही कहना ठीक होगा, उनके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नही है। इस के बाद "गोस्वामी जी के मत" का शीर्षक है। मतों की संख्या १५ है, और वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(१) कवि का मत है कि कविता टेढ़ी और निद्य है पर यदि उस में रामकथा गाई जाय तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है।

(२) कवि की दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात उस के देखने और मनन करने से छूटती नहीं थी।

(३) कवि ने लोगों का वार्तालाप बड़ी उत्तमता से वर्णित किया है।

(४) नायको का शीलगुण दिखाने के लिए कवि ने उपनायकों की त्रुटियाँ ख़ूब ही दिखला दी हैं।

(५) कवि ने बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर रूपक कहे हैं।

(६) उस ने रामचंद्र के अनेक नखशिख कहे हैं और वे एक से एक बढ़िया हैं।

(७) वह रामचंद्र के संबध मे कोई भूल कर भी अनुचित सदेह करने वाले को क्षमा नहीं कर सकता।

(८) यद्यपि उसे हँसी पसंद न थी तो भी उस ने कही-कही प्रच्छन्न प्रहसन को जगह दे ही दी है।

(९) उस के सैकड़ों पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गए हैं।

(१०) कई प्रकार की भाषाओं मे उस ने सफलता-पूर्वक कविता की है।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई उस से सीख ले।

(१२) उस ने अनुप्रास तथा यमक को बहुत आदर नहीं दिया है।

(१३) उस ने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है।

(१४) हर्ष या उमंग के समय प्रायः उस ने छंद लिखे हैं, यद्यपि वे दोहे-चौपाइयों से प्रायः शिथिल हैं।

(१५) "महात्मा तुलसीदास सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है। इन की रचनाओं के प्रति पृष्ठ, प्रति पंक्ति, बल्कि प्रति शब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है।"

यहाँ पर वयोवृद्ध समालोचको द्वारा किया हुआ "गोस्वामी जी के मत" शीर्षक विवेचन समाप्त होता है। इस विवेचन के अनंतर 'मानस' के २४ स्थलों की खूबियाँ "स्फुट गुणो" के रूप मे दिखाई जाती हैं। तदनंतर कवि के गुणों और दोषों को समष्टि रूप मे तुलना की दृष्टि से देख कर गुणों के आधिक्य का निर्देश किया जाता है और साहित्य में उस के सर्वोच्च स्थान पाने का उल्लेख किया जाता है। 'हिंदी-नवरत्न' में समाविष्ट हमारे कवि के विवेचनात्मक अध्ययन का यह एक सक्षिप्त खाका है।

तुलसीदास के समालोचनात्मक अध्ययन का सूत्रपात करने वाला यह विवेचन कितना युक्तियुक्त और गहरा है यह प्रकट ही हो गया होगा। वस्तुतः आज भी इस ढंग का दूसरा विवेचन हमारे सामने नहीं है। हिंदी जनता मे इस का इतना मान हुआ कि ग्रंथ के चार संस्करण हो चुके और पाचवाँ कदाचित् होने जा रहा है। तुलसीदास के अध्ययन वाले कुल साहित्य में यह सौभाग्य अभी तक किसी अन्य विवेचन को नही प्राप्त हुआ है।

११. स० १९६८ में एक इटालियन विद्वान् एल्० पी० टेसीटॅरी का 'ज्योर्नेल डेला सोसाइटा एशियाटिका इटालियाना' नामक इटालियन पत्रिका मे "इल रामचरितमानस ए इल रामायण" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ[1] जो पुनः अनूदित होकर 'इडियन ऐंटिक्वेरी' में सं० १९६९ तथा १९७० में निकला।[2] इस लेख मे विज्ञ लेखक ने 'रामचरित-मानस' की कथा-वस्तु की तुलना विस्तार से वाल्मीकि कृत 'रामायण' की कथा-वस्तु से की है, और जो अतर इस तुलना में उसे दिखाई पड़ा है उसके सबंध मे कल्पना द्वारा कुछ समाधान भी उस ने उपस्थित किए हैं। जहाँ तक तुलना का प्रश्न है वहाँ तक तो लेखक का परिश्रम व्यर्थ नही गया क्योंकि इस लेख से एक बात कम से कम अवश्य स्पष्ट हो गई

[1] जिल्द २९

[2] क्रमशः पृ० २७३ तथा पृ० १

कि वाल्मीकि का 'रामायण' कथा के ढाँचे के लिए हमारे कवि ने अपने सामने नही रक्खा था; पर जहाँ तक लेखक के उपस्थित किए हुए समाधानों का प्रश्न है वे नितात व्यर्थ गए, और उन्हीं के साथ उन पर किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ गया। लेखक ने यद्यपि इस बात का अपने लेख में उल्लेख किया है कि हमारे कवि के ऊपर अन्य ग्रंथों के साथ 'अध्यात्म रामायण' का भी प्रभाव पड़ा है और उस ने उस से भी अपने काम की बातें ली हैं पर जान ऐसा पड़ता है कि कभी उस ने तुलनात्मक दृष्टि से 'अध्यात्म रामायण' का अध्ययन नहीं किया था। यदि वस्तुतः उस ने ऐसा किया होता तो उसे ज्ञात होता कि वाल्मीकि के 'रामायण' की अपेक्षा वह हमारे कवि की रचना के कहीं अधिक निकट है। फिर भी जिस परिश्रम के साथ उस ने यह कार्य किया है वह सराहनीय है।

१२. 'हिंदी नवरत्न' के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष बाद ज्येष्ठ सं० १९६९ की 'मर्यादा' पत्रिका में बाबू इंद्रदेवनारायण का एक नोट किन्हीं रघुबरदास लिखित 'तुलसीचरित' के संबंध में प्रकाशित हुआ। इस 'चरित' की छंद-संख्या उस में १३४९६२ बताई गई और उस से कुछ अंश उद्धृत भी किया गया। इस अंश में कवि का जितना जीवन-वृत्त आता है उस में अन्य बातों के साथ यह भी लिखा गया है कि कवि के पूर्वज धनाढ्य मारवाड़ियों के गुरु थे और उन से उन लोगों को बड़ा धन मिला करता था, और हमारे कवि की तीन शादियाँ हुई थीं, अंतिम में उस के पिता को दहेज में ६०००) मिले थे। ऐसी बातों पर विश्वास करना उस समय बड़ा कठिन हो जाता है जब हम स्वतः किए हुए कवि के अपने प्रारंभिक जीवन-संबंधी उल्लेख पढ़ते हैं। तुलसी-साहित्य के प्रेमियों के दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ अभी तक पूरा प्रकाशित नही हुआ। यदि यह प्रकाशित हो जाता तो उत्तम था, किंतु जितना अंश प्रकाश मे आया है उस से यही अनुमान लगता है कि इस की प्रामाणिकता बहुत संदिग्ध होगी।

१३. सं० १९७३ में स्वर्गीय श्री शिवनंदनसहाय का 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में क्रमशः कवि के जीवन और उस की कला पर विचार करने वाले दो खंड हैं। प्रथम खंड में लेखक ने अपने समय तक प्राप्त समस्त जीवन-वृत्त संबंधी सामग्री पर परिश्रम और विस्तार-पूर्वक विचार किया है, किंतु इस खंड को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर कुछ ऐसा लगता है कि जनश्रुतियों को उन की योग्यता से अधिक महत्व दिया गया है।

यद्यपि यह सही है कि उस समय तक जनश्रुतियों के अतिरिक्त कवि के जीवन-वृत्त-संबंधी सामग्री बहुत कम थी, फिर भी यह आवश्यक नहीं था कि जनश्रुतियो को इतना महत्व दिया जाता जितना इस ग्रथ में दिया गया है। द्वितीय खड में लेखक ने कवि की कला पर जो विचार किया है वह अधिकतर ग्रथ-ग्रंथ का अलग-अलग हुआ है। लेखक ने सब से पहले 'मानस' को लिया है। कुछ पृष्ठों में उस के रोचक स्थलों का निर्देश कर अन्य विद्वानों द्वारा उस में दिखाई गई त्रुटियों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। यहाँ भी लेखक की कुछ ज्यादती जान पड़ती है। तदनंतर क्रमशः 'रामायण में नवरस', 'रामायण मे रूपक', 'रामायण मे राजनीति', रामायण के पात्र-वर्ग' (चरित्रों से शिक्षा क्या मिलती है यह इस अध्याय का मुख्य विषय है), 'रामायण का आदर और प्रचार', 'क्षेपक और काट-छाँट', 'रामायण के संस्करण तथा टीकाएँ' शीर्षक अध्याय आते हैं जिन के विषय स्पष्ट हैं। इस के बाद के कुछ अध्यायों मे कवि की अन्य कृतियो के संबंध में कहा जाता है। उसके भी अनंतर 'कवि की सस्कृतज्ञता' (उस ने किन-किन ग्रंथो से क्या-क्या लिया) और 'कवि के दार्शनिक विचारों' का परिचय दिया जाता है, और 'वाल्मीकि' तथा 'अध्यात्म-रामायण' से 'मानस' की कथा-वस्तु की तुलना करके ग्रंथ समाप्त किया जाता है। समालोचना बहुत-कुछ बहिरंग है, अंतरग नहीं। फिर भी ग्रंथ दो दृष्टियों से उपादेय है: एक तो इस के पहले कवि के संबंध में जो कुछ लिखा गया था इस ग्रंथ में उस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है, और दूसरे 'मानस' में अपने पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रंथो की जो प्रतिच्छाया मिलती है उस की ओर स्पष्ट रूप से पहले-पहल इसी ग्रंथ में तुलसीदास के पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। कहीं-कहीं लेखक ने तुलसीदास की तुलना शेक्सपीयर से करके अपने कवि को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया है, वह अवश्य बहुत युक्तियुक्त नहीं जँचता।

१४. पादरी जे० एन्० कारपेन्टर, डी० डी० की एक रचना 'दि थियॉलॉजी अव् तुलसीदास' भी यहाँ पर उल्लेखनीय है। यह सं० १९७५ मे प्रकाशित हुई। इस में कवि के धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन करने का उद्योग किया गया है। विवेचन की प्रणाली यह है कि 'मानस' से आध्यात्मिक स्थलों को चुन-चुन कर उन्हें भिन्न-भिन्न शीर्षकों में बाँट दिया गया है और उन से फिर कवि के सिद्धांतों के संबंध में निष्कर्ष निकाला गया है। प्रयत्न सराहनीय है, क्योंकि बड़े परिश्रम

से लेखक ने सामग्री इकट्ठी की है, पर खटकने वाली बातें भी दो एक हैं जिन के संबंध में यहाँ पर कहना आवश्यक है। पहली खटकने वाली बात यह है कि पुस्तक मिशनरी—ईसाई मिशनरी—दृष्टिकोण से लिखी गई है। ऐसा होना अनिवार्य भी था क्योंकि यह डी०डी० की धर्म-विषयक डिगरी के लिए 'थीसिस' के रूप मे लिखी गई थी। पर इससे जो एक दूसरी बात पैदा हो जाती है वह विचारणीय है। इस से लेखक का दृष्टिकोण ही विकृत हो जाता है। दूसरी बात जो खटकने वाली है वह यह है कि विषय इस का 'तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार' होते हुए भी लेखक ने केवल 'मानस' का अवलंबन कर यह निबंध लिखा है, कवि की अन्य कृतियों की सर्वथा उपेक्षा की है। और तीसरी बात खटकने वाली यह है कि लेखक में आलोचनात्मक दृष्टिकोण की कुछ कमी ज्ञात होती है—सारा काम जैसे किसी निरे संग्रह-कर्ता का किया हुआ हो ऐसा जान पड़ता है। अन्यथा पुस्तक उपादेय है।

१५. सं० १९९० इस अध्ययन के इतिहास की एक विशेष उल्लेख-योग्य तिथि है। इस वर्ष नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने 'तुलसी-ग्रंथावली' के प्रकाशन का आयोजन किया। पहले खंड में उस ने 'मानस', दूसरे में उस ने कवि के मानसेतर ग्रथ, और तीसरे में कवि के जीवन तथा काव्य के संबंध मे विचार-पूर्ण निवध प्रकाशित किए। इस प्रकाशन से हमारे कवि का अध्ययन जिस वेग से आगे बढ़ा वह सर्वथा स्मरणीय है। 'ग्रंथावली' का संपादन-भार साहित्य के तीन माननीय विद्वानों पर रक्खा गया था : वे थे पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, और बाबू व्रजरत्नदास। जो कार्य फलतः इस संपादक-मंडल ने किया उस पर हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। 'ग्रंथावली' के इस प्रयास के तीन पक्ष हैं : रचनाओं का पाठपक्ष, कवि का जीवन-वृत्तपक्ष, और उस की कला और उसके विचारों का विवेचन-पक्ष। इन तीनो पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

रचनाओं में सब से प्रथम हमारे सामने 'रामचरितमानस' आता है। उस के इस संस्करण में एक विशेषता दिखाई पड़ती है जो साधारणतः अन्य संस्करणों में नहीं मिलती। उस के इस संस्करण में कई स्थलों पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं। प्रक्षिप्त जान पड़ने का कारण केवल यह नही है कि वे साधारणतः छपी या हस्तलिखित प्रतियो में नहीं मिलतीं, वल्कि यह है कि उन में कवि की वह शैली और विचार-प्रणाली नहीं

मिलती जो ग्रंथ भर में सर्वत्र मिलती है। दूसरी बात जो उन के प्रक्षिप्त होने की इस संभावना की पुष्टि करती है यह है कि ये अपने-अपने प्रकरणों के अनिवार्य अग नहीं हैं अर्थात् इन के न रहने पर भी विचारधारा को कोई क्षति नहीं पहुँचती। और तीसरी बात जो इन के विरोध में पड़ती है वह यह है कि कभी-कभी इन में व्यक्त की हुई वस्तु हमारे उस संस्कार को धक्का देती हुई जान पड़ती है जो कवि की शेष कृति को पढ़ने के अनंतर बनता है। उदाहरण के लिए विराध-वध प्रकरण की नीचे लिखी अर्द्धालियो को आप ले लें :—

तुरतहि सीतहि सो लै गयऊ। राम हृदय कछु बिसमै भयऊ।
समुझा हृदय कैकेयी करनी। कहा अनुज सन बहु बिधि बरनी।

मुझे तो यह विश्वास नहीं पड़ता कि तुलसीदास के राम ने कभी भी इस तरह की बात सोची होगी—विशेष करके चित्रकूट की घटनाओं के बाद—और पुनः उसे अपने भाई (लक्ष्मण) से "बहु बिधि बरनन करके" कहा होगा। इस प्रकार घुसी हुई पंक्तियों की सख्या इस संस्करण मे बहुत है। उदाहरणार्थ अरण्यकाड दो० १३, १४, १५, १६, १९; सो० २१; दो० २३, २४, २५, २९, ३०, ४६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, तथा ५३ की कई अर्द्धालियाँ, दोहे और छंद। यह तो हुआ वस्तु की दृष्टि से। भाषा की दृष्टि से भी पाठ त्रुटिपूर्ण है। तीसरे खड की भूमिका में यह दावा किया गया है कि अयोध्या-काड का पाठ नमूने के लिए ज्यों का त्यों राजापुर का ही रक्खा गया है। इस दावे की जाँच के लिए तीन दोहो और उन की अर्द्धालियों का पाठभेद नीचे रक्खा जाता है। ये विशेष दोहे केवल इस दृष्टिकोण से चुने गए हैं कि इनके चित्र प्रकाशित साहित्य में सुलभ हैं :[1]

	राजापुर की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ५६ अर्द्धाली १ .	आयेसु	आयसु
,, ४	हियँ, हराँसू ..	हिय, हरासू
,, ५ ..	जौं ..	जो
दोहा ..	एह, करउँ, सनेहु	यह, करौं, सनेह

[1] 'प्रोसीडिंग्स आव् द सेवेन्थ इटरनैशनल ओरिएंटल कांग्रेस रिपोर्ट' और 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान' जिन के, हवाले ऊपर दिए जा चुके हैं (पृ० ३)

		राजापुर की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ५७ अर्द्धाली	१	राखहुँ	राखहु
”	७	जाहिं	जाइ
दो० ५८ अर्द्धाली	२	रूपरासि	रूपराशि
”	४	करतबु	करतब

इस प्रकार के अतर कितने महत्वपूर्ण हैं इस का अनुमान साधारणतः लोग नहीं कर पाते। जिस पाठ के लिए संपादकों ने अपने सामने यह प्रतिबंध रक्खा था कि वह ज्यो का त्यों राजापुर का ही रहेगा उस अयोध्याकाड के पाठ की यह दशा है, तो और काडों के पाठ की जिन के संबंध में संपादको के सामने कोई प्रतिबंध नहीं था क्या दशा होगी यह कहना कठिन है। पाठभेदो का उल्लेख न होना साधारणतः सपादकों को इस सबंध में और स्वतंत्रता देता है। फलतः इस संस्करण के पाठ के संबंध में और क्या कहा जाय कुछ ठीक समझ नहीं पड़ता। मानसेतर ग्रंथो के संपादन की समस्या और भी विचित्र है। 'मानस' के संपादन के संबंध मे तो भला इतना भी कहा गया कि उस के पाठ के लिए किन प्रतियों का आश्रय लिया गया है, और किन सिद्धातों को ध्यान में रक्खा गया है, इन बेचारे अन्य ग्रंथों के संबंध में तो यह भी कहने की आवश्यकता नही समझी गई। मैं नहीं कह सकता कि मेरा अनुमान कहाँ तक सही है पर जान यह अवश्य पड़ता है कि किसी छपे संस्करण को लेकर और उस में स्वेच्छापूर्वक कुछ सशोधन कर, विना किन्हीं हस्तलिखित और प्राचीन प्रतियों की सहायता के इन ग्रंथो को छाप कर प्रकाशित कर दिया गया। इन के पाठ की जो समस्या है उस पर इसी ग्रंथ में आगे चलकर विचार किया जायगा। अभी हमे इतना ही विचार करने की आवश्यकता है कि इस संपादन पर निर्भर रह कर अपना कुछ अमूल्य समय देने के वाद यदि किसी गंभीर अन्वेपी को पश्चात्ताप करना पड़े तो कुछ आश्चर्य नहीं। फिर भी जैसा हम पहले कह चुके हैं हमें यह वात भूलनी न चाहिए कि तुलसीदास के अध्ययन में इस संस्करण ने वड़ा भारी सहयोग प्रदान किया है।

'ग्रंथावली' मे प्रकाशित जीवन-वृत्त के सबंध मे इतना ही कहना कदाचित् पर्याप्त होगा कि वह साधारण हेरफेर के साथ सं० १९५९ में प्रकाशित 'मानस' की भूमिका में दिए जीवन-वृत्त का रिप्रिंट मात्र है।

'ग्रथावली' का तीसरा पक्ष अवश्य मूल्यवान है—वह हमारे तुलसी-साहित्य की स्थायी संपत्ति है—मेरा तात्पर्य यहाँ उस आलोचनात्मक सामग्री से है जो 'ग्रंथावली' के तीसरे खड मे सगृहीत है। इस के लेखक हैं पडित रामचद्र शुक्ल, पडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन, पादरी एडविन ग्रीव्स, पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पडित रामचद्र दुबे, पडित बलदेव उपाध्याय, बाबू राजबहादुर लमगोड़ा, श्री सुखराम चौबे और श्री राजेंद्रसिंह ब्यौहार, तथा पडित कृष्णविहारी मिश्र। सर जॉर्ज ग्रियर्सन का जो लेख इस में दिया गया है वह 'एनसाइक्लोपीडिया अव् रेलिजन ऐंड एथिक्स' वाले लेख का अनुवाद मात्र है, उस के सबध में हम पहले विचार कर ही चुके हैं। इसी प्रकार पादरी ग्रीव्स का जो लेख यहाँ दिया गया है वह 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' मे सं० १९५६ में प्रकाशित लेख का रिप्रिंट मात्र है, और उसके सबंध में भी हम विचार कर चुके हैं। शेष पर हम यहाँ विचार करेंगे।

स्वर्गीय शुक्ल जी की समालोचना अब अलग संशोधित और कुछ परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुई है, इस लिए उस के इस पिछले रूप को लेकर ही विचार करना ठीक होगा। इस समालोचना के दो खड हैं, पहला कवि के आध्यात्मिक जगत से सबंध रखता है, और दूसरा उस के काव्य-जगत से। यह दोनो खंड यद्यपि लेखक द्वारा अलग किए हुए नही हैं, पर विचार की सुविधा के लिए यहाँ अलग कर लिए गए हैं। यह दोनों खड क्रमशः कई शीर्षकों में विभक्त हैं। हम इन शीर्षकों के नीचे उन के विषयों के संबध में स्वर्गीय समालोचक द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धात पाते हैं जिन का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ आवश्यक होगा। पहले खंड का पहला शीर्षक है "तुलसी की भक्ति पद्धति" जिस के अंतर्गत विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "शुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का रहस्यवाद (पाश्चात्य सूफी धर्म आदि !) से कोई सबंध नहीं है, और तुलसीदास इसी (शुद्ध!) भारतीय भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, अतः उन की रचना को रहस्यवाद कहना हिंदुस्तान को अरब या विलायत कहना है।" दूसरा शीर्षक है "प्रकृति और स्वभाव" जिस के नीचे कवि के प्रेम के उच्च आदर्श, उस के दैन्य और विनय, उस की लोक-संग्रह की भावना, अंतःकरण की सरलता, सदाचार आदि संबंधी विशेषताओं पर विचार किया गया है। तीसरा शीर्षक है "लोकधर्म" जिस मे इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि धार्मिक विशृंखलता के एक युग मे लोकसग्रह की भावना

से प्रेरित होकर हमारे कवि ने धर्म के उस स्वरूप का प्रचार किया जो पूर्ण है। "लोकनीति और मर्यादावाद" नामक अगले शीर्षक के नीचे कवि के वर्णाश्रम धर्म संबंधी विचारों का समर्थन किया गया है। "शील, साधना और भक्ति" नामक शीर्षक के नीचे कवि की उपासना के आलंबन राम में शील और सदाचार की पराकाष्ठा और लोक-मर्यादा के संरक्षण की प्रवृत्ति देखी गई है। इस आध्यात्मिक खंड का अंतिम शीर्षक है "ज्ञान और भक्ति का समन्वय" जिस में दिखाया यह गया है कि कवि मे ज्ञान और भक्ति का समन्वय मिलता है पर उस की वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ही ढूंढ़ना अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धातों को ढूंढ़ना नही। इस शीर्षक के अनंतर समालोचना का दूसरा खंड प्रारंभ होता है जिस का पहला शीर्षक है "तुलसी की काव्य-पद्धति"। इस शीर्षक में कहा गया है कि कवि की रुचि काव्य के अतिरंजित अथवा प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी, और न कुतूहल और मनोरंजन-उत्पादन की ओर, उस की रुचि थी यथार्थ चित्रण की ओर; दूसरी बात यह है कि हमारे सामने वह कवि के अतिरिक्त उपदेष्टा के रूप में भी आता है; और तीसरी बात यह है कि उस ने वीरगाथाकाल, और प्रेमगाथाकाल की काव्य-प्रणालियो से भी अपनी काव्य-पद्धति को धनवान् बनाया है। दूसरा शीर्षक है "तुलसी की भावुकता" जिस के नीचे यह दिखाने का उद्योग किया गया है कि कवि ने रामकथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर उन का विशद और विस्तृत वर्णन किया है। तीसरा शीर्षक है "शील निरूपण और चरित्र-चित्रण" जिस के नीचे कथा के विभिन्न प्रमुख पात्रों के चरित्रो का अध्ययन किया गया है। अगला शीर्षक है 'वाह्य दृश्य चित्रण", जिस के नीचे यह दिखाया गया है कि यद्यपि कवि ने सश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण की प्राचीन पद्धति का आश्रय कम लिया है पर उस के चित्रो में असंगति, सुरुचि का अभाव, चमत्कार-प्रियता, अस्वाभाविकता आदि वे अवगुण न मिलेंगे जो हिंदी के अन्य अनेक छोटे-बड़े कवियों मे पाए जाते हैं। "अलंकार-विधान" नामक शीर्षक के नीचे यह दिखाने का उद्योग किया गया है कि अलकारों द्वारा भावों का उत्कर्ष दिखाने और रूप, क्रिया, तथा गुणों का अनुभव तीव्र कराने में किस प्रकार सहायता ली गई है। इस के अनंतर के शीर्षकों में कवि के उक्ति-वैचित्र्य, भाषा पर अधिकार, कुछ खटकने वाली वातो पर कुछ विचार कर के हिंदी-साहित्य में उस के सर्वश्रेष्ठ कवि होने का निर्देश किया गया है, और

विवेचन समाप्त किया गया है। स्वर्गीय समालोचक के संपूर्ण निकर्षों से अथवा उस की विचार-प्रणाली से सहमत होना न होना दूसरी बात है, पर उसके इस अध्ययन को पढ़ कर कदाचित् हर एक व्यक्ति अनुभव करेगा कि साधारण से साधारण वस्तु को लेकर उसके संबंध में एक असाधारण दृष्टिकोण से विचार करने की जैसी क्षमता स्वर्गीय शुक्ल जी में थी वह अन्यत्र कम मिलेगी।

वयोवृद्ध उपाध्याय जी का निबंध "गोस्वामी तुलसीदास का महत्व" शीर्षक है। इस में कोई उल्लेख-योग्य नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। यह अवश्य है कि स्वतः एक सुकवि होने के कारण वयोवृद्ध लेखक ने एक विस्तृत क्षेत्र से जो चयन किया है उस मे भावुकता की छाप उस के हर एक अंश पर लगी हुई है।

चतुर्वेदी जी का निबंध, "गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार" शीर्षक है। इस में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गोस्वामी जी सर्वथा शांकर अद्वैत के अनुगामी थे। निबंध विचारपूर्ण अवश्य है पर सत्य को कदाचित् अंशतः ही उपस्थित करता है।

दुवे जी का "गोस्वामी जी और राजनीति" शीर्षक निबंध अपने विषय का विस्तृत विवेचन करता है। और दूसरा निबंध "गोस्वामी जी और नारी जाति" उसी प्रकार अपने विषय पर विस्तार-पूर्वक विचार करता है पर उस में वीरपूजा की भावना बोलती हुई मालूम पड़ती है। तुलसीदास महाकवि और महान् विचारक थे इस लिए यह आवश्यक नहीं है कोई कमी उन में न रही हो। माना कि स्त्री जाति के प्रति ऐसे ही भाव जैसे हमारे कवि के थे दूसरे देशों के भी अनेक मध्यकालीन कवियों और विचारकों के थे पर यह हमारे कवि की उस त्रुटि को किसी मात्रा में भी न्यायोचित नहीं बना सकता।

लमगोड़ा जी का निबंध "हिंदी भाषा और तुलसीकृत रामायण" शीर्षक है। इस लेख के लिखने का उद्देश्य लेखक के ही शब्दों में यह है कि "साहित्य-संसार को यह ज्ञात हो जावे कि वह ख़ूबियाँ जिन के लिए मुँह से सहसा वाह वाह निकल पड़ती है साधारणतः हिंदी भाषा और विशेषतः तुलसीकृत रामायण में अत्यंत मनोहर रूप में प्रस्तुत हैं। इसके अतिरिक्त उस मे कुछ ऐसी ख़ूबियाँ भी हैं जो अभी अन्य भाषाओं को हमारी भाषा से सीखनी हैं।" इस लेख में लेखक ने यद्यपि अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का कुछ ज्ञान अवश्य प्रदर्शित किया है और दूसरी ओर हिंदी शब्दो को कामधेनु की भाँति दुर्लभ से

दुर्लभ अर्थों और ध्वनियों का दाता भी दिखाने का उद्योग किया है पर इस से लेखक का दावा कुछ सिद्ध होता नहीं दिखाई देता—पूरा प्रयास एक इंद्रजाल के खेल सा लगता है।

चौबे जी और व्यौहार जी के दो लेख "तुलसी और रहीम" तथा "तुलसी और केशवदास" शीर्षक हैं। विषय दोनों के स्पष्ट हैं। लेखकों का ध्यान बाहरी अंतर की ओर अधिक गया है, उनके आधारभूत मनोवृत्तियों के विश्लेषण की ओर नहीं।

मिश्र जी का निबंध "बरवै रामायण" शीर्षक है। विषय छोटा सा भी ले कर एक योग्य समालोचक यदि विचार करने बैठे तो कितनी सुंदरता से उस पर विचार कर सकता है यह निबंध उस का उदाहरण है। रचना के संबंध मे विचार सहृदयता के साथ किया गया है।

संक्षेप मे 'तुलसी-ग्रंथावली' का यही योग है।

१६. सं० १९८२ तुलसीदास के अध्ययन मे एक तीसरी उल्लेख-योग्य तिथि है क्योंकि इसी वर्ष नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से रामकिशोर शुक्ल द्वारा संपादित 'मानस' के एक संस्करण के साथ बेनीमाधव दास-रचित उस 'मूल गोसाईंचरित' का प्रकाशन हुआ जिस ने कवि के जीवन-वृत्त के संबंध मे कुछ समय के लिए एक हलचल सी उत्पन्न कर दी थी। संस्करण के प्रारंभ में ही इस बात का निर्देश किया गया कि प्रस्तुत जीवनी उस बृहद् जीवनी का अंतिम अध्याय है जिस का उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' मे किया है। यह सब लिखते हुए भी संपादक ने इस बात की सूचना उस मे नहीं दी कि प्रति उसे कहाँ से प्राप्त हुई और उस का आकार-प्रकार आदि कैसा है।

१७. सं० १९८३ में महाराष्ट्र के एक लेखक द्वारा इस क्षेत्र में एक अपूर्व सेवा प्रकाश में आई। यह थी श्री यादवशंकर जी जामदार की 'मानसहंस' नामक पुस्तिका। इस पुस्तिका में "कवि-परिचय", "काव्य-समालोचना", "लोक-शिक्षा", "पात्र-परिचय", "उपसंहार", और "पंचवाद" नामक छः अध्याय हैं। "कवि-परिचय" साधारण है। इसी प्रकार के "लोक-शिक्षा" और 'पंचवाद" नामक धार्मिक और दार्शनिक अध्याय भी हैं। उल्लेख-योग्य अध्याय शेष तीन ही हैं। "काव्य-समालोचना" तथा "पात्र-परिचय" वाले दो अध्यायों में लेखक ने एक मौलिक पथ का अनुसरण किया है। लेखक की विवेचन-प्रणाली इन अध्यायों मे यह रही है कि उस ने केवल उन्हीं स्थलों को 'मानस' से चुना है

जो कवि के मौलिक स्थल हैं, अथवा जहाँ पर अपने पूर्ववर्ती कवियो के भाव लेते हुए भी हमारे कवि ने कोई नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। ऊपर के कुल लेखक-समुदाय में यह बात यदि कुछ मात्रा में मिलती है तो स्वर्गीय श्री शिवनंदन सहाय में, पर उन में भी यह उतना विकास नहीं कर सकी है जितना जामदार जी में। जामदार जी के प्रयत्न में यदि कोई कमी है तो इस बात की कि उन्हों ने यह विवेचना किसी निबंध-क्रम में नहीं उपस्थित की है; यदि कुछ क्रम मिलता है तो उन के "पात्र-परिचय" वाले अध्याय में। "काव्य-परिचय" वाले अध्याय में वे कथा-क्रम से चले हैं; उससे कवि की मौलिक उद्भावनाओं के ढर्रे का यथार्थ बोध नहीं होता। "उपसहार" वाले अध्याय में इस प्रकार के कुछ परिणाम पाने की आशा करना स्वाभाविक है, पर वहाँ भी इस संबंध मे निराश होना पड़ता है।

१८. रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास की हमारे विषय से संबंध रखती सेवाएँ उसी समय से प्रारंभ होती हैं जब सं० १९५९ वाले 'मानस' के संपादक-मडल में आप ने सहयोग दिया। किंतु आप का इस क्षेत्र मे सब से अधिक उल्लेखनीय सहयोग 'मूल गोसाईं-चरित' के प्रकाशित होने पर मिला। स० १९८४ की 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' की एक संख्या मे आप ने "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक एक निबध प्रकाशित किया जिस में 'मानस' के उक्त संस्करण में प्रकाशित 'मूल गोसाईं-चरित' का पाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हुए उस में आने वाली तिथियो और घटनाओं के सबध मे विचार किया। घटनाओं के सबध मे आप का विचार चलते ढग का था, पर तिथियों के संबध का विचार ज्योतिष की गणना पर अवलबित था। गणना से आप इस परिणाम पर पहुँचे कि 'चरित' में आने वाली १४ तिथियों में से ४ ऐसी हैं जिन की गणना इस लिए नही हो सकती कि उन का विवरण अपूर्ण है, शेष १० में से ६ ऐसी हैं जो गणना से सर्वथा शुद्ध उतरती हैं, और ३ ऐसी हैं जिन में केवल एक-एक दिन का अंतर आता है, और केवल १ ऐसी है जो सर्वथा अशुद्ध उतरती है। दूसरी बात आप ने यह देखी कि कवि ने अपने संबंध में जो-जो बातें अपने ग्रथों में कही हैं उन सब का सामंजस्य 'चरित' मे दिए हुए वर्णनो से पूरा-पूरा हो जाता है। फलतः आप ने लिखा कि यह 'चरित' बहुत कुछ प्रामाणिक है और इस के आधार पर गोस्वामी जी की एक अच्छी सी जीवनी तैयार की जा सकती है। अपनी ऐसी सम्मति लिखते

हुए आप ने हिंदी के अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी आमंत्रित की। सम्मतियाँ आईं, और वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' की अगली संख्याओं में प्रकाशित हुईं। इन सम्मतियों में से केवल दो ऐसी थीं जिन्हों ने 'चरित' की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया था, शेष सभी आप से सहमत थीं। इन मे से एक सम्मति थी रायबहादुर पंडित शुकदेवविहारी जी मिश्र की, जिन्हों ने 'चरित' मे से १० अलौकिक और १ काल-विरुद्ध घटना का निर्देश कर 'असंभव-एकादशी' नाम से उन्हें अभिहित किया था, दूसरी सम्मति थी श्री मायाशंकर याज्ञिक की जिन्हो ने उस में कुछ इतिहास विरुद्ध बातें दिखाई थी। फलतः अधिकतर विद्वानों को अपनी सम्मति का समर्थन करता हुआ देख कर वयोवृद्ध लेखक ने कवि के जीवन-वृत्त के पुनर्निर्माण में हाथ लगाया। इस उद्योग मे आप को पंडित (अब डॉक्टर) पीताबरदत्त बड़थ्वाल से पर्याप्त सहकारिता और सहयोग प्राप्त हुए और सं० १९८८ में आप ने अपनी 'गोस्वामी तुलसीदास'[1] नामक नवीन रचना प्रकाशित कर दी। इस पुस्तक में आप के ही शब्दों में "तब तक की उपलब्ध समस्त सामग्री को उपयोग में लाने तथा गोस्वामी जी के एक सुशृंखल जीवन-वृत्तात को प्रस्तुत करने का उद्योग किया गया है, साथ ही उन के जीवन पर एक व्यापक दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है।"[2] पर यह उद्योग इस विश्वास के साथ किया गया है कि "जिस व्यक्ति (वेनीमाधव दास) को अपने चरित-नायक से ६४-७० वर्ष का दीर्घकालीन सपर्क रहा हो उस के लिखे जीवन-चरित की प्रामाणिकता के विषय में संदेह के लिए अवकाश बहुत कम हो सकता है, यदि यह 'मूल चरित' प्रामाणिक न हो तो आश्चर्य की बात होगी।"[3] फलतः कवि के जीवन-वृत्त के इस उद्योग में 'मूल गोसाईं-चरित' को प्राधान्य मिलना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ है कि जब तक 'चरित' की किसी भी बात के विरोध मे—चाहे वह कितनी ही साधारण क्यो न हो—दृढ़ प्रमाण नहीं मिला है तब तक उसे इस पुस्तक में दिए हुए जीवन-वृत्त में सम्मिलित किया गया है। पूरी पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २१० है, जिस मे से १५० पृष्ठ इस जीवन-वृत्त को दिए गए हैं और शेष ६० में कवि की कला, उस के व्यवहार-धर्म, तत्व-साधन, तथा व्यक्तित्व पर विचार

[1] हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित

[2] पृ० २२

[3] पृ० वही

किया गया है। यह विवेचन स्थान-सकोच के कारण स्वभावतः बहुत सक्षिप्त है और इस में कोई उल्लेख-योग्य नवीनता भी नही है।

१९. जिन दिनों 'मूलगोसाइंचरित' "गाँव में आए नए-नए ऊँट" की तरह आधुनिक हिंदी-साहित्य की छोटी सी दुनिया में आ कर कोने-कोने से अभिनंदन-पत्र ले रहा था उन्ही दिनों सं० १९८६ में एक शास्त्री जी का "गोस्वामी जी का जन्म-स्थान—राजापुर या सोरों ?" शीर्षक लेख 'माधुरी' में प्रकाशित होने के लिए उस के संपादक-मडल के सामने आया। उस समय पत्र के सपादकों को इस बात का क्या गुमान होता कि कभी इस लेख का विषय तुलसी-संसार का एक गर्म विषय भी हो सकेगा; फलतः उन्हों ने इसे एक कोने में 'कवि-चर्चा' नामक स्तंभ के नीचे स्थान दिया।[1] इन शास्त्री जी का नाम है पडित गोविंदवल्लभ भट्ट। आप सोरों, ज़िला एटा के निवासी हैं। लेख में आप ने पहले-पहल इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया कि कवि का जन्म सोरों, ज़िला एटा में हुआ था, सोरों के योगमार्ग नामक मुहल्ले में अब भी उस का मकान है, वह जाति का सनाढ्य शुक्ल था, उस के गुरु का नाम नरसिंह चौधरी था, वह भी सनाढ्य थे, और यहीं के निवासी थे, उन का स्थान सोरों में सुरक्षित है, हमारे कवि और नददास भाई-भाई थे, कवि का विवाह सोरों से मिले हुए बदरिया नाम ग्राम में हुआ था, जहाँ उनके श्वसुर-गृह का खंडहर अब तक बताया जाता है, नंददास के पुत्र का नाम कृष्णदास था, तुलसीदास के राजापुर चले जाने पर यह कृष्णदास उन को मना कर घर वापस लाने के लिए उन के पास गए थे पर वह लौटे नहीं। इन सारी बातों के प्रमाण में लेखक ने अधिक तर स्थानीय मौखिक जन-श्रुतियों का होना बताया है, और कुछ अन्य प्रकार से भी उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

२०. सं० १९८७ मे एक अंग्रेज़ विद्वान् जे० एम्० मैक्फी की लिखी हुई 'दि रामायण अव् तुलसीदास' नामक पुस्तक प्रकाश में आई। यह पुस्तक भी कारपेंटर महोदय की 'दि थियॉलॉजी अव् तुलसीदास' नामक पुस्तक की भाँति कवि के धार्मिक सिद्धातों का विवेचन करती है, पर इस में उन त्रुटियों में से एक भी नहीं है जो कारपेंटर साहब की पुस्तक में पाई जाती हैं। प्रारंभ में

[1] वर्ष ८, खड १, पृ० ६०४

कवि की एक छोटी सी जीवनी भूमिका के रूप में दी जाती है। तदनंतर संक्षेप मे रामकथा कही जाती है। और पीछे देवताओं तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव के संबध मे कवि के विचारो का अध्ययन किया जाता है। और, उस के बाद ब्रह्म का स्वरूप, 'मानस' में क्या है इस बात पर विचार किया जाता है। पुस्तक के अतिम अध्याय का विषय है "भारतीय विचारधारा और जीवन में रामायण का भाग"। यह हर्ष की बात है कि लेखक इस सिद्धात से ज़रा भी प्रभावित नहीं है कि भारतीय भक्तिमार्ग के विकास पर ईसाईधर्म का कोई प्रभाव पड़ा है। कृति सुदर है।

२१. स० १९९२ में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी लिखित 'तुलसी के चारदल' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह दो खडो में विभक्त है: पहले मे कवि के जीवन-वृत्त, तथा उस की काव्य-कला पर विचार किया गया है, फिर उस के चार छोटे-छोटे ग्रंथ 'रामलला नहछू,' 'बरवै रामायण', 'पार्वतीमगल', तथा 'जानकीमगल' की क्रमशः समीक्षा की गई है, और दूसरे में इन ग्रंथों का मूल-पाठ दिया गया है और उसकी टीका की गई है। जीवन-वृत्त चलते ढंग से कह दिया गया है। "काव्य-कला" नामक शीर्षक के नीचे तदनंतर लगभग ४५ पृष्ठो मे साहित्य-शास्त्र के सिद्धातो का विवेचन किया गया है, और उस के अनंतर केवल १५ पृष्ठों में कवि के "काव्य के संबध मे संक्षिप्त चर्चा" की गई है। इस संक्षिप्त चर्चा में समालोचना का दृष्टिकोण अवश्य है, इसमें वयोवृद्ध शुक्ल जी के लोकधर्म वाले सिद्धातों के विरोध मे आवाज़ उठाई गई है। लेखक का दृष्टिकोण विचारणीय है। शेष पुस्तक में उद्दिष्ट ग्रंथों की जो समालोचना की गई है उस में नवीनता बहुत कम मिलती है। यह अवश्य है कि वह विस्तार से की गई है। मूल-पाठ और टीका में कोई उल्लेख-योग्य विशेषता नहीं है। टीका अधिकतर विद्यार्थियो की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखी गई ज्ञात होती है।

२२. सं० १९९३ में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने 'मानस' का एक संस्करण निकाला और उस के साथ एक विस्तृत भूमिका भी निकाली। इस भूमिका में आप ने उस समय तक प्राप्त कवि के जीवन-वृत्त तथा रचनाओ के संबंध की लगभग सभी प्रमुख सामग्री का आधार ग्रहण कर कवि का परिचय उपस्थित किया। सं० १९९४ मे पुनः इसी सामग्री को कुछ और विस्तार और आवश्यक फेरफार के साथ अलग पुस्तकाकार 'तुलसीदास और उन की

कविता' नाम से प्रकाशित किया। इस पुस्तक के दो खंड निकल चुके हैं, तीसरा खंड अभी निकलने को है। इस दूसरे प्रयास में, पहले खड की प्रस्तावना में आप ने जिस उदाराशयता का प्रदर्शन किया है वह उल्लेखनीय है। आप के शब्द यह हैं : "जान पड़ता है, अभी हिंदी में ठोस काम करने वालों का समय नहीं आया है। साहित्य में एक अंधड़ सा चल रहा है, और साहित्य-पथ के पथिक अधकार में उद्दिष्ट रास्ते की खोज करते हुए आकुल-व्याकुल की तरह चारों ओर दौड़ रहे हैं। उन के लिए मैं अपने कुछ छोटे-छोटे दिए रास्ते के किनारों पर टिमटिमाते हुए छोड़े जाता हूँ। संभव है, कभी उन की दृष्टि इन पर पड़े और वे इन को हाथ मे लेकर साहित्य का राजमार्ग खोज निकालने में समर्थ हों।" कितना प्रशसनीय दृष्टिकोण है! खेद यदि होता है तो इतना ही कि जिन से आप को दीए मिले, या जिन के दीयों से आप ने अपने दीए जलाए उन के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश के लिए इस पुस्तक में आप को स्थान नही मिला। पुस्तक के दूसरे खंड की प्रस्तावना में आप एक दर्जा और भी ऊपर उठते हैं। आप लिखते हैं "हमारे सहृदय पाठक ध्यान से देखेंगे तो तुलसीदास के बहिर्जगत और अंतर्जगत की विस्तृत सीमा में अनेक प्रकार के सुंदर-सुंदर दृश्य देखने को मिलेंगे, जहा पहुँचने पर साहित्यिक आनंद पाने के अतिरिक्त कल्याणेच्छु जिज्ञासुओ को जीवन के नवीन मार्ग भी दिखाई पड़ेंगे। इस पुस्तक द्वारा मैंने उन दृश्यों तक, उन कल्याण-केंद्रों तक पहुँचने के रास्तों की ओर संकेत-मात्र किया है। जो सहृदय जन उन रास्तों पर चलेंगे मुझे पूरा विश्वास है वे तुलसीदास के सच्चे स्वरूप का दर्शन कर के सच्चा आत्मसुख प्राप्त करेंगे।" जीव-कोटियाँ साधारणतः तीन मानी जाती हैं, बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। साहित्य के अंधकार-पूर्ण पथ में भटकते लोग पहली ही श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। कल्याणेच्छु जिज्ञासु तो स्पष्ट ही दूसरी श्रेणी में होंगे। अब तीसरी जीव-कोटि रह जाती है और 'तुलसीदास और उन की कविता' का तीसरा खड रह जाता है। विश्वास है कि इस तीसरी श्रेणी को भी त्रिपाठी जी निराश न करेंगे। अस्तु, अभी तक जो दो खंड प्रकाशित हुए हैं उन मे से पहले में कवि का जीवन-वृत्त है और दूसरे में उस की कविता और कला का अध्ययन है। पहले खंड मे यद्यपि नवीनता कम मिलेगी पर उस में एक विशेषता अवश्य है : सन् १९३७ तक प्रकाशित कवि के जीवन-वृत्त संबंधी सभी उल्लेख-योग्य सामग्री पाठक को एकत्र मिल जावेगी। पुस्तक

के दूसरे खंड में अवश्य लेखक ने कहीं-कहीं ऐसे दृष्टिकोणों से भी विचार किया है जो उस के अपने हैं। और एक बात जो दोनों खडों मे समान-रूप से मिलती है वह है लेखक का लेखन-चातुर्य। लेखक स्वयं एक सिद्धहस्त कवि भी है। फलतः साधारण से साधारण बात को भी वह पाठक के सामने सर्वत्र ऐसे ढंग से रखता है कि वह रोचक और सरस हो जाती है।

२३. सं० १९९३ में ही श्री विजयानंद त्रिपाठी ने 'मानस' का एक उल्लेख-योग्य संस्करण प्रकाशित किया। इस के कुछ वर्ष पूर्व 'कल्याण' में आप ने "तुलसीकृत ग्रंथों के शुद्ध पाठ की खोज" शीर्षक एक विचार-पूर्ण लेख लिखा था जिस में आप ने कवि के ग्रंथों की कुछ प्राचीन प्रतियों पर प्रकाश डाला था। प्रस्तुत संस्करण आप ने परिश्रम से तैयार किया। संपादन की विशेषता मुख्यतः यह है कि इस में कई प्रतियों के पाठातर दिए गए हैं। पर हमें देखना यह भी है—जैसा हम ने ऊपर कुछ अन्य संस्करणों के विषय में देखा है—कि संपादन में उन दावों का कहाँ तक पालन किया गया है जिन का उल्लेख संपादक ने भूमिका में किया है। संपादक का एक दावा है कि बालकाड का पाठ सं० १६६१ की अयोध्या की प्रति के अनुसार रक्खा गया है, और दूसरा दावा है कि अयोध्याकाड का पाठ राजापुर की प्रति के अनुसार रक्खा गया है। नीचे हम देखेंगे कि यह दावे किस हद तक सही उतरते हैं। बालकाड से केवल एक दोहा लिया जाता है; यह विशेष दोहा इस लिए कि प्रति के एक प्रकाशित फ़ोटोग्राफ मे वह आ जाता है[1] और इस लिए सुलभ है। अयोध्याकाड से वही तीन दोहे लिए जाते हैं जो 'ग्रंथावली' वाले संस्करण की जाँच के लिए ऊपर लिए गए हैं; ये भी, जैसा कहा जा चुका है, इसी दृष्टि से चुने गए हैं कि इन के फ़ोटोग्राफ प्रकाशित हैं[2] और इस लिए सुलभ हैं :—

		अयोध्या की प्रति का पाठ		संस्करण का पाठ
दो० ३०२ अर्द्धाली ३	. .	रामु, आयेसु	. .	राम, आयसु
,, ५	.	कुलाहल	. .	कुलाहलु
,, ६	.	गाईं	. .	गाई

[1] 'हिंदुस्तानी', सन् १९३७, पृ० ३३८

[2] 'वेन इंटरनैशनल ओरिएंटल कांग्रेस रिपोर्ट' और ग्रियर्सन कृत 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान', जिनके हवाले ऊपर दिए जा चुके हैं

	अयोध्या की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ३०२ अर्द्धाली ७	जाही, सरव	जाई, सरौ
	पाइक, फहराही	पाउक, फहराईं
,, ९	कउतक	कौतुक
दोहा चरण १	कुॅंअर	कुअॅर
,, ४	डगहि	डगहिं
	राजापुर की प्रति का पाठ	**संस्करण का पाठ**
दो० ५६ अर्द्धाली १	आयेसु	आयसु
,, ४	हियॅ	हिय
,, ५	जौ	जौ
दोहा चरण २	झूॅठ	झूठ
दो० ५७ अर्द्धाली ५	भयेउ	भयउ

फलतः यह स्पष्ट है कि इस सपादन में भी उतनी शुद्धता नहीं है जितनी का दावा किया जाता है। यह अवश्य है, जैसा ज्ञात हुआ होगा, कि यह संस्करण 'ग्रंथावली' वाले सस्करण की अपेक्षा अधिक शुद्ध है।

२४. सं० १९९९ में डॉक्टर सूर्यकात शास्त्री ने हमें 'इडेक्स वर्बोरम अव् दि तुलसी रामायण' भेंट कर हमारे अध्ययन को एक क़दम और आगे बढ़ाया। तुलसी-अध्ययन में इस प्रकार का यह पहला प्रयास हुआ है। लेखक ने यह नहीं लिखा है कि इस परिश्रम-पूर्ण और किंचित् नीरस कार्य में कितना समय लगा, पर निस्संदेह इस में कई वर्ष लगे होंगे। लेखक का यह 'इंडेक्स' 'राम-चरित मानस' के उस सस्करण पर अवलबित है जिसे इडियन प्रेस प्रयाग ने प्रकाशित किया था, और जिस पर रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास की टीका है, फलतः ऊपर जो त्रुटियाँ हम उक्त संस्करण के सपादन में देख आए हैं उन से इसे भी क्षति पहुॅची है—और लेखक ने स्वयं उनके संबंध मे खेद प्रकट किया है। केवल एक बात जो मुझे इस के संबध में खटकी है वह यह है कि रूप-भ्रम से, अथवा जान-बूझ कर, विभिन्न आशय के दो या अधिक शब्द एक ही शब्द के नीचे सूचीबद्ध किए गए हैं: उदाहरणार्थ 'करि' शब्द के नीचे 'हाथी' का पर्याय और 'कर' क्रिया का पूर्वकालिक रूप; 'कि' शब्द के नीचे 'क्या' अर्थ का प्रश्नवाचक और 'या' अर्थ का बोधक अव्यय; 'कहॅ' शब्द के नीचे 'कहाँ' अर्थ का स्थानवाचक अव्यय और 'को' अर्थ की विभक्ति; 'गुण' शब्द के

नीचे 'त्रिगुण' का 'गुण' और 'विशेषता' के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द; 'स्रुति' शब्द के नीचे 'कान' अर्थ का वाचक और 'वेद' अर्थ का वाचक; 'हरि' शब्द के नीचे 'वंदर', 'विष्णु', 'सिह', और 'सूर्य' के वाचक; 'रस' शब्द के नीचे 'नवरस' का 'रस' और स्वाद विपयक 'रस' और 'वलि' शब्द के नीचे 'राजा वलि', 'वलिदान' और 'न्योछावर' के अर्थ में आने वाले शब्द सूचीवद्ध किए गए हैं। यदि इन विभिन्न अर्थवाची शब्दो को उन के आशय के अनुसार अलग-अलग सूचीवद्ध किया गया होता तो 'इंडेक्स' की उपयोगिता कुछ और वढ़ जाती। फिर भी इस सूची से तुलसीदास के अध्ययन मे वड़ी सहायता मिलेगी इस मे संदेह नही। सच वात तो यह है कि आजकल की परिपाटी के अध्ययन के लिए 'इंडेक्स' अनिवार्य हैं, और इस दिशा मे यह पहला प्रयास होने के कारण इस की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

२५. सं० १९९५ में प्रकाशित पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र लिखित 'तुलसी-दर्शन' नामक पुस्तक भी उल्लेखनीय है। यह पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है: "गोस्वामी जी और मानस", "भारतीय भक्ति मार्ग", "जीव-कोटियाँ", "तुलसी के राम", "विरति-विवेक", "हरि भक्ति पथ", "भक्ति के साधन", तथा "तुलसी-मत की विशेपता"। अध्यायो के विषय उन के शीर्षकों से ही स्पष्ट हैं। अंग्रेज़ी में इस प्रकार की दो पुस्तकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है (१) कारपेंटर की 'दि थियॉलॉजी अव् तुलसीदास' और (२) मैक्फ़ी की 'दि रामायण अव् तुलसीदास'। पर हिंदी मे इस प्रकार की कोई पुस्तक नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति मिश्र जी ने इस रचना द्वारा की है। पुस्तक विचार-पूर्ण है। पर एकाध वाते खटकती हैं: पुस्तक का विपय 'तुलसी-दर्शन' होते हुए भी अपने अध्ययन के लिए लेखक ने केवल 'मानस' का अवलंवन किया है, कवि की अन्य कृतियों की उपेक्षा की है, यह इस प्रकार की एक वात है; दूसरी वात जो खटकती है, पर जिसे लेखक इस ग्रंथ की ख़ूवी समझता है, यह है कि "इस में गीता लेकर गाधीवाद तक के सभी भारतीय साम्प्रदायिक तत्वों का समावेश हो गया है।" कहना नहीं होगा कि उस के इस प्रदर्शन-प्रयास मे कहीं-कहीं कुछ खींच-तान भी जान पड़ती है। अन्यथा पुस्तक उपादेय है।

२६. सं० १९९५ में गीता प्रेस, गोरखपुर से 'कल्याण' का एक विशेपाक निकला, जिस का नाम है 'मानसाक'। यह विशेपाक वृहत्काय है। इस का प्रमुख अंग 'मानस' और उस की टीका है, और गौण अंग 'मानस'-संवंधी लेख

हैं। संपादक हैं श्री चिम्मनलाल गोस्वामी और श्री नंददुलारे वाजपेयी। लेख कुछ बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, इस लिए केवल संस्करण के सपादन पर विचार करना यथेष्ट होगा। इस संपादन में भी उस की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए ऊपर की भाँति कहा गया है कि बालकाड का पाठ सं० १६६१ की अयोध्या की प्रति के अनुसार और अयोध्याकाड का राजापुर की प्रति के अनुसार रक्खा गया है। नीचे हम उन्ही दोहों के आधार पर इस कथन की सत्यता पर विचार करेंगे जिन दोहों के आधार पर ऊपर हम ने 'तुलसी-ग्रथावली' और पंडित विजयानंद त्रिपाठी के संस्करणो पर विचार किया है :—

	अयोध्या की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ३०२ अर्द्धाली ३	आयेसु	आयसु
,, ५	भयेउ, कुलाहल	भयउ, कोलाहल
,, ८	कउतुक	कौतुक
दोहा चरण १	कुँवर	कुअँर
,, ४	डगहि	डगहिं

	राजापुर की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ५६ अर्द्धाली १	आयेसु	आयसु
,, ४	अंतहु	अंतहुँ
,, ५	जौं	जो
दोहा चरण १	एह	यह
,, २	झूँठ	झूठ
दो० ५७ अर्द्धाली ३	सबहिं, जेहि	सबहि, जेहिं
,, ५	भयेउ, करालु	भयउ, कराल

फलतः सावधानी की कमी इस संस्करण मे भी स्पष्ट है, पर यह कहना होगा कि इस संस्करण में उपर्युक्त सभी संस्करणों की अपेक्षा अशुद्धियाँ कम हैं। एक बात इस सबंध में और विचारणीय है—वह यह है कि यह सस्करण मासिक पत्रिका के एक अंक के स्थान पर निकला है, अतः समय पर निकलना अनिवार्य होने के कारण कुछ आश्चर्य नहीं कि जल्दी करनी पड़ी हो, और जल्दी करने के कारण भी काम उतना अच्छा न हो सका हो जितना वह अन्यथा होता। पत्र के सचालक महोदय ने यह सूचना दी थी कि वे शीघ्र ही मूल पाठ का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं जिस में आवश्यक

पाठांतर भी दिए जाएँगे।[1] संस्करण निकल गया है किंतु पाठांतर उसमें किन्हीं प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो के नहीं हैं बल्कि कुछ मुद्रित संस्करणों के हैं, और मूल पाठ में भी इन अन्य संस्करणों के प्रभाव मे आकर कदाचित् कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन किया गया है, इस लिए वैज्ञानिक परिपाटी पर अध्ययन करने वालों को इस से निराशा हो सकती है।

२७. सं० १९९६ मे कवि के जीवन-वृत्त के संबंध में बहुत सी अनोखी बातें प्रकाश में आईं। वह कहाँ तक प्रामाणिक हैं, और वह जिस सामग्री का अवलंबन ग्रहण करती हैं वह कहाँ तक प्रामाणिक है यह दूसरी बात है, पर यदि वह प्रामाणिक सिद्ध हुईं तो इस मे संदेह नहीं कि कवि का जो कुछ जीवन-वृत्त अभी तक हमे ज्ञात था उस में बड़ी वृद्धि होगी, और हमें अपने बहुत से पुराने विचारों और तर्कों पर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ेगी। पंडित गोविंद-वल्लभ भट्ट शास्त्री की सूचनाओं का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, पर जैसा हम ने देखा था वे सूचनाएँ प्रमुख रूप से मौखिक जनश्रुतियों पर अवलंबित थीं। इधर उसी विषय से संबंध रखने वाली जो बातें हमारे सामने आईं वे कुछ हस्तलिखित प्रतियों मे सुरक्षित साक्ष्य के आधार पर कही गईं। इस सामग्री को पहले-पहल इस बार प्रकाश मे लाने वाले हैं कासगंज निवासी श्री रामदत्त भारद्वाज, एम्० ए०। आपने उक्त वर्ष के फ़रवरी तथा जून के 'विशाल भारत' मे दो लेख लिखे, जिन के शीर्षक हैं क्रमशः "गोस्वामी तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावली (जीवनी और रचना)" और 'महाकवि नंददास"। और उन के बाद उसे प्रकाश मे लाने वाले हैं पंडित भद्रदत्त शर्मा, और लखनऊ यूनिवर्सिटी के श्री दीनदयालु जी गुप्त। इन दो सज्जनो के लेख 'सनाढ्य-जीवन' नामक जाति-विशेष के एक पत्र मे उस के "तुलसी-स्मृति-अंक" मे निकले हैं। इस "तुलसी-स्मृति-अंक" मे लेख तो बहुत से हैं, पर इन दो लेखकों के लेखों में वह सभी सामग्री आ जाती है जो अन्य लेखों मे भी बिखरी पड़ी है। जिस सामग्री का आधार इन लेखो में ग्रहण किया गया है उस पर यथास्थान इसी ग्रंथ मे आगे चल कर विचार किया गया है, इस लिए यहाँ उस पर विचार करना अनावश्यक होगा।

२८. इस सामग्री के प्रकाशित होने के अनंतर महाकवि के जन्म-स्थान का प्रश्न विशेष रूप से हिंदी-जगत् के सामने आया। फलतः पिछले डेढ़-दो वर्षों

[1] पृ० ४

में जन्म-स्थान की समस्या पर अनेक लेख लिखे गए हैं, परंतु सामग्री अथवा विवेचन-विषयक कोई उल्लेखयोग्य नवीनता उन में नहीं है इस लिए प्रस्तुत प्रसंग मे उन का उल्लेख करना बहुत सगत न होगा।

तुलसीदास का जो अध्ययन अभी तक हुआ है सक्षेप में उस का दिग्दर्शन हम कर चुके। इस कार्य को हम किस प्रकार अधिक से अधिक पूर्ण और विश्वास-योग्य बना सकते हैं इस सबध में हमें विचार करना है।

२९. सब से पहली बात जो हमें इस प्रसंग मे आवश्यक समझ पड़ती है यह है कि हम कवि के जीवन और कृतियों के अध्ययन की आधारभूत सामग्री की एक ऐतिहासिक के दृष्टिकोण से परीक्षा करे। अभी तक साधारणतः हुआ यह है कि जो भी सामग्री हमें दिखलाई पड़ी हम ने प्रामाणिक मान कर उस को कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण में और उस की कृतियों के परिशीलन में कोई न कोई स्थान दे दिया। परिणाम यह हुआ है कि जिस भव्य भवन का इस से हमने निर्माण किया कि वह अब हिलता हुआ नज़र आ रहा है, और वह समय दूर नहीं है कि जब—यदि हम ने शीघ्र ही उस को गिराकर नए सिरे से बनाने का यत्न न किया—वह धराशायी हो जावे और साथ ही उन को भी क्षत-विक्षत कर दे जो उस का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। इस पुनर्निर्माण के उद्देश्य को सामने रखते हुए हमें उस सामग्री के संबध में अत्यंत सतर्क होना चाहिए जो उस का आधार-शिला बनने के लिए आगे आती है। फलतः इस ग्रंथ का अगला, अर्थात् द्वितीय अध्याय उस सामग्री की परीक्षा से सबध रखता है।

३०. महाकवि के ऐहिक जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण—केवल उस सामग्री की सहायता से जो किसी पर्याप्त अंश तक प्रामाणिक मानी जा सकती है—वह दूसरी बात है जो इस प्रसंग में आवश्यक समझ पड़ती है। किसी भी कवि या लेखक की कृतियों का यथार्थ अध्ययन करने के लिए, उस की अंतरात्मा तक पहुँचने के लिए, अन्य बातों के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम उक्त कवि या लेखक के बाह्य जीवन से भी यथेष्ट परिचय प्राप्त कर लें। इस प्रकार के जीवन-वृत्त की उपयोगिता का मूल्य घटा कर आँकना सरल ही है, पर इस तथ्य को कदाचित् अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी कवि के संदेश को ठीक-ठीक समझने के लिए इस प्रकार के जीवन-वृत्तात्मक अध्ययन बड़े सहायक सिद्ध हुआ करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का तीसरा अध्याय फलतः इसी विषय से संबंध रखता है।

३१. महाकवि के ग्रंथो के संपादन की सामग्री का अध्ययन ऐसा तीसरा विषय है जो प्रस्तुत प्रसंग मे विशेष महत्वपूर्ण जान पड़ता है। यह खेद का विषय है कि अध्ययन का यह पक्ष अभी तक नितात उपेक्षित रहा है। यह अवश्य है कि इस प्रकार का अध्ययन ज़रा श्रमसाध्य है, फिर भी हम अधिक दिनो तक इस की अवहेलना नहीं कर सकते, क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम वस्तुतः दृढ़ता-पूर्वक आगे नहीं बढ़ सकते। यह समझते हुए कितनी निराशा होती है कि कुछ अंश तक 'मानस' को छोड़ कर महाकवि की एक भी कृति का संपादन उस की प्राप्त प्रतियों के आधार पर नहीं किया गया है। इस ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय फलतः इसी संपादन-सामग्री का अध्ययन उपस्थित करता है, यद्यपि यह अध्ययन केवल नितात महत्व-पूर्ण सामग्री तक ही सीमित रक्खा गया है, क्यो कि यही प्रस्तुत प्रयास मे संभव भी था।

३२. महाकवि की कृतियों के काल-क्रम का अनुसंधान वह चौथा विषय है जो प्रस्तुत प्रसंग में महत्वपूर्ण जान पड़ता है। शेक्सपीयर के नाटकों के लिए रचना-तिथियो के निर्धारण का प्रयास शेक्सपीयर के अध्ययन की विगत डेढ़ शताब्दी का एक प्रमुख विषय रहा है,[1] किंतु हम लोगो ने अभी तक अपने महाकवियो के अध्ययन के संबंध में इस प्रकार के अनुसंधान की महत्ता का अनुभव नहीं किया है। इस प्रकार का अनुसंधान निरा 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' या 'मस्तिष्क का व्यायाम' नहीं है, बल्कि इस पर निर्भर है ससार के कुछ महाकवियों की कृतियों को उन के यथार्थ रूप में समझने की संभावना, किसी बीती हुई दार्शनिक प्रणाली के अगागो की भाँति नहीं बल्कि वस्तुतः एक महापुरुष के जीवित और प्रगतिशील व्यक्तित्व की वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में। प्रस्तुत लेखक इस दिशा में प्रथम था जब उस ने, दस वर्ष हुए, "गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का कालक्रम" शीर्षक लेख 'हिंदुस्तानी' में प्रकाशित किया,[2] और यह संतोष का विषय है कि उस के इस कार्य को विद्वानों ने पसंद किया। तब से महाकवि की कृतियो का अध्ययन उपस्थित करनेवाले प्रायः सभी लेखकों ने उस के परिणामो पर विचार किया है, और अधिकांश में उस के परिणामों को स्वीकार किया है। जहाँ पर उन्हों ने मतभेद प्रकट किया है उन स्थलों पर हम यथा-

[1] इस संबंध के प्रथम निबंध एडमंड मैलोन के थे जो सन् १७७८ में लिखे गए थे

[2] जनवरी तथा अप्रैल, सन् १९३१

स्थान आगे चल कर विचार करेंगे। इस ग्रंथ का पाँचवाँ अध्याय फलतः इसी काल-क्रम के अनुसंधान से संबंध रखता है। केवल, इस प्रसंग को छोड़ने के पूर्व, प्रस्तुत लेखक इस बात पर यथेष्ट बल देना चाहता है कि इस दिशा में उस के प्रयास की परिणाम-समष्टि कोई अनिवार्य सत्य नहीं है, बल्कि न्याय-शास्त्र की भाषा में इस प्रकार का एक समाधान मात्र है जिस से ज्ञात सूचनाओं को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है और जो स्वतः सुसंगठित है और महाकवि के वाह्य-जीवन के ज्ञात तथ्यों से किसी प्रकार का विरोध नहीं रखता है।

३३. महाकवि की कला का अध्ययन वह पाँचवाँ विषय है जो इस संबंध में प्रमुख रूप से महत्त्वपूर्ण ज्ञात होता है। किंतु इस से पूर्व कि हम महाकवि की कृतियों को कला की दृष्टि से देखने बैठें, यह नितांत आवश्यक है कि हम इस भारी भ्रम से अपने को मुक्त कर लें कि जो कुछ भी हमारे महाकवि ने लिखा है वह सर्वथा उस की मौलिक कृति है। उस का स्मरणीय ग्रंथ 'रामचरित मानस' ही ऐसे अनेक संस्कृत ग्रंथों से सामग्री प्राप्त करता है जो निश्चित रूप से उस से पूर्व की रचनाएँ हैं। यह विशेषता कथा के ढाँचे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि बहुत कुछ उस ढाँचे की पूर्ति में भी देखी जा सकती है, और कभी-कभी तो देखा जाता है कि स्थल-विशेष पर प्रयुक्त काव्योक्ति भी पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में अभिन्न रूप में मिलती है। फिर भी हमारे महाकवि में मौलिकता की कमी नहीं है, और यह अच्छा ही होगा कि अब भी हम केवल उस के मौलिक योग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, और अपने महाकवि की महानता का अनुभव केवल उसी के आधार पर करें, और उस की स्तुति या निंदा उस सामग्री के आधार पर न करें जो उस ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है। इस ग्रंथ का छठा अध्याय, फलतः, महाकवि की कला का अध्ययन इस बात की यथेष्ट अनुभूति के साथ करता है कि वह अंशतः अपने पूर्ववर्ती लेखकों का भी ऋणी है।

३४. महाकवि के आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों का सम्यक् अध्ययन वह छठा विषय है जो प्रस्तुत प्रकरण में विशेष महत्वपूर्ण जान पड़ता है। अभी तक जो कार्य इस दिशा में हम ने किया है वह केवल 'मानस' के आधार पर किया है, और कवि के शेष ग्रंथों की इस संबंध में सर्वथा उपेक्षा की है। फिर, जो कुछ हम ने किया भी है उस में भी एक बात का ध्यान नहीं रक्खा है: "क्या ऐसा तो नहीं है कि महाकवि ने कोई बात स्वतः या अपने पात्रों के द्वारा केवल इस कारण

कह या कहला दी है कि वह एक 'श्रुति सम्मत' या 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' कथा कहने बैठा था ?" कम से कम एक बात से हम लोग, हमें आशा है, अस्वीकृति नहीं प्रकट कर सकते : 'मानस' में उसे वह अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं था जो उसे अपने कुछ अन्य ग्रंथों में था। इस लिए यह नितात असंभव नही कि इस संबंध मे उस की उन अन्य कृतियों की उपेक्षा से हमें केवल अर्ध-सत्यो का लाभ हुआ हो। हमारे ग्रंथ का सातवाँ अध्याय फलतः कवि के आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों का अध्ययन एक व्यापक दृष्टिकोण से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।

भूमिका के रूप मे इतना कथन कदाचित् अलम् होगा।

२

अध्ययन का आधार

१. 'रामचरित मानस' के प्रणयन-काल (सं० १६३१) से ही, जिसे अब साढ़े तीन सौ वर्ष से भी अधिक हो रहे हैं, उत्तरी भारत में तुलसीदास का अध्ययन श्रद्धा और मनोनियोग पूर्वक हो रहा है, फलतः उन के सबंध में एक विस्तृत साहित्य का पाया जाना स्वाभाविक है। और भी, उन की इस लोक-प्रियता ने यदि कई शताशत अन्य तुलसीदासों को जन्म दिया हो तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि जो कुछ भी सामग्री हमे इस समय उन के सबध में अथवा उन के नाम के साथ संबद्ध मिलती है उस पर हम भली भाँति विचार कर लें तब आगे बढ़े।

२. यह सामग्री मुख्यतः दो रूपों में हमारे सामने आती है :

(क) कवि के जीवन-वृत्त तथा जीवन-वृत्त संबधी सामग्री के रूप में,

(ख) कवि की रचनाओं के रूप में।

कवि के "जीवन-वृत्त" के रूप में साधारणतः ऐसी सारी रचनाऍं आती हैं जिन का उद्देश्य उस के व्यावहारिक जीवन से परिचय कराना होता है। इस प्रकार के जीवन-वृत्तों का अंत पाना कठिन है, क्यों कि वे न केवल कवि के सबंध में लिखे गए समालोचनात्मक ग्रंथों में मिलते हैं बल्कि उस की रचनाओं के अनेक सस्करणों के साथ भूमिका के रूप में भी मिलते हैं। स्पष्ट ही, इन सारे जीवन-वृत्तों की जाँच असंभव ही नही अनावश्यक भी है। यहाँ हम इतना ही कर सकते हैं कि कवि के ऐसे जीवन-वृत्तों की जाँच करे जिन के आधार पर अन्य जीवन-वृत्तों की रचना हुई है, और इन आधार-भूत जीवन-वृत्तो की संख्या अधिक नही है। "जीवन-वृत्त संबधी सामग्री" भी कुछ कम नहीं है, पर यह ध्यान देने योग्य है कि उस का अधिकाश किंवदंती मात्र है; ऐसी सामग्री जो इन किंवदतियों को छोड़ देने पर बचती है अधिक नहीं है, और इसी पर विचार करना यहाँ हमारे लिए सभव भी है। कवि की "रचनाऍं" अनेक कही जाती हैं। वे कुल हमारे ही कवि की रचनाऍं हैं, अथवा किसी अन्य

ज्ञाताज्ञात तुलसीदास की रचनाएँ भी उसमें आ गई हैं इस पर भी हमें यथा-स्थान इसी प्रकार विचार करना होगा। अध्ययन की इस आधार-भूत सामग्री पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

गोसाईं-चरित्र

३. जीवन-वृत्त के रूप में सब से पहले जिस सामग्री की ओर हमारा ध्यान जाता है वह है 'गोसाईं-चरित्र'। 'गोसाईं-चरित्र' के संबंध में सब से पहली सूचना हमें 'शिवसिंह सरोज' में मिलती है। लेखक ने इस जीवन-वृत्त का उल्लेख दो स्थलों पर किया है, पहले तो हमारे कवि के संबंध मे लिखते हुए, और तदनंतर बेनीमाधव दास, उक्त जीवन-वृत्त के रचयिता के संबध मे लिखते हुए। पहले स्थल पर[1] लेखक कहता है "इन के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक बेनीमाधव दास कवि पसका ग्रामवासी ने जो इन के साथ-साथ रहे, बहुत विस्तार-पूर्वक लिखी है। उस के देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तक में ऐसी विस्तृत कथा को हम कहाँ तक सन्तेप में वर्णन करे।" और दूसरे स्थल पर[2] वह कहता है "बेनीमाधव दास उ० सं० १६५५।" यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य उन्हीं के साथ रहते रहे हैं और गोसाईं जी के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक 'गोसाईं-चरित्र' नाम की बनाई है। सं० १६९९ मे देहान्त हुआ।" बेनीमाधव दास की उक्त एकमात्र रचना से जो पंक्तियाँ वह उद्धृत करता है[3] वे इस प्रकार हैं :

यहि भाँति कछू दिन बीति गए। अपने अपने रस रंग रए।
मुखिया इक जूथप माँझ रहै। हरिदासन को अपमान गहै।

इस चरित्र के संबंध मे दी हुई पीछे के विद्वानों की विज्ञप्तियों का आधार एकमात्र 'सरोज' ही है, इस लिए उन का उल्लेख अनावश्यक है। अस्तु, 'गोसाईं-चरित्र' और उस के लेखक के संबंध में अभी तक हमें इतना ही ज्ञात हो सका है। खेद है कि प्रयत्न करने पर भी उस की खोज में ग्रियर्सन तथा अन्य अनेक विद्वानों को सफलता न मिली।

४. प्रस्तुत लेखक को खोज में एक अन्य 'गोसाईं-चरित्र' मिला है उस का

[1] शि० सिं० स०, पृ० ४२७ [2] वही, पृ० ४३२

[3] वही, पृ० १३१

परिचय देना परमावश्यक होगा। यह 'गोसाईं-चरित्र' उसे 'मानस' के एक संस्करण की भूमिका के रूप में प्राप्त हुआ है। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से 'रामचरित मानस' का एक वृहत्काय संस्करण किन्हीं महात्मा रामचरण दास की टीका सहित प्रकाशित है।[१] इसकी भूमिका में कवि का एक पद्यबद्ध जीवन-वृत्त दिया हुआ है जो तीस हज़ार शब्दो का (लगभग 'मानस' के अयोध्याकांड के आकार का) होगा। इस 'जीवन-चरित्र' का नाम भी 'गोसाईं-चरित्र' होना चाहिए, जो उस के निम्नलिखित सोरठे से ज्ञात होता है:

यह बल मनहिं दृढाय राम चरन सिर नाइ कै।
कहौं कछू इक गाइ श्री गोसाइँ अद्भुत चरित॥

(जीवन-चरित्र पृ० ६)

५. यह ध्यान देने योग्य है कि इस पद्यबद्ध जीवन-वृत्त मे हमे वह उद्धरण साधारण पाठ भेद के साथ मिल जाता है जिसे शिवसिंह सेंगर ने बेनीमाधव दास रचित 'गोसाईं-चरित्र' के उदाहरण में अपने 'सरोज' में स्थान दिया है। प्रस्तुत चरित्र में जिस प्रसग में वह उद्धरण पाया जाता है उस की कुछ अन्य पक्तियाँ भी देखना इस लिए आवश्यक होगा कि वह शेष रचना का एक अग मात्र है अथवा किसी और प्रकार से उस में उस का समावेश हुआ है। कुछ परवर्ती पंक्तियों के साथ उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत चरित्र में इस प्रकार मिलता है:

यहि भाँति कछू दिन बीति गए। अपने अपने रस रंग रए।
मुखिया यक जूथ समाज रहै। भक्तन निन्दा दृढ भाव गहै।
भइ चीण आयुर्दा देह तज्यौ। पतिनी शुभ जननो पतिहि भज्यौ।
तब त्यहि सत को सृंगार कर्‌यो। सब तजि पति चरणन ध्यान धर्‌यो।
निज लोक बिलोक बिशोक कियो। दुहु कुल पवित्र गति सुद्ध हियो।
इमि द्वारे मंदिर के निकसी। लखि जात गोसाईं पाइ लसी।
करुणामय के मुख यों निकसो। अहिवात रहो निज गेह बसो।
सुनि श्रवन अशीश सकोच कियो। प्रभु मोहिं कस आशिरवाद दियो।

(जीवन-चरित्र पृ०२०)

ऊपर की पक्तियों को ध्यान-पूर्वक देखने के अनंतर ज्ञात होगा कि पहली चार पंक्तियों की शैली तथा वस्तु शेष उद्धरण की शैली तथा वस्तु से—और

[१] तृतीय सस्करण (सन् १९२४)

इसी प्रकार शेष रचना की शैली तथा वस्तु से भी—वस्तुतः किसी प्रकार भिन्न नहीं है। और पहली चार पंक्तियाँ—अत्यंत साधारण पाठ-भेद के साथ—वही हैं जो हमें 'शिवसिंह सरोज' में 'गोसाईं-चरित्र' के उदाहरण मे मिलती हैं। इस तथ्य के साथ जब हमारा ध्यान इस बात की ओर जाता है कि गोस्वामी जी के इस 'जीवन-चरित्र' का भी विस्तार ऐसा ही है कि दो एक पृष्ठो में—जितने में छोटे-बड़े प्रत्येक कवि का परिचय लेखक देता है—उस की विस्तृत कथा का संक्षिप्त वर्णन असंभव है, और इस 'जीवन-चरित्र' का भी नाम 'गोसाईं-चरित्र' है, हमें यह जान पड़ता है कि वह 'गोसाईं-चरित्र' जो शिवसिंह सेंगर ने देखा था हमें भी बहुत कुछ उसी रूप में उपलब्ध है।

६. इस परिणाम को पूर्णतः स्वीकार करने में कठिनाई रह जाती है तो वह है 'चरित्र' के रचयिता और रचना-काल के संबंध की : शिवसिंह सेंगर ने 'गोसाईं-चरित्र' के रचयिता का नाम वेनीमाधव दास और उस का समय सं० १६५५ बताया है पर प्रस्तुत 'चरित्र' भवानीदास की रचना के रूप मे हमारे सामने आता है :

सब गुण रहित अवगुण सहित तव चरण दृढ़ विश्वास हो।
धरि आश संज्ञा नाम को याचै भवानीदास हो॥

(जीवन-चरित्र २)

और इन भवानीदास का समय सं० १८१० के लगभग का ज्ञात होता है।

७. लेखक ने अपनी रचना का समय नही दिया है पर उस के प्रेरक के संबंध में उल्लेख किया है, और इस प्रेरक के समय से रचना के समय का एक साधारण अनुमान किया जा सकता है। वह कहता है :

श्री स्वामी नँदलाल ब्रह्मरत राम परायन।
नगर सरीले बास ब्रह्म कुल के सुखदायन।
श्रीमत् योधाराम जिनहिं कुल कमल दिवाकर।
यथा नाम प्रभु आप मनो तन धरे कृपा वर।
प्रथम कछुक वन्दन कियों श्री गुरुदेव जो परम हित।
अमित दानि नररूप हरि तिन गुण गण की कहा मति॥
श्रीमत् चरणदास दुतिया प्रिय जन स्वामी के।
तिनके गुण अभिराम राम रति सब विधि नीके।
श्री हीरामणि दास जो तिनके गुण गण मंडित।
शास्त्र तत्त्व रति राम ज्ञान आचारज पंडित।

तेहि कुल कैरव सुधा निधि रामप्रसाद प्रकास किय।
हित चरण विषै रस अवध बसि श्री स्वामी की वृत्ति लिय॥
मोहिं आपन करि जानि मानि कुल कानि पच्छ धर।
नतरु विषै लपटान कौन हो पात्र कृपा कर।
बिबिध प्रसंग सुनाइ गोसाईं के सुखदायक।
मो निदेश ये चरित करहु भाषा गुण गायक।
अज्ञा शिर धरि जोरि कर बिनवौं कवि कोविद चरन।
लखि चूक छमा कीन्ह्यौ सदा जानि दास अपनी शरण॥

(जीवन-चरित्र पृ० ७)

इस उल्लेख से केवल इतना बोध होता है कि लेखक स्वतः किन्हीं महात्मा योधाराम का शिष्य था जो सरीला (संडीला) निवासी स्वामी नंदलाल की शिष-परंपरा मे हुए थे, और स्वामी नंदलाल की ही एक दूसरी शिष्य-परंपरा में कोई स्वामी रामप्रसाद हुए थे जो अयोध्या में निवास करते थे, और इन्हीं रामप्रसाद जी के आदेश से लेखक ने प्रस्तुत 'जीवन-चरित्र' की रचना की। प्रश्न यह है कि इन रामप्रसाद जी का समय क्या है!

८. रामप्रसाद जी अयोध्या में एक ऐसी गद्दी के महंत हो चुके हैं जो अब 'बड़ा-स्थान' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्ही रामप्रसाद जी के उत्तराधिकारी रघुनाथप्रसाद जी ने 'श्री महाराज-चरित्र' नामक एक पुस्तिका में उन का जीवन-चरित्र लिखा है। उसमें आपने लिखा है कि रामप्रसाद जी स्वामी नंदलाल की शिष्य-परपरा में थे और स० १७६० में उत्पन्न[1] और सं० १८६१ में साकेतवासी हुए थे।[2] यदि यह तिथियाँ हम ठीक मान लें—और ठीक न मानने का कोई उचित कारण नहीं जान पड़ता—और साथ ही यह भी मान ले कि रामप्रसाद जी अवस्था मे भवानीदास से इतना काफी बड़े थे कि उनमें भवानीदास की गुरु-भावना रही हो, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण के पढ़ने पर ज्ञात होता है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्रस्तुत 'जीवन-चरित्र' की रचना का समय सं० १८१० के सन्निकट होगा।

९. रामप्रसाद जी के समय के सबंध में अनुमान का एक और साधन भी है: यह है उसी टीका के साथ दिए हुए 'रामायण माहात्म्य' का वह अंश

[1] पृ० ११ [2] पृ० १३४

जिस में उस का लेखक रचना का समय और अपना परिचय देता है। आवश्यक अंश इस प्रकार है :

संवत वसु नभ नन्द कू मार्ग शुक्र गुरुवार।
एकादशि कहँ कीन्ह है अपनी मति अनुसार॥
राम कोट श्री अवधपुर स्वामी रामप्रसाद।
तिनकी महिमा को कहै विश्व विदित मरजाद॥
तिनते गादी पाँचईं सो स्वामी मैं दास।
लखणपुरी मम जन्म थिति रामनगर के पास॥
भोजमनगर प्रसिद्ध द्विज उत्तम पूरन दास।
तस्यात्मज गोपाल कुल यह माहात्म्य इतिहास॥

(रामायण माहात्म्य पृ० ८०)

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि रामप्रसाद जी 'माहात्म्य' के लेखक गोपालदास से ऊपर की छठी पीढ़ी मे थे, और 'माहात्म्य' का रचना-काल सं० १९०८ है। अगर हम प्रत्येक पीढ़ी का समय औसतन् लगभग २० वर्ष का मानें—जो ऐसी गद्दियो के संबंध मे प्रायः देखा जा सकता है जिन मे महंत चुनाव से होता है—तो रामप्रसाद जी का समय स० १८०८ के लगभग ठहरता है।

१०. अब प्रश्न यह है कि और सभी आवश्यक बातो में समानता होते हुए भी जीवन-वृत्त के रचयिता और उस की तिथि के संबंध में यह अंतर क्यो है। दो बाते संभव हैं: संभव है शिवसिंह सेंगर ने उस 'जीवन-चरित्र' को भली भाँति न देखा हो और किसी दूसरे के कथन पर इसी भवानीदास रचित जीवन-चरित्र' को वेनीमाधव दास रचित और सं० १६५५ के लगभग की रचना मान लिया हो और यह भी संभव है कि 'गोसाईं-चरित्र' जिस रूप में उसे सेंगर जी ने देखा रहा हो वेनीमाधव दास की ही रचना रही हो और उसे भवानीदास की रचना बनाने के लिये कुछ आवश्यक फेरफार कर दिया गया हो। इन दो बातो मे से जो भी ठीक हो, यह स्पष्ट है कि 'सरोज' में उल्लिखित 'गोसाईं-चरित्र' का एक रूप अब हमे उपलब्ध है।

११. प्रश्न अब यह है कि इस जीवन-चरित्र को कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है। जब हम इस चरित को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि यद्यपि इस में कवि के समकालीन अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और उन से संबध रखनेवाली घटनाओं का उल्लेख होता है परन्तु उन व्यक्तियों के संवंध में और उन से संबंध रखने वाली

घटनाओं के संबंध में हमें वह आवश्यक विस्तार नहीं मिलता है जिस की सहायता से उस की ऐतिहासिकता की जाँच की जा सके। और, तिथियाँ तो हमें पूरे चरित्र भर में नहीं दिखलाई पड़ती। ऐसी अवस्था में यह 'गोसाई-चरित्र' और वह 'गोसाई-चरित्र' भी—कवि के जीवन-वृत्त के पुनर्निर्माण में हमारा कहाँ तक सहायक हो सकता है यह अत्यत संदिग्ध है।[१]

मूल गोसाईं-चरित

१२. दूसरी सामग्री जो जीवन-वृत्त के रूप में प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है 'मूल गोसाईं-चरित' है। तुलसीदास के जीवन-वृत्त के संबंध में हमे अन्य जितनी सामग्री प्राप्त है उस सब से अधिक 'मूल गोसाईं-चरित' की विस्तृत परीक्षा की आवश्यकता है। इस के दो कारण हैं: एक तो यह है कि वह कवि के जीवन से संबंध रखने वाली प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है—वह प्रकाश भ्रातिपूर्ण है या सत्य यह हम पीछे कह सकेंगे—और दूसरे यह कि राय-बहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास तथा डॉक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ऐसे प्रतिष्ठित लेखकों ने उसे आधार मान कर कवि के एक जीवन-वृत्त की रचना की है।[२]

१३. जब हम इस चरित को आद्योपान्त पढ़ते हैं तो हमारा ध्यान इस की दो विशेषताओं की ओर प्रमुख रूप से आकृष्ट होता है: एक तो यह कि चरित-लेखक कवि के जीवन में ऐसी अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं को भी स्थान देता है जिन पर विश्वास करना केवल इने-गिने श्रद्धालुओं का ही काम है, दूसरे यह कि वह कवि के जीवन में घटित प्रत्येक घटना का तिथियों के साथ वर्णन करता है। फलतः उस मे वर्णित अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं के कारण ही उस की प्रामाणिकता पर संदेह करना युक्तियुक्त न होगा क्यों कि यह असंभव नहीं—जैसा कि कुछ लोगो का ध्यान है—कि साधारण लोगों में कवि के संबंध में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ही ऐसी घटनाओं की सृष्टि की गई हो या स्वाभाविक घटनाओं को ऐसा अस्वाभाविक रूप दिया गया हो। वस्तुतः हम उस की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबध में

[१] डॉक्टर लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने (सरस्वती भाग ४१, सख्या १, पृ० ३१) जिस 'श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत' का परिचय दिया है वह इसी 'गोसाईं-चरित्र' का रूपातर है।

[२] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० २१–२३

दृढ़तापूर्वक तभी कुछ कह सकते हैं जब हम यह देख लें कि उस की उपर्युक्त दूसरी विशेषता में कहाँ तक सत्य है।

१४. अस्तु, चरित-लेखक के दी हुई तिथियो और विस्तारो को हम उन की परीक्षा के साधनो के आधार पर निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन की शुद्धता ज्योतिष के नियमो के अनुसार जाँची जा सकती है,

(२) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन की परीक्षा इतिहास के सिद्ध प्रमाणो के आधार पर की जा सकती हैं, और

(३) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन के सबध मे कवि की रचनाओ का आश्रय ले कर कुछ निश्चय किया जा सकता है।

नीचे हम चरित-लेखक की दी हुई तिथियो और विस्तारों पर उपर्युक्त क्रम से विचार करेंगे।

१५. पहले प्रकार की तिथियों और विस्तारो में से केवल निम्नलिखित इस प्रकार के हैं जिन की गणना की जा सकती है, और गणना के अनंतर जिन की शुद्धता के संबंध में एक निश्चय पर पहुँचा जा सकता है, शेष का विवरण गणना के लिए अपर्याप्त है :

(अ) कवि की जन्म-तिथि : सं० १५५४ श्रावण शुक्ला ७, जब बृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे, और शनि वृश्चिक् के थे :

तिनके घर द्वादस मास परे। जब कर्क के जीव हिमांसु चरे।
कुज सप्तम अष्टम भानुतनै। अभिहित सुठि सुंदर साँझ समै॥
पंद्रह सै चौवन बिषै कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तिमी तुलसी धरेउ सरीर॥

(मू० गो० च० २)

(आ) कवि की यज्ञोपवीत-तिथि : स० १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार :

पंद्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी।
सरजू तट विप्रन जग्य किए। द्विज बालक कहँ उपवीत दिए॥

(मू० गो० च० ९)

(इ) कवि की विवाह-तिथि : सं० १५८३ जेठ शुक्ला १३, गुरुवार :

पंद्रह सै पार तिरासि बिषै। सुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।

अधिराति लगै जु फिरी भँवरी । दुलहा दुलही की परी भँवरी ॥

(मू० गो० च० १६)

(ई) कवि की स्त्री की देहात-तिथि: सं० १५८९ आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार :

सत पंद्रह जुक्त नवासि सरे । सु असाढ़ बदी दसमीहुँ परे ।
बुध बासर धन्य सो धन्य घरी । उपदेसि सती तनु त्यागि करी ॥

(मू० गो० च० १०)

(उ) कवि की रामदर्शन-तिथि: स० १६०७ माघ कृष्णा १५, बुधवार :

सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात ।
जा बैठे तिसु घाट पै बिरही होतहि प्रात ॥

(मू० गो० च० २३)

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति-तिथि : स० १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मंगलवार :

तैंतीस को संबत औ मगसर । सुभ द्यौस सु राम बिबाहहि पर ।
जुत सप्त सोपान समाप्त भयो । सदग्रंथ बन्यो सुप्रबंध नयो ॥
महि सुत बासर मध्य दिन सुभ मिति तत्सत फूल ।
सुर समूह जय जय किए हरषित बरषे फूल ॥

(मू० गो० च० ४१)

(ए) कवि की देहात-तिथि : सं० १६८० श्रावण कृष्णा ३, शनिवार :

संबत सौरह सै असी असी गंग के तीर ।
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तज्यो शरीर ॥

(मू० गो० च० ११०)

गणना करने पर[1] यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त सात तिथियों में से पहली और पाँचवीं को छोड़ कर शेष पाँच शुद्ध हैं। यह पाँच तिथियाँ विगत-सवत्-वर्ष-प्रणाली पर ठीक उतरती हैं, पर पहली और पाँचवी न विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर ठीक उतरती हैं और न प्रचलित-सवत्-वर्ष-प्रणाली पर।

१६. दूसरे प्रकार की तिथियो और विस्तारों में से कुछ ही ऐसे हैं जिन के सवंध में हमे यथेष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है। शेष तिथियों और उन से संबध

[1] देखिए परिशिष्ट आ

रखने वाले व्यक्तियों आदि के संबंध में जो ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है वह प्रस्तुत कार्य के लिए अपर्याप्त है इस लिए नीचे केवल उपर्युक्त पूर्व-श्रेणी की ही तिथियों और विस्तारों के संबंध मे विचार किया जाएगा।

(क) चरित-लेखक का कथन है कि सं० १६१६ के लगते ही सूरदास जी गोस्वामी जी से मिलने के लिए आए; उन्हें गोकुलनाथ जी ने कृष्ण-रंग में डुबो कर भेजा था :

सोरह सै सोरह लगै कामदगिरि ढिग बास।
सुचि एकांत प्रदेस महँ आए सूर सुदास॥
पठए गोकुलनाथ जी कृष्ण रंग मे बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी लीन्ह गोसाइँ छोरि॥

(मू० गो० च० २९, ३०)

सूरदास के सबध में साधारणतः यह माना जाता है कि वे सं० १६२० तक जीवित थे, फलतः गोस्वामी जी के पास उन के आने की बात असंभव नहीं कही जा सकती—यह दूसरी बात है कि वस्तुतः वे आए थे या नही। किंतु जो बात असभव जान पड़ती है वह है गोकुलनाथ जी का उन्हें कृष्ण-रंग में डुबो कर भेजना। गोकुलनाथ जी की अवस्था स० १६१६ मे मुश्किल से आठ साल की रही होगी, क्यों कि उन के पिता गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म सं० १५७२ मे हुआ था और गोकुलनाथ जी उन के चौथे पुत्र थे।[1] चरित-लेखक यह भी लिखता है कि जब सूरदास वापस जाने लगे तब गोस्वामी जी ने उन्हें गोकुल-नाथ जी के नाम एक पत्र दिया :

दिन सात रहे सतसंग पगै। पद कंज गहे जब जान लगै।
गहि बाँह गोसाइँ प्रबोध किए। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए॥

(मू० गो० च० ३१)

यह कथन भी उपर्युक्त कारण से असंगत प्रतीत होता है। और जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि सं० १६१६ मे गोसाईं विट्ठलनाथ जी गद्दी पर विराजमान थे, उन का देहावसान स० १६४२ मे हुआ,[2] तब तो चरित-लेखक की उपर्युक्त बात उट्टंकणा मात्र प्रतीत होती है।

(ख) सं० १६१६ में सूरदास के चले जाने पर, चरित-लेखक का कथन

[1] ग्राउस : 'मथुरा', पृ० २६२ [2] वही

है कि गोस्वामी जी को मेवाड़ से भेजा हुआ मीराबाई का एक पत्र मिला, जिसे पढ़ कर उन्हों ने उत्तर भी भेजा :

लै पाति गए जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी।
तब आयो मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका लायो प्रेम-प्रवाल ॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो कहि दिय विप्र पठाय ॥

(मू० गो० च० ३१, ३२)

राजस्थान के इतिहासकार कहते हैं कि मीराबाई की मृत्यु सं० १६०३ में हो चुकी थी।[1] फलतः चरित-लेखक की यह बात भी असंभव ज्ञात होती है।

(ग) चरित-लेखक कहता है कि 'मानस' के समाप्त होने पर—अर्थात् सं० १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के अनंतर ही—किसी दयालदास ने उस की प्रतिलिपि की, और उसे अपने गुरु को सुनाने के अनतर लगातार तीन वर्षों तक रसखान को सुनाया :

स्वामि नंद सुलाल को सिष्य पुनी। तिसु नाम दयाल सुदास गुनी।
लिपि कै सोइ पोथि स्वठाम गयो। गुरु के ढिग जाइ सुनावत भो।
जमुना तट पै त्रय बत्सर लौं। रसखानहिं जाइ सुनावत भो ॥

(मू० गो० च० ४७)

प्रश्न यह है कि क्या रसखान ने इस समय—अर्थात् लगभग सं० १६३४ से १६३७ तक—'मानस' की कथा सुनी होगी। रसखान की ठीक जन्म-तिथि अज्ञात है, उन की एक रचना 'प्रेम-वाटिका' के आधार पर—जिस की रचना-तिथि सं० १६७१ है[2]—यह अनुमान किया जाता है कि उन का जन्म सं० १६१५ के लगभग हुआ होगा।[3] यदि हम इस तिथि को ठीक मानें—और ठीक न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता—तो सं० १६३४ में रसखान की अवस्था लगभग उन्नीस वर्ष की ठहरती है। इस अवस्था में रसखान को जो एक पठान थे और किसी बादशाही घराने में उत्पन्न थे,[4] राम कथा से इतनी लगन रही हो कि उन्हों ने

[1] ओझा : 'उदयपुर का इतिहास', पृ० ३६०
[2] 'प्रेम-वाटिका' (हिंदी-प्रेस, प्रयाग) दो० ५१
[3] मि० व० वि० भाग १, नो० १५१
[4] 'प्रेम-वाटिका' (हिंदी-प्रेस, प्रयाग) दो० ४८

तीन वर्षों तक लगातार 'मानस' की कथा किसी से सुनी हो असगत प्रतीत होता है। और यदि हम 'दो सौ बावन वार्ता' में उल्लिखित उन की युवावस्था की उस कथा पर विश्वास करें जिस में हम उन्हें एक साहूकार के लड़के पर आसक्त पाते हैं[1] तो यह घटना असंभव ही जान पड़ेगी।

(घ) सं० १६३४–३५ के लगभग चरित-लेखक के अनुसार कोई मुक्तामणि दास गोस्वामी जी का दर्शन करते हैं :

मुकुतामनि दास जु आयो हतो। हरि सयन को गीत सुनायो हतो।
(मू० गो० च० ४७)

केवल एक मुक्तामणि दास का हमें ज्ञान है, और उन का समय मिश्र बंधु सं० १६६० के लगभग बताते हैं।[2] यदि यह मुक्तामणि दास और वह मुक्तामणि दास एक ही हैं तो यह असंभव नही कि वह गोस्वामी जी से सं० १६३४–३५ के लगभग मिले हो।

(ङ) इसी प्रकार सं० १६४३–४४ के लगभग चरित-लेखक के अनुसार कोई बलभद्र गोस्वामी जी का दर्शन करते हैं :

घनस्याम रहै घासिराम रहै। बलभद्र रहै बिस्राम लहै।
(मू० गो० च० ५८)

यदि इन बलभद्र से चरित-लेखक का आशय उन्ही बलभद्र से हो जो केशवदास के भाई थे तो यह असंभव नहीं कि उन्हों ने गोस्वामी जी के दर्शन उपर्युक्त तिथि के लगभग किए हों, क्यों कि वह गोस्वामी जी के सम-सामयिक थे।[3]

(च) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६४३–४४ के लगभग केशवदास ने काशी आकर गोस्वामी जी से मिलने का प्रयत्न किया, पर जैसी आवभगत की उन्हें आशा थी वैसी आवभगत न पाने के कारण वह वापस चले गए और रात भर में 'राम-चंद्रिका' की रचना कर के दूसरे ही दिन पुनः गोस्वामी जी के पास जा पहुँचे :

कबि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया।
कबि जानि के दरसन हेतु गए। रहि बाहिर सूचन भेजि दिए।
सुनि कै जु गोसाइँ कहै इतनो। कबि प्राकृत केसव आवन दो।

[1] २५२ वार्ता पृ० २६१ [2] मि० बं० वि० भाग १, नं० १८२
[3] मि० बं० वि० भाग १, नं० १४५

फिरि गे झट केशव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कै।
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि में। जुरे केसव जू असि घातहि में॥
(मू० गो० च० ५८)

इस बात के अतिरिक्त कि 'रामचद्रिका' ऐसे बड़े और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ की रचना एक ही रात में कर डालना मानव-शक्ति के बाहर की बात है यह भी ध्यान देने योग्य है 'रामचंद्रिका' की रचना-तिथि उस मे कवि ने स्वयं दी है, और वह है सं० १६५८।[1]

(छ) अन्यत्र चरित-लेखक कहता है कि सं० १६५१ के लगभग उस के चरित-नायक को केशवदास का प्रेत मिला :

उद्धरे केसवदास प्रेत हतौ घेरेउ मुनिहि।
उधरे बिनहि प्रयास चढ़ि बिमान स्वरगहि गयो।
(मू० गो० च० ७८)

जिस का आशय यह भी है कि केशवदास का देहांत सं० १६५१ के पूर्व ही हो चुका था। पर सं० १६५१ के कई वर्ष पीछे तक वह जीवित रहे इस में सदेह नहीं किया जा सकता क्यों कि 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' की रचना उन्हों ने सं० १६५८ में, 'वीरसिंह देव-चरित' की १६६४ में, 'विज्ञान-गीता' की सं० १६६७ में, और 'जहाँगीर-जस-चद्रिका' की सं० १६६९ मे की। यह सभी तिथियाँ कवि ने स्वतः अपने उपर्युक्त ग्रंथों मे दी हैं अतएव निर्विवाद हैं।

(ज) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६४९–५० के लगभग उस के चरित-नायक वृंदावन जाकर अपने शिक्षा-गुरु-बंधु नददास कनौजिया से मिले :

नँददास कनौजिया प्रेम मढे। जिन सेष सनातन तीर पढे।
सिच्छा गुरु बंधु भए तेहि ते। अति प्रेम सो आय मिले येहि ते।
(मू० गो० च० ७५)

नंददास उन के शिक्षा-गुरु-बधु थे या नहीं, और वे कनौजिया थे या और कोई, यह प्रश्न थोड़ी देर के लिए यदि हम छोड़ दें तो भी 'दो सौ बावन वार्ता' मे उल्लिखित नददास की वार्ता से इस कथन का प्रत्यक्ष विरोध दिखाई पड़ता है। 'वार्ता' में लिखा गया है कि नंददास मिलने पर तुलसीदास को गोसाई

[1] 'रामचद्रिका' ('केशव कौमुदी') भाग १, पृ० ५

विट्ठलनाथ जी के पास लिवा ले गए जहाँ गोस्वामी जी ने कुछ चमत्कार भी देखा।[1] गोसाईं विट्ठलनाथ जी का देहात सं० १६४२ मे हुआ था।[2] फलतः 'वार्ता' के अनुसार यह भेंट सं० १६४२ के पूर्व ही हुई होगी। यदि 'वार्ता' पर अविश्वास न किया जाए तो 'मूल गोसाईं चरित' का यह उल्लेख भी ठीक नही है।

(भ) लेखक लिखता है कि सं० १६५१ के लगभग दिल्लीपति ने हमारे कवि को दिल्ली बुला भेजा, और यहाँ उस से कोई करामात दिखलाने का निवेदन किया; हमारे कवि ने करामात दिखाने से इनकार किया, इस से वह बंदी कर लिया गया, इस समय बदरो ने वहाँ बड़ा उत्पात किया, जिस के परिणामस्वरूप दिल्ली-पति को हमारे कवि से क्षमा-याचना करनी पड़ी और उसे मुक्त करना पड़ा। उस उत्पात का वर्णन लेखक ने जिन शब्दो मे किया है वे भी ध्यान देने योग्य हैं :

दिल्लीपति बिनती करी दिखरावहु करमात।
मुकरि गए बंदी किए कीन्हे कपि उतपात॥
बेगम को पट फारेऊ नगन भईं सबबाम।
हाहाकार मच्यौ महल पटको नृपहिं धड़ाम॥
मुनिहि मुकुत ततछन किए छमाऽपराध कराय।
बिदा कीन्ह सनमान जुत पीनस पै पधराय॥

(मू० गो० च० ८०-८२)

इस प्रकार की किसी घटना का कोई भी उल्लेख अकबर के समय के इतिहास-कार नही करते, फलतः यह घटना भी इतिहास-विरुद्ध जान पड़ती है।

(ञ) सं० १६५१ के ही लगभग, चरित-लेखक का कथन है कि हमारे कवि से अयोध्या में भक्त हरिदास ने एक पद का संशोधन कराया :

हरिदास सुभक्त सुगीत रयो। तेहि माँ कछु सब्द असुद्ध भयो।
सुधराये सुनी पै न बोध भयो। तिसु कीर्तन में अवरोध भयो।

(मू० गो० च० ८३)

भक्त हरिदास वृंदावन और निधुवन मे रहा करते थे और वहाँ उन्हों ने एक संप्रदाय स्थापित किया था जिस का नाम था टट्टी संप्रदाय।[3] उन का सम्मान

[1] २५२ वार्ता पृ० ३४, ३५ [2] ग्राउस : 'मथुरा', पृ० २६२

[3] मि० व० वि० भाग १, नो० ६४

इतना बढ़ा हुआ था कि कहा जाता है कि एक बार अकबर ने स्वयं वेष बदल कर उन का दर्शन किया था।[१] और नाभादास जी का कथन है कि अनेक राजे उन के दर्शनार्थ उन के द्वार पर खड़े रहते थे :

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जासु की।

(भक्तमाल, छप्पय ९१)

वह हमारे कवि से अवस्था में भी वृद्ध थे क्यों कि यद्यपि उन का जन्म-काल निर्विवाद नहीं है पर उन का रचना-काल सं० १६०७ के लगभग माना जाता है।[२] इस लिए लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नही जान पड़ता।

(ट) लेखक कहता है कि सं० १६५१ के लगभग अयोध्या में कवि ने देव मुरारी और मलूकदास से भेंट की :

देव मुरारी भेंटि मिलि सहित मलूकादास।
पहुँचे काशी में रिषय किए अखंड निवास॥

(मू० गो० च० १३)

मलूकदास ने सं० १६३१ में जन्म ग्रहण किया था।[३] इस लिए सं० १६५१ के लगभग उन का अयोध्या में देव मुरारी नामक किन्हीं सत के साथ पाया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता। पर बीस वर्ष की अवस्था उन की जैसी आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के वैराग्य के लिए ठीक नहीं जान पड़ती; वे जाति के खत्री थे और धनाढ्य भी थे। कहा जाता है कि उन्हों ने अपने गुरु के लिए, जो प्रयाग में रहते थे, अशर्फियों का एक तोड़ा गगा जी मे डाल दिया था ताकि वह उन के गुरु को प्रयाग में मिल जावे।[४] यदि बीस वर्ष की अवस्था मे घर-बार छोड़ कर वह निकल पड़े होते तो इस प्रकार के चमत्कार के लिए उन्हें कदाचित् अवसर न मिलता।

(ठ) लेखक कहता है कि सं० १६६६ में टोडर के देहावसान के अनंतर कवि ने टोडर की संपत्ति उन के दो लड़कों में बाँट दी :

[१] डॉक्टर श्यामसुंदर दास : हिं० खो० रि० सन् १९०० पृ० ३७

[२] हिं० खो० रि० सन् १९०२ (पृ० ८०) के अनुसार उन की प्रसिद्ध कृति "हरिदास जू को ग्रंथ" स० १६०७ की रचना है

[३] हीरालाल : हिं० खो० रि० सन् १९१७–१९१९ नो० १०९

[४] पं० रामचद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० ९०

सोरह सै उनहत्तरो माधव सित तिथि थीर।
पूरन आयू पाइकै टोडर तजे सरीर॥
पाँच मास बीते परे तेरसि सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि बाँटि दिए घर बार॥

(मू० गो० ८७, ८९)

टोडर के उत्तराधिकारियों के बीच उन की संपति का जो बँटवारा हुआ था उस का विवरण हमें उन के बँटवारे के पंचायतनामे में मिलता है जो इस समय काशिराज के यहाँ सुरक्षित है। उस में यह लिखा गया है कि बँटवारा "अनंदराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर" के बीच में हुआ।[1] इस इबारत से स्पष्ट ज्ञात होगा कि बँटवारे के समय टोडर का केवल एक पुत्र जीवित था, दूसरा पुत्र का कुछ पूर्व ही मृत हो चुका था, दूसरा व्यक्ति जिस के साथ वह टोडर की संपत्ति का उत्तराधिकारी हुआ टोडर का पौत्र था। फलतः चरित-लेखक का यह कथन भी ठीक नहीं है।

(ड) चरित-लेखक कहता है: सं० १६४९ में गंग की मृत्यु हुई:

छमा किये नहिं स्राप दिय रँगे सांति रस रंग।
मारग में हाथी कियो झपटि गंग तनु भंग॥

(मू० गो० च० ९२)

गंग के समय के बारे में कुछ दिनो पूर्व काफी विवाद था, पर अब ऐसा नहीं है। इधर की खोजों में किन्हीं श्रीपति द्वारा किए हुए महाभारत के कर्ण-पर्व का हिंदी अनुवाद प्राप्त हुआ है जिस का रचना-काल सं० १७१९ है और जिस में श्रीपति कहता है कि वह गंग का छोटा भाई है।[2] दो भाइयों के समयों में ५० वर्षों का—या उस से भी अधिक का क्यो कि गग की मृत्यु सं० १६६९ में कही जाती है और श्रीपति सं० १७१९ में एक ग्रंथ लिख रहा था—अंतर होगा ऐसा असभव जान पड़ता है। इस लिए चरित-लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नही जान पड़ता।

(ढ) लेखक कहता है कि सं० १६७० में रहीम कवि ने बरवै लिखे और उन्हें हमारे कवि के पास भेजा:

[1] देखिए इसी निबंध में आगे चल कर दिया हुआ पंचायतनामे का चित्र

[2] हिं० खो० रि० सन् १९२०–२१, नं० १८५

कवि रहीम बरवै रचै पठए मुनिवर पास।
लखि तेहि सुंदर छंद में रचना कियो प्रकास॥

(मू० गो च० ९३)

इतिहास-लेखकों का कथन है कि सं० १६६१ मे रहीम दक्षिण भारत भेज दिए गए थे और वहाँ से वे स० १६७३ में वापस बुलाए गए।[1] यह बात असंगत सी जँचती है कि सुदूर दक्षिण से रहीम ने कतिपय बरवै की रचना कर के उन्हें हमारे कवि के पास भेजा हो। इस लिए चरित-लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता।

(ण) अंततः लेखक कहता है कि सं० १६७० के अंत में जहाँगीर काशी आया और उस ने हमारे कवि का दर्शन किया :

जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर संवत बीत।
धन धरती दीबो चहै गहे न गुन विपरीत॥

(मू० गो० च० ९७)

जहाँगीर के शासन काल का विस्तृत इतिहास हमे तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा लिखा हुआ मिलता है पर उस मे यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि सं० १६७० में या उस के आस-पास जहाँगीर बनारस की ओर आया भी हो। इस लिए लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नही जँचता।

इस प्रकार यह दिखलाई पड़ेगा कि पद्रह ऐसी तिथियों और विस्तारों मे से जिन का मिलान इतिहास से किया जा सकता है अधिक से अधिक तीन ऐसे हैं जो असंभव नहीं कहे जा सकते—वे भी इतिहास-सम्मत हैं यह नहीं कहा जा सकता—शेष तो स्पष्ट ही इतिहास-विरुद्ध जान पड़ते हैं।

(त) इस सिलसिले मे हम चरित-लेखक के एक और कथन पर विचार कर सकते हैं। वह लिखता है कि हमारे कवि ने सं० १६४९–५० में "विप्र संत" नाभादास से भेंट की :

विप्र संत नाभा सहित हरि दरसन के हेत।
गए गोसाईं मुदित मन मोहन-मदन निकेत॥

(मू० गो० च० ७३)

विचारणीय यह है कि नाभादास क्या "विप्र संत" थे, उन की भेंट असंभव

[1] डॉक्टर बेनीप्रसाद : 'जहाँगीर' पृ० २६८–७०

नहीं कही जा सकती। उन की 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास उन के संबंध में लिखते हैं कि वे हनुमान-वशी थे :

हनूमानवंश ही में जनम प्रशंस जाको
भयो दृग हीन सो नवीन बात धारिये।

(भ० टी० १२)

हनुमान-वंशी ब्राह्मण कही देखने-सुनने मे नही आते और विभिन्न प्रातों की जातियों के संबंध का जो साहित्य हमे मिलता है उस में भी हनुमान-वंशी ब्राह्मणों का कहीं उल्लेख नही हुआ है। फिर भी, रूपकला जी कहते हैं कि समर्थ गुरु रामदास हनुमान-वंशी ब्राह्मण थे।[1] पर मराठी साहित्य के किसी इतिहास मे यह बात नही मिलती है। रूपकला जी ने यह उल्लेख संभवतः किसी किंवदंती के आधार पर किया होगा और इस किंवदंती की उत्पति का कारण यह जान पड़ता है कि रामदास जी का शिष्य-संप्रदाय, कदाचित् उन की दास्य-भाव की भक्ति के कारण, उन्हें मारुति का अवतार मानने लगा था, और अवतार संबंधी इस विश्वास का उल्लेख मराठी साहित्य के इतिहासकारों ने किया है।[2] फलतः यह कहना कि नाभादास जी "विप्र संत" थे ठीक नहीं है। जनश्रुति यह है कि नाभादास जी डोम थे।[3] देखना यह है कि "हनुमान-वंशी" और "डोम" में परस्पर कोई संगति भी है या नहीं।

भक्त लाखा के सबंध में लिखते हुए नाभादास कहते हैं :

सुरधुनी औघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरौ।
परमहंसनि बंसानि मैं भयौ बिभागी बानरौ॥

(भक्तमाल छप्पय १०७)

और उपर्युक्त छप्पय पर टीका करते हुए प्रियादास कहते हैं :

लाखा नाम भक्त ताको बानरो बखान कियो
कहै जग डोम ताते मेरो सिरमौर है।

(भ० टी० ४२२)

और वहाँ रूपकला जी स्वतः यह मानते हैं[4] कि "वानर-वशी" का अर्थ

[1] 'भक्तमाल' पृ० १७ पृ० ३२

[2] जी० सी० भाटे 'हिस्ट्री अव् मॉडर्न मराठी लिटरेचर, (१८००-१९३९)

[3] मि० वं० वि० भाग १ नो० १७९

[4] 'भक्तमाल' पृ० ६७५

"हनुमान-वंशी" है तब उन्हें "हनुमान-वंशी" का आशय "डोम" लेने में क्यों कठिनाई होती है यह बात तनिक समझ मे नहीं आती।

इस प्रसंग मे हम कुछ और बातों की ओर भी ध्यान दे सकते हैं। डोम, ऐसा जान पड़ता है कि, पहले भारत की उन आदिम जातियो मे से थे जो या तो भारत भर में फैली हुई थी या मूलतः जो उस के उत्तरी प्रातों में निवास करती थीं और जिन्हें आर्यों ने ही सुदूर दक्षिण की ओर भगा दिया। यह बात हमें उन के गोत्रों के नामों से ज्ञात होती है। यहीं तक नही, जब हम मद्रास प्रात के डोमों के गोत्रों की नामावली देखते हैं तो हमें उस में "हनुमान" गोत्र भी मिल जाता है। सं० १९४८ की जन-गणना में मद्रास प्रांत के डोमो की "ओडिया" उपजाति में नीचे लिखे गोत्रों का पाया जाना कहा जाता है[1] भाग (हिं० बाघ), बालू (हिं० भालू), नाग (हिं० नाग), हनुमान (हिं० हनुमान), कोचिपो (हिं० कच्छप), बेंगरी (हिं० मेढक), कुकरा (हिं० कुक्कुर), सूर्य (हिं० सूर्य), मत्स्य (हिं० मत्स्य), और जैकोन्ड (हिं० छिपकली)। इन डोमों के सबंध मे लिखते हुए जन-गणनाध्यक्ष श्री एच्० ए० स्टुअर्ट कहते हैं कि यह जाति बंगाल, बिहार तथा उत्तरी पश्चिमी प्रात (अब संयुक्त प्रात) में पाई जाने वाली डोम जाति की एक शाखा जान पड़ती है; उन प्रातों के डोमो की तरह यह लोग भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं क्यों कि यह गो मास सुअर का मांस, घोड़े का मास, चूहे और स्वाभाविक मृत्यु से भी मरे हुए जीवों का मास खाया करते हैं और उन्हीं की भाँति यह भी चाडाल और पेरीया समझे जाते हैं, यह डोम कपड़ा बुनते हैं और वह कम्मल भी जिसे पहाड़ के लोग पहिनते हैं, किंतु मैदान के पेरियों की भाँति, यह मज़दूरी भी करते हैं और भंगी का पेशा करते हैं।[2]

डोमों की ही तरह की एक और जाति मद्रास अहाते में पाई जाती है जिस का नाम "मेदारा" है। इस जाति के गोत्रों के नाम में भी "हनुमान" मिलता है। उस के कुछ विशेष उल्लेखयोग्य गोत्रों के नाम इस प्रकार बताए जाते हैं : हनुमंत (हिं० हनुमान), पूली (हिं० बाघ), थगरीलू (हि० पानी), अविस (वृक्ष-विशेष), रीला (वृक्ष-विशेष), शेषाई (हिं० नाग), बोम्बादि (हिं० मत्स्य), विनायक (हिं० विनायक), काशी (हिं० काशी), मोदुगा (वृक्ष-विशेष ?) और

[1] ई० थर्स्टन : 'कास्ट्स ऐंटट्राइब्स अव् सदर्न इंडिया' जिल्द २, पृ० १७१

[2] वही पृ० १७३

कोविल (कोयल)[1], और कहा जाता है कि यह जाति तेलुगू, कनारी, उड़िया और तामिल प्रदेशों में बाँस की चीज़ें, टोकरियाँ, पालने, चटाइयाँ, संदूक, छाते, और टट्टियाँ वनाती हैं।[2]

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाभादास जी कदाचित् उस हनुमान-गोत्र के डोम थे जो सत्रहवी शताब्दी में कुछ न कुछ संभवतः उत्तरी भारत में भी पाए जाते थे, अथवा यह भी असंभव नहीं कि वे दक्षिण के हनुमान-गोत्रीय डोमों या मेदारो की संतान रहे हो और बाल्यावस्था में ही राजस्थान के उस भाग में भटकते रहे हों जहाँ कृष्णदास पयाहारी और अग्रदास ने उन्हें पाया हो।[3] इस दशा में यह मानना अत्यंत कठिन हो जाता है कि नाभादास "विप्र संत" थे।

१७. अब हम तीसरे प्रकार की तिथियों और विस्तारो पर विचार कर सकते हैं। यहाँ हम यह देखते हैं कि ग्रंथों की जो तिथियाँ चरित-लेखक देता है और उन की जो तिथियाँ हमें स्वतंत्र अध्ययन से ज्ञात होती है दोनो में विचारणीय अंतर है। ग्रंथों की रचना-तिथियो के संबंध में स्वतंत्रतापूर्वक विचार इसी पुस्तक में आगे किया गया है[4], नीचे केवल चरित-लेखक द्वारा दिए हुए कालक्रम से रचनाओं का उल्लेख किया जाता है और उन की तिथियाँ कोष्टकों में दी जाती हैं :

गीतावली	(सं० १६१६-२८)[5]
कृष्ण गीतावली	(,,)[6]
कवित्त रामायण	(सं० १६२८-४२)[7]
रामचरित मानस	(सं० १६३१)[8]
राम विनयावली	(सं० १६३६)[9]
दोहावली	(स० १६४०)[10]
सतसई	(सं० १६४२)[11]

[1] ई० थरस्टंन: 'कास्ट्स पेन्ड ट्राइब्स अव् सदर्न इन्डिया' जिल्द ५, पृ० ५४

[2] वही, पृ० ५२

[3] प्रियादास : भ० टी० १२

[4] देखिए आगे अध्याय ५

[5] मू० गो० च० ३३

[6] वही,

[7] वही, ३५, ३७

[8] वही, ३८, ३९

[9] वही, ५१

[10] मू० गो० च० ५४

[11] वही, ५६

बरवा	(सं० १६७०)[1]
रामलला-नहछू	(सं० १६३६)[2]
पार्वती-मंगल	(,,)[3]
जानकी-मंगल	(,,)[4]
बाहुक	(सं० १६७०)[5]
वैराग्य-संदीपनी	(,,)[6]
रामाज्ञा-प्रश्न	(,,)[7]

ऊपर की तालिका की तुलना यदि हम स्वतंत्र अध्ययन के आधार पर निर्धारित रचनाओं के कालक्रम की तालिका से करें तो हम को ज्ञात होगा कि 'रामचरित मानस' और 'सतसई' के अतिरिक्त चरित-लेखक की तिथियों और स्वतंत्र अध्ययन से प्राप्त तिथियों में आकाश-पाताल का अंतर है और 'रामचरित मानस' और 'सतसई' की तिथियाँ उक्त ग्रंथों में ही स्पष्ट ढंग पर दी हुई हैं, फलतः उन के संबंध में भूल होने की कोई संभावना ही न थी, पर हमारे कवि ने जिन तिथियों के देने में किसी भी टेढ़े-मेढ़े मार्ग का अनुसरण किया था, जैसे 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'पार्वती मंगल' की तिथियाँ देने में, उन के संबध में चरित-लेखक धोखा खा गया है। इस बात पर ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक को वस्तु-तिथि का ज्ञान न था।

१८. संक्षेप में, हम देखते हैं कि ऐसी तिथियाँ जिन की गणना की जा सकती है चरित में सात हैं, और इन सात में से पाँच तिथियाँ गणना से शुद्ध उतरती हैं। ऐसी तिथियाँ जिन का मिलान इतिहास से हो सकता है पंद्रह हैं और, इन में से केवल तीन ऐसी हैं जो ठीक हो सकती हैं शेष असंभव जान पड़ती हैं। और तिथियों में से जो लेखक ने कवि की रचनाओं के लिए दी हैं और जिन की संख्या चौदह है केवल दो ठीक हैं और वह भी इस लिए कि साधारण से साधारण समझ का लेखक भी उन की तिथियों के संबंध में भूल नहीं कर सकता था और शेष उन तिथियों से ज़रा भी मेल नहीं खाती जो हम स्वतंत्र अध्ययन

[1] मू० गो० च० ९३

[2] वही ९४

[3] वही ९४

[4] वही

[5] वही ९५

[6] वही

[7] वही

से पाते हैं, तब हमारे लिए यह असंभव हो जाता है कि उपर्युक्त चरित पर विश्वास करें। ऐसी तिथियाँ जो गणना से शुद्ध उतरती हैं उन के संबंध में यह अनुमान करना कदाचित् अनुचित न होगा कि उन का समावेश गणना के अनंतर किया गया है और इस प्रकार की गणना से शुद्ध पर मनमानी तिथियाँ देना कठिन नहीं है कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

१९. एक बात और है जिस की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होगा: वह है उपर्युक्त 'गोसाईं-चरित्र' और इस 'मूल गोसाईं-चरित' के बीच में एक गहरी समानता का होना। दोनों ही ग्रंथ प्रारंभ के कुछ छंदों को छोड़ कर मूल रूप में एक ही हैं यह दोनों की परस्पर तुलना के अनंतर स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः उस दोहे के अनंतर जिस में दोनों के लेखक रामदर्शन प्रसंग का वर्णन करते हैं[1] कवि के जीवन की ऐसी कोई भी घटना नहीं मिलती जिसे दोनों में स्थान न मिलता हो। उल्लेख योग्य अंतर यदि कोई है तो यही कि 'मूल गोसाईं-चरित' प्रत्येक घटना को तिथि से संबद्ध करता है और समस्त प्रसंगों का वर्णन एक तिथि-क्रम से करता है और 'गोसाईं-चरित' किसी भी घटना के लिए कोई तिथि नहीं देता और प्रसंगों के तारतम्य में 'मूल गोसाईं-चरित्र' से कुछ भेद रखता है। साम्य केवल वर्णन-उपक्रम तक ही सीमित नहीं है वरन् हम देखते हैं कि अधिकतर प्रसंगों के वर्णन में दोनों एक ही शब्दावली का प्रयोग करते हैं। नीचे लिखा[2] दोहा तो एक साधारण पाठ भेद के साथ दोनों ही में मिलता है:

श्री हनुमंत प्रसंग यह विमल चरित विस्तार।
लहेउ गोसाईं दरस रस विदित सकल संसार॥

उपर्युक्त पाठ 'मूल गोसाईं-चरित' का है 'गोसाईं-चरित्र' में केवल 'यह विमल' के स्थान पर 'शुभ प्रथम' पाठ मिलता है, शेष सामान्य है। जिन्हें हस्तलिखित प्रतियों का थोड़ा भी अनुभव है वह जानते हैं कि इस प्रकार के पाठांतर प्रतिलिपि करने वाले बहुधा कर दिया करते हैं, फलतः यह अंतर नगण्य है।

२०. इन बातों पर ध्यान देने पर यह जान पड़ता है कि तीन बातों में से एक ही बात हो सकती है: या तो भवानीदास ने अपने 'गोसाईं-चरित्र' के लिए 'मूल गोसाईं-चरित' से सामग्री प्राप्त की, या 'मूल गोसाईं-चरित' के लेखक

[1] मू० गो० च० २२ तथा 'गोसाईं चरित' पृ० ८

[2] वही

ने उस के लिए 'गोसाईं-चरित्र' से सामग्री प्राप्त की, या दोनों ने ही किसी तीसरे सामान्य उद्‌गम-स्थान से अपने-अपने लिए सामग्री प्राप्त की। इस में संभावना दूसरे और तीसरे की ही विशेष ज्ञात होती है, पहले की बहुत कम, क्यों कि हम देखते हैं कि 'मूल गोसाईं-चरित' में कहीं-कहीं ऐसी शब्दावली भी व्यवहृत हुई है जो आधुनिक जान पड़ती है :

कहि भावि भलाइ प्रसान्त किये।

(मू० गो० च० १०)

बपु वृद्ध वरंच जुवा मन जू।

(मू० गो० च० १२)

विद्वान महान बनाउब जू।

(मू० गो० च० १३)

कस बस चले प्रेमांध ज्यों।

(मू० गो० च० १७)

धुनि सुने सत्यम् शिवम् सुन्दरम्।

(मू० गो० च० ४८)

दूसरे यदि 'गोसाईं-चरित्र' के लेखक ने अपनी रचना के लिए सामग्री 'मूल गोसाईं-चरित' से प्राप्त की होती तो वह अनावश्यक रूप से तिथियों को निकाल क्यों देता और उन का सम्यक् निर्वाह प्रसंगों के तारतम्य में क्यों न करता। इस निष्कर्ष के प्रकाश में 'मूल गोसाईं-चरित' सं० १६८७—या उस के आस पास की भी—रचना नहीं जान पड़ती। अपने कवि के जीवन-वृत्त को प्रस्तुत करने में हम कहाँ तक उस को आधार मान सकते हैं कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

तुलसी-चरित

एक और इसी प्रकार का जीवन-वृत्त है जिस का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया जा सकता है : वह है 'तुलसी-चरित'। रघुबरदास रचित 'तुलसी-चरित' के 'मर्यादा' में अंशतः प्रकाशित होने के अनंतर उसे तुलसीदास के जीवन-वृत्त का अध्ययन करने वालों में से अधिकांश ने पढ़ा होगा। उस के संबंध में विद्वानों की एक ही धारणा है, और वह यह है कि 'तुलसी-चरित' पर हमारे महाकवि के जीवन-वृत्त के लिए विश्वास नहीं किया जा

सकता[1]। प्रस्तुत लेखक ने भी उस के प्रकाशित अंश को देखा है, और उसे विद्वानों के इस निष्कर्ष से कोई मतभेद नहीं है।[2] इस लिए उस की परीक्षा की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं है।

तुलसी साहिब लिखित आत्म-चरित

२२. यहाँ हम अपने कवि के एक ऐसे जीवन-वृत्त पर विचार करेंगे जिस की अब तक सर्वथा उपेक्षा की गई है: यह है तुलसी साहिब हाथरस वाले (सं० १८२०–१९००) लिखित 'घट रामायण' में संकलित उन के पूर्व जन्म की आत्म-कथा[3] जिस में वे अपने को गोस्वामी तुलसीदास हुआ बताते हैं। इस कल्पित आत्म-चरित पर अभी तक गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है इस लिए पहले उस के विषयानुक्रम की जानकारी उपादेय होगी। तुलसी साहिब कहते हैं कि उस जन्म में उन्हों ने इस प्रकार चरित्र किया था:

(अ) वह राजापुर में उत्पन्न हुए थे। यह राजापुर यमुना के किनारे बुंदेलखंड प्रांत में चित्रकूट से दस कोस की दूरी पर बसा हुआ है।

(आ) सं० १५८९ भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार को उन्हों ने जन्म ग्रहण किया था।

(इ) कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल में उन का जन्म हुआ था।

(ई) यद्यपि वह अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम करते थे फिर भी साधु-संग किया करते थे।

(उ) सं० १६१४ श्रावण शुक्ला ९ को उन्हें ज्ञानोदय हुआ।

(ऊ) हृदय में निवास करने वाले गुरु (ईश्वर) ने स्वतः उन का पथ-प्रदर्शन किया, किसी देहधारी गुरु ने नहीं।

(ए) राजापुर में एक अहीर था जिसका नाम हिरदै था। राजापुर में वह किसी के यहाँ नौकरी में था। वह उन के पास नित्य आया करता था। फलतः उन का उस पर प्रगाढ़ स्नेह हो गया था। एक बार वह काशी गया, और वहाँ से वह लौट न पाया। वह अपने प्रगाढ़ स्नेह के कारण उससे मिलने

[1] उदाहरणार्थ 'हिंदी नवरत्न' पृ० ७२, ७३ तथा 'तुलसी ग्रंथावली' तृतीय खंड, पृ० १०–१७

[2] देखिए ऊपर पृ० ११

[3] पृ० ४१५–४१८

काशी गए। वह काशी सं० १६१५ चैत्र १२, मंगलवार को पहुँचे और वहीं रहने लगे।

(ए) सं० १६१६ कार्तिक कृष्णा ५ को पलकराम नामक एक नानक-पंथी साधु उन से मिलने वहाँ आए।

(ओ) उन्हों ने सं० १६१८ भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार को 'घट रामायण' की रचना प्रारंभ की। 'घट रामायण' के प्रकाशित होने पर उन को एक बड़े विरोध का सामना करना पड़ा, इस लिए उन्हों ने उसे छिपा दिया।

(औ) सं० १६३१ में उन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की, जो सभी को समान रूप से प्रिय हुआ।

(अं) अंत में, सं० १६८० श्रावण शुक्ला ७ को वरुणा के तट पर उन्हों ने शरीर छोड़ा।

२३. ऊपर के विषयानुक्रम से ज्ञात होगा कि आत्मचरित में सात-तिथियों का उल्लेख होता है, किंतु कठिनाई यह है कि उन में से तीन के अतिरिक्त अन्यों के दिन या और कोई ऐसे विस्तार नहीं दिए गए हैं कि गणना से उन की शुद्धता की परीक्षा की जा सके। वे तीन तिथियाँ जिन की शुद्धता इस प्रकार जाँची जा सकती है निम्न लिखित हैं :

(क) जन्म-तिथि : सं० १५८९ भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।

(ख) काशी-आगमन-तिथि : १६१५ चैत्र १२, मंगलवार। और,

(ग) 'घटरामायण' के रचनारंभ की तिथि : सं० १६१८ भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।

गणना के अनंतर यह ज्ञात होता है कि (क) विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है, (ख) न तो विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है और न प्रचलित-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर, और न शुक्ल पक्ष में और न कृष्ण पक्ष में, और (ग) भी न तो विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है और न प्रचलित-संवत्-वर्ष प्रणाली पर।[1] लेखक किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों और उन से संबंध रखने वाली तिथियों का उल्लेख नहीं करता। और, हमारे कवि के ग्रंथों में से केवल एक का उल्लेख करता है—और उस की रचना-तिथि भी वह देता है—वह है 'रामचरित मानस'। उस की रचना-तिथि वह ठीक ही देता है, पर इस में वह कोई भूल

[1] देखिए परिशिष्ट इ

भी नहीं कर सकता था क्यों कि हमारे कवि ने ग्रंथ में स्वतः उस की रचना-तिथि का स्पष्ट उल्लेख किया है।

२४. ऐसी दशा मे उपर्युक्त आत्म-चरित कहाँ तक हमारे कवि के जीवन-वृत्त के लिए प्रामाणिक साधन हो सकता है यह तनिक भी निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि उस मे हमारे कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली कुछ अमूल्य किंवदंतियो और जनश्रुतियों का इतना पुराना संकलन है कि उस से पुराना सकलन हमें अन्यत्र नहीं मिलता। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लेखक ने इस में कुछ अनुपयुक्त मनमानी का भी समावेश कर दिया है : 'घट रामायण' का संबंध हमारे कवि के साथ स्थापित करना इसी प्रकार की मनमानी है।

भक्तमाल

२५. हमारे कवि के समकालीन लेखको और कवियों में से निर्विवाद रूप से माननीय केवल एक ही ऐसे हैं जो हमारे कवि का उल्लेख करते हैं। और यह हैं नाभादास। पर जो छप्पय आप हमारे कवि की प्रशंसा में लिखते हैं[1] उस से हमारे कवि के जीवन-वृत्त पर कोई महत्व पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। आप अपने छप्पय मे पाठक का ध्यान केवल तीन बातों की ओर आकर्षित करते हैं :

(क) तुलसीदास उन वाल्मीकि के अवतार हैं जिन्हों ने 'रामायण' की रचना की है, और उन्हीं की भाँति इन्हो ने भी भगवान की लीला का गान किया है।

(ख) यह अहर्निशि राम-चरण-रस मे मत्त रहते हैं। और,

(ग) संसृति रूपी समुद्र के संतरण के लिए इन्हों ने रूप की सुगम नौका प्रस्तुत की है।

यह स्पष्ट ही है कि पहली से हमारी कोई उल्लेख योग्य ज्ञान-वृद्धि नही होती। उस से अधिक से अधिक हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जिस समय छप्पय की रचना हुई उस समय 'मानस' इतना लोक-प्रिय हो चुका था कि वह सफलता पूर्वक वाल्मीकि 'रामायण' का स्थापनापन्न होने लगा था। दूसरी बात जो कही गई है वह तो कवि की एक ऐसी विशेषता है जिस के कारण ही

[1] 'भक्तमाल' छप्पय १२९

उस को 'भक्तमाल' में यह उल्लेख योग्य स्थान मिलता है। तीसरी बात केवल उस को निर्गुणवादी संतो से अलग करती है। इस प्रकार नाभादास जी हमारे कवि के जीवन-वृत्त संबंधी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर कहाँ तक प्रकाश डालते हैं यह स्पष्ट ही है।

प्रियादास कृत टीका

२६. प्रियादास ने भक्तमाल के उपर्युक्त छप्पय पर टीका के रूप में जिन ग्यारह छंदो की रचना की है उन की रूपरेखा निम्नलिखित है, संख्याएँ टीका की हैं :

(५०८) हमारा कवि अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम करता है, उस की भर्त्सना से उत्तेजित हो कर विरागी होता है और वह काशी चला जाता है।

(५०९) काशी में वह एक प्रेत को प्रसन्न कर के हनुमान की प्राप्ति करता है।

(५१०) उस के द्वारा उसे राम-दर्शन होता है।

(५११) एक हत्यारा राम का नाम लेता हुआ आता है, हमारा कवि उस के साथ भोजन करता है, और काशी के पंडित उस से इस के लिए जवाब तलब करते हैं।

(५१२) वह शिव के नंदी को भोजन करा कर उन का समाधान करता है।

(५१३) चोर उस के स्थान पर चोरी करने आते हैं और उन्हें वहाँ पहरेदारो के रूप में राम-लक्ष्मण के दर्शन होते हैं।

(५१४) हमारा कवि एक मृतक व्यक्ति को जीवित करता है।

(५१५) यह सुन कर बादशाह हमारे कवि को बुला भेजता है और उस से करामात दिखाने को कहता हैं।

(५१६) इन्कार करने पर हमारा कवि बंदी किया जाता है। पर जब वह हनुमान की प्रार्थना करता है तब बंदर प्रकट होकर किले में उत्पात करते हैं।

(५१७) वह मुक्त कर दिया जाता है। बादशाह से वह किला छोड़ देने के लिए कहता हैं। वापसी में वह वृंदावन होता हुआ आता है, और वहाँ नाभादास से उस की भेंट होती है।

(५१८) वहाँ पर वह मदन-गोपाल की मूर्ति को राम-मूर्ति में परिवर्तित करता है।

प्रियादास की टीकाओं को पढ़ने पर साधारणतः यह जान पड़ता है कि वह

पाठक के हृदय में केवल एक बात भली भाँति बैठा देना चाहते हैं, और वह यह है कि जैसे ही कोई प्राणी सांसारिक जीवन से विरक्त हो कर परमार्थ-साधन में दत्त-चित्त होता है उस का जीवन अनिवार्य रूप से अलौकिक हो जाता है और असंभावनाओं को संभव कर दिखाना ही उस के जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। फलतः अधिक से अधिक हम इतना कर सकते हैं कि वैराग्य-पूर्व हमारे कवि के गार्हस्थ्य जीवन का जो चित्र प्रियादास उपस्थित करते हैं उस की अवहेलना हम न करें। शेष विवरण तो यह स्पष्ट ही है कि हमारे काम का नहीं है।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता

२७. जीवन-वृत्त संबंधी सामग्री में अब हम 'दो सौ बावन वार्ता' को ले सकते हैं। 'दो सौ बावन वार्ता' में एक वार्ता नंददास की है। उस में यह कहा जाता है[1] कि तुलसीदास नंददास के बड़े भाई थे; तुलसीदास राम-भक्त थे और नंददास कृष्ण-भक्त; तुलसीदास ने भाषा में 'रामायण' की है पर अयोध्या छोड़ कर काशी में रहते हैं; तुलसीदास एक बार ब्रज गए, और वहाँ गोवर्धन पर नंददास से मिले, नंददास उन्हें श्रीनाथ जी के मंदिर में लिवा ले गए और वहाँ पर उन्हों ने यह चमत्कार देखा कि नंददास जी की प्रार्थना पर श्रीनाथ जी की मूर्ति राममूर्ति में परिवर्तित हो गई; तुलसीदास और नंददास वहाँ से गोकुल आए और यहाँ उन्हों ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी के दर्शन किए. नंददास ने गोसाईं जी को प्रणाम किया, किंतु तुलसीदास ने नहीं किया, साथ ही उन्हों ने नंददास से यह कहा कि वे गोसाईं जी को तभी प्रणाम करेंगे जब वही चमत्कार वह यहाँ भी देखें जो उन्हें श्रीनाथ जी के दर्शन के समय दिखाई पड़ा था नंददास ने गोसाईं जी से फलतः यह निवेदन किया कि वह तुलसीदास को रामरूप के दर्शन करावें; नंददास की यह प्रार्थना स्वीकार कर के गोस्वामी जी ने अपने पुत्र रघुनाथ तथा उन की स्त्री में तुलसीदास को राम-जानकी के दर्शन कराए। इस स्वरूप को तुलसीदास ने नमस्कार किया और इस अवसर पर एक गीत की रचना की जिस की पहली पंक्ति यह है :

वरनौं अवधि गोकुल गाम।[2]

[1] २५२ वार्ता पृ० २८--३५

[2] यह ध्यान देने योग्य है कि उल्लिखित गीत कवि की प्रकाशित रचनाओं में नहीं मिलता

२८ कुछ लोगों का कथन है कि 'दो सौ बावन वार्ता' गोकुलनाथ जी की रचना है, और गोकुलनाथ जी तुलसीदास के सम-सामयिक थे इस लिए जो कुछ भी 'दो सौ बावन वार्ता' मे तुलसीदास के सबंध मे कहा गया है वह सब प्रामाणिक माना जाना चाहिए।[1] किंतु यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि 'दो सौ बावन वार्ता' का लेखक 'चौरासी वार्ता' के लेखक से भिन्न है, और गोकुलनाथ जी (जन्म स० १६०८ वि०[2]) की कृति तो यह हो नहीं सकती क्यों कि इस मे स० १७३६ वि० तक की घटनाओं के उल्लेख आते हैं।[3] फलतः हमे यहाँ इतना ही देखना है कि वह अपने समय के अन्य वार्ता-ग्रथों से—विशेष कर के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की 'टीका' (स० १७६९) से—कहाँ तक भिन्न है।

२९. प्रियादास की टीका से इस ग्रंथ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर अधिकतर धारणा यह होती है कि दोनो रचनाओं की सूचनाओं के आधार एक से हैं। इस स्थान पर दोनो का सविस्तर तुलनात्मक अध्ययन संभव नही हैं, इस लिए दोनो से थोड़ी सी वार्ताओ को ले कर ही विचार करना समीचीन होगा। प्रियादास की टीका[4] और 'दो सौ बावन वार्ता'[5] मे रानी रत्नावती का जो आख्यान दिया गया है वह इस प्रकार है, केवल सुविधा के लिए उसे हम ने समानार्थी टुकड़ों में बाँट दिया है :—

मानसिंघ ताकौ छोटौ भाई माधौसिंघ ताकी
जानौ तिया जाको बात लै इहाँ बखानिये।
ढिग जो खवासिन सो स्वासनि भरत नाम
रटति जटित प्रेम रानी उर आनिये।
नवल किशोर कभूँ नंद के किशोर कभूँ
बृंदाबन चंद्र कहि आखैं भरि पानिये।
सुनत बिकल भई सुनिवे की चाह भई
रीति यह नई कछु प्रीति पहचानिये॥

[1] गोविंद वल्लभ शास्त्री: 'माधुरी' वर्ष ८, भाग १, पृ० ६०७, रामनरेश त्रिपाठी: 'रामचरित मानस' की भूमिका पृ० ७४—७७

[2] देखिए ऊपर पृ० ४३

[3] डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा : 'हिंदुस्तानी' सन् १९३२, पृ० १८३

[4] भ० टी० ५४२—५५८

[5] २५२ वार्ता पृ० ३७५—३८१

"सो रत्नावती आमेर में रहेती हती। मानसिंघ राजा के भाई माधोसिंघ की राणी हती। सो वा रत्नावती के पास खवासनी रहेती। सो खवासनी श्री गुसाईं जी की सेवक हती। अनन्य वैष्णव हती। जब वा खवासिनी कुं जॅभाई आवती छींक आवती जो कछु विस्मय जैसो हो तो तब वे खवासनी श्रीकृष्ण सबंधी भगवान के नाम लेती। कबहुं नंदकिशोर कबहुँ नंदकुमार कबहुँ वृंदावनचंद, कबहुँ गोकुलचंद, कबहुँ यशोदानंद ऐसे नाम लेके खवासिनी के नेत्र में जल भरी आवतो। ऐसे छण-छण मे होया करे। तब खवासिनी कुं रत्नावती राणी ने देखी।"

बार बार कहै कहा कहै उर गहै मेरो
बहै दृग नीर हो शरीर सुधि गई है।
पूछौ मत बात सुख करो दिन रात यह
सहै निज गात रागी साधु कृपा भई है।
अति उतकंठा देखि कह्यौ सो विशेष सब
रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है।
टहल छुटाई और सिराने लै बैठाई वाहि
गुरु बुद्धि आई यह जानौ रीति नई है॥

"तब रत्नावती राणी बोली जो तुम घड़ी-घड़ी कहा नाम लेउ हो। और क्युं तुमारे नेत्र भर आवे हैं। और शरीर की शुद्धी भूल जावो हो। तब वा खवासनी ने कही ये मार्ग तो ताप क्लेश को है तुम सुखी लोक यामें काहे कु पड़ो हो। तब वा राणी ने बहुत आग्रह कियो। तब वा खवासनी ने कही जो परम भगवदीय जो स्नेही हैं विनकी कृपा होवे तब विरह उत्पन्न होवे है। तब ये शरीर ये दुःख सहि सके। विरह दुःख तब सह्यो जाय। तब राणी ने कह्यौ जो तुम मोकु समझावो तो तुम कहो तैसो करूँगी। तब वा खवासनी ने पुष्टिमार्ग की रीती बताई। तब वा राणी ने वा खवासनी सुं टेहेल छुड़ाय के भगवन्नाम सुनायवे करो ऐसे ठराव कर दियो।"

निसि दिन सुन्यौ करै देखिवे को अरबरे
देखे कैसे जात जलजात दृग भरे हैं।
कछुक उपाय कीजै मोहन दिखाय दीजै
तब ही तौ जीजै वे तौ आनि उर अरे हैं।
दरसन दूर राज छोहैं लोटैं धूर पै
न पावै छवि पूर एक प्रेम बस करे हैं।

करौ हरिसेवा भरि भाव धरि मेवा
पकवान रस खान दै बखान मन धरं है ॥

"तब वो खवासनी आखो दिवस वा राणी कु पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूप और गुरु को स्वरूप औ वैष्णव को स्वरूप समुझायो करे। फेर कोई दिन श्री गुसाई जी उहाँ पधारे। तब रत्नावती राणी सेवक भई। तब रत्नावती को बेटा प्रेमसिंघ हता वाकुं सेवक करायो।"

इंद्र नीलमणि रूप प्रगट सरूप कियौ
लियौ बढ़ै भाव यों सुभाव मिलि चली है।
नाना विधि राग भोग लाड़को प्रयोग जामैं
जामिनी सुपन जोग भई रंग रली है।
करत सिंगार छवि सागर न वार पार
रहत निहारि वाही माधुरी सों पली है।
कोटिक उपाय करै जोग जज्ञ पार परै
ए पै नहीं पावै यह दूर प्रेम गली है॥

"तब इद्रनील मणि को श्याम स्वरूप सिद्ध कराय के पुष्टि कराय के सेवा करन लगी। तब धीरे धीरे भाव बढ़वे लग्यो। अनेक प्रकार की सामग्री और पकवान भोग धरे। और श्री ठाकुर जी कु लाड़ लड़ावे और शृंगार करते भगवत्स्वरूप में निमग्न होय जाय अंग अग मे माधुर्यता भराय गई।"

देख्योई चहति तऊ कहति उपाय कहा
अहो चाह बात कहौ कौन कौ सुनाइये।
कहो जू बनावौ ढिग महल कै ठौर एक
चौकी लै बैठावो चहूँ ओर समुझाइये।
आवें हरि प्यारे तिन्हें लावैं ते लिवाय इहाँ
रहै ते धुवाय पाँय रुचि उपजाइये।
नाना विधि पाक सामा आगै आनि धरैं आप
डारि चिक देखो स्याम दृगनि लखाइये॥

"तब वा खवासनी सुं पूछो जो प्रकट स्वरूप कैसे मिले तब वा खवासनी ने कही जो ये मेहेल के पास एक दूसरो मेहेल बनाओ और वा में वैष्णव आयके उतरे तब वैष्णवन को आप प्रसाद लेवावे तब श्री ठाकुर जी प्रगट होय के दर्शन देवें। तब भगवत्कृपा संपूर्ण होवे।"

आवैं हरि प्यारे साधु सेवा करि टारे दिन
किहूँ पाव धारैं जिन्हैं ब्रज-भूमि प्यारिये।
जुगुल किसोर गावैं नैननि बहावैं नीर
ह्वै गईं अधीर रूप दृगनि निहारिये।
पूछी वा खवासी सों जु रानी कौन अंग
जाके इतना अटक संग संग सुख भारिये।
चली उठि हाथ गह्यौ रह्यौ नहीं जात अहो
सहो दुख लाज बड़ी तनक बिचारिये॥

"तव दूसरो मेहेल करायो और गाम बहार चौकी बैठाई और जो वैष्णव ब्रज-जात्रा जाय विनकुं लाय के मेहेल में उतारे और महाप्रसाद सब अनसखड़ी को वैष्णवन के लीयें पठाय देवे। और वैष्णव लेवे तव रानी चिक डारि के पड़दा में बैठ के वैष्णवन के दर्शन करती। एक दिन वैष्णव की मंडली में श्री ठाकुर जी के दर्शन वाकुं भये। तव खवासनी सुं कहे के राणी पड़दा छोड़ के बहार निकस के मंडली मे जाय बैठी।"

देख्यौ मै बिचारि हरिरूप रस सार ताकां
कीजियै अहार लाज कानि नोकें टारिये।
रोकत उतरि आई जहाँ साधु सुखदाई
आनि लपटाई पाँय विनती लै धारिये।
संतनि जिमायबे को निजकर अभिलाष
लाख लाख भाँतिनि सों कैसे कै उचारिये।
आज्ञा जोइ दीजै सोई कीजै सुख वाही मैं जु
प्रीति अवगाही कही करो लागी प्यारिये॥

"और हाथ जोड़ के वैष्णवन कूं भगवत्स्मरण करे और वीनती करी जो मेरे मन में वहुत दिन सूं अभिलाष लाग रही है जो तुम प्रसन्न होय के आज्ञा द्यो तो मैं हाथन सुं वैष्णवन कुं प्रसाद धरूं। तव वैष्णवन ने हाँ कही।"

प्रेम मैं न नेम हेम थार लै उमगि चली
चली दृग धार सो परोसि कै जिवाये हैं।
भींजि गए साधु नेह सागर अगाध देखि
नैननि निमेख तजी भये मन भाये हैं।

चंदन लगाय आनि बीरीऊ खवाय स्याम
चरचा चलाय चखरूप सरसाये है।
धूम परी गाँव भूमि आये सब देखिवे कों
देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं॥

"तब सोना को थार ले के सब वैष्णवन कुं परोस के और महाप्रसाद लिवायो। और चदन लगायो। और बीड़ी खवाई। तब भगवद्वार्ता करन लगी। सो वहुत आनंद भयो। तब गाम में खवर परी राणी पड़दा छोड़ के बहार आई है। तब आखो गाम देखवे आयो और गाम में खूब धामधुम मची। तब राजा कहुँ दूसरे गाम गयो हतो। तब राजा के दिवान ने पत्र लिख के मनुष्य पठायो।"

ह्वै करि निसंक रानो बंक गति लई नई
दई तजि लाज बैठी मोड़नि की भीर मैं।
लिख्यौ लै दिवान नर आये सो बखान कियो
बाँच सुनि आँच लागी नृप के सरीर मैं।
प्रेमसिंघ सुत ताही काल सो रसाल आयौ
भाल पै तिलक माल कंठी कंठतीर मैं।
भूप को सलाम कियो नरनि जताय दियौ
बोल्यौ अब मोड़ी केरे पर्‌यो मन पीर मैं॥

"तब वा मनुष्य ने राजा कुं जाय के पत्र दियो। सो पत्र बाँच के राजा कुं क्रोध भयो। वाई समय वा राणी को वेटा प्रेमसिंध काका मानसिंघ राजा कुं तिलक माला करके सलाम करवे आये। तव राजा वोल्यो आवो मोड़ी के। यहु सुनि के प्रेमसिंघ ठाढ़्यो रह्यो।"

कोप भरि राजा गयो भीतर सो सोच नयो
पाछे पूछि लयो कह्यौ नरनि बखानि कै।
तब तौ विचारी अहो मोड़ा ही हमारी जाति
भयो दुख गात भक्त भाव उर आनि कै।
लिख्यौ पत्र माँ जी कौ जु प्रीति हिये साजी जो पै
सीस पर बाजी आय राखो तजि प्रान कै।
सभा मधि भूप कही मोड़ी को विरूप भयो
रहैं अब मोड़ी के ही भूलो मति जानि कै॥

"राजा क्रोध कर के उठ के भीतर गयो। तब प्रेमसिंघ ने लोगन सुं पुंछो जो काका ने मोकुं कहा कही है। तब सब लोगन ने वाकी मा के सब समाचार कहे। तब अपने डेरा में आय के विचार कियो। सभा में काका ने मोड़ी को कह्यो। जासुं ये बात को स्वाग पूरो करनो चहोये। तब मा जी कुं पत्र लिख्यों जो सभा के बीच मोकु काका ने मोड़ी को कह्यो है। जासुं अब तुम ये स्वाग पूरो कर दिखावो। अब मैं मोड़ी को रहूँ तो ठीक। प्राण तो एक वार जायेंगे।"

लिख्यौ है पठाये बेगि मानस लै आये जहाँ
रानी भक्ति सानी हाथ दई पाती बाँचिये।
आयो चढि रंग बाँचि सुत को प्रसंग बार
भीजे जे फुलेल दूर किये प्रेम साँचिये।
आगे सेवा पाक निसि महल बसत जाय
ल्याय याही ठौर प्रभु नीके गाय नाचिये।
नृप अन्न त्यागि दियो दियो लिखि पत्र पुत्र
भई मोड़ी आज तुम हित करि जाँचिये॥

"सो पत्र मनुष्य ने प्रेमसिंघ की माता रत्नावती राणी कु जाय के दियो। जो पड़दा सुं बहार निकसी हती वाही कुं दियो। तब राणी पत्र वाँच के बहुत प्रसन्न भई। और श्री ठाकुर जी की और वैष्णवन की आज्ञा लेके माथो मुड़ाय डारयो। धणी जीव तो हतो तो पण भगवद्दर्शन कु मुख्य मान के संसार में असक्ती छोड़वे के लीयें माथो मुड़ाय डारयौ। तब ठाकुर जी वैष्णव उतरते हते। वाही मेहेल में पधराय लाई और कीर्तन करै नाचै। और गावे आनंद करन लगी। और श्री ठाकुर जी कु लाड़ लड़ावन लगी। फेर पुत्र कुं पत्र लिख्यो।"

गयो नर पत्र दियो सीस से लगाय लियो,
बाँचि कै मगन हियो रीझि बहु दई है।
नौबत बजाई द्वार बाँटत बधाई काहू
नृपति सुनाई कही कहा रीति नई है।
पूछे भूप लोग कह्यौ मिटे सब सोग भये
मोड़ी के जू जोग स्वाँग कियो बनि गई है।
भूपति सुनत बात अति दुख गात भयो
लयो वैर भाव चढ्यौ न्यारी इत भई है॥

"तब मनुष्यन ने जाय के वाको पुत्र प्रेमसिंघ हतो वाकु पत्र दियो तब प्रेमसिंघ को ऐसो नेम हतो जहाँ सूधी मोड़ी को न होउँ तहाँ सूधी अन्न नही खाउँगो फलाहार करूँगो। जब वाकुं पत्र पहोंच्यो तब माथे पर चढ़ाय लियो। और नोबत बैठाई। और वधाई बाटवे लग्यो। बड़ी खुशी करी। तब राजा मानसिंघ जी कुं खवर भई। तब मानसिंघ जी कुं लोगन ने कही जो तुम ने सभा में कही हती सो स्वाँग प्रेमसिंघ जी ने कर दिखायो है। मोड़ी को बन गयो है। ये सुन के राजा मानसिंघ बहुत उदास भयो और ऐसो विचार कियो जो भाई की बहुँ को मराय डारनो परंतु लोगन मे निंदा न होवे और पृथ्वीपती कुं ऐसी खवर न परे जो मानसिंघ राजा ने स्त्री मराई है। ऐसो नाम बदनाम न होवे ऐसी रीती सु मराइ डारनी। ये विचार करके राजा ने तैयारी करी।"

नृप समुझाय राख्यो देस मे चवाय ह्वै है
बुधिवंत जन आय सुत सों जताई है।
बोल्यो विषै लागि कोटि कोटि तन खोये एक
भक्ति पर आवै काम यह मन आई है।
पाँय परि माँगि लई दई जो प्रसन्न तुम
राजा निसि चल्यौ जाय करों जिय भाई है।
आयो निज पुर ढिग दुरि नर मिले आनि
कह्यो सो बखानि सब चिंता उपजाई है॥

"ये खवर प्रेमसिंघ जी कुं भई तव प्रेमसिंघ बोल्यो जो राजा लोग धरती के लीये माथों कटावे हैं तो भक्ती पर माथो कटावे या में कहा चिंता है। तब राजा घर गयो और गाम के बड़े बड़े आदमी मिलवे कुं आये। तब राजा ने विनसुं कही जैसे अपनी निंदा न होवे और कारज सिद्ध होवें वैसो उपाय करो जैसे बने तैसे वा रत्नावती कुं मराय डारो परंतु अपनो नाम न होवे।"

भवन प्रवेस कियो मंत्री जो बुलाय लियो
दियो कहि कटी नाक लोहू निरवारिये।
मारिबो कलंक हू न आवै यों सुनावै भूप
काहू बुधिवंत नै विचारि लै उचारिये।
नाहर जु पींजरा में दीजे छोड़ि लीजे मारि
पाछे ते पकरि वहि बात दाबि डारिये।

सबनि सुहाई जाय करी मनभाई आयो
देख्यो वा खवासी कही सिंह जू निहारिये ॥

"तब एक मनुष्य ने ऐसो विचार बतायो। जो ऐसी बन्दोवस्ती करो पीजरा मे सिंघ है सो छोड़ देवो तब सब मनुष्यन कुं बहार काढ़ देव और कमाड़ लगाय देवे। भीतर जाय के रत्नावती कुं सिंघ मार डारेगो और फेर सिंघ पकड़ लेवेंगे। तब बात दब जायँगी। ऐसो विचार सब को आछो लग्यो। वैसे सिंघ छोड़ दियो। रत्नावती के पास सिंघ गयो।"

करै हरि सेवा भरि रंग अनुराग हग
सुनी यह बात नेकु नैनउ न टारे हैं।
भाव ही सो जाने उठि अति सनमाने
अहो आज मेरे भाग श्रीनृसिंह जू पधारे है।
भावना सचाई वही सोभा लै दिखाई फूल
माल पहिराई रचि टीको लागे प्यारे हैं।
भौन ते निकसि धाए मानो खंभ फारि आये
विमुख समूह ततकाल मारि डारे हैं॥

"तब वो खवासनी बैठी हती और राणी श्री ठाकुर जी कुं शृंगार करती हती। तब वा खवासनी ने सिंघ कुं देख के जय जय करके ठाढ़ी भई। श्री नृसिंह जी पधारे हैं मेरे भाग्य है ऐसे कहेन लगी और जाय के सिंघ पर हाथ फेरन लगी और तिलक कर्यो और फूलन की माला पहेराई और हाथ जोड़ के ठाढ़ी रही। तब वाकी भावना की सचाई देख के श्री ठाकुर जी वा सिंघ में प्रवेश कर के वा खवासनी कुं चाटन लगे। जैसे नृसिंह जी ने प्रह्लाद जी कुं चाट्यो हतो। सो श्री महाप्रभु जी ने पुरुषोत्तम सहस्रनाम में लिख्यो है ॥ सो नाम ॥ भक्ताग लेहनो धौत क्रोध पुजः प्रशात धीः। फेर सिंघ पीछे फिर के मेहेलन सुं बहार कूद पड़्यो और बहिर्मुख लोग ठाड़े हते राजा की फौज सैकड़न कुं मार डारे।"

भूप कों खबरि भई रानी जू की सुधि लई
सुनी नीकी भाँति आपु नम्र ह्वैके आये हैं।
भूमि पर साष्टांग करी कै कै यों मति हरी
भरी दया आय वाके वचन सुनाये हैं।
करत प्रनाम राजा बोली अजू लाल जू को
नेकुँ फिरि देखो एक ओर ये लगायं हैं।

बोल्यो नृप राज धन सबही तिहारो धारो
पति पै न लोभ कही करो सुख भाये हैं ॥

"गाम में हाहाकार पड़ गयो और बहोत त्रास पड़ गयो। बड़ो हाहाकार भयो। तब राजा मानसिंघ बहोत डर्‌यो और तुर्त दौड़ के भाई की वहु के पावन पर्‌यो। और साष्टाग दंडवत करके पड़ रह्यो। कछु उठवे को भान रह्यो नहीं तब रत्नावती बोली उठो उठो श्री ठाकुर जी के दर्शन करो। अब श्री ठाकुर जी सिंघ रूप मिटाय के दूसरे रूप सुं दर्शन देवे हैं। अब तो उठो। तब राजा ने उठके दर्शन किये। फेर राणी सुं कही जो तुम हमारी रच्छा करो। हम तुमारी शरण आये हैं ये सब राज्य और धन तुमारो है। तुमने संसार को लोभ छोड़ के माथो मुंड़ायो है जैसे तुमारी इच्छा होवे तैसे तुम वरतो। तब मान-सिंघ राजा घर गयो और खजानची कु हुकुम कियो। महिने के महिने दश हजार रुपैया वा राणी कु पहोंचाय द्यो और अधिकी रुपैया जितने मागे इतने मो कुं पूंछ के देणो। एक दिन की ढील करनी नहीं। तब वो खजानची महिने के महिने दश हजार रुपैया पहोंचावतो। सो सब रुपैया सामग्री में खर्च डारती। सो वे रत्नावती राणी श्री गुसाईं जी की टेक की कृपापात्र हती।"

राजा मानसिंघ माधोसिंह उभै भाई चढ़े
नाव परि कहूँ तहाँ बुड़िबो को भई है।
बोल्यो बड़ो भ्राता अब कीजिये जतन कौन
भौन तिया भक्त कहि छोटे सुधि दई है।
नेकु ध्यान कियो तब आनि के किनारो लियो
हियो हुलसायो जेठ चाह नई लई है।
कर्‌यो आय दरसन बिनै करि गयो भूप
अति ही अनूप कथा हिये ब्यापि गई है ॥

"और मानसिंघ राजा वा रत्नावती के श्री ठाकुर जी के दर्शन कर्‌ये विना जल नहीं लेती। वे राणी और खवासनी श्री गुसाईं जी की ऐसी कृपापात्र हती ॥ वार्ता सम्पूर्ण ॥"

इस प्रकार का साम्य कान्हा भगी[1] गोविन्द स्वामी[2] तथा राजा मधुकर

[1] भ० टी० ५२० तथा २५२ वार्ता पृ० ४११-४१२

[2] भ० टी० ४१०-१४ तथा २५२ वार्ता पृ० १-१४

साह[1] की वार्ताओं मे भी देखा जा सकता है। फलतः दोनो में सूचना-साम्य स्पष्ट है। अंतर इतना अवश्य है : 'वार्ता' में चारो महानुभाव गोसाईं विट्ठल-नाथ से दीक्षा प्राप्त करते हैं किंतु प्रियादास की टीका मे रत्नावती और मधुकर-साह के गोसाईं विट्ठलनाथ के संपर्क मे आने का कोई उल्लेख नहीं होता। इस अंतर का कारण क्या हो सकता है ?

३०. वस्तुस्थिति यह है कि 'वार्ता' मे पुष्टिमार्ग के लिए ज्ञाताज्ञात रूप मे कुछ झुकाव जान पड़ता है जब कि 'टीका' में किसी विशेष सप्रदाय के लिए कोई झुकाव नहीं जान पड़ता है। उदाहरण के लिए आसकरन राजा की वार्ता ली जा सकती है। 'वार्ता' के अनुसार नरवर गढ़ के राजा आसकरन गोसाईं विट्ठल नाथ जी के शिष्य थे[2] किंतु नाभादास जी का कथन है कि वह कील्ह देव के शिष्य थे।[3] इस संबंध मे नाभादास जी का कथन इस लिए विशेष प्रामाणिक माना जाना चाहिए कि एक तो वे आसकरन के समकालीन थे, दूसरे उन के गुरु अग्रदास कील्ह देव के गुरु भाई थे—दोनो महात्मा कृष्णदास पयाहारी के शिष्य थे—और नाभादास जी दोनों महात्माओं के सम्पर्क मे आ चुके थे, क्यों कि प्रियादास का कथन है कि माता द्वारा परित्यक्त होने के अनतर नाभादास जी का उद्धार दोनों ही महात्माओं ने मिलकर किया था।[4] फलतः यह सदिग्ध है कि 'दोसौ बावन वार्ता' का साक्ष्य अनेक स्थलों पर उतना भी मान्य हो सकता है जितना कि प्रियादास की टीका का।

३१. जहाँ तक हमारे कवि के जीवन-वृत्त से निकट संबंध है दोनों के तुलना-त्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऐसी दो घटनाएँ जिन का सबध प्रियादास हमारे कवि के जीवन से बताते हैं 'वार्ता' मे अन्य दो संतों के जीवन से संबंध रखती हैं। प्रियादास ने हमारे कवि के संबंध में अपनी स्त्री पर अत्यधिक अनु-राग की और स्त्री के तीव्र वाक्यों के द्वारा ज्ञानोदय की जो कथा कही है[5] वही कथा 'वार्ता' में किन्ही यदुनाथ दास के संबंध मे मिलती है।[6] इसी प्रकार

[1] भ० टी० ४८८ तथा २५२ वार्ता पृ० ४१२
[2] २५२ वार्ता पृ० १६६
[3] 'भक्तमाल' छप्पय १७४
[4] भ० टी० १२
[5] वही ५०८
[6] २५२ वार्ता पृ० ८१

प्रियादास ने हमारे कवि के सबध मे एक हत्यारे के साथ राम-नाम उच्चारण के कारण भोजन करने और पडितो द्वारा तग किए जाने पर शिव के नदी को हत्यारे के हाथ से खिलाने के चमत्कार का जो उल्लेख किया है[1] उसी प्रकार का उल्लेख 'वार्ता' मे लाहौर के एक पडित की 'वार्ता' में मिलता है।[2] इन आख्यानों के संबध मे यह कहना कठिन है कि एक ने दूसरे से ले कर उन्हें अपनी कृति मे स्थान दिया, या दोनो ने विभिन्न श्रोतों से उन्हें प्राप्त किया, या दोनो ने किसी सामान्य श्रोत से उन्हें प्राप्त करके अपनी कृतियों में इस प्रकार विभिन्न सतो से सबध रखने वाले वृत्तो में स्थान दिया।

तुलसीदास-स्तव

३२. जीवनवृत्त सबधी सामग्री में से अब हम मोरोपंत कृत 'तुलसीदास-स्तव' को ले सकते हैं। मोरोपत (स० १७८६ से १८५१) महाराष्ट्र के एक कवि हो चुके हैं। यह हमारे कवि से इतने प्रभावित हुए थे कि इन्हो ने 'तुलसीदास-स्तव' नामक प्रशसोक्ति उसके संबध मे लिखी थी। कोई बीस साल हुए, महाराष्ट्र के एक हिंदी लेखक ने इस 'स्तव' की ओर हिंदी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।[3] 'भक्तमाल' के लेखक की ही भाँति मोरोपत भी हमारे कवि को वाल्मीकि का अवतार मानते हैं और इसके अतिरिक्त कहते हैं कि उस ने सात रामायणों की रचना की और कृष्ण-मूर्ति को राममूर्ति में परिवर्तित कर दिया। स्पष्ट ही इन में से कोई बात हमारे विशेष काम की नहीं है। केवल एक बात हो सकती थी : गोस्वामी जी की सात रामायणें रचने की बात। किंतु यह सात रामायणे कौन सी हैं जिनकी रचना कवि ने की—क्यों कि इस सख्या की कई गुना रामायणे ऐसी हैं जों हमारे कवि की ही कही जाती है—जब तक हमें यह न ज्ञात हो इस उल्लेख से भी पर्याप्त सहायता हमें नहीं प्राप्त होती। इतना अवश्य सभव जान पड़ता है कि मोरोपत के समय तक—अथवा कुछ और पूर्व तक ही क्यो कि मोरोपत हिंदी प्रात के निवासी नही थे और उन्हो ने यह सूचना किसी अहिंदी श्रोत से प्राप्त की होगी—केवल सात रामायणे ही हमारे कवि की रचनाओं मे स्थान पाती थीं।

[1] भ० टी० ५११, ५१२
[2] २५२ वार्ता पृ० ३१९
[3] रामचद्र गोविंद काटे : 'सरस्वती' जिल्द १९, पृ० ३७

भविष्यपुराण

३२. 'भविष्यपुराण' मे भी हमारे कवि के जीवन-वृत्त के सबंध मे उल्लेख हुआ है। उस का ऐतिहासिक महत्व तो कदाचित् कुछ नहीं है, यद्यपि कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक तथ्य उस मे मिल जाते हैं। हमारे कवि के सबंध में लिखते हुए उस मे कहा गया है कि मुकुंद ब्रह्मचारी ने, जो शंकराचार्य के गोत्रज थे, बाबर द्वारा भ्रष्ट किए जाने पर अपने बीस शिष्यो के साथ अग्नि मे प्रवेश किया, और यही शिष्य बाद को संतो के रूप में अवतरित हुए[1] (इस प्रकार 'भविष्य पुराण' १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के सतों का संबंध वेदात मतानुयायी पूर्ववर्ती कतिपय महात्माओं से स्थापित करता है) और मुकुंद ब्रह्मचारी का एक शिष्य जिस का नाम श्रीधर था अनप शर्मा के पुत्र के रूप में अवतरित हुआ और इसी का नाम तुलसीदास हुआ; यह पुराणों मे परम निष्णात हुआ, और अपनी गृहिणी के उपदेशो से प्रेरित होकर राघवानंद के पास आया और उन से रामानंदी सप्रदाय में दीक्षित हुआ।[2] प्रश्न यह है कि यह कथन कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है। रामानंद की परंपरा का सम्यक् विस्तार यह हर्ष की बात है कि हमें नाभादास जी के 'भक्तमाल' में मिल जाता है और यह विस्तार प्रामाणिक इस लिए है कि स्वतः नाभादास जी इसी परंपरा में थे। नाभादास जी गोस्वामी जी के समकालीन थे। फलतः यदि कोई राघवानंद उन के समय मे या कुछ पूर्व भी रामानंदी सप्रदाय में ऐसे हुए होते जो शिष्य करते या किए होते तो उन का उल्लेख संभवतः नाभादास जी अवश्य करते। किंतु ऐसे किन्हीं राघवानंद का उल्लेख नाभादास जी ने नहीं किया है। केवल एक ही राघवानंद का उल्लेख वह रामानद जी की संबंध-परपरा मे करते हैं, और वे रामानद जी के गुरु हैं,[3] रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में नहीं है। फलतः इस पुराण के साक्ष्य की प्रामाणिकता अत्यत सदिग्ध है।

काशी की सामग्री

३४. काशी मे हमारे कवि के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली कुछ सामग्री

[1] 'भविष्य महा पुराण' प्रतिसर्ग पर्व खंड ४, अध्याय २०, श्लोक ९-११

[2] वही, श्लोक २७-२८

[3] 'भक्तमाल' छप्पय ३०

है जिस पर विचार करना आवश्यक होगा। काशी में असी और गंगा के संगम पर (जहाँ पर असी का नाला गंगा में मिलता है) एक पुराना पक्का घाट है जिस को तुलसी-घाट कहते हैं। इस घाट से मिली हुई एक इमारत भी है जो कई बार की मरम्मत और पुनर्निर्माण के अनंतर भी सर्वांशः नवीन नहीं है। इस इमारत के नीचे के खंड में एक नीची लंबी कोठरी है जिस में हनुमान जी एक मूर्ति स्थापित है। यह कोठरी गोस्वामी जी के ही समय की कही जाती है, और बहुत कुछ वैसी ही जान भी पड़ती है। इस इमारत के ऊपरी खंड में कुछ पुरानी मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं, और इन में से कुछ गोस्वामी जी के समय की कही जाती हैं। लकड़ी का एक टुकड़ा है जो उस नाव का टुकड़ा बताया जाता है जिस पर गोस्वामी जी गंगा पार किया करते थे। कपड़े की वेठन में एक जोड़ी खड़ाऊँ की रक्खी हुई है जो गोस्वामी जी की बताई जाती है। और, एक चित्र भी है जो गोस्वामी जी का बताया जाता है। यह चित्र नया है—जो इस के रंग आदि से स्पष्ट ज्ञात होता है। किंतु, यह एक पुराने चित्र के आधार पर बना हुआ है जो अत्यंत असावधानी के साथ मामूली स्याही से एक पुराने और साधारण काग़ज़ पर खींचा हुआ है। किंतु इस बात पर विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि उक्त चित्र गोस्वामी जी का है। खड़ाऊँ भी बहुत कुछ नई जान पड़ती है, और घिसी हुई भी नहीं है। शेष के लिए अवश्य अविश्वास करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं ज्ञात होता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त इसी स्थान पर हाल के कुछ काग़ज़ात भी हैं, जिन से गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उन का उल्लेख आगे यथा-स्थान होगा। उन की प्रामाणिकता के संबंध में कोई संदेह जनक बात नहीं ज्ञात होती इस लिए हम उन्हें प्रामाणिक मान सकते हैं। गोपालमंदिर के अहाते में इसी प्रकार की एक अत्यन्त नीची कोठरी है जिस के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसी में बैठकर गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' के अधिकतर पदों की रचना की थी। जन-श्रुति के अति-रिक्त इस प्रसिद्धि का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। इनके अतिरिक्त प्रह्लाद-घाट पर गंगाराम ज्योतिषी का एक स्थान है। कहा जाता है कि पहले-पहल काशी आने पर गोस्वामी जी इन्हीं के साथ ठहरे थे। गंगाराम जी के उत्तरा-धिकारी वहाँ अभी हैं, और उनके पास एक पुराना चित्र है जिसे वह गोस्वामी जी का चित्र बताते हैं और कहते हैं कि जहाँगीर ने बनवाया था। इस चित्र का कुछ सविस्तर परिचय आवश्यक होगा क्यों कि अधिकतर इस चित्र को प्रामाणिक

मान कर की गई इस की बहुत सी नक़लें प्रकाशित साहित्य में मिलती हैं।

चित्र के ऊपरी हाशिये पर "तुलसीदास" तथा "सं० १६५५" नागरी अक्षरों में लिखे गए हैं किंतु दोनो की लिखावट में साम्य कम है। इस में जिस संत का चित्र है वे नदी के किनारे बने हुए एक भव्य प्रासाद के नदी की ओर निकले हुए बारजे पर मख़मल के गद्दे पर एक मोटे मसनद के सहारे बैठ कर माला फेर रहे हैं, और नदी के दूसरे तट पर एक क़िला बना हुआ है; संत की अवस्था लगभग ६० वर्ष की ज्ञात होती है, शरीर सुंदर और इकहरा है, बायीं भुजा सूखी हुई है, और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के तिलक-मुद्रा यथास्थान शरीर भर में लगी है। चित्र पुराना अवश्य है पर कदाचित् सं० १६५५ का नहीं। इमारत की शैली के आधार पर कलाविद् राय कृष्णदास जी का कथन है कि यह गोस्वामी जी के जीवन-काल की कृति नहीं है : उस समय की इमारतों में प्रासाद-निर्माण की यह शैली नहीं पाई जाती; उन का कथन है कि इस शैली का प्रचलन मुहम्मदशाह के बाद हुआ।[1] गंगाराम के उत्तराधिकारियों से चित्र का फ़ोटोग्राफ़ न मिल सका, अन्यथा वह यहाँ दिया जा सकता था।

काशी में कुछ और भी स्थान हैं जिन का संबंध हमारे कवि से बताया जाता है। परंतु हमारे अध्ययन में उन से कोई उल्लेख योग्य सहायता नहीं मिलती। इस लिए उन पर विचार करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

इन स्थानों के अतिरिक्त तीन वस्तुएँ काशी में और ऐसी हैं जो महत्व-पूर्ण हैं। इन में से एक है सं० १६६९ का लिखा हुआ पंचायतनामा, जो पहले असीघाट-निवासी टोडर के उत्तराधिकारियों के पास था और अब काशिराज के संग्रह में है। दूसरी है 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तर-कांड की एक प्रति जो सं० १६४१ की है और वहीं के सरस्वती-भवन पुस्तकालय में सुरक्षित है: और तीसरी है सं० १६६६ की लिखी हुई 'विनय-पत्रिका' की एक प्रति जो रामनगर के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। गोस्वामी जी के हस्तलेख के संबंध में विचार करते हुए आगे इसी ग्रंथ में यथा-स्थान हम ने तीनों का परिचय दिया है, और यथेष्ट विस्तार के साथ उन पर विचार भी किया है, इस कारण यहाँ पर उन के संबंध का कोई विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है।

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी : 'राम चरित मानस' भूमिका पृ० ८७

अयोध्या की सामग्री

३५. अयोध्या मे केवल दो सामग्रियाँ ऐसी हैं जिन का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग मे किया जा सकता है :

(क) तुलसी-चौरा तथा तत्संबंधी जन-श्रुतियाँ, और

(ख) श्रावण-कुज में सुरक्षित स० १६६१ की लिखी 'मानस' के बालकाड की हस्तलिखित प्रति।

पहली के संबध में कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने, सं० १६३१ में, अयोध्या में यहीं ठहर कर 'मानस' की रचना की। स्वर्गीय लाला सीताराम ने तत्सबधी एक प्राचीन प्रमाण का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं[1] : "अयोध्या के इतिहास की खोज में हम को एक गीत मिला। इस गीत का रचने वाला एक मुसलमान फक़ीर मोहन साईं था जो स० १८१२ में विद्यमान था" (यह गीत उन्हें कहाँ प्राप्त हुआ इस का उल्लेख उन्हो ने नहीं किया है, और न इस बात का कि फक़ीर मोहन साईं का समय उन्हों ने कैसे ज्ञात किया) :

अवध की भूमी पवित्र सब है पवित्रतम उसमें है तुलसीचौरा।
तवाफ़ करते हैं रोज उसका बिरंचि नारद महेस गौरा॥
जमाया आसन उसी के नीचे प्रसिद्ध मुनि योगिराज जी ने।
व' जानते मर्म भीतरी थे बता दिया था उन्हें किसी ने।
यहाँ पै काशी से जब गोसाईं पधारे श्रीराम रस में भीने।
सुना के आदेश अपने गुर का उन्हें ही सौंपा सब उस यती ने।
जला के तन योग अग्नि में तब सिधारा गुरु पाद पद्म भौंरा॥
लगी जब इकतीसो रामनौमी गुसाईं जी ने कलम उठाई।
उछाह से राम ब्याह तैंतीस समाप्ति तिथि मानसो सुहाई।
हुई जो पूजा की धूम सुरगन ने रामगाथा ये थी बढ़ाई।
सुदिव्य मनि तीन शुचि अलौकिक सुघरता जिनकी कही न जाई।
खचित था उसमें समेत परिकर के राम जी का शबीह औरा॥
थी एक पर विष्णु जी की झाँकी व' दूसरे पर थी राम सिय की।
व तीसरे पर अनुज हनू युत विराजती मूर्ति सीय पिय की।

[1] 'माधुरी' वर्ष १२, खड २, पृ० ३६४

उन्हीं की पूजा वहाँ पै होती चलाई मानों गुसाईं जी की।
बना दिया मिरज़ा मानसिंह ने फरश ज़मुर्रद व छत्रि डीकी।
बहुत दिनों तक चहल पहल थी पलट गया फिर समय का दौरा॥
चढ़ा था शैतान सूबा के सिर कि ताजपोशी की की तयारी।
उपाट कर फ़र्श तख़्त साजा दुखा के दिल औ रुला के छाड़ी।
वह तख़्त पर बैठने न पाया पहुँच के नौरंग ने जान मारी।
मुग़ल के घर रख फ़र्श छत्री गुनाह बेलज़्ज़त उसने चक्खा।
मुगल के घर रख फ़र्श छत्री पहुँच गये दिल्लियाँ पिथौरा॥
रहा सहा वृक्ष बेदिकायुत जो था ही ज़िन्दा गवाह सबका।
बचा न वह भी बचै तो कैसे कि हिल गए जब कि सातों तबका।
वह कैसा संवत था बेवफ़ा का कि नाम बारह ख़वास रब का।
व जन्म त्रेता का कैसे माने कि छयकरी तिथि हमन को जँचका।
अब ईंट पत्थर की बेदिका है उसी पर सिर हम पटकते धौरा॥

इस साक्ष्य की प्रामाणिकता के संबंध में बहुत निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ही क्यों कि स्वर्गीय लाला जी ने उक्त गीत के प्राप्तिस्थान तथा रचयिता के समय का उल्लेख-सप्रमाण नहीं किया है। मोहन साईं के लिए जो तिथि स्वर्गीय लाला जी ने दी है वह यदि ठीक मान ली जावे, और यदि यह भी मान लिया जावे कि रचना उक्त मोहन साईं की ही है, तो अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि लगभग २०० वर्ष पूर्व इस प्रकार की एक जन-श्रुति प्रचलित थी जिस प्रकार की जन-श्रुति का उल्लेख उक्त गीत में हुआ है। उपर्युक्त सामग्री में से दूसरी का परिचय यथास्थान आगे चलकर विस्तृत रूपमें हुआ है, इस लिए यहाँ पर तत्संबंधी किसी प्रकार का विस्तार अनावश्यक होगा।

राजापुर की सामग्री

३६. राजापुर, ज़िला बाँदा, में जो सामग्री हमारे कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली प्राप्त है उस पर भी हमें विचार करना आवश्यक होगा। वह मकान जो तुलसीदास का कहा जाता है था, बाढ़ आने के कारण यमुना के गर्भ में चला गया है—वह यमुना के निरे तट पर था—और नदी से कुछ हट कर एक दूसरा पक्का मकान अब बनाया गया है। पहले वाले मकान का अब केवल एक चित्र मात्र प्राप्त है जो १८८७ ई० में लिया गया था। वह

स्वर्गीय लाला सीताराम द्वारा सपादित 'मानस' के अयोध्याकाड की भूमिका मे दिया हुआ है। 'मानस' की जिस प्रति से प्रतिलिपि कर उपर्युक्त संस्करण स्वर्गीय लाला जी ने तैयार किया था वह प्रति अभी तक राजापुर में रक्खी हुई है। वह अब प० मुन्नीलाल उपाध्याय के पास है और बड़ी कठिनता से दर्शन मात्र के लिए मिलती है। कहा जाता है कि प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई है। प्रति का परिचय देकर उक्त कथन की प्रामाणिकता की सविस्तर जाँच हम ने यथा-स्थान आगे चलकर इसी ग्रथ मे की है इस लिए यहाँ पर उस के सबध में किसी प्रकार का विस्तार अनावश्यक होगा।

इस नये स्थान पर एक कमरे मे एक प्रस्तर मूर्ति स्थापित है जिस को गोस्वामी जी की प्रतिमूर्ति बतलाया जाता है। इस मूर्ति की ओर विद्वानों का ध्यान पूर्णरूप से आकर्षित नहीं हुआ है। इस लिए कदाचित् कुछ विस्तार के साथ इस का परिचय और इस की प्रामाणिकता के सबंध में विचार करना अनुपयुक्त न होगा। इस मूर्ति का प्रतिचित्र अभी तक किसी अन्य व्यक्ति को नहीं प्राप्त है। यह उक्त स्थान के अधिकारियों की विशेष कृपा थी कि मुझे उन्हों ने उस का प्रतिचित्र लेने दिया और इस ग्रथ मे उस चित्र को मैं कृतज्ञतापूर्वक प्रकाशित कर रहा हूँ। मूर्ति एक काले सुदृढ पत्थर की बनी हुई है और अनुमान से दो फीट ऊँची होगी। चित्रित व्यक्ति आसन की मुद्रा मे है और तुलसी की माला फेर रहा है। उस की वाहो में तथा, उस के वक्ष पर उसी प्रकार के तिलक के चिह्न हैं जैसे मस्तक मे, और यह चिह्न श्रीवैष्णव सप्रदाय के जान पड़ते हैं। गले मे तुलसी की माला पड़ी हुई है। शरीर इकहरा है। यह सब अंश चित्र मे अँगरखे से ढका हुआ है। शिर पर जटाजूट है, पर वह चित्र में टोपी से ढका हुआ है। मस्तक पर का तिलक तथा आँखे चाँदी से मढे हुए हैं जैसा कि चित्र में भी दिखाई पड़ेगा। नाक के ऊपर तथा दोनों भौहों के बीच में मस्तक के तिलक के नीचे मिला हुआ श्वेत चदन का एक त्रिकोण आधार बनाया हुआ है जो चित्र मे भी देखा जा सकता है। सक्षेप मे यही उस मूर्ति का आकार-प्रकार है।

मूर्ति तुलसीदास की ही है अथवा किसी अन्य सत की, इस प्रश्न का उत्तर पूर्ण निश्चय के साथ देना कठिन है। फिर भी कुछ ऐसी बाते है जिन के कारण इस के तुलसीदास जी ही होने की यथेष्ट संभावना अवश्य है। यह मूर्ति यमुना की रेतो में से पुनर्प्राप्त की हुई कही जाती है। इस प्रकार यह कब प्राप्त हुई यह कहना कदाचित् कठिन होगा। किंतु सन् १९०९ तक किसी भी

समय यह अवश्य प्राप्त हो चुकी थी, क्यों कि इस बात का उल्लेख बाँदा ज़िले के उस गज़ेटियर में होता है जो सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था।[1] मूर्ति की प्राचीनता तो एक बात से बहुत स्पष्ट है। उस पर तिलक के जो चिह्न बाहों पर तथा वक्षस्थल पर बने हैं वे बहुत घिसे हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उँगलियों से इन चिह्नों पर चंदन का लेप किया जाता था जिस के कारण यह चिह्न शरीर के अन्य अंशों की अपेक्षा कहीं अधिक घिस गए हैं। मूर्ति की कला भी उस को उत्तर-मध्य युग का बतलाती है, जैसा कि चित्र से भी देखा जा सकता है। फलतः मूर्ति काफ़ी प्राचीन है इस में संदेह नहीं। प्रश्न अब यह है कि प्रतिमूर्ति हमारे कवि की ही है या किसी अन्य मध्यकालीन संत की। तुलसीदास के ही संबंध की संभावना विशेष है। तुलसीदास राजापुर में बहुत दिनों तक रहे थे; और यहीं तक नहीं, कहा जाता है कि राजापुर का क़स्बा भी उन्हों ने ही बसाया था।[2] फलतः राजापुर छोड़ने पर, या यह संसार छोड़ने पर, उन की स्मृति और उन के स्थान की स्मृति की रक्षा के लिए यदि वहाँ के लोगों ने उन की इस प्रतिमूर्ति का निर्माण कराया रहा हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। यमुना की बाढ़ में कभी यह मूर्ति असंभव नहीं कि उस के गर्भ में चली गई हो और पीछे रेत में से निकली हो। विरोध में कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। इस लिए यह अनुमान करना कदाचित् सत्य होगा कि प्रतिमूर्ति गोस्वामी जी की ही है।

हाल में ही पं० रामबहोरी शुक्ल एम्० ए० ने राजापुर के मुआफ़ीदारों को मिली हुई दो सनदों का उल्लेख किया है।[3] इन में से एक पन्ना-नरेश हिंदूपति की दी हुई है, जिस के द्वारा किन्हीं सीवाराम के हक़ में उस पुरानी सनद का लाभ उठाने की स्वीकृति है जिस के द्वारा उन के पूर्वजों को राजापुर क़स्बे में कुछ खांची आदि मिलती आ रही थी। इस में तुलसीदास का नाम नहीं आया है। इस के पहले वाली सनद में तुलसीदास का नाम अवश्य आता है। किंतु काग़ज़ को कीड़ों ने इतनी बुरी तरह से काट डाला है कि 'सीवाराम' नाम के पीछे आने वाले 'के' तथा बाद में आने वाले 'स' के बीच का अंश नहीं रह गया है। इस सामग्री की प्रामाणिकता के संबंध में ठीक-ठीक कथन उक्त सनद के देखने के

[1] पृ० २८४

[2] 'गज़ेटियर आव् बांदा डिस्ट्रिक्ट' (सन् १९०९) पृ० २८४

[3] 'वीणा' वैशाख, सं० १९९४, पृ० ५४९

अनन्तर ही किया जा सकता था। किंतु खेद है कि प्रस्तुत लेखक को न तो उस का मूल ही देखने को मिला और न उस का कोई प्रति-चित्र ही। फलत: आगे हम उस से प्राप्त साक्ष्य पर यह कल्पना कर के विचार करेंगे कि प० रामबहोरी जी उस के अस्तित्व तथा उस के द्वारा उपस्थित किए हुए मज़मून के संबंध में जो कुछ कह रहे हैं वही यथावत् है।

सोरों की सामग्री

३७. सोरों, ज़िला एटा, और उस के आस-पास में इधर कुछ दिनों में जो विस्तृत और मूल्यवान् सामग्री गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली प्राप्त हुई कही जाती है उस का भी परिचय देकर उस पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक होगा। सामग्री निम्नलिखित है:

(१) 'मानस' के बालकांड की एक प्रति की पुष्पिका जो सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है,

(२) 'मानस' के अरण्यकांड की एक प्रति की पुष्पिका जो आषाढ शुद्ध ४, सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है,

(३) कृष्णदास रचित 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' की एक प्रति, जिस का रचना-काल सं० १६७० बताया गया है,

(४) मुरलीधर चतुर्वेदी-कृत 'रत्नावली' की एक प्रति, जिस का रचना-काल सं० १८२९ बताया गया है,

(५) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ,

(६) 'दोहा रत्नावली' की एक प्रति,

(७) सोरों में तुलसीदास के स्थान का अवशेष,

(८) तुलसीदास के भाई नंददास के उत्तराधिकारी,

(९) सोरों में स्थित नरसिंह जी का मंदिर, और,

(१०) सोरों में नरसिंह जी चौधरी के उत्तराधिकारी।

इन सभी सामग्रियों को मैं ने जिस रूप में पाया है उस का एक संक्षिप्त विवरण नीचे यथाक्रम देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) 'मानस' के बालकांड की प्रति हाथ के बने हल्के सफ़ेद रंग के काग़ज़ पर लिखी गई है, जिस का आकार ११$\frac{3}{4}$"×६" है। प्रति के चारों किनारों को उल्लेखयोग्य क्षति पहुँची है, और बायाँ किनारा तो आग से

सं० १६४३ के हस्तलिखित 'रामचरितमानस' बालकाड का अंतिम पृष्ठ

जला जान पड़ता है। कई पत्रे, जिनमें प्रथम पत्रा भी सम्मिलित है, खंडित हैं। अंतिम पत्रा अवश्य बचा हुआ है, पर वह भी अक्षत नहीं बच पाया है। इसी पत्रे पर वह पुष्पिका दी हुई है, जिससे प्रति का लिपिकाल आदि ज्ञात होता है। कुल प्रति, और पुष्पिका भी, चमकदार काली स्याही से लिखी हुई है। देखने में प्रति इतनी काफी पुरानी जान पड़ती है कि वह विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके। पुष्पिका निम्नलिखित है :

"इति श्री रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल .. ...ग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्तः संवत् १६४३ शाके......१५०८ ......वासी नन्ददास पुत्र कृष्नदास हेत लिषी रघुनाथदास ने कासीपुरी में"[1]

इस पुष्पिका में यह ध्यान देने योग्य है कि उन कुल शब्दो पर जो 'वासी' से प्रारंभ हो कर 'में' पर समाप्त होते हैं—अर्थात् पुष्पिका की तीसरी पंक्ति के सभी शब्दों पर—पीछे से हल्की काली स्याही फेरी गई है। कहा जाता है कि यह प्रति कोई चार वर्ष हुए सोरों-निवासी स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल से प्राप्त हुई थी, जो अपने को गोस्वामी जी का वंशधर कहते थे।

(२) 'मानस' के अरण्यकाड की प्रति हाथ के बने गहरे भूरे रंग के कागज़ पर लिखी हुई है, जिस का आकार १२"×६½" है। किनारे घिसे हुए हैं पर अन्यथा प्रति को कोई विशेष क्षति नही पहुँची है। इस प्रति के भी कई पत्रे, जिन में पहला भी सम्मिलित है, खडित हैं। अतिम पत्रा बचा हुआ है और वह अक्षत भी है। इसी मे वह पुष्पिका है जिस मे प्रति का लिपिकाल आदि दिया हुआ है। कुल प्रति पुष्पिका के एक अंश को छोड़ कर गाढ़ी काली स्याही से लिखी हुई है। देखने में इतनी काफी पुरानी जान पड़ती है कि विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके। पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्री रामायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्ये संपादिनी पट सुजन संवादे राम वन चरित्र वर्ननो नाम तृतियो सोपान आरंन्यकाड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उन के भ्रातासुत कृष्णदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिपितं लछिमनदास कासी जी मध्ये संवत् १६४३ अषाढ़ सुद्ध ४ सुक्रे इति ॥"

इस पुष्पिका में यह ध्यान देने योग्य है कि "इति" से "३॥" तक का अंश

[1] बिंदुवाले स्थानों पर कागज निकला हुआ है

पहले लाल स्याही से लिखा हुआ था, पीछे से उस पर चमकदार काली स्याही फेरी गई है। इस पुनरंजन में केवल "इति" शब्द और "ग्ये" के एकार की मात्रा अपने पहले के रंग मे बने हुए हैं, शेष सभी काले कर दिए गए हैं। इस अंश के अनंतर "श्री" से "इति ॥" तक का अंश चमकदार काली स्याही से लिखा हुआ है। इस पर फिर स्याही नहीं फेरी गई है, केवल संवत् का "१६४" पुनर्लेखन का परिणाम जान पड़ता है। इस प्रति का भी प्राप्ति-स्थान और प्राप्ति-काल वही बताया जाता है जो उपर्युक्त बालकाड की प्रति का बताया जाता है।

(३) 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' की प्रति हाथ के बने भूरे कागज़ पर लिखी गई है, जिस का आकार ११$\frac{1}{8}$"×७$\frac{1}{8}$" है। किनारे कुछ घिसे हुए हैं। प्रति संपूर्ण प्राप्त है, कोई भी पत्रा उसका खंडित नहीं है। प्रति भर में एक सामान्य गाढ़ेपन और चमक की काली स्याही का प्रयोग हुआ है। देखने में प्रति इतनी पुरानी जान पड़ती है कि विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी की कहा जा सके। पुष्पिका उसकी इस प्रकार है :

"संवत् १८७० मिति कातिक वदी ११ एकादशी बुधवासरे लिखितम् शिवसहाय कायस्थ सोरों मध्ये ॥"

इस प्रति के संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है : इस का प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अलग-अलग लिखा गया है, सटा कर और मिला कर नहीं लिखा गया है, जैसा हमें प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। इस प्रति का भी प्राप्ति-स्थान तथा प्राप्ति-काल वही बताया जाता है जो उपर्युक्त 'मानस' की प्रतियों का बताया जाता है।

पुष्पिका के नीचे किन्ही मुरलीधर चतुर्वेदी रचित पाँच छप्पय भी दिए हुए हैं। यह भी उसी लिखावट में हैं जिस में शेष प्रति है, और इन की स्याही भी वही है जो शेष प्रति की है, जिस से यह स्पष्ट है कि इन का भी लेखक, और लिपिकाल, वही होगा जो शेष प्रति का है। इस अंश में भी हमें प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अलग-अलग लिखे गए मिलते हैं, सटा कर और मिला कर लिखे गए नही मिलते।

इन छप्पयों के अनंतर उपर्युक्त प्रति मे हमें कृष्णदास रचित एक 'कृष्णदास वंशावली' भी मिलती है जो दस दोहों में समाप्त होती है। इस 'वंशावली' की लिखावट शेष प्रति की लिखावट से मिलती है, पर इस के अक्षरों का आकार

उपर्युक्त अंशों के अक्षरों के आकार से छोटा और इस की स्याही उपर्युक्त अंशो की स्याही से कुछ गाढ़ी है। फलतः यह स्पष्ट है कि यह 'वंशावली' शेष अंशो के बाद किसी समय लिखी गई, यद्यपि इस का भी लेखक वही था जो शेष प्रति का था। 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' अब पुस्तकाकार प्रकाशित है, पर उस में मुरलीधर के उपर्युक्त छप्पय और 'कृष्णदास वंशावली' नहीं दिए गए हैं।

(४) 'रत्नावली' की प्रति हाथ के बने भूरापन लिए हुए सफेद रंग के कागज़ पर लिखी हुई है, जिसका आकार ९¼" × ७½" है। किनारे किंचित् घिसे हुए हैं। प्रति संपूर्ण प्राप्त है। स्याही प्रति भर में हल्की काली है। देखने में प्रति इतनी पुरानी अवश्य जान पड़ती है कि वह विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी की कही जा सके। उसकी पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्री रतनावली संपूरणम्। लिखितम् श्री मुरलीधर चतुरवेदि शिष्येन रामवल्लभ मिश्रेन सोरों मध्ये सवत् १८६४ ॥ मार्गशिर मासे शुक्ल पक्षे ६ शनिवासरे। कृष्णायनमः ॥"

कहा जाता है कि यह प्रति कासगंज, ज़िला एटा, निवासी मुनीम जुगुलकिशोर जी से प्राप्त हुई थी और उन्हें भी यह कहीं अन्यत्र से प्राप्त हुई थी।

'रत्नावली' के पाठ के ठीक नीचे उसके लेखक के ही रचे हुए तीन छप्पय मिलते हैं। यह छप्पय उन पाँच मे से प्रथम तीन हैं जो हमें ऊपर 'सूकर क्षेत्र-माहात्म्य भाषा' की प्रति मे मिले थे। यह तीन छप्पय भी उसी लिखावट में हैं और उसी स्याही मे लिखे गए हैं जिन में 'रत्नावली', फलतः यह भी 'रत्नावली' के साथ ही उसी के लेखक द्वारा लिखे गए जान पड़ते हैं। 'रत्नावली' अब दो संस्करणों में प्रकाशित है और उन मे से एक[1] में उपर्युक्त तीन छप्पय भी प्रकाशित हैं। उस में जो चौथा छप्पय दिया हुआ है वह अवश्य 'रत्नावली' वाली प्रति मे नहीं है।

(५) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ हैं। इस में से एक हाथ के बने भूरापन लिए हुए सफेद कागज़ पर लिखी हुई है, जिसका आकार ६" × ५½" है। किनारे इस प्रति के घिसे हुए नहीं हैं, वे ज्यों के त्यों हैं। प्रति-संपूर्ण है। स्याही प्रति भर मे काली है। देखने में प्रति पुरानी अवश्य ज्ञात होती है, यद्यपि बहुत सावधानी के साथ रक्खी गई जान पड़ती है। इस की

[1] प्र० भद्रदत्त वैद्यभूषण, कासगंज, ज़िला एटा (सं० १९९५)

पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्री रत्नावली लघु दोहा सग्रह सपूर्णम्। लिखितमिद पुस्तकम् पंडित रामचद्र बदरिया ग्रामे शुभे सवत् १८७४ चैत्र कृष्ण १३ भृगुवासरे।" यह प्रति कहा जाता है कि प० अङ्गदराम जी शास्त्री बदरिया निवासी के उत्तराधिकारियों से प्राप्त हुई थी। उन का देहात स० १९४५ के लगभग हुआ कहा जाता है। प्रति के मुखपृष्ठ पर स० १९२५ मे किया हुआ उन का हस्ताक्षर भी है।

'रत्नावली लघु दोहा-संग्रह' की दूसरी प्रति हाथ के बने सफेद काग़ज़ पर लिखी हुई है जिसका आकार ९" × ६½" है। इस के किनारे कुछ घिसे हुए हैं। प्रति सपूर्ण है। स्याही प्रति भर मे हल्की काली है। देखने मे प्रति इतनी पुरानी अवश्य जान पड़ती है कि वह विक्रमीय उन्नीसवी शताब्दी की कही जा सके। उस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्रीरत्नावली लघु दोहा संग्रह संपूर्णम्। लिखितम् ईसुरनाथ पडित सोरों जी मिती माह सुदी तेरसि १३ सोमवार सवतु १८७५ मे।"
यह प्रति कहा जाता है कि सोरो निवासी किन्ही पं० प्यारेलाल से प्राप्त हुई थी। 'रत्नावली लघु दोहा-सग्रह' भी 'रत्नावली' के उस सस्करण के साथ प्रकाशित है जिस मे मुरलीधर-कृत उपर्युक्त तीन छप्पय प्रकाशित हैं।

(६) 'दोहा-रत्नावली' 'रत्नावली' के उस संस्करण के साथ प्रकाशित है जो पं० प्रभुदयालु शर्मा से प्राप्य है। इस के दोहे भी रत्नावली की ही कृति कहे जाते हैं। पर इस संस्करण का आधार कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति है या नहीं यह कहना कठिन है। सस्करण के सपादक का कहना हैं कि प्रेस के लिए दोहों की एक प्रतिलिपि उन्हें प० भद्रदत्त जी से मिली थी, और उसी के अनुसार वे छापे गए हैं।[1] मैं स्वय प० भद्रदत्त ही से मिला था। इस सबध में प्रश्न करने पर मुझे उन से ज्ञात हुआ कि उन्हें भी प्रेस के लिए यह प्रतिलिपि प० गोविंदवल्लभ भट्ट से प्राप्त हुई थी। उन्हों ने वह प्रति स्वतः तैयार नही की या कराई थी। मै पं० गोविंदवल्लभ भट्ट से भी मिला था। इस सबध में उन से प्रश्न करने पर मुझ से भट्ट जी ने कहा कि प्रेस के लिए वह प्रतिलिपि एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति से कराई गई थी जो उन के पास

[1] पृ० ३१

थी पर उसे वह देहरादून या हरद्वार में छोड़ आए थे। इस 'दोहा-रत्नावली' की विशेषता यह है कि इस मे हमे वे सभी दोहे तो मिलते ही हैं जो 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' में मिलते हैं, साथ ही ९० और भी ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'लघु दोहा संग्रह' मे नही हैं, और इन ९० दोहों में हमें गोस्वामी जी और उन की स्त्री के जीवन से संबंध रखने वाली बहुत सी ऐसी सामग्री मिलती है जो अन्यत्र नही मिलती।

(७) मुहल्ला जोगमारग (योगमार्ग) में बुद्धू गद्दी नामक एक मुसलमान ग्वाले (?) का एक कच्चा मकान है। कहा जाता है कि इसी मकान के स्थान पर पहले गोस्वामी जी का मकान था। मकान बस्ती के उत्तरी सिरे पर है, उस के उत्तर में और कोई मकान नहीं है, पूर्व मे एक कच्ची सड़क और रास्ता है, पश्चिम मे अब्दुल्ली गद्दी का मकान है, दक्षिण में अब्दुल्ला मशक वाले का मकान है। यह मकान किसी पुराने मकान के अवशेष पर बनाया हुआ जान पड़ता है। चहारदीवारी का फाटक स्पष्ट ही किसी पुराने फाटक के भग्नावशेष पर बनाया हुआ है। इस मकान के उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग दो फ़र्लांग के अंतर पर एक मरघट है, और इस मकान के पूर्व की ओर कच्ची सड़क के बाद मुसलमानों की एक बस्ती है जिस मे कसाई भी हैं। हिंदुओं के मकान इस बस्ती में कदाचित् एकाध ही हैं।

(८) यहाँ पर सनाढ्य शुक्लों का एक घराना है, जिस के संबंध मे यह कहा जाता है कि वह नंददास की वंशपरंपरा मे हैं। इस समय इस कुल मे एक पंडित बाबूराम हैं, और उन का एक भतीजा है जो उनके भाई उन स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल का पुत्र है जिन से 'मानस' की उपर्युक्त प्रतियों की प्राप्ति बताई जाती है।

(९) सोरों में चौधरियों के मुहल्ले मे पक्के मकान का एक खंडहर है। यह नरसिंह जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस में प्राचीन अंश पूर्व और पश्चिम का है, दक्षिण का अंश अपेक्षाकृत नवीन है, और उत्तर की ओर कोई बनावट नहीं रह गई है। इस मे अब केवल हनुमान जी की एक मूर्ति है, और कुछ नहीं है।

(१०) इसी मुहल्ले मे चौधरियों के कुछ घर हैं जो हमारे कवि के गुरु नरसिंह चौधरी के वंशधर बताए जाते हैं। पंडित रंगनाथ आज कल इन के मुखिया हैं।

३८. इस कुल सामग्री का यथेष्ट परिचय प्राप्त कर लेने के अनंतर अब हमें उस की प्रामाणिकता के संबंध में उस की बहिरंग परीक्षा करनी चाहिए।

(१) जब हम उपर्युक्त बालकांड की प्रति की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करने लगते हैं तो हमें नीचे लिखी बातें खटकती हैं :

(अ) पुष्पिका की अंतिम पंक्ति और अंत से दूसरी पक्ति के बीच में एक छोटी आड़ी रेखा इस प्रकार खिंची हुई है कि उस से जान पड़ता है कि पुष्पिका उस के ऊपर ही समाप्त हो गई थी, और उस के नीचे वाली पंक्ति बाद की है। अब इस अतिम पक्ति के नीचे तीन छोटी आड़ी रेखाएँ एक दूसरे के समानातर सभवतः यह सूचित करने के लिए खींची गई हैं कि एक पक्ति ऊपर वाली अकेली आड़ी रेखा समाप्ति-सूचक न मानी जावे। पर इस से वह बात कदाचित् और भी प्रकट हो जाती है कि पुष्पिका की समाप्ति पहले वाली आड़ी रेखा पर ही हो चुकी थी।

(ब) अतिम पंक्ति की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से पूरा-पूरा मेल नहीं खाती। दोनों में शैली, गति, अक्षरों के आकार, तथा शिरो-रेखा की लंबाई में अंतर ज्ञात होता है, और पंक्ति की समाप्ति की ओर पहुँचते हुए अक्षरो की गति, उनके बीच के फासले और उन की बनावट में साम्य दिखाई पड़ता है। इन लिखावटों का मिलान गोलाई और ख़त की दृष्टियों से इस लिए नहीं किया जा सकता कि अतिम पक्ति में अक्षरों के ऊपर स्याही फेर कर उन्हें बिगाड़ दिया गया है।

(स) अत से दूसरी पक्ति में प्रतिलिपि की जो तिथि दी हुई है उस की लिखावट में बड़ी अस्वाभाविकता जान पड़ती है। "६" और "४" के बीच मे इतनी जगह छूट जाती है कि यदि स्वाभाविक रीति से लिखा जाता तो उतने स्थान में एक और अंक सरलता पूर्वक लिखा जाता। फिर "शाके" और "१५०८" के बीच में तो इतना अंतर छोड़ दिया गया है कि उस में दो अक अवश्य आ सकते थे यदि वह शब्द क्रमि द्वारा पत्रक्षति के पूर्व लिखे गए होते।

(२) जब हम अरण्यकाड वाली प्रति की पुष्पिका पर विचार करने लगते हैं, तब हमे उस को प्रामाणिक मानने में निम्नलिखित अड़चने ज्ञात होती हैं :

(अ) "श्री तुलसी" से लेकर अंतिम "इति" तक की लिखावट शेप प्रति और पुष्पिका की लिखावट से शैली, गति और अक्षरों के आकार के विपय मे भिन्न ज्ञात होती है, यद्यपि वह गोलाई और ख़त, अक्षरों के बीच के फासले और पंक्ति की सीधाई के संबध मे एक-सी जान पड़ती है। "क", "ह" "१" और "६" की और इकार की मात्रा की बनावट में दोनों अंशों में कुछ अंतर ज्ञात होता है।

(व) संवत् के तीन अंक "१६४" इस प्रकार पुनर्निर्मित हैं कि वे पंक्ति के अन्य अक्षरों और अकों की अपेक्षा बहुत बड़े हो गए हैं। उन की इस अस्वाभाविक विकृति को देख कर यह असंभव नहीं जान पड़ता है कि किन्हीं दूसरे अंकों को विगाड़ कर उन का निर्माण किया गया हो।

(३) जब हम 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' की प्रति की जाँच करते हैं तो हमें जो बात खटकने वाली मिलती है वह है उस के प्रत्येक शब्द का दूसरे शब्द से अलग लिखा जाना, प्रत्येक शब्द में आने वाले अक्षर एक शिरोरेखा के नीचे लिखे गये हैं, और उन्हें प्रत्येक दूसरे शब्द के अक्षर समूह से अलग रक्खा गया है। प्रति का लिपिकाल सं० १८७० दिया गया है। इस समय के लगभग की एक भी ऐसी अन्य प्रति मेरे देखने में नहीं आई है जिस में उपर्युक्त लेखन-शैली बरती गई हो।

उपर्युक्त बातें मुरलीधर के उन पाँच छप्पय और कृष्णदास की 'कृष्णदास वंशावली' के सबंध में भी, जो प्रति के अंत में दिए गए हैं, कही जा सकती हैं।

(४) जब हम मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली' की जाँच करते हैं तो हमें एक बात उस मे भी खटकती है। वह है उस की विचार-शैली और शब्द-विन्यास का अपेक्षाकृत आधुनिक होना। नीचे लिखी पंक्तियों में यह बात ध्यान देने योग्य है :

सीम प्रेम तुम करी पार। नाथ प्रेम के तुम अधार।
मम सुप्रेम निज हिये धार। उतरे प्रिय सुरसरित पार।
जग अधार पद प्रेम धार। जात मनुज भव उदधि पार।
प्रेम हीन जीवन असार। नाथ प्रेम महिमा अपार॥

(रत्नावली १२९-१३२)

(५) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' के संबंध में अवश्य हमें कोई संदेहजनक बात नहीं ज्ञात होती। पर सोरों में मिली हुई प्रत्येक अन्य सामग्री के संदेहातीत न होने के कारण इस 'लघु दोहा संग्रह' के संबंध मे भी यदि किसी को पर्याप्त विश्वास न हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

(६) 'दोहा रत्नावली' की प्रति, यदि कोई प्राचीन प्रति है तो, हमें देखने को नहीं मिली, इस लिए उस के संबंध में हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं।

(७) कवि के घर के संबंध मे सोरों में एक जनश्रुति है :

तुलसी घर मरघट्ट में गलकटियन के पास।
अपनी करनी आप संग तू क्यों होय उदास ॥

ऊपर हम ने जिस मकान की स्थिति देखी है, उस के संबंध में यह जन-श्रुति लागू हो सकती है, इस मे सन्देह नही।

इस मकान के साथ एक और परंपरा लगी चली आती है। सोरों के लोगों का यह विश्वास है कि इस मकान की मिट्टी कनवर (कर्णमूल प्रदाह) नामक रोग में गुणकारी होती है, और इसी लिए वे अब भी इसे ले जाते हैं और उपर्युक्त रोग में इस का प्रयोग करते हैं। पर इस परपरा से यह बात सिद्ध नहीं होती कि वह मकान, जिस की मिट्टी लोग इस प्रकार ले जाते हैं, तुलसी-दास का था।

इस मकान के सबंध में एक और बात है जिसे सोरों को तुलसीदास की जन्मभूमि मानने वाले लोग प्रकाश में नहीं लाते। मुझे स्थानीय जाँच से यह ज्ञात हुआ कि उपर्युक्त मकान, और उस से मिले-जुले कुछ और मकान भी, पहले राजोरियों के थे (शुक्लों के नहीं) और वे राजोरिया घराने धीरे-धीरे नष्ट हो गए। यह बात लेखक को कुछ कठिनाई के बाद ज्ञात हुई, क्योंकि सोरों का अधिकाश जनसमाज यह चाहता है कि सोरो तुलसीदास जी की जन्मभूमि मानी जाय, और यह बात कदाचित् उस के मार्ग में बाधक होती। फलतः जब तक इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल जाता कि वह घर शुक्लों का था प्रस्तुत लेखक उसे राजोरियों का ही मानेगा। इस नई बात से दो परिणाम निकलते हैं:

(क) या तो उपर्युक्त मकान तुलसीदास का था ही नहीं, और

(ख) या तो तुलसीदास राजोरिया थे, सनाढ्य शुक्ल नहीं।

प्रश्न यह स्वाभाविक है कि यह 'राजोरिया' कौन होते हैं? यह ब्राह्मणों का एक वर्गविशेष है जो लगभग एक अर्द्धशताब्दी पूर्व एटा ज़िले के ब्राह्मणों में संख्या के नाते काफी प्रमुख था।[१] 'राजोरिया' नाम का इतिहास किसी स्थान के साथ संबंध रखता हुआ जान पड़ता है। कुछ दिनों तक लेखक 'राजोरिया' को 'राजापुरिया' का एक विकृत रूप समझता था, क्योंकि भाषाविकास के

[१] डब्लू० क्रुक: 'ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स इन दि एन्० डब्लू० पी०' पृ० १४७

नियमों के अनुसार उ के संयोग के कारण प का लोप स्वाभाविक था, पर अब उस का अनुमान है कि 'राजोरिया' शब्द की उत्पत्ति 'राजौरा' से हुई है जो आगरा ज़िले में आगरा शहर से ३२ मील की दूरी पर, अक्षांश २६°५८ तथा देशान्तर ७८°३२ पर यमुना के दक्षिणी किनारे पर बसे हुए एक ग्राम का नाम है।[1]

(८) इस बात का यथेष्ट प्रमाण कोई नहीं है कि बाबूराम शुक्ल और उन के घर वाले नंददास के वंशज हैं। स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल का कथन मात्र इस संबध में प्रमाण नहीं हो सकता। सोरो-यात्रा मे मै ने बाबूराम जी से मिलना चाहा, पर वे बाहर चले गए थे। इस लिए मिलना न हो सका। पर, जो कुछ मैने उन के संबंध में वहाँ सुना उस से मुझे संदेह है कि वे भी अपने को नंददास का वंशज कहते हैं या नहीं।

(९) नरसिंह जी के मदिर के संबंध में जाँच करते हुए मै उस स्थान के पटवारी मुंशी गिरिजाशंकर से मिला, और उन से मैं ने उक्त मंदिर की खतौनी जमाबदी प्राप्त की। उस खतौनी मे लिखा है "मंदिर नरसिंह जी महाराज"। प्रश्न यह है कि क्या यह शब्दावली इस बात की सूचना देती है कि उक्त मदिर किन्ही नरसिंह चौधरी का था ? कम से कम प्रस्तुत लेखक तो इस शब्दावली से यही आशय लेगा कि मदिर नृसिंह भगवान का था, न कि किन्हीं नरसिंह चौधरी का : "जी" और "महाराज" शब्द तो कम से कम इसी ओर संकेत करते हैं।

(१०) अपनी सोरों-यात्रा मे मै पंडित रगनाथ चौधरी से मिला था। उन से प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि उन्हें केवल अपने आठ पूर्वपुरुषो के नाम ज्ञात हैं, और इन में से नरसिंह चौधरी नही हैं। उपर्युक्त मदिर अवश्य उन के घराने के अधिकार मे चला आ रहा है। किंतु केवल इतनी बात से यह सिद्ध नहीं होता कि उन के कोई पूर्वपुरुष नरसिंह चौधरी नाम के थे जो तुलसीदास जी के समकालीन थे, या इतना भी कि मदिर का नाम "नरसिंह जी महाराज का मंदिर" उन के किन्हीं पूर्वपुरुष के नाम से संबंधित होने के कारण पड़ा। एक बात अवश्य है जिस से यह ज्ञात होता है कि पडित रगनाथ और

[1] थॉर्नटन : 'ए गज़ेटियर अव् दि टेरिटरीज अडर दि गवर्नमेंट अव् दि ईस्ट इडिया कंपनी ऐंड दि नेटिव स्टेट्स अव् दि कॉन्टिनेंट अव् इंडिया' पृ० ८२१

पडित बाबूराम के घरानो में कुछ पूर्वकाल से सबंध चला आ रहा है। भागीरथी की गुफा मे, जो मौज़ा होडलपुर में है, दोनों घरानो का हिस्सा है। पडित बाबूराम उस मे चढ़े हुए द्रव्य का तीन चौथाई और पडित रगनाथ एक चौथाई लिया करते हैं। यह बात प्रस्तुत लेखक को उक्त गांव के पटवारी मुंशी महावीर शंकर से भी ज्ञात हुई थी।

३९. सक्षेप में यही सोरों और उस के आस-पास मे मिली हुई गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत से संबध रखने वाली सामग्री और उस की बहिरग परीक्षा है। अब मै उस की अतरंग परीक्षा का प्रयत्न करूँगा। यह परीक्षा स्वभावतः ऐसे ही उल्लेखों तक सीमित होगी जिन की जाँच प्रमाणित साक्ष्यों के आधार पर की जा सकती है।

सोरो में प्राप्त कुल सामग्री मे गोस्वामी जी के जीवन से सबध रखने वाली तिथियाँ केवल तीन मिलती हैं: एक है विवाह-तिथि, दूसरी है द्विरागमन-तिथि, और तीसरी है गृहत्याग-तिथि। यह तिथियाँ हमें 'दोहा रत्नावली' के दो दोहों में मिलती हैं। ऊपर इसी प्रसंग में 'दोहा रत्नावली' का परिचय देते हुए मै ने लिखा है "इस 'दोहा रत्नावली' की विशेषता यह है कि इस में हमें वे सभी दोहे तो मिलते ही हैं जो 'रत्नावली लघु दोहा सग्रह' में मिलते हैं, साथ ही नब्बे और भी ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'लघु दोहा सग्रह' में नहीं हैं, और इन नब्बे दोहों में हमें गोस्वामी जी और उन की स्त्री के जीवन से सबंध रखने वाली बहुत सी ऐसी सामग्री मिलती है जो अन्यत्र नहीं मिलती।" वह दोहे जिन मे उपर्युक्त तिथियाँ मिलती हैं इन्हीं अतिरिक्त नब्बे में से हैं। दोहे इस प्रकार हैं:

बैस बारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराय।
सत्ताइस लागत करी नाथ रतन असहाय॥
सागर कर रस ससि रतन संबत भो दुखदाय।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यौ जाय॥

(दोहा रत्नावली ४१, ४२)

पहले दोहे का आशय स्पष्ट है। दूसरे मे 'सागर' से ७, 'कर' से २, 'रस' से ६ और 'ससि' से १ के अंकों का आशय लेने पर १६२७ की तिथि निकलती है। 'सागर' का एक अन्य साकेतिक अर्थ ले कर 'दोहा रत्नावली' के सपादक[1]

[1] 'दोहा रत्नावली', विषय-प्रवेश

तथा भद्रदत्त जी वैद्यभूषण ने[1] दोहे से १६२४ की तिथि निकाली है, किंतु साधारणतः ग्रहीत और बहुप्रचलित अर्थ को छोड़ कर एक अप्रचलित अर्थ स्वीकार किया जावे इस के लिए यथेष्ट कारण नहीं दिखाई पड़ता।

सं० १६२७ में रत्नावली सताईसवें मे प्रवेश करती है, इस लिए उस का जन्म-सवंत् १६०१ निकलता है। बारहवें मे उस का पाणिग्रहण हुआ, इस लिए विवाह की तिथि सं० १६१२ होती है। इन पंद्रह वर्षों के समय का कोई विस्तृत परिचय हमें 'दोहा रत्नावली' में तो नहीं मिलता, पर मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली' में अवश्य मिलता है। उस को सुविधा के लिए नीचे अविकल उद्धृत किया जाता है :

कीन जथाविधि विधि बिबाह। दीनबंधु भरि उर उछाह।
तुलसी कर में सह विधान। रत्नावलि को दयो दान।
रतनावलि गई तुलसि गेह। तासु बढ़्यो पति पदनु नेह।
रतनावलि सी नार पाइ। तुलसी घर सुख गयो छाइ।
पितामही बहु दुख उठाइ। पोसे तुलसी कर लगाइ।
दंपति सेवा सो सिहाइ। सुरग गई कछु दिन बिताइ।
नंददास अरु चंदहास। रहहिं रामपुर मातु पास।
दंपति बसि बाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम।
कबहुँ करत विद्या बिनोद। लहत सबद चातुरि प्रमोद।
संध्या बंदन आदि कर्म। करत सकल नित गृही धर्म।
रखत राममूरति सुगेह। उभय संधि पूजति स नेह।
बात बात श्री राम राम। तुलसी मुख लागइ ललाम।
भक्तनु घर बाँचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन और मान।
रत्नावलि तिहि चख चकोरि। मधुर बचन बोलत निहोरि।
कबहुं न अप्रिय कहति बात। कबहुँ न सो पति सो रिसाति।
मींजति निज पति पाँय पीठि। नितहिं न्हवावति प्रेम दीठि।
पति वियोग नहिं छिन सुहात। जाति कबहुँ मुख उतरि जात।
करति सोइ जो पतिहि चाह। पति सेवा मन अति उछाह।
कबहुँ जातहू पति खिझाइ। पाइँ न परि लेतहि मनाइ।

[1] 'सनाढ्य-जीवन', तुलसी-स्मृति-अंक, पृ० १०

जो मन सोई बचन कर्म। पतिहिं लुकावति कछु न मर्म।
तारापति नामक सपूत। भयो तासु बुधि बल अकूत।
गयो दैवगति सुरगधाम। बिलपति रतनावली बाम।
भयो पुत्र को अधिक सोक। धरी धीर पतिमुख बिलोक।
तुलसीहू बहु करत प्यार। रतनावलि भइ हृदय हार।
ताहि न चाहत आँखि ओट। ओट होति हिय लगति चोट।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। बाढ़ी तिय में अधिक प्रीति।
ब्याह भये दस पाँच वर्ष। इक दुख तजि बीते सहर्ष।

(रत्नावली ७८-१०५)

उपर्युक्त के बाद आने वाली पक्तियों में गृहत्याग की कथा कही गई है, इस से यह स्पष्ट है कि इन पंक्तियों में आया हुआ 'पचदश वर्ष' का विवरण उन्हीं पंद्रह वर्षों का है जो 'दोहा रत्नावली' के अनुसार भी विवाह और गृहत्याग के बीच में पड़ते हैं। सोरों में प्राप्त शेष सामग्री से इन पद्रह वर्षों के समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, इस लिए उपर्युक्त विस्तार ही अभी विचार के लिए यथेष्ट होगा। सं० १६१२ से लेकर सं० १६२७ तक का यह विस्तार कहाँ तक प्रामाणिक है यही विचार करना है।

गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त के लिए बहिर्साक्ष्य बहुत है पर उस में से कितना विश्वसनीय है और कितना नहीं यह कहना अधिकतर कठिन है। यदि हम पूर्ण रूप से किसी साक्ष्य पर विश्वास कर सकते हैं तो वह है अन्तर्साक्ष्य; उन की कृतियों से ही उन के जीवन पर यत्किंचित् जो प्रकाश पड़ता वही सर्वथा प्रामाणिक है। इस प्रकार के अन्तर्साक्ष्य तथा विश्वस्त बहिर्साक्ष्य के आधार पर विचार करते हुए नीचे मैंने कवि की रचनाओं की तिथियाँ निर्धारित करने का जो प्रयत्न किया है[1] उस में मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि उपर्युक्त पद्रह वर्षों के भीतर कवि ने चार ग्रंथों की रचना की होगी: 'रामलला-नहछू', 'जानकी-मगल', 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'वैराग्य-सदीपिनी' की। इन चार ग्रथों में से केवल 'वैराग्य-सदीपिनी' की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ सदेह है[2] इस लिए प्रस्तुत प्रसंग में उस का आधार ग्रहण करना कदाचित् बहुत उपयुक्त न होगा, किन्तु शेष तीन रचनाओं को अवश्य ही प्रस्तुत प्रसंग में विवेचन के

[1] देखिए नीचे अध्याय ५

[2] देखिये नीचे इसी अध्याय में

आधार के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सोरों की किसी भी सामग्री में यह ध्यान देने योग्य है कि इन तीन में से किसी भी रचना का उल्लेख नहीं होता है। 'मानस' ऐसी प्रशस्त और प्रौढ़ रचना के लिए उस की भाषा पर अधिकार प्राप्त करने और शैली में अभ्यस्त होने में कुल चार ही वर्ष—या कदाचित् उस से भी कम ही—लगे होंगे, क्योंकि गृहत्याग की तिथि सं० १६२७ कही गई है, और वह भी सोरोंपक्ष वालों के कथनानुसार एक विभाषा-भाषी को, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) में भी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इस सामग्री की प्रामाणिकता में अविश्वास उत्पन्न करते हैं :

(क) 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना प्रह्लादघाट काशी-निवासी गंगाराम ज्योतिषी के लिए काशी में की हुई कही जाती है, और इस कथन में सत्य का यथेष्ट अंश जान पड़ता है। इन गंगाराम ज्योतिषी के उत्तराधिकारियों के पास ग्रंथ की एक ऐसी प्रति भी थी जिस पर सं० १६५५ में किया हुआ कवि का हस्ताक्षर था।[1] इस के अतिरिक्त इस के पाठ में एक दोहा भी आता है, जिस में किन्हीं गंगाराम को संबोधन है :—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगा राम॥

(रामाज्ञा १-७-७)

और भाषा भी इस की अवधी है, अतः यह अवधीप्रान्त या काशी में ही रचा गया होगा साधारणतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर काशीनिवास या काशीयात्रा तक का कोई उल्लेख सोरों में प्राप्त सं० १६२७ तक की जीवन-सामग्री में नहीं होता। हाँ, यदि हम इस बात पर विश्वास न करें कि यह गंगाराम काशी के ही गंगाराम थे, अथवा इस पर कि कवि ने काशी आ कर ही 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना की, और यह कल्पना करें यह गंगाराम काशी के गंगाराम से भिन्न कोई व्यक्ति थे, अथवा यह कि काशी के गंगाराम ही सोरों पहुँच सकते थे और उन को वहाँ संबोधन किया जा सकता था, तो बात दूसरी है। पर, इन दूसरे गंगाराम के होने का, या काशी के गंगाराम के सोरों पहुँचने का भी कोई उल्लेख उपर्युक्त सामग्री में नहीं होता।

[1] देखिए नीचे अध्याय ४

(ख) चित्रकूट के सबंध में जो उल्लेख पुस्तक में आते हैं, वह भी कम ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उन में से कुछ निम्नलिखित हैं :

पय पावनि बन भूमि भलि सैल सुहावनि पीठि।
रागिहि सीठि बिसेषि थल विषय बिरागिहि मीठि॥

(रामाज्ञा २-६-१)

सगुन सकल संकट समन चित्रकूट चलि जाहु।
सीता राम प्रसाद सुभ लघु साधन बड लाहु॥

(रामाज्ञा २-६-६)

पय नहाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सगुन सुमंगल सिद्धि सबु करतल तुलसीदास॥

(रामाज्ञा ७-४-७)

बार-बार चित्रकूट-सेवन के इस आग्रह से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि इन दोहों की रचना के पूर्व कई बार चित्रकूट गया होगा, और कम से कम एक बार छः मास तक वहाँ विरक्त भाव से रह कर, फलाहार-व्रत के साथ नियम-पूर्वक राम-नाम का उस ने जप भी किया होगा। हमारा कवि ऐसे लोगों में से नहीं था जो स्वतः बिना किसी व्रत का पालन किए दूसरों को उस के पालन का उपदेश देते फिरते हैं। पर गृहत्याग से पूर्व किसी भी ऐसी यात्रा का उल्लेख सोरों वाली सामग्री मे नहीं होता। इस के विपरीत स० १६१२ से सं० १६२७ तक निरतर किस प्रकार हमारा कवि विषयोन्मुख होता है इस विषय में ऊपर के उद्धरण में आई हुई निम्नलिखित पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं :

दंपति बसि बाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम।
भक्तनु घर बाचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन और मान।
तुलसी हू बहु करत प्यार। रतनावलि भइ हृदय हार।
ताहि न चाहत आँखि ओट। ओट होति हिय लगति चोट।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। बाढी तिय में अधिक प्रीति।

यह सब अपनी चरम सीमा पर तब पहुँचता है जब कवि 'नारि प्रेम मद-विभोर' हो कर और समय का ज्ञान खो कर[1], अर्धरात्रि के समय[2] वर्षा की भयानक

[1] 'रत्नावली' ११२ [2] वही ११३

गंगा को पार कर ससुराल पहुँचता है[1], और स्त्री का उस से इस प्रकार प्रश्नोत्तर होता है :

बूझी किमि आए अबेरि। गरजत घन गाढी अँधेरि।
कैसे उतरे गंगधार। मेरे जिय अचरज अपार।
इमि सुनि बोले तुलसिदास। तुमहि मिलन उर अति हुलास।
तुम बिन परत न मोहिं चैन। भई सांति तुव लखत नैन।
तुव सुप्रेम में गंग धार। सुसुखि सहज ही भयो पार।

(रत्नावली १२१-१२५)

यह है सं० १६१२ से ले कर सं० १६२७ तक का गोस्वामी जी का जीवन, जिस का परिचय सोरों की सामग्री में मिलता है। दूसरी ओर 'रामाज्ञा-प्रश्न' के अध्ययन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उस की रचना-तिथि (सं० १६२१) के पूर्व ही उन्हों ने अपने जीवन की धारा बदल दी थी। अंतर्साक्ष्य के प्रामाणिक तथ्यो से भी सोरों की सामग्री का विरोध इस प्रकार स्पष्ट है। संक्षेप में सोरों की सामग्री की यही अंतरग परीक्षा है।

जन-श्रुतियाँ

कवि के जीवन-वृत्त सबंधी सामग्री का विवेचन समाप्त करने के पूर्व तत्संबधी जन-श्रुतियों पर भी विचार किया जा सकता है। हमारे कवि के जीवन-वृत्त से सबध रखती हुई जन-श्रुतियाँ अनेक मिलती हैं पर अधिकतर उन में से ऐसी हैं जो हमारे कवि के जीवन पर कोई महत्वपूर्ण प्रकाश नही डालतीं और पूर्व के अध्ययन-कर्त्ताओ ने उन पर यथेष्ट विचार भी किया है[2] इस लिए उन के संबंध में पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, एक जन-श्रुति ऐसी है जो उन सब की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और उस पर यह आश्चर्य है कि अभी तक तुलसीदास के किसी विद्वान् ने विचार भी नहीं किया है : वह है बाँदा ज़िले के गज़ेटियर मे सुरक्षित राजापुर क़स्बे की उत्पत्ति की कथा जिस में तुलसीदास संबधी उल्लेख हैं। अन्यत्र आगे चलकर सम्यक्रीत्या उस को उद्धृत किया गया है इस लिए उस के वास्तविक मूल्य पर ही विचार करना यहाँ यथेष्ट होगा।

[1] वही ११४

[2] देखिए ऊपर अध्याय १

उक्त गज़ेटियर के दो संस्करण हैं : प्रस्तुत संस्करण सं० १९६६ और पूर्व का सं० १९३१ में प्रकाशित है। प्रस्तुत संस्करण के संपादक श्री डी० एल्० ब्रॉकमैन दोनो संस्करणों के लिखित आधारों के संबंध में लिखते हुए भूमिका में कहते हैं : "एक सामान्य और संक्षिप्त वृत्त—अधिकतर ऐतिहासिक ढंग का—संपूर्ण जनक्षेत्रों का तैयार किया जा चुका था, और ऐसी गणनात्मक सूचनाएँ भी प्रत्येक ज़िले की अलग-अलग तैयार की जा चुकी थीं जिन में ग़दर की कथाएँ भी थी। इस ज़िले के संबंध की विज्ञप्तियाँ थोड़ी ही थीं—यद्यपि अन्य ज़िलो की तुलना में यह भी अधिक थीं—और यह श्री एम्० पी० एजवर्थ, कलेक्टर बाँदा की सन् १८४८ (सं० १९०५) की लिखी पुस्तिका और श्री एफ़० फिशर सी० एस० द्वारा दी हुई सूचनाओं के आधार पर लिखी गई थीं।" और, सं० १९३१ मे प्रकाशित संस्करण के संपादक श्री ऐटकिंसन ने उक्त संस्करण की भूमिका में श्री एफ़० फिशर के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश इस लिए किया है कि उन्होंने "बाँदा संबंधी अंशों को तैयार करने में विशेष रुचि प्रदर्शित की है।" मौखिक आधार के संबंध में सं० १९३१ में प्रकाशित संस्करण में दी हुई प्रश्नावली देखना ही पर्याप्त होगा जो स्थानीय जन-श्रुतियों के संग्रह के संबंध में सहायकों को दी गई थी। उस का एक प्रश्न[1] इस प्रकार का है : "यह नहीं आशा की जाती है कि स्थानीय सूचना-संग्रहकार इस से कुछ अधिक करेंगे कि वे स्थानीय जन श्रुतियों का संग्रह करें। मुद्रित पुस्तकों से इस से अधिक सहायता लेने की आवश्यकता उन्हें न पड़ेगी कि उन का उल्लेख मात्र कर दिया जावे। और इसी प्रकार इतिहास के सामान्य ग्रंथों को भी उन्हें देखने की आवश्यकता न होगी। जो वांछित है वह यह है कि वे उसी का संग्रह करें जो उन्हें जन साधारण से प्राप्त हो सके। किन्हीं विशेष महत्वपूर्ण स्थानों और व्यक्तियो, और किन्हीं भी स्थानों, दरगाहो, मक़बरों आदि की प्रशस्तियों लेखों की सूचनाएँ और उन से संबंध रखने वाली किंवदंतियाँ बहुत लाभदायक होंगी। वह अलिखित इतिहास प्रत्येक ज़िले का एकत्रित करने की आवश्यकता है जो जन-साधारण की मौखिक कथाओं में प्राप्त है।" श्री एजवर्थ की पुस्तिका अप्राप्य है। प्रयत्न करने पर भी उस का पता मुझे न चल सका। यदि वह मिल जाती तो यह कहा जा सकता था कि गज़ेटियर की सूचना का कौन सा अंश उस से लिया

[1] प्रश्न १२

गया है और शेष कितना दूसरे प्रकार प्राप्त है, और उसी दशा में हम यह भी कह सकते कि उक्त सूचना का कितना अंश सं० १९०५—लगभग १०० वर्ष पूर्व—का है और कितना सं० १९३१ का, और फिर कितना सं० १९६६ का। अभाव में हम अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि उस सूचना में यह देख लें कि कितना अंश उस का सं० १९३१ वाली सूचना में भी है और कितना सं० १९६६ में नया बढ़ाया गया है और इसी आधार पर प्रत्येक अंश को उस के उपयुक्त महत्व दें। आगे जहाँ पर इस सूचना का उल्लेख किया गया है इस बात को ध्यान में रखते हुए इसी लिए दोनों अंशों को एक दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न किया गया है।

कवि की कृतियाँ

४१. प्रस्तुत प्रसंग में विचार की सुविधा के लिए कवि की कृतियों को[1] हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

(अ) वह रचनाएँ जो साधारणतः कविकृत मानी जाती हैं, तथा

(ब) अन्य रचनाएँ।

प्रथम श्रेणी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) रामलला नहछू (२) वैराग्य संदीपिनी (३) रामाज्ञा प्रश्न
(४) जानकी मंगल (५) रामचरित मानस (६) सतसई
(७) पार्वती मंगल (८) गीतावली (९) कृष्ण-गीतावली
(१०) विनय पत्रिका (११) बरवा (१२) दोहावली
(१३) कवितावली तथा बाहुक

द्वितीय श्रेणी में निम्नलिखित रचनाएँ आती हैं :

(१) अंकावली (२) बजरंग बाण (३) बजरंग साठिका
(४) भरत मिलाप (५) विजय दोहावली (६) बृहस्पति कांड
(७) छंदावली रामायण (८) छप्पय रामायण (९) धर्मराय की गीता
(१०) ध्रुव प्रश्नावली (११) गीता भाषा (१२) हनुमान स्तोत्र
(१३) हनुमान चालिसा (१४) हनुमान पंचक (१५) ज्ञान दीपिका

[1] इस प्रसंग में केवल उन्हीं कृतियों का उल्लेख किया गया है जिन की हस्तलिखित प्रतियां मिलती हैं, शेष का उल्लेख नहीं किया गया है

(१६) पदबद रामायण (१७) राम मुक्तावली (१८) रस भूषण
(१९) साखी तुलसीदास जी की (२०) सकट मोचन (२१) सतभक्त उपदेश
(२२) तुलसीदास जी की बानी (२३) सूर्य पुराण (२४) उपदेश दोहा

इन दोनों ही श्रेणियों के ग्रथों की प्रामाणिकता के सबध में हम निम्नाकित तीन बातो के आधार पर विचार कर सकते हैं :

(क) ग्रंथों की प्राप्त प्रतियो के आधार पर,
(ख) उन की शैली के आधार पर, तथा
(ग) अन्य बातों के आधार पर।

४२. 'रामाज्ञा प्रश्न', 'जानकी मगल', रामचरित मानस', 'गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' की प्रतियाँ कवि के जीवन-काल की ही प्राप्त हैं,[१] इन ग्रथो की शैली भी मूलतः एक ही है,[२] और कोई बात भी ऐसी नहीं है जो इन की प्रामाणिकता के सबध मे सदेहजनक हो, इस लिए कदाचित् इस विषय में सदेह नहीं किया जा सकता कि यह ग्रंथ हमारे कवि की ही रचनाएँ हैं। 'रामाज्ञा प्रश्न' के सबध में जो सदेह किया जाता है वह मुख्यतः दो कारणों से किया जाता है : एक तो इस की शैली शिथिल है, और दूसरे इस की कथा मे परशु-राम-राम-मिलन जनकपुर से लौटते हुए मार्ग में होता है।[३] पहली शका के उत्तर मे यह बतलाया जा सकता है कि 'रामाज्ञा प्रश्न' कवि की प्राथमिक कृतियों मे से है : इस की रचना 'मानस' से दस साल पूर्व हुई थी,[४] फलतः शैली में शिथिलता का होना स्वाभाविक है, यद्यपि यह शैथिल्य भी बहुत नगण्य कोटि का है। दूसरी शका के सबंध में यह कहा जा सकता है कि उल्लिखित कथा-भेद 'जानकी मंगल'[५] तथा 'गीतावली'[६] में भी पाया जाता है, जिन की प्रामाणिकता प्रमाणित है, फलतः इस भेद के आधार पर 'रामाज्ञा प्रश्न' की प्रामाणिकता के संबंध में संदेह नहीं किया जा सकता।

४३. 'रामलला नहछू' की भी एक प्रति प्रस्तुत लेखक को कवि के जीवन-काल की प्राप्त हुई है,[७] इस लिए सामान्यतः हमें उसे भी कवि की रचनाओ मे

[१] देखिए नीचे अध्याय ४
[२] देखिए नीचे अध्याय ६
[३] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८७, ९९
[४] देखिए नीचे अध्याय ५
[५] जा० म० १९९, २००
[६] गीता०, उत्तर० ३८
[७] देखिये नीचे अध्याय ४

स्थान देना ही होगा। अभी तक उस की प्रामाणिकता के विषय में जो संदेह किया जाता था वह अधिकतर उस के उत्तान शृंगार वाले उस अंश के आधार पर किया जाता था जिस में कवि के उपास्य के पिता निम्न कुल की स्त्रियों के रूप-यौवन पर मुग्ध दिखाए गए हैं,[1] किंतु उल्लिखित प्रति में वह अंश नहीं है—और यह असंभव नहीं कि वह प्रक्षिप्त हो—इस लिए केवल उसी के आधार पर 'रामलला नहछू' को कवि की कृतियों में स्थान न देना ठीक न होगा, क्यों कि शेष त्रुटियों का समाधान उस दशा में सरलता से हो सकता है जब कि कृति को कवि की प्रारंभिक रचनाओं में स्थान दिया जावे।[2] इस लिए 'रामलला नहछू' को भी हम कवि की प्रमाणित रचनाओं में स्थान दे सकते हैं।

४४. 'कृष्ण-गीतावली', 'बरवा', 'दोहावली' तथा 'कवितावली' ('हनुमान बाहुक' सहित) की भी बहुत प्राचीन प्रतियाँ—कम से कम दो शताब्दी से अधिक प्राचीन—प्राप्त हैं।[3] इन ग्रंथों की शैली भी प्रमुख रूप से वही है जो ऊपर कविकृत माने हुए ग्रंथों की है।[4] केवल अंतिम तीन के संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राप्त प्रतियों में परस्पर पाठ-विषयक कुछ अंतर मिलता है[5], इस लिए यह असंभव नहीं कि इन के कुछ अंश कवि की रचनाएँ न हों। कदाचित् यही कारण है कि कभी-कभी विद्वानों ने इन की प्रामाणिकता के संबंध में संदेह प्रकट किया है। 'बरवा' के संबंध में यह संदेह मुख्यतः उस के प्रारंभ के अनेक शृंगारपूर्ण छंदों के कारण किया गया है।[6] किंतु यह असंभव नहीं कि केवल वही छंद अप्रामाणिक हों जिन में यह त्रुटि है: कम से कम एक प्रति अवश्य इस प्रकार की मिलती है, और अभी तक वह सब से प्राचीन भी है, जिस में वे छंद नहीं मिलते।[7] दूसरी ओर 'बरवा' में बहुत सा अंश ऐसा है जिसे निस्संदेह तुलसीदास का ही होना चाहिए: कम से कम उत्तर कांड के जो बरवे हैं वे अवश्य तुलसीदास के हैं ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है, और वे उस प्राचीनतम प्रति में भी पाए जाते हैं।[8] इसी प्रकार बहुधा यह प्रवाद

[1] मिश्रबंधु: 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८३, ९९

[2] देखिए नीचे अध्याय ५

[3] देखिए नीचे अध्याय ४

[4] देखिए नीचे अध्याय ६

[5] देखिए नीचे अध्याय ४

[6] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८३, ९९

[7] देखिए नीचे अध्याय ४

[8] वही

उठा है कि 'दोहावली' तथा 'सतसई' में से एक ही हमारे कवि की कृति होनी चाहिए। 'सतसई' के सबध मे जो संदेहजनक बातें हैं उन का उल्लेख हम आगे करेंगे; 'दोहावली' के संबध मे जो शका की जाती है उस के सबध मे अभी विचार करना है। 'दोहावली' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन मे परस्पर पाठ-संबंधी स्पष्ट अतर है। यदि इन पाठों को भली भाँति देखा जाय तो कुछ आश्चर्य नही कि प्रस्तुत 'दोहावली' के कतिपय अंश प्रक्षिप्त समझ पड़े। इसी प्रकार 'कवितावली' के भी सबंध मे सदेह किया जाता है। यह कहा जाता है कि उस मे कुछ छद भृग कवि के भी सगृहीत हो गए हैं,[1] और शिवसिंह सेंगर ने 'सरोज' में 'कवितावली' के ऐसे कुछ छदों को[2] भृग कवि के उदाहरण में दिया भी है।[3] किंतु, इस संदेह के मूल मे भी पाठ-निर्धारण की समस्या है। 'कवितावली' की प्रतियों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि उन में पाठ-भेद बहुत है, इस लिए यदि सावधानी से ग्रंथ का सपादन किया जाय तो असंभव नहीं कि कुछ छंद प्रस्तुत 'कवितावली' के सस्करण में ऐसे भी मिलें जो कवि के न हों, और केवल किसी प्रमादवश उस की कृति में सम्मिलित कर लिए गए हों। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि इन ग्रथों का ठीक ढंग से सपादन किया जाय, और तभी अंतिम निर्णय हो सकता है। फिर भी इन सब में अधिकाश हमारे कवि का ही है, यह अभी भी दृढतापूर्वक कहा जा सकता है। इन की वस्तु, इन की शैली, और इन की विचारधारा कदाचित् कुछ ही स्थलों पर इस प्रकार की मिलेगी जो तुलसीदास की न हो।

४५. उपर्युक्त प्रथम श्रेणी के तेरह ग्रंथों में से अब 'वैराग्यसंदीपिनी', 'सतसई' और 'पार्वती मगल' शेष हैं। इन तीन की कुछ बहुत प्राचीन प्रतियाँ इस समय उपलब्ध नही हैं।[4] 'वैराग्य संदीपिनी' की शैली,[5] विचारधारा[6] और छद-योजना,[7]

[1] शिवनन्दनसहाय : 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' पृ० ३१४

[2] कविता० उत्तर० १३३

[3] शि० सिं० स०, पृ० २३२

[4] देखिए नीचे अध्याय ४

[5] देखिए नीचे अध्याय ६

[6] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८२, ९९

[7] छदों का क्रम इस प्रकार है : ३ दोहे—१ सोरठा—४ दोहे—२ अर्धालियाँ—४ दोहे—४ अर्धालियाँ—७ दोहे—४ अर्धालियाँ—५ दोहे—४ अर्धालियाँ—५ दोहे—१ सोरठा—५ दोहे—८ अर्धालियाँ—२ दोहे—१२ अर्धालियाँ—१ दोहा—४ अर्धालियाँ—१ दोहा—८ अर्धा-

सभी ऐसे हैं कि तुलसीदास की रचना वह जान ही नही पड़ती। और 'सतसई' के उस अंश की शैली तथा विचार-धारा के संबंध में भी जो 'दोहावली' में नही मिलता[1] यही बात कही जा सकती है। उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहे लिए जा सकते हैं, और यह दोहे दृष्टिकूट के नहीं हैं :

जहाँ रहत बरतन तहाँ तुलसी नित्य स्वरूप।
भूत रु भावी ताहि कर अतिसय अमल अनूप॥
स्वास समीर प्रतच्छ अप स्वच्छाऽऽदर्स लखात।
तुलसी रामप्रसाद बिन अविगत जानि न जात॥
तुलसी तुल रति जात है जुगत न अचल उपाधि।
यह गति तेहि लखि परत जेहि भई सुमति सुठि साधि॥
करता कारन काल के जोग करम मत जान।
पुनः काल कपता छुरत कारन रहत प्रमान॥

(सतसई, सर्ग ५, दो० ९६—९९)

और, जिस दोहे में ग्रंथ का रचना-काल दिया हुआ है वह निस्संदेह प्रक्षिप्त है, क्यों कि जिस प्रणाली पर गणना करने पर कवि की और तिथियाँ शुद्ध उतरती हैं उस प्रणाली पर उस दोहे में दी हुई तिथि ठीक नही उतरती।[2] इस लिए 'सतसई' की प्रामाणिकता के संबंध में जो संदेह किया जाता है वह तर्कसंगत जान पड़ता है। यह दूसरी बात है कि कुछ अंश उस में हमारे कवि का भी हो। 'पार्वती मंगल' की समस्या इन ग्रंथों से भिन्न है। यद्यपि कोई बहुत प्राचीन प्रति उस ग्रंथ की हमें इस समय उपलब्ध नहीं है फिर भी उस के विरुद्ध कोई ऐसी बात नही है जिस से उस की प्रामाणिकता पर संदेह किया जा सके, और ग्रंथ के प्रारंभ में जो उस की रचना-तिथि भी दी हुई है वह भी गणना से शुद्ध उतरती है,[3] इस लिए उसे गोस्वामी जी की ग्रंथावली में स्थान मिलना ही चाहिए।

फलतः प्रथम श्रेणी के तेरह ग्रंथों में से 'वैराग्य-संदीपिनी' तथा 'सतसई' को छोड़ कर शेष ग्यारह प्रामाणिक जान पड़ते हैं, यह बात भिन्न है

लियाँ—४ दोहे—८ अर्धालियाँ—२ दोहे— पृ० १२४—१२७
४ अर्धालियाँ—२ दोहे
[1] देखिए २० पृ० सन् १८९३,
[2] देखिए नीचे अध्याय ५
[3] वही

कि यदि विचारपूर्वक इन ग्रंथों का संपादन किया जावे तो कदाचित् कतिपय अंश इन प्रामाणिक रचनाओं में भी अप्रामाणिक और अप्रामाणिक रचनाओं में भी प्रामाणिक ठहरेंगे। किंतु जब तक यथेष्ट रीति से ग्रंथों का संपादन नहीं हो जाता इतना भी कहना ठीक न होगा।

४६. द्वितीय श्रेणी के जो ग्रंथ हैं उन के संबंध में कई कठिनाइयाँ हैं। इन में से कुछ तो अभी तक अप्रकाशित हैं, और शेष जो प्रकाशित भी हैं उन के प्रामाणिक पाठ नहीं मिलते। हस्तलिखित प्रतियों को उन के स्वामियों से प्राप्त करना कितना कठिन कार्य है यह कहने की आवश्यकता नहीं, और यदि वह प्राप्त भी हो तो ग्रंथों के संपादन की समस्या है, जो प्रस्तुत निबंध से भिन्न ही एक कार्य है। इस लिए संप्रति हम इतना ही कर सकते हैं कि खोज-विवरणों का आश्रय लें। किंतु उन में भी कभी-कभी उद्धरण बिलकुल देते ही नहीं। इस लिए यह लगभग असंभव ही है कि हम इन ग्रंथों का पर्याप्त विवेचन कर सकें। फिर भी यथासाध्य उन पर विचार करना ही होगा।

४७. यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ तक प्रतियों के समय का संबंध है इन में से किसी भी ग्रंथ की प्रति कवि के जीवन-काल की नहीं मिलती, और कदाचित् एक प्रति को छोड़ कर कोई ऐसी भी प्रति प्राप्त नहीं है जो कम-से-कम दो सौ वर्ष भी पुरानी हो। वह अकेली प्रति जो इस प्रकार प्राचीन कही जा सकती है 'राम मुक्तावली' की है, और सं० १६८९—अर्थात् कवि के देहावसान के केवल नौ वर्ष बाद—की है। वह काशिराज के पुस्तकालय में है। प्रस्तुत लेखक ने उसे देखा है। कृति निर्गुण ब्रह्म के निरूपण से प्रारंभ होती है और फिर सगुण ब्रह्म का निरूपण करती है। इसमें राममंत्र के जप की जो विधि बताई गई है वह बड़ी विचित्र है। नीचे रचना के मध्य से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है जिस से उस की शैली, विचार-धारा तथा छंद-योजना का परिचय प्राप्त हो जायगा :

मंत्र विधि पहिले नर कही है। आसन भेद मन चारु चित धरी है।
यहि ते आसन कहेउ जे भेदा। तब नीगुर कै साध बिभेदा।
तीनि माहि सो गृह उतारी है। नी मूँठ हाथ लै पाव पखारी है।
सत्रह कुलाफे की सो डारी है। बिष्नु बिष्नु कै सुमिरन करी है।
बैठत तीनि आचमन पच्छिम दिसा करंत।
रामहि कहि बेदी पर आखर तीनि॥

ऊपर के उद्धरण में पाठ-प्रमाद स्पष्ट है, और संभव है कि इसी कारण से उस का सम्यक् रूप से अर्थ समझना सरल नहीं है, फिर भी विचार-धारा तुलसीदास की नहीं है यह समझना सरल ही है। शैली और छंद-योजना भी स्पष्ट ही हमारे कवि की नहीं हैं। इस लिए यह रचना संभवतः हमारे कवि की नहीं हो सकती।

४८. द्वितीय श्रेणी की रचनाओं में से एक ही रचना ऐसी है जिस पर विचार करना आवश्यक होगा : वह है 'ज्ञानदीपिका'। उस में रचना-काल सं० १६३१, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार दिया हुआ है, पर किसी भी प्रकार से गणना करने पर दिन गुरुवार नहीं आता।[1] और समय के अनुसार शैली, तथा विचार-धारा इस की वही होनी चाहिए थी जो 'मानस' की है, किंतु वहाँ भी साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। नीचे कृति से एक अंश उद्धृत किया जाता है[2] :

संवत सोरा सै गए इकतिस अधिक बिचार।
सुकल पच्छ आषाढ की दोज पुष्य गुरवार॥
ता दिन उपजी दीपिका पाँच जीत परवान।
धर्म ज्ञान अरु ब्रह्म पुनि परम सरूप बिकान॥

* * *

मीत बंधु कुल देस जप तप बिद्या बेद बिध।
रहै न इनको लेस नारि जो मुखहि लगाइए॥
प्रीति हिऐ दृढ जान बिधिना ताके कर गहै।
जितहि टिकावत आनि तितहि बसै मन कामना॥

इस लिए यह स्पष्ट है कि इस कृति को भी हम गोस्वामी जी की कृति के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते।

४९. फलतः तुलसीदास के अध्ययन के लिए उपलब्ध समस्त सामग्री के इस विवेचन को समाप्त करते हुए हम उस के संबंध में संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं : जो सामग्री हमें कवि के जीवन-वृत्तों के रूप में प्राप्त है वह ऐसी है कि उस का आधार बिलकुल नहीं ग्रहण किया जा सकता: शेष जीवन-सामग्री

[1] देखिए परिशिष्ट अ

[2] हि० खो० रि० (सन् १९०६—०८) नं० ३३८ द

यद्यपि कई कोटि की है, और उस का महत्व-भेद बहुत स्पष्ट है, फिर भी पिछले की अपेक्षा वह अधिक उपयोगी और अनेक अशों मे अधिक प्रामाणिक है; कवि की कृतियो की जो सूची प्राप्त है वह अधिकतर ऐसी रचनाओं की है जो हमारे कवि की कृतियाँ नहीं जान पड़ती, किंतु ग्यारह ग्रथ उस में निस्सन्देह ऐसे हैं जो हमारे ही कवि की रचनाएँ हैं, और उन्हीं से हम को सब से अधिक प्रामाणिक सामग्री हमारे अध्ययन के लिए प्राप्त हो सकती है।

३

जीवन-वृत्त

१. ऊपर हम ने उस सामग्री की समीक्षा की है जो कवि के जीवन-वृत्त के लिए आधारभूत हो कर हमारे सम्मुख आती है। नीचे हम केवल उसी सामग्री के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण करने का यत्न करेंगे जो किसी हद तक प्रामाणिक और विश्वसनीय मानी जा सकती है। इस संबंध में हम यहाँ कदाचित् एक अपवाद स्वीकार कर सकते हैं—वह है सोरों द्वारा प्रस्तुत कवि के जीवन-वृत्त विषयक।

सोरों द्वारा प्रस्तुत जीवन-वृत्त

सोरों की सामग्री से हमारे कवि के वैराग्य-पूर्व जीवन की जो कथा मिलती है वह इस प्रकार है :

२. रामपुर नामक ग्राम में, जो सूकरखेत (सोरों) का निकटवर्ती था, सनाढ्य शुक्लों का एक परिवार निवास करता था।[1] इस के पूर्व प्रधान पुरुष नारायण शुक्ल थे।[2] इन नारायण शुक्ल के चार पुत्र हुए जिन के नाम श्रीधर, शेषधर, सनक तथा सनातन थे।[3] सनातन के पुत्र परमानंद हुए।[4] और, परमानद के दो पुत्र आत्माराम और जीवाराम हुए।[5] इन्हीं आत्माराम के पुत्र तुलसीदास हुए[6] जिन्हो ने 'रामचरित मानस' की रचना की।[7] और जीवाराम के दो पुत्र हुए : एक नंददास,[8] जिन्हों ने वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित

[1] 'कृष्णदास वंशावली' १; 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' सो० ६; 'रत्नावली' ६२; 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' ११

[2] 'कृष्णदास वंशावली' २

[3] वही, ४

[4] वही, ५; 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' ११

[5] 'कृष्णदास वंशावली' ६; 'रत्नावली' ६४; 'मुरलीधर कृत छप्पय' ४

[6] 'कृष्णदास वंशावली' ७; 'रत्नावली' ६६

[7] 'कृष्णदास वंशावली' ८

[8] वही, ७

हो कर श्रीमद्भागवत (-भाषा ?) तथा रास (-पञ्चाध्यायी ?) की रचना की,[१] और दूसरे चंद्रहास।[२]

३. तुलसीदास तथा नंददास उस समय सोरों में नृसिंह चौधरी की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे,[३] जो चक्रतीर्थ के समीप स्थापित थी,[४] जब हमारे कवि के व्याह की बात तै हुई।[५] नृसिंह स्मार्त वैष्णव थे।[६] इस समय तक हमारे कवि के माता-पिता का देहावसान हो चुका था,[७] और घर में केवल एक वृद्धा दादी रह गई थी।[८] यह लोग अब (सोरों में) योगमार्ग के समीप रहा करते थे।[९] तुलसीदास का एक नाम रामबोला भी था जो उन्हें इस कारण प्राप्त था कि वह बहुधा राम नाम का उच्चारण किया करते थे।[१०]

४. हमारे कवि का विवाह रत्नावली से होना निश्चित हुआ जो दीनबंधु पाठक की कन्या थी।[११] यह दीनबंधु बदरिया नामक ग्राम के निवासी थे।[१२] विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ।[१३] विवाह के समय रत्नावली की अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी।[१४] गौना चार साल बाद हुआ, जब वह सोलह वर्ष की थी।[१५] हमारे कवि का दांपत्य-जीवन बड़ा सुखमय था।[१६] उस की वृद्धा दादी इस विवाह के कुछ ही वर्ष बाद चल बसी।[१७] वह पुराणादि की कथाएँ बाँच कर जीविकोपार्जन किया करता था।[१८] इस विवाहित जीवन में तारापति नामक एक पुत्र उन्हें प्राप्त हुआ, किंतु अत्यत अल्पावस्था में ही वह काल-कवलित हो गया।[१९]

१ वही, ९
२ वही, ७, 'रत्नावली' ६४
३ 'मुरलीधर चतुर्वेदी कृत छप्पय' ४, 'सूकरखेत माहात्म्य भाषा' ४
४ 'रत्नावली' ६१
५ वही
६ वही, ६०
७ वही, ६६
८ वही, ६६
९ वही, ६७, 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' १६ तथा १७
१० 'रत्नावली' ६८
११ 'रत्नावली' ४१, 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' ९
१२ 'रत्नावली' ३७, 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह ७१, ९८
१३ 'रत्नावली' ७७–७९
१४ 'दोहा रत्नावली' ४१
१५ वही
१६ 'रत्नावली' ८०–८१, ८५, ९१–९८
१७ 'रत्नावली' ८३
१८ वही, ९०
१९ वही, ९९–१००

५. यह सुखमय विवाहित-जीवन पंद्रह वर्ष तक चलता रहा और इस दीर्घ काल में एक पुत्र-हानि के अतिरिक्त दूसरी दुःखमय घटना उस में उपस्थित न हुई।[१] अब रत्नावली का सत्ताईसवाँ साल था[२] और संवत् भी १६२७ था[३] (जिस से ज्ञात होता है कि उस का जन्म सं० १६०१ में हुआ था) जब उसे अपने पति से सदा के लिए वियुक्त होना पड़ा। रत्नावली पति से आज्ञा प्राप्त कर अपने भाई के घर राखी बाँधने गई हुई थी,[४] और कवि भी नवाह्निक कथा-वाचन के लिए बाहर चला गया था।[५] ग्यारह दिन के बाद घर लौटने पर हमारे कवि ने देखा कि उस की प्रियतमा अभी तक भाई के घर से लौटी नहीं। स्त्री की अनुपस्थिति से वह इतना बेचैन हुआ कि घर पर रुक नहीं सका और स्त्री से मिलने की आतुरता में वह चल पड़ा।[६] अर्धरात्रि का समय था, आकाश में बादल छाए हुए थे, पर हमारा कवि इन से तनिक भी विचलित न हुआ और उस ने उस बढ़ी हुई नदी को तैर कर पार किया जो सोरों और बदरिया के बीच में बहती है, और वह अपनी ससुराल जा पहुँचा।[७] उस का साला घर पर था और उस ने बहनोई के आने पर घर का फाटक खोल दिया और उसे अंदर बुला लिया।[८]

६. रत्नावली भाई के सो जाने पर पति के पास गई, और उस से पूछा कि किस लिए वह इतनी रात्रि को वहाँ आया। कवि ने उस से कहा कि यह उस का प्रेम ही था जो उसे इस प्रकार खींच लाया है।[९] रत्नावली ने कवि के इस प्रेमाधिक्य की प्रशंसा करते हुए उस दिव्य प्रेम की ओर भी संकेत किया जो जीव को भव-सागर से पार कर देता है।[१०] इस वार्तालाप से कवि का आध्यात्मिक संस्कार सजग हो उठा,[११] और जब रत्नावली सो गई वह वहाँ से चल पड़ा, और फिर उस ने उधर मुड़ कर भी नहीं देखा।[१२]

[१] वही, १०५
[२] 'दोहा रत्नावली' ४१
[३] वही, ४२
[४] 'रत्नावली' १०६, १०७
[५] वही, १०८
[६] वही, १०९–११२
[७] वही, ११३–११५
[८] वही, ११६–११८
[९] वही, १०९–१२५
[१०] वही, १२६–१३२
[११] वही, १३२–१३३; तथा 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' १, ४, ५
[१२] 'रत्नावली' १४३–१४४

७. पतिवञ्चिता रत्नावली का जीवन अब तपस्या का था। वह जीवन के अंत तक पति के पादत्राणों की पूजा करती रही।[1] इस दीर्घकालीन विरह के जीवन में कवि ने केवल एक बार उस को याद किया, जब उस ने उस के पास अपने भतीजे के हाथ रामभक्ति का संदेश भेजा।[2] स० १६५१ में वह इस ससार से विदा हो गई।[3]

८. संक्षेप में हमारे कवि के अधकारपूर्ण जीवनाश की यही वह सुदर कथा है जो सोरों में प्राप्त सामग्री हमारे सामने रखने का प्रयत्न करती है। हमें कितनी प्रसन्नता होती यदि इस सपन्न और रोचक कथा को हम बिना किसी खटके के महाकवि के जीवन-वृत्त में स्थान दे सकते! किंतु जो वस्तुस्थिति है वह ऊपर भली भाँति स्पष्ट की जा चुकी है।[4] इस लिए अभी हमारे लिए युक्तिसगत कदाचित् यही होगा कि इस सामग्री के अतिरिक्त जो कुछ हमें प्राप्त है हम उसी तक संतोष करें।

जन्म-तिथि

९. यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इतनी खोज के बाद भी हमारे कवि की जन्म-तिथि के बारे में निश्चय नही हो पाया है। कवि की कृतियो में कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं है जिस की सहायता से हम किसी भी हद तक निश्चय के साथ कवि की जन्म-तिथि निर्धारित कर सकते। 'राम मुक्तावली' में अवश्य एक पंक्ति आती है जिस के आधार पर स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा का कहना था कि कवि १२० वर्ष तक जीवत रहा, और इस लिए उस की जन्म-तिथि सं० १५६० होनी चाहिए।[5] परतु लेखक ने भली भाँति 'राम मुक्तावली' का निरीक्षण किया है। उस की शैली, विचार-धारा तथा छंद-योजना सभी के आधार पर उस का यह विश्वास है कि वह गोस्वामी जी की कृति नहीं है।[6] फिर, जिस पक्ति के आधार पर स्वर्गीय वर्मा जी ने यह अनुमान निकाला था वह इस प्रकार है :

पवन तनय मो सन कह्यो पाँच बीस अरु बीस।

इस में "पाँच बीस अरु बीस" से कदाचित् "पैंतालिस" का आशय लेना

1 'रत्नावली' १५१, 'दोहा रत्नावली' ३४
2 'रत्नावली लघु दोहा सग्रह' ९९
3 'रत्नावली' १५९
4 देखिए ऊपर पृ० ८०-९५
5 'सरस्वती' जिल्द ३०, पृ० ७७
6 देखिए ऊपर पृ० १०२

अधिक समीचीन होगा, क्यों कि अन्यथा यदि एक सो बीस की अवस्था की घटना का उल्लेख कवि इस पक्ति मे कर रहा है तो अवश्य ही यह पंक्ति एक सौ बीस की अवस्था के वाद लिखी गई होगी, और एक सौ बीस या उस से अधिक अवस्था और सं० १५६० या पूर्व जन्म-तिथि मानने मे वही कठिनाइयाँ पड़ती है जो स० १५५४ को कवि की जन्म-तिथि मानने मे पड़ती हैं और जिन का उल्लेख आगे किया गया है। जन्म-तिथि संबंधी कोई समकालीन साक्ष्य भी प्राप्त नहीं है। इस लिए हम को इस सबंध मे अनिवार्य रूप से केवल परंपरा-प्राप्त जन-श्रुतियों का ही आधार ग्रहण करना होगा, और वे भी एक-सी नही हैं कठिनाई यह है।

१०. एक जन-श्रुति का उल्लेख 'मानस-मयंक' का लेखक करता है जब वह कहता है कि कवि का जन्म सं० १५५४ मे हुआ था।[1] यदि यह तिथि ठीक मान ली जाय तो 'रामचरित मानस' के प्रारभ (सं० १६३१) के समय कवि की अवस्था सतहत्तर वर्ष की, सरस्वती-भवन काशी मे सुरक्षित 'वाल्मीकि रामायण' उत्तरकाड की प्रतिलिपि के समय (सं० १६४१) सत्तासी वर्ष की, और काशिराज के संग्रह में सुरक्षित 'पंचायतनामा' के शीर्ष की पंक्तियों के लिखने के समय (सं० १६६९) एक सौ पद्रह वर्ष की ठहरती हैं। किंतु इन मे से एक भी बात सभव नही जान पड़ती। इस लिए स० १५५४ में कवि के जन्म की परपरा ठीक नही जान पड़ती।

११. विल्सन[2]—और उन्ही के आधार पर तासी[3]—ने लिखा है कि कवि ने 'रामचरित मानस' का प्रणयन इकतीस वर्ष की अवस्था मे प्रारभ किया। इस प्रकार कवि का जन्म-संवत् १६०० ठहरता है। यह तिथि भी ठीक नहीं ज्ञात होती क्यो कि यह असभव जान पड़ता है कि इस प्रकार का एक अत्यंत विद्वतापूर्ण और गहन ग्रंथ जैसा 'रामचरित मानस' है कवि ने केवल इकतीस वर्ष की अवस्था में लिखा हो, और वह भी जब कि—जैसा आगे ज्ञात होगा—

[1] मानस "मयक", पृ० ९१; 'मूल गोसाईं-चरित' में इस तिथि का विस्तार भी दिया गया है, किंतु वह विस्तार गणना से शुद्ध नहीं उतरता (देखिए परिशिष्ट आ) इस लिए वह और भी ठीक नहीं हो सकता

[2] 'ए स्केच अव् दि रेलिजस सेक्ट्स अव दि हिंदूज' पृ० ४१

[3] 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर इदुई ए इदुस्तानी' जिल्द ३, पृ० २७६

हमारे कवि के माता-पिता का देहांत उस की निरी बाल्यावस्था में हो गया था और उसे उदर-पूर्ति के लिए अपने प्रारंभिक जीवन-काल में काफी भटकना पड़ा था।

१२. शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि "यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे"।[१] बहुधा यह समझा जाता है कि हमारे कवि के संबंध में जो कुछ शिवसिंह सेंगर ने लिखा है वह उस 'गोसाई-चरित्र' के आधार पर लिखा है जिस का उल्लेख उन्हों ने स्वतः हमारे कवि की सूचना में किया है। पर उपर्युक्त कथन में 'लगभग' शब्द स्पष्ट ही इस कथन का निराकरण देता है। यदि उन्हों ने उस चरित के आधार पर यह तिथि दी होती तो इस उल्लेख में 'लगभग' की आवश्यकता न पड़ती। यह तो कदाचित् निस्संदेह है कि जिस जीवन-चरित का उन्हों ने इस प्रसंग में उल्लेख किया है उसे उन्हों ने देखा अवश्य था क्यों कि उस से उन्हों ने एक उद्धरण भी अन्यत्र दिया है।[२] इस लिए यह स्पष्ट है कि सेंगर महोदय ने यह तिथि या तो किसी जन-श्रुति के आधार पर दी है या किसी अनुमान के आधार पर। फिर भी यह तिथि किसी प्रकार असंभव नहीं कही जा सकती क्यों कि इस के संबंध में उस प्रकार की कोई कठिनाइयाँ नहीं हैं जिस प्रकार की कठिनाइयाँ उपर्युक्त अन्य दो तिथियों के संबंध में हैं।

१३. ग्रियर्सन, संभवतः जन-श्रुति की अपेक्षा किसी दृढ़तर प्रमाण पर, लिखते हैं: "सब से अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात प्रकट होती है कि कवि का जन्म सं० १५८९ में हुआ था।[३]" किंतु इन विश्वस्त विवरणों का यथेष्ट परिचय वे नहीं देते हैं। कहा जाता है कि स्वर्गीय रामगुलाम द्विवेदी भी यही जन्म-तिथि मानते थे।[४]

१४. इस विचार के लिए एक महत्वपूर्ण समर्थन तुलसी साहिब, हाथरस वाले के आत्मोल्लेख में मिलता है जब वह यह कहते हैं कि अपने पूर्व जन्म में, जब उन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की थी, उन का जन्म "सं० १५८९ भादौ सुदी ११, मंगलवार" को हुआ था।[५] यह तिथि गणना से

१ शि० सिं० स०, पृ० ४२७
२ वही, पृ० १३१
३ इ० ऐं०, सन् १८९३, पृ० २६४
४ तु० ग्र० भाग ३, पृ० १२
५ 'घटरामायण', पृ० ४१५

शुद्ध उतरती है,[1] और किसी परंपराप्राप्त साक्ष्य का भी इस से अधिक प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता, और इस तिथि को मानने में कोई असंभावना भी नहीं दिखाई पड़ती इस लिए इस तिथि को हम कवि की जन्म-तिथि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

जन्म-स्थान तथा राजापुर

१५. जन्म-तिथि के संबंध में जिस प्रकार का मतभेद ऊपर हम ने देखा है उस से भी अधिक मतभेद जन्म-स्थान के संबंध में है। कवि की कृतियों में कोई भी ऐसा उल्लेख अथवा अन्य प्रकार का साक्ष्य नहीं मिलता जिस से प्रश्न पर कोई निश्चित प्रकाश पड़ता हो। ऐसी दशा में हमें वहिर्साक्ष्य और उस की पुष्टि में जो अंतर्साक्ष्य मिलता हो उस का ही सहारा रह जाता है। कुछ दिनों पहले तक हाजीपुर, तारी तथा राजापुर ही अलग-अलग हमारे कवि के जन्म-स्थान होने का दावा करते थे, इधर एक और स्थान इस संबंध में आगे आया है: वह है सोरों।

१६. चित्रकूट के समीपस्थ हाजीपुर का उल्लेख पहले-पहल विल्सन ने किसी जन-श्रुति के आधार पर किया था।[2] उस के अनंतर तासी ने विल्सन के ही आधार पर उसी को उन का जन्म-स्थान माना।[3] तारी का उल्लेख भी कदाचित् जन-श्रुति के अतिरिक्त किसी और आधार पर नहीं किया गया है।[4] राजापुर और सोरों के पक्ष में जो अलग-अलग कारण बतलाए जाते हैं उन का सविस्तर विवेचन आवश्यक होगा।

राजापुर पक्ष के तर्कों का उल्लेख राजापुर-निवासी श्री रामबहोरी शुक्ल, एम्० ए० ने सविस्तर किया है।[5] यथासंभव उन्हीं के शब्दों में वे इस प्रकार हैं:

(१) "ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पंडित रामगुलाम द्विवेदी और 'मानस' के अनेक प्राचीन टीकाकारों ने इसी स्थान को गोस्वामी जी की जन्म-भूमि माना है।"

[1] देखिए परिशिष्ट इ

[2] 'ए स्केच अव् रलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज' पृ० ४१

[3] 'इस्त्वार द ला लितेरेत्योर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' जिल्द ३, पृ० २३६

[4] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० २६५

[5] 'वीणा', वैशाख सं० १९९५, पृ० ५४६

(२) "सत तुलसी साहिब (सं० १८२०–१९००) ने अपने को 'मानसकार' का अवतार मानते हुए अपनी 'घटरामायण' में भी अपना पहला चोला राजापुर में ही उत्पन्न होना लिखा है।"

(३) "राजापुर मे उपाध्याय (सरयू पारीण) ब्राह्मणों का एक वश है। उस वंश के लोग अपने को गोस्वामी जी के शिष्य श्री गणपति उपाध्याय का वंशज बताते हैं।" इन वंशजों को राजापुर तथा नयागाँव (चित्रकूट) में 'मुआफी' मिली हुई है "इस मुआफी को इस वंश के लोग परपरा से सम्राट् अकबर की दी हुई कहते हैं।" इस का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। कहते हैं वह ताम्रपत्र जिस पर अकबर का लेख था बहुत दिन हुए झगड़ा होने पर इस वंश के लोग अपने साथ नयागाँव (चित्रकूट) ले गए। . इस वश के पडित मुन्नीलाल उपाध्याय के पास, जिनके ही अधिकार मे गोस्वामी जी के हस्तलिखित 'मानस' का अयोध्याकाड रहता है, केवल दो-तीन पुराने काग़ज़-पत्र जीर्ण-शीर्ण दशा में मिले हैं।

(अ) इन में से एक तो पन्ना के राजा श्री हिंदूपति की सनद है। उस में लिखा है कि : 'श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा हिंदूपति जू देव ते पंडित श्री उपाध्याय सीवाराम कौ सनधि कर दई पुरानी सनधि पर हुकुम आपर कसबा राजापुर मौं ए आगै ए उहा की राह रकम हाट फैट में पाइ आए होंइ सो बहाल है हर हमेस पाए कोऊ आमिल मैमार जमीदार मुज्तहिम न होइ हुकुम हजूर फागुन सुदि ३ संवत १८१३ मुकामि परना।"

(आ) दूसरा एक बहुत ही जीर्ण काग़ज़ पर उर्दू लिपि में लिखी हुई सनद है जिस के बाँए हाशिए पर नीचे की इबारत लिखी हुई है। बीच-बीच में काग़ज़ कई जगह फट गया है इस से जो कुछ पढा जा सका है उस की प्रतिलिपि नीचे दी जाती हैं :

'आमिलान हाल इस्तकबाल परगनै गहोरा सिरक कालींजर सूबे इलाहाबाद के ··आगै प (ण्डित) मदारीलाल ··(गो) साई तुलसीदास के (ब) समैका महसूल साइर वा तिहवा तिहाव ··जी वा कलारी वा गुजर श्री जमुना जी राजापुर अमलै पर वामूजव सनद बादशाही व सूबेदारान वा राजा बुंदेलखड ··है सो सिरकार मै हाल है सो हसव मुवान के अमल सौ मुजाहिम ना हूजै हरसाल नई सन मा गयौ ता० २१ सावान (!) सन् १२

सन् १७१९ बमुकाम बाँदा।

इस सनद पर एक कोने मे डिस्ट्रिक मैजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर हैं, जो बहुत धूमिल

होने से पढ़े नहीं जाते और उन के ऊपर उर्दू में लिखा है 'हुकुम हुआ २७ दिसंबर सन् १८४१'

...इस प्रकार यह विश्वसनीय है कि राजापुर में मिलने वाली मुआफी, जिस का ऊपर विवरण दिया गया है, शाही ज़माने से गोसाईं तुलसीदास जी के वंश वालों को मिली थी। बाद में (अथवा कवि के समय में ही) जान पड़ता है कि उस के न चलने पर उन के शिष्यों ने यह अधिकार प्राप्त किया। और जैसा ऊपर उद्धृत सनद में लिखा है 'गोसाईं तुलसीदास जी के वंश में की महसूल' उस से तो यह माना जा सकता है कि राजापुर में वह (वंश) कुछ न कुछ दिन अवश्य रहा होगा। इस से गोस्वामी जी के राजापुर में जन्म लेने का परंपरागत लोक-विश्वास पुष्ट होता है।"

(४) "इस विश्वास के सत्य होने का एक प्रमाण हमें श्री रामचरित मानस में भी मिलता है। अयोध्याकांड में 'तापस-प्रसंग' बहुत प्रसिद्ध है। जिस समय भगवान प्रयाग से चल कर यमुना पार कर के आगे बढ़ते हैं उस समय :

सुनत तीर बासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी।...

सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं।

यहीं पर ग्राम-वासियों की बात अपूर्ण रह जाती है, निम्नांकित वर्णन प्रारंभ हो जाता है—

तेहि अवसर तापस एक आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा।
कवि अलखित गति बेष बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी।
सजल नयन तन पुलकि निज इष्ट देव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।
मनहु प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ।
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा।
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही।
पियत नयन पुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा।

इसके बाद फिर वह ग्राम-वासियों का पश्चात्तापयुक्त कथन चलता है :

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठए बन बालक ऐसे।

आदि। यहाँ पर तापस का (उपर्युक्त) अकस्मात् आ जाना और फिर वहाँ से

बिदा न होना किंतु भगवान के दर्शन में ध्यान-मग्न हो जाना और इसी दशा में उस को छोड़ कर कवि का अपने इस प्रौढ़तम अयोध्याकांड में एक गंभीर प्रसंग को अस्पष्ट ही रहने देना—साधारण बात नहीं। यह अंश अब तक उपलब्ध सभी प्राचीन प्रतियों में है। इस से इसे क्षेपक कहने से भी काम नहीं चल सकता। इस के समाधान के लिए टीकाकारों ने कई अनुमान किये हैं, परंतु इस का सब से संतोषप्रद यही तात्पर्य है कि उक्त तापस अलक्ष्य में स्वयं कवि तुलसीदास) ही थे। 'विनय-पत्रिका' के 'तुलसी तोसो राम सों कछु नई न जान-पहिचान' (पद १९३) के अनुसार तुलसीदास अपने को जन्म-जन्मांतर से श्री राम का भक्त समझने के कारण यह विश्वास करते थे कि उन के जन्म-प्रदेश में हो कर जब उन के इष्टदेव गए होंगे तब वे भी अवश्य ही उन के अभिनंदनार्थ वहाँ रहे होंगे। अथवा श्री राम की कथा तो श्री गोस्वामी जी के लिए सजीव थी; वे लिखते-लिखते तन्मय हो गए और अपने जन्म-प्रांत में अपने प्रभु के पधारने का अवसर उपस्थित होने पर ग्रामवासियों के बीच भावना रूप में स्वयं भी पहुँच गए और भगवान के मिलने की-सी अनुभूति का सुख प्राप्त कर तन्मय हो गए।"

(५) "अयोध्या से यमुना जी पहुँचने तक गोस्वामी जी कहीं भी इस प्रकार भावावेश में नहीं आए जिस प्रकार यमुना जी के पार करने पर आए। इसी प्रदेश में राजापुर है और जन्म-भूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री-पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यंत प्रभावशाली वर्णन अपनी अलौकिक अनुभूति से इसी प्रदेश से संबंधित किया है।" "पादटिप्पणी 'मेघदूत' में भी कालिदास ने रामगिरि से अलका जाते समय मार्ग में न पड़ने पर भी मेघ से उज्जयिनी होते जाने का अनुरोध करवा कर जैसे अपना उज्जयिनी-प्रेम प्रदर्शित किया है वैसे ही गोस्वामी जी के कथा-प्रसंग से युक्त इस वर्णन से इस प्रदेश के प्रति उन का स्वाभाविक अनुराग ही सूचित होता है। जब उन के श्री राम अपने जन्म-स्थल, अयोध्या को वैकुंठ से श्रेष्ठ कह कर उस के प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हैं तब उन का स्वयं अपने जन्म-प्रदेश के प्रति ऐसा करना नितांत उचित और स्वाभाविक है।"

"इस तरह यह सिद्ध होता है कि राजापुर में भक्त गोस्वामी जी ने जन्म लिया था।"

१८. इन तर्कों को हम एक-एक कर के ले सकते हैं। पहला तर्क लेखकों तथा

टीकाकारों द्वारा किए गए जन्म-स्थान संबंधी उल्लेखो के आधार पर उपस्थित किया गया है। यह लेखक तथा टीकाकार महाकवि के समसामयिक नही थे, फलतः इन का कथन तभी माना जा सकता है जब वह आधार पुष्ट हो जिस का आश्रय लेकर यह महानुभाव विशिष्ट उल्लेख करते हैं; किंतु यह दुःख का विषय है कि इन में से कोई भी अपने आधार का उल्लेख नही करते। शिवसिंह सेंगर ने हमारे कवि के संबध में लिखते हुए यह अवश्य लिखा है कि "इन के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक वेणीमाधव दास कवि पसका ग्रामवासी ने जो इन के साथ-साथ रहे बहुत विस्तार पूर्वक लिखी है।"[1] किंतु, स्वतः हमारे कवि का जीवन-वृत्त उपस्थित करते समय उन्हों ने कहाँ तक उस का आश्रय ग्रहण किया है यह उन्हों ने नहीं लिखा है। जन्म-तिथि के संबध में लिखते हुए, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,[2] उन का यह लिखना कि "यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे" यह अवश्य सूचित करता है कि उक्त वृत्त का कुछ न कुछ अश उक्त 'चरित्र' के आधार पर नहीं है। फलतः जन्म-स्थान संबंधी उल्लेख उन का किस आधार पर हुआ है यह अज्ञात है। और इसी लिए उसे यथेष्ट रूप से निश्चयात्मक नही माना जा सकता।

दूसरा तर्क संत तुलसी साहिब के कथन पर अवलंबित है। संत तुलसी साहिब की इस आत्म-कथा की जाँच हम अन्यत्र ऊपर यथेष्ट विस्तार-पूर्वक कर चुके हैं उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नही है।

तीसरे तर्क के आधार 'मुआफी' संबंधी काग़ज़ात हैं। कथित 'मुआफी' उक्त उपाध्याय वंश को परंपरा से प्राप्त है और साधारणतः उस का संबंध तुलसीदास से माना जाता है यह ठीक है। मै स्वतः इस की जाँच कर चुका हूँ। किंतु वह काग़ज़-पत्र कैसे हैं जिन से राजापुर में गोस्वामी जी के वंश का चलना ज्ञात होता कहा गया है, यह कहना कठिन है। वह काग़ज़ात साधारणतः दिखाए नहीं जाते। मैं ने सं० १९९४ में जब राजापुर की यात्रा की थी तब उन उपाध्याय जी से स्थान-संबंधी काग़ज़-पत्र देखने को माँगे थे। उस समय उन्हों ने उन के वर्तमान अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया था। किंतु मुझ से उन की यह अस्वीकृति इस बात का निश्चित् प्रमाण नहीं हो सकती कि इस प्रकार के काग़ज़-पत्र हैं ही नहीं। रामबहोरी जी को अगर किसी प्रकार

[1] शि० सिं० स०, १ पृ० ४२७ [2] देखिए ऊपर पृ० ११०

यह काग़ज़-पत्र देखने को मिले तो अच्छा ही हुआ। किंतु यदि उन्हों ने उन का प्रतिचित्र भी प्रकाशित किया होता तो अच्छा होता। अस्तु प्रतिचित्र के अभाव मे हम अधिक से अधिक इतना कर सकते हैं कि प्रस्तुत विवेचन के लिए उक्त काग़ज़-पत्र विषयक उन के वक्तव्य को प्रामाणिक मानते हुए भी इस प्रश्न पर विचार करें कि जन्म-स्थान संबंधी प्रश्न पर वे कहाँ तक प्रकाश डालते हैं।

यह स्पष्ट है कि पहिली सनद मे स्थान के साथ गोस्वामी जी का नाम भी नहीं आता इस लिए प्रस्तुत प्रश्न से उस का निकट संबंध नहीं है। दूसरी सनद का संबंध किसी प्रकार हमारे महाकवि से अवश्य जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि कहाँ तक यह उस के जन्म-स्थान से संबंध रखती है। फलतः इस प्रसंग में हमें देखना यह है कि उक्त सनद के जो अंश कट-फट गए हैं उन के स्थान पर कौन से अक्षर या शब्द होने चाहिए थे जिन से पूरे वाक्य की सगति बैठ सकती। जिस प्रकार रामबहोरी जी ने इन रिक्त स्थानों की पूर्ति की है उस प्रकार पढ़ने पर पूरा वाक्य निम्नलिखित होता है :

"आगे प(ण्डित) मदारीलाल...(गो) साईं तुलसीदास जी के (बं) स मैका महसूल बामूजब सनद बादशादी व सूबेदारान··राजा बुंदेलखण्ड·· ···है सो सिरकार में हाल है।"

पहली बात जो इस प्रसग मे ध्यान देने योग्य है वह यह है कि 'पंडित मदारी लाल' और 'गोसाईं तुलसीदास' के बीच जो संबंध है वह इस पुनर्निर्मित वाक्य में नहीं आता है, और सनद में यह सबंध अवश्य ही दिया हुआ रहा होगा इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते क्यों कि अन्यथा हमारे प्रात की नामकरण-प्रथा के अनुसार—न तो 'पंडित मदारीलाल गोसाईं तुलसीदास' एक व्यक्ति का नाम हो सकता है और न पंडित मदारीलाल के ही वाक्य में आने की कोई आवश्यकता रह जाती है। और यदि इस प्रकार का संबध वाक्य मे आता है तो 'के बंस मै का' का संबंध पडित मदारीलाल से होना चाहिए न कि 'गोसाईं तुलसीदास' से जो कि केवल पंडित मदारीलाल का यथेष्ट परिचय कराने के लिए ही किसी संबध-सूत्र से वाक्य मे आते हैं। और, यदि 'पडित मदारीलाल का बस' राजापुर में चलता है तो उस से यह नहीं सिद्ध होता है कि 'गोसाईं तुलसीदास जी का बस' भी राजापुर में चलता रहा।

दूसरी बात यह है कि '(बंस) मै का महसूल' बहुत उपयुक्त और सगत नही जान पड़ता। कम से कम इस प्रकार का प्रयोग देखने मे नहीं आता

है। 'स' का 'मै' के साथ जाना और समय के विकृत रूप में व्यवहृत होना कदाचित् इस से अधिक युक्त-संगत कल्पना होगी। उस दशा मे 'के' तथा 'समै' के बीच रिक्त स्थान पर कोई ऐसा शब्द होना चाहिए जो 'समै' का परिचायक कोई विशेषण हो।

तीसरी और अंतिम बात इस सबध की यह है कि यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जावे कि इस सनद से यह सिद्ध होता है कि राजापुर में स्वामी जी का वंश चलता रहा, तो क्या इस से यह सिद्ध हो जाता है कि गोस्वामी जी का जन्म भी राजापुर मे ही हुआ था। क्या यह संभव नहीं कि उन का जन्म कही अन्यत्र हुआ हो और जीवन की कोई लहर—जिस प्रकार वह आगे उन्हे काशी ले गई—कभी उन्हें राजापुर भी लाई हो।

चौथा तर्क यह है कि 'मानस' के अयोध्याकाड में 'तापस-प्रसंग' ऐसे स्थान पर और इस प्रकार आता है कि उस से अन्य अनुमानो की अपेक्षा यह परिणाम निकालना अधिक युक्ति-सगत होगा कि अपने जन्म-प्रात में इष्टदेव का पदार्पण होते ही कवि स्वतः—तापस तो वह था ही—उन की अभ्यर्थना के लिए उपस्थित होता है। प्रस्तुत तर्क के संबंध में कहना यह है कि तापस-प्रसग की प्रामाणिकता का प्रश्न पहले आता है, किंतु थोड़ी देर के लिए यदि उसे निर्विरोध स्वीकार कर लिया जावे तो भी उस से यह नही सिद्ध होता कि उक्त प्रदेश में जन्मभूमि होने के कारण ही कवि ने इष्टदेव की अभ्यर्थना वहाँ की। क्या अपनी तपोभूमि मात्र होने के नाते ही वह इस प्रकार की अभ्यर्थना अपने इष्टदेव की नहीं कर सकता था? कवि का "तापस" और "विरागी वेष" होना तो समवतः इसी तथ्य की ओर सकेत करता है अन्यथा तुलसीदास वस्तुस्थिति को कोई और रूप भी कदाचित् दे ही सकते थे। और तपोभूमि से जन्मभूमि होना सिद्ध नही होता बल्कि अधिकतर एक दूसरे का बाध ही करता है।

पाँचवाँ तर्क राजापुर के पक्ष मे यह है कि गोस्वामी जी उस समय तक ग्रामवासी स्त्री-पुरुषो मे रामादि सबंधी सहानुभूति पूर्ण वार्तालाप नही कराते जब तक वह यमुना पार कर के कवि के जन्म-प्रदेश मे पदार्पण नहीं करते। ग्रामवासी नर-नारियों मे इन राजकुल के प्राणियों के संबंध में विशेप समवेदना का जागरण इस स्थल के पूर्व संभव है इस कारण भी कम हुआ हो कि शृंगवेर-पुर के कुछ आगे तक तो इन के साथ मंत्री सुमंत्र थे तथा उन का रथ ही था। फिर उन का साथ छूटने पर प्रयाग तक निषादराज का साथ था। प्रयाग के

यमुना-संतरण तक निषादराज के अतिरिक्त भरद्वाज द्वारा नियुक्त कुछ बटु भी थे। यमुना पार करने के समय ही राम ने बटुओं को विदा किया, और यमुना पार करने के बाद ही निषादराज को विदा किया। यहाँ तक मार्ग के ग्रामवासी नर-नारियों में कवि ने समवेदना का विशेष उद्रेक नहीं किया तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस के बाद वनपथ पर एकाकी अग्रसर राजकुल के यह निर्वासित सदस्य अवश्य ही विशेष सहानुभूति के पात्र थे। फलतः इस प्रकार प्रस्तुत समवेदनातिरेक से यह निष्कर्ष निकालना कि जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री-पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यंत प्रभावशाली वर्णन अलौकिक अनुभूति से इसी प्रदेश से संबधित किया है बहुत युक्तियुक्त नहीं है। इसी प्रसग मे 'मेघदूत' के कवि के उज्जयिनी प्रेम का उल्लेख किया गया है, किंतु उस से भी प्रस्तुत तर्क को कोई बल नही प्राप्त होता। उज्जयिनी महाकवि कालिदास की जन्म-भूमि थी या नहीं यह अभी तक अनिश्चित् है, उज्जयिनी के साथ उस का इस प्रकार का पक्षपात कदाचित् इस लिए भी हो सकता था कि इस साधन से वह उज्जयिनी के शासक को प्रसन्न करना चाहता रहा हो, और कुछ विद्वान् उस का यही कारण समझते हैं।[1]

१९. सोरों के पक्ष और राजापुर के विपक्ष में जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं, उन का मुख्य आधार सोरों मे प्राप्त गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली वह सामग्री है जिस की समीक्षा की जा चुकी है।[2] दूसरे आधारों पर जो तर्क अधिकतर उपस्थित किए जाते हैं, उन का उल्लेख रामनरेश त्रिपाठी ने यथेष्ट विस्तार के साथ किया है।[3] विषय-विवेचन की सुविधा के अनुसार क्रम में कुछ अतर करने पर वह इस प्रकार ठहरते हैं :

(१) "तुलसीदास ने 'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली' और विनय-पत्रिका' में बहुत से ऐसे शब्दों और महावरों का प्रयोग किया है जो सोरों मे आम तौर पर प्रचलित हैं, पर राजापुर और तारी में उस अर्थ मे प्रचलित नही हैं।"

(२) "व्रज और उस के आसपास के ज़िलों में भौंरा और चकडोरी

[1] ए० बी० कीथ : 'ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर' पृ० ८७

[2] देखिए ऊपर पृ० ८०–९५

[3] 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ९२–११०

खेलने का रिवाज बहुत है। लड़के बाज़ी लगाकर यह खेल खेलते हैं। पर अयोध्या, बनारस और राजापुर में इस खेल का प्रचार शायद ही है। सोरों में इस का बड़ा प्रचार है। इस ('गीतावली' मे आए हुए "खेलत अवध खोरि गोली भौरा चकडोरि") से यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ भौरा और चकडोरी खेलने का बड़ा रिवाज था।"

(३) "तुलसीदास ने ब्रजभाषा और अवधी-मिश्रित (?) भाषा में सफलता के साथ रचना की है, यह भी उन के ब्रज और अवध की सरहद पर होने का एक प्रबल प्रमाण है।"

(४) "(तुलसीदास के ग्रथों में इस प्रकार के) बहुत से शब्द आए हैं जो सोरों और उस के पश्चिमी प्रातों के हैं। इन शब्दों को तुलसीदास ने जान-बूझ कर पूर्वी (?) हिंदी में रख लिए हैं ऐसा कोई कारण नही जान पड़ता। बल्कि यह अधिक युक्तिसगत जान पड़ता है कि ये शब्द उन के घरू शब्द थे और उन्हों ने इन्हें अपनी विचार-धारा में पकड़ लिए थे।" "सोरों ब्रज, राजपूताना, पजाब, काठियावाड़ और गुजरात निवासियो का मुख्य तीर्थ-स्थान है। वहाँ उन प्रातो के लोग गगाजी मे अपने मृतकों की अस्थियाँ डालने के लिए लाते हैं। वहाँ हर साल एक बड़ा मेला लगता है जिस मे उपर्युक्त प्रातों के लोग ही अधिक सख्या में एकत्र होते हैं। इस से सोरों की बोलचाल में उन प्रातों के बहुत से शब्द स्वभावतः भर गए हैं।'

(५) "तुलसीदास ने अपनी कविता मे अरबी-फारसी के शब्दों का स्वछंदता से प्रयोग किया है। यह भी उन के पश्चिम-प्रात-निवासी होने का एक प्रबल प्रमाण माना जा सकता है। सोरों और उस के आसपास के ज़िलो में मुसलमानों की बस्तियाँ बहुत हैं। इसी से अरबी-फ़ारसी के जितने शब्द पश्चिमी हिंदी में मिलते हैं उतने पूर्वी हिंदी म नहीं।"

(६) " 'वार्ता' मे तुलसीदास को नददास का बड़ा भाई बताया गया है और नंददास को सनौढ़िया ब्राह्मण। 'सनौढ़िया' 'सनाढ्य' का अपभ्रंश है। अतएव तुलसीदास को भी सनाढ्य मानना पड़ेगा। 'वार्ता' में नददास रामपुर ग्राम के निवासी माने गए हैं। रामपुर सोरों के निकट एक गाँव था, और नददास के पिता का जन्म उसी गाँव में हुआ था। वे किसी कारणवश वहाँ से आकर सोरों के योगमार्ग महल्ले में आबाद हो गए थे।"

(७) "अब भी राजापुर और उस के आसपास के गाँवों मे बहुत से वृद्ध ऐसे मिलते हैं जो राजापुर को तुलसीदास का जन्म-स्थान नही मानते। वे कहते हैं कि तुलसीदास कुछ दिनों तक वहाँ रहे थे। किसी विशेष स्थान पर जाकर कुछ दिनो तक रहना और वही जन्म-स्थान होना दोनों भिन्न बातें हैं। जनश्रुति यह भी है कि तुलसीदास गंगा पार कर के ससुराल गए थे। राजापुर मे गगा नहीं हैं, यमुना हैं; और एक यह दलील भी विचारणीय है कि राजापुर से विरक्त हो कर निकले हुए तुलसीदास फिर उसी गाँव मे कैसे आ कर रहते ? सोरों के पक्ष मे यह बात अधिक ज़ोरदार मालूम होती है कि सच्चे त्यागी की तरह एक बार सोरों छोड़ने के बाद तुलसीदास फिर वहाँ लौट कर नही गए। अतएव यह अवश्य ही उन का जन्म-स्थान हो सकता है।"

(८) "तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।...यदि तुलसीदास कान्यकुब्ज या सरवरिया ब्राह्मण होते तो (काशी में) उन को जाति बताने में कोई खटका ही नहीं था, क्यों कि इन नामों से काशी के लोग परिचित थे। वे थे सनाढ्य। पूर्वी प्रांतों मे सनाढ्यों की बस्ती आज तक भी कम है। पहिले तो बिल्कुल न रही होगी। सनाढ्यों में विद्वानों की संख्या अब भी बहुत कम है। इस से काशी के लोग विश्वास ही न करते रहे होंगे कि सनाढ्य भी कोई ब्राह्मण होते हैं।"

(९) "किसी चरित-लेखक ने राजापुर (बाँदा) को, किसी ने तारी को, किसी ने हाजीपुर (चित्रकूट) को और किसी ने हस्तिनापुर को तुलसीदास का जन्म-स्थान माना है। पर किसी ने इस शका का समाधान नही किया कि तुलसीदास जब बहुत बालक और अति अचेत थे (यथा—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।

—'मानस')

तब वे सूकरखेत कैसे पहुँचे। यदि यह मान भी लिया जावे कि वे मँगते के लड़के थे, घर से भीख माँगते हुए उधर निकल गए होंगे, तो इस प्रश्न का हल होना और भी कठिन हो जायगा कि काशी और प्रयाग जैसे निकटवर्ती शहरों और तीर्थस्थानों की अपेक्षा सूकरखेत मे उन के लिए कौन सा विशेष आकर्षण था। सूकरखेत मँगतों का कोई ख़ास अड्डा तो था नही। और राजापुर या तारी जैसे गाँव वाले तो शायद सूकरखेत का नाम भी न सुने होंगे।"

इसी प्रसंग मं हम सोरों-निवासी पं० भद्रदत्त जी वैद्यभूषण द्वारा उप-

स्थित किए गए[1] निम्नलिखित तर्क को भी ले सकते हैं।

(१०) "छोटी आयु में गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' में जहाँ 'दियो सुकुल जनम' आदि पद में अपने जन्म के विषय मे संकेत किया है वहीं अपनी जन्म-भूमि के संबंध में भी कहा है :

'यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।'

इस पद में गोस्वामी जी का जन्मप्रासंगिक उल्लेख है, अतः सुरसरि (गगा) के समीप का थल (स्थान) उन का जन्मस्थान ही हो सकता है अन्य काशी इत्यादि वैराग्यकालिक निवासस्थान नहीं।"

अब हम क्रमशः इन तर्कों पर विचार करेंगे।

२०. पहले तर्क के संबध में लेखक ने जो उदाहरण दिए हैं वे सभी उस ने केवल 'विनय-पत्रिका' से लिए हैं, और 'विनय-पत्रिका' की भाषा व्रजभाषा है, फलतः यदि उस मे कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जिन का प्रयोग केवल व्रजभाषा-प्रात में मिलता है, अवधी-प्रात मे नहीं मिलता, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए। और व्रजभाषा प्रात में भी वह केवल सोरों में प्रचलित हैं, अन्य स्थानों में नहीं, और कवि के समय में भी वह सोरों तक ही सीमित थे यह कहने के लिए लेखक कदाचित् तैयार नहीं है इस लिए यह तर्क स्वतः क्षीण है।

दूसरा तर्क भी कुछ ऐसा ही है। "अयोध्या, वनारस और राजापुर मे इस खेल का (भौरा और चकडोरी का) प्रचार शायद ही है" में आने वाले 'शायद' में यह ध्वनि स्पष्ट है कि पहले तो इस खेल का रिवाज उपर्युक्त स्थानों में है ही नही, और यदि हो भी तो यह नगण्य है। यह तो कदाचित् ही होगा कि लेखक ने अपने इस कथन में कोरे अनुमान का आश्रय लिया हो, किंतु इस सबंध में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस की इस खोज से कम लोग सहमत होंगे। साथ ही यदि आज इन खेलों का प्रचार उपर्युक्त स्थानो में अत्यंत कम हो—अथवा न हो—तो इस से यह सिद्ध नही होता कि तुलसीदास के समय में भी इन स्थानों मे उपर्यक्त खेलो की परिस्थिति यही थी।

तीसरा तर्क व्रजभाषा और अवधी-मिश्रित (!) भाषा में सफलता पूर्वक रचना करने के आधार पर है। किन्हीं भी दो भाषाओं में सफलता पूर्वक-रचना करना कहाँ तक इस निष्कर्ष के लिए 'प्रवल प्रमाण' हो सकता है कि उन के

[1] 'सनाढ्य जीवन' सितंबर-अक्टूबर सन् १९३९, पृ० ११

कवि का जन्म ही उन दो भाषा क्षेत्रों की सरहद पर हुआ यह बात कुछ समझ में नहीं आती। इस प्रकार के उदाहरणों की कदाचित् कमी न होगी जिन में कवियों या लेखकों ने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त कम से कम एक अन्य भाषा में भी रचना की हो—विशेष कर के जब वह अन्य भाषा साहित्यिक माध्यम सी हो गई हो। फलतः यह तर्क भी बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

चौथे तर्क के संबंध में लेखक ने पहले 'विनय पत्रिका' से दो प्रयोग लिए हैं, और लिखा है कि वे राजापुर मे प्रचलित नहीं हैं। इन प्रयोगों की भाषा स्वतः ब्रजभाषा है जो उन शब्दों के ओकारांत रूपों से भलीभाँति विदित है। फलतः इन के संबंध में भी वही बातें कही जा सकती हैं जो ऊपर प्रथम तर्क के संबंध मे कही गई हैं। इस के अनंतर लेखक ने 'कृष्ण-गीतावली' तथा 'गीतावली' से कुछ शब्द उद्धृत कर कहा है कि वे मारवाड़ी शब्द हैं। 'कृष्ण-गीतावली' तथा 'गीतावली' की भाषा ब्रजभाषा है। प्रश्न यह है कि इस समय भी क्या यह प्रयोग मारवाड़ तक ही सीमित हैं, ब्रजप्रदेश में इन का व्यवहार नहीं होता, और तुलसी दास के समय में भी केवल मारवाड़ तक ही सीमित थे, ब्रजमंडल में व्यवहृत नहीं होते थे। जहाँ तक मैं समझता हूँ लेखक यह कहने के लिए उद्यत नहीं है। फिर 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' से प्रयोग उद्धृत कर के उस ने कहा है कि वे गुजराती हैं। इन के संबंध में भी वही बात कही जा सकती है जो ऊपर मारवाड़ी प्रयोगों के संबंध में कही गई है। फिर 'दोहावली' से कुछ प्रयोगों का उल्लेख कर कहा गया है कि वे मारवाड़ी हैं। प्रश्न यह है कि—आज इन का प्रयोग मारवाड़ प्रदेश तक भले ही सीमित हो—क्या तुलसीदास के समय में भी यह वहीं तक सीमित था, अथवा इन के प्रयोग का क्षेत्र कुछ और व्यापक था। क्या यह संभव नहीं कि उस समय इन का प्रयोग अवधी-प्रांत में भी होता रहा हो—अथवा कम से कम यह ब्रजभाषा-प्रांत में व्यवहृत होते रहे हों[1] और कवि द्वारा उसी से लिए जाकर 'दोहावली' में भी प्रयुक्त हुए हों!

वस्तुस्थिति इन शब्दों के संबंध में यह है कि एकाध को छोड़ कर वे तुलसीदास के समकालीन और पूर्व के साहित्य में किसी भी अध्ययनशील पाठक को मिल सकते हैं और दो-एक के संबंध में बहुत कुछ निश्चित रूप

[1] देखिए 'सम्मेलन पत्रिका' कार्तिक मार्गशीर्ष-पौष सं० १९९८, पृ० १–१३ पर छपे हुए मेरे लेख की पाद-टिप्पणियाँ

से कहा जा सकता है कि पाठ-प्रमाद हुआ है। उदाहृत प्रयोगों में से केवल एक ऐसा है जो निस्संदेह मारवाड़ी कहा जा सकता है : वह है 'म्हाको' (मेरे) जो 'कवितावली' में एक स्थान पर आता है। शब्दो का अर्थ-विशेष अथवा क्षेत्रविशेष मे प्रयुक्त होना एक बात है और व्याकरण के रूपो का इस प्रकार प्रयुक्त होना दूसरी बात है : 'म्हाको' निस्संदेह 'राजस्थानी' है—और कदाचित् तुलसीदास के समय मे भी 'राजस्थानी' ही रहा होगा क्यो कि व्रज तथा अवधी में इस के स्थान पर दूसरे ही व्याकरण रूप प्रयुक्त होते रहे हैं। किंतु इस प्रकार के विभाषा के प्रयोग अन्य कारणों के अतिरिक्त कविगण कभी-कभी केवल विनोदवश भी कर दिया करते हैं। इस प्रकार के एकाध प्रयोग यह सिद्ध नही कर सकते कि कवि का जन्म ही ऐसे स्थान पर हुआ था जहाँ पर वे "घरू शब्द" थे। कम से कम 'म्हाको' तुलसीदास का "घरू शब्द" रहा होगा इस के मानने में थोड़ी कठिनाई अवश्य ज्ञात होती है। और, किसी स्थानविशेष—या उस के समीपवर्त्ती किसी प्रांत—में जन्म ग्रहण किए बिना कोई कवि या लेखक उक्त स्थानविशेष के प्रयोग अपनी रचनाओं में रख नहीं सकता, यह परिस्थिति लेखक कदाचित् स्वीकार न करेगा। इस तर्क प्रणाली का अवलंबन करने पर एक अन्य प्रकार से तुलसीदास को बंगाल या उस के आसपास का होना चाहिए, क्यों कि लेखक ने स्वतः अन्यत्र हमारे कवि की रचनाओ से ऐसे प्रयोग दिखाए हैं जो उस के अनुसार बंगला के है।[1]

प्रस्तुत तर्क में उपस्थित किए गए शब्दों के विषय में साधारणतः लेखक की कमज़ोरी यह ज्ञात होती है कि यदि अन्य भाषाओ मे इन का कोई भी रूप उसे दिखाई पड़ता है तो वह समझता है कि अपनी भाषा मे यह उस अन्य प्रांतीय भाषाओं से आए हैं। उस का ध्यान अभी तक कदाचित् इस तथ्य की ओर नही गया है कि सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ का मूल स्रोत एक ही है, इस लिए इन सभी भाषाओ मे साधारणतः ऐसे शब्द पर्याप्त संख्या मे होने चाहिएँ जो बहुत कुछ उन की सम्मिलित संपत्ति हों और समान रूप से उन सभी को उत्तराधिकार मे मिले हों। इन शब्दों के संबंध मे यह कहना कि अनिवार्य रूप से वे एक आधुनिक भाषा से दूसरी में लिए गए हैं उस समय तक दूसरी भाषा के साथ अन्याय मात्र होगा जब तक यह प्रमाणित न हो जावे

[1] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ४१३

कि उक्त भाषा के साहित्यिक रूप मे ही नही वरन् उस के मौखिक रूप मे भी प्रस्तुत के पूर्व उन का प्रयोग नही होता था।

पाँचवे तर्क के आधार के सबध मे लेखक ने ही एक अन्य समाधान उपस्थित किया है : "या तो तुलसीदास तत्कालीन राजभाषा जानते थे।"[1] इस लिए तर्क की प्रबलता बहुत कुछ स्वतः क्षीण हो जाती है। मै समझता हूँ कि इस प्रमाण के उत्तर मे कुछ और भी समाधान निश्चयात्मक रूप से दिए जा सकते हैं, क्यों कि अन्यथा नंददास और तुलसीदास मे—जो लेखक के अपने ही प्रमाणों के अनुसार पूर्व के निवासी ठहरते हैं[2]—ख़ास मुग़ल राजधानी आगरा[3] और उस से मिले हुए मथुरा-वृंदावन के कवि सूरदास आदि की अपेक्षा फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग कम मिलना चाहिए। या, औरों को छोड़ दीजिए, मान भी लीजिए कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई हैं, और एक ही स्थान पर दोनों पैदा हुए और पले थे, और उन में से तुलसीदास पूर्व की ओर काशी चले आते हैं और नंददास पश्चिम मथुरा-वृंदावन चले जाते हैं, और दोनो आजीवन इन दो स्थानों पर निवास करते हैं। यदि प्रस्तुत तर्क-प्रणाली शुद्ध है तो होना यह चाहिए कि नंददास में तुलसीदास की अपेक्षा फ़ारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक मिलना चाहिए। क्या लेखक यह कहने के लिए तैयार है कि वस्तुस्थिति यही है ?

छठे तर्क का आधार 'वार्ता' है। 'वार्ता' के एक सस्करण में न तो यह उल्लेख मिलता है कि नंददास 'सनौढिया' ब्राह्मण थे, और न यही कि वे रामपुर के निवासी थे। यह असभव नही कि उस के किसी अन्य संस्करण में लेखक को यह उल्लेख मिले हों, किंतु जब तक उक्त संस्करण भली-भाँति देखा न जावे तब तक उस की और उस की सूचनाओं की प्रामाणिकता के बारे में विश्वास करना समीचीन न होगा। लेखक ने अन्यत्र[4] 'नददास की वार्ता' से जो उद्धरण दिए

[1] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० १०३

[2] "सो वे नददास पूर्व रहते, सो वे दोय भाई हते। सो बडे भाई तुलसीदास हते और छोटे भाई नददास हते।" 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ५०

[3] ८४ वार्ता के अनुसार वल्लभाचार्य के सपर्क मे आने से पहले सूरदास गऊघाट पर रहते थे जो आगरा और मथुरा के बीचोबीच है (८४ वार्ता पृ० २७२)

[4] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ५०—५१

हैं उन के संबंध में उस ने यह नहीं कहा है कि वे उसे किस संस्करण से प्राप्त हुए हैं। उस में यह तो अवश्य आता है कि "नंददास सनौढिया ब्राह्मण है।" किंतु उस में भी यह कहीं नहीं दिखाई पड़ता कि वह रामपुर के निवासी हैं।

लेखक का सातवाँ प्रमाण राजापुर-पक्ष की कमज़ोरी की ओर संकेत करता है। वह संकेत कहाँ तक मान्य है इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। अभी कदाचित् इतना ही सुझा देना पर्याप्त होगा कि यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जावे कि राजापुर-पक्ष का भली भाँति निराकरण कर दिया गया, फिर भी विचारणीय यह है कि उस से सोरों किस प्रकार कवि का जन्म-स्थान सिद्ध होता है।

आठवाँ प्रमाण भी दुर्बल ही है। यदि गोस्वामी जी अपनी जाति-पाँति के संबंध में उठाए हुए आक्षेपों का उत्तर अपनी जाति-पाँति बतला कर नहीं देते—या नहीं देना चाहते—तो इस से यह निष्कर्ष निकालना कि गोस्वामी जी कान्यकुब्ज या सरयूपारीण नहीं थे कदाचित् तर्कसंगत नहीं है। और यदि यह सिद्ध भी हो जावे कि गोस्वामी जी सनाढ्य थे तो उस से यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि राजापुर में उन का जन्म हो ही नहीं सकता है।

नवाँ प्रमाण इस तर्क के आधार पर है कि यदि सूकरखेत (सोरों) उन का जन्म-स्थान नहीं था तो गोस्वामी जी अपने 'बालपन' में जब वे 'अति अचेत' थे वहाँ कैसे पहुँच गए। उत्तर में अधिकतर यह कहा गया है कि 'सूकरखेत' अयोध्या के निकट वह स्थान है जहाँ सरयू और घाघरा का संगम है, और जो अब 'पसका' कहलाता है। प्रत्युत्तर में सोरों के लेखकों ने अपने नगर की प्राचीनता और तीर्थस्थानों में उस की महत्ता विस्तारपूर्वक सिद्ध की है। इस में संदेह नहीं कि सोरों एक प्राचीन स्थान और तीर्थ है। मैंने स्वतः वहाँ के एक सुरक्षित स्थान में तेरहवीं शताब्दी विक्रमीय के इस प्रकार के लेख देखे हैं जिन में सोरों-यात्रा का उल्लेख हुआ है। पसका वाले 'सूकरखेत' की प्राचीनता कदाचित् इतनी असंदिग्ध न होगी—कम से कम मुझे उस की प्राचीनता के संबंध में कोई दृढ़ प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं। एक बात अवश्य है: इस बात के लिए प्रमाण यथेष्ट है कि कवि जिस समय अपने जीवन-प्रभात में ही माता-पिता से हीन और अनाथ हो कर हीन और दुखी भटक रहा था उस समय वह संतों के संपर्क में आया—यह संत रामभक्त थे—और इन्हीं के उपदेशों से उसे रामभक्ति के

लिए यथेष्ट प्रेरणा मिली।[1] फलतः यदि सोरों वस्तुतः एक अति प्राचीन और महत्वपूर्ण तीर्थस्थान था तो क्या यह सभव नही है कि संतों का वह 'सग' जिस से हमारे कवि को राम की शरण में जाने की यथेष्ट प्रेरणा मिली कभी सूकरखेत की यात्रा के लिए निकला हो—अथवा किसी ऐसे अन्य तीर्थ जैसे मथुरा-वृंदाबन की यात्रा के लिए निकला हो जो सूकरखेत से दूर न हो—और उसी सिलसिले में उस ने 'सूकरखेत' की भी यात्रा की हो। किसी गुरु के लिए भी कदाचित् इस बात का कोई प्रतिबंध कभी न था कि वह अपने किसी शिष्य के साथ किसी तीर्थ की यात्रा न करे।

अंतिम तर्क दो धारणाओ पर निर्भर है। किंतु उन का कोई भी आधार नही मिलता। केवल अपने कुल के विषय में कुछ कहने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस के कर्ता ने यह कथन छोटी आयु में किया था, और न यही माना जा सकता है कि यदि कोई अपने कुल के संबध का कोई उल्लेख करे तो उस में अपने जन्मस्थान के अतिरिक्त वह किसी दूसरे स्थान की चर्चा भी नही कर सकता। पूरा पद्यांश जिस से इस प्रकार का परिणाम निकाला गया है निम्नलिखित है :

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि सो तनु तोहिं दियो।
दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति बिष फल फली॥

(विनय० १३५)

मैं समझता हूँ कि इस पद्यांश में—और पूरे पद में भी—कदाचित् ऐसी कोई बात नहीं है जिस से काशी में उस का निर्माण न माना जा सके।

यह अन्य प्रमाण भी फलतः ऐसे नहीं हैं जिन से सोरों का पक्ष सिद्ध होता हो। यह बात दूसरी है कि कहाँ तक इन से राजापुर का पक्ष निर्बल होता है। और इस पर हम अभी विचार करेंगे।

२१. ऊपर जो तर्क राजापुर के और सोरों के पक्ष में अलग-अलग उपस्थित

[1] देखिए विनय० २७५

किए गए हैं उन में से प्रत्येक पक्ष से एक-एक तर्क ऐसा है जिस पर थोड़ा और विचार करना आवश्यक है। राजापुरपक्ष में इस प्रकार का विचारणीय तर्क है दूसरा और सोरोंपक्ष मे इस प्रकार विचारणीय तर्क है सातवाँ। इन पर हम कुछ और विस्तारपूर्वक विचार कर सकते हैं।

तुलसी साहिब की आत्म-कथा के संबंध में विचार करते हुए ऊपर[1] हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उक्त कथा के वास्तविक मूल्य के संबंध मे किसी भी कोटि के निश्चय के साथ मत स्थिर करना कठिन है और अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि हमारे कवि के जीवन के संबंध में वह कुछ मूल्यवान् परंपराओं का इतने पूर्व उल्लेख करती है कि और पूर्व का इस प्रकार की परंपराओं का कोई उल्लेख इस समय हमे उपलब्ध नहीं है। एक और बात पर भी उक्त चरित का उल्लेख करते हुए बल दिया जा सकता है, वह यह है कि जब उस का लेखक अपने संबंध मे यह प्रसिद्ध करना चाहता था कि वह उन्ही तुलसीदास का अवतार है जिन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की थी उस ने यह प्रयत्न भरपूर किया होगा कि उसे उन तुलसीदास का जीवन वृत्त यथासंभव प्रामाणिक रूप मे ज्ञात हो जावे जिन का अवतार वह अपने को प्रसिद्ध करना चाहता है क्यों कि अन्यथा उस वृत्त के असत्य सिद्ध होने पर, जो वह अपने उस पूर्व जन्म की कथा के रूप मे उपस्थित कर रहा था, वह स्वतः एक महान धूर्त सिद्ध हो सकता था। साथ ही उस का स्थान सोरों से जितना निकट था उतना ही राजापुर से दूर भी, और दो मे से किसी स्थान-विशेष से उसे कोई पक्षपात भी नहीं हो सकता था—स्वतः वह अपनी जन्म-भूमि छोड़ कर हाथरस आया था—ऐसी दशा में राजापुर को जब वह अपने पूर्व जन्म का जन्म-स्थान कहता है तो हमें उसे यथेष्ट महत्व देना चाहिए।

दूसरी ओर श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा उपस्थित किए गए उल्लिखित तर्क मे जो यह कहा जाता है कि राजापुर मे अब भी कुछ ऐसे वृद्ध मिलते हैं जो राजापुर को गोस्वामी जी का जन्म-स्थान नहीं मानते उस में सत्य का यथेष्ट अंश जान पड़ता है। राजापुर जाने पर कुछ लोगों से मैं ने भी इस आशय की बातें सुनी थीं। किंतु गंगा पार करने वाली किंवदंती तो निर्मूल जान पड़ती है; राजापुर में तो यह किंवदंती नहीं है, अन्यत्र कहीं हो तो मुझे ज्ञात नहीं। यह

[1] देखिए ऊपर पृ० ५९

तर्क निस्सदेह कुछ विचारणीय है कि राजापुर से विरक्त होकर निकले हुए तुलसीदास कैसे फिर उसी गाँव में—या उस के निकट—आकर के रहते। इस कथन में कुछ बल अवश्य जान पड़ता है।

किंतु इस सबंध में कुछ और पूर्व की—कम से कम आज से ७० वर्ष पूर्व की—राजापुर की जन-श्रुतियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा। उस समय तुलसीदास के जन्म-स्थान के संबध में इस प्रकार का संघर्ष नही था जैसा वह इधर पिछले कुछ वर्षों से है, इस लिए आशा यह करनी चाहिए कि स्थानीय जन-श्रुति बहुत कुछ अक्षुण्ण रूप में हमारे सामने आती है। आश्चर्य यह है कि उस पर अभी तक लोगों का ध्यान नही गया है। उस की प्रामाणिकता के संबंध मे अन्यत्र ऊपर विचार हो चुका है[1] फलतः पुनर्विचार अनावश्यक होगा। जन-श्रुति का यह उल्लेख बाँदा ज़िले के गज़ेटियर मे आता है। गज़ेटियर के दो संस्करण हमें प्राप्त हैं एक सं० १९३१ और दूसरा स० १९६६ में प्रकाशित; और इन दोनों में राजापुर की उत्पत्ति का इतिहास देते हुए तत्संबधी स्थानीय जन-श्रुति का उल्लेख किया गया है। अतर इतना ही है कि सं० १९३१ वाले संस्करण की कुल बातों के अलरिक्त कुछ और बातो का उल्लेख भी स० १९६६ में प्रकाशित संस्करण मे किया गया है। प्राचीनता के आधार पर दोनों अंशों को उद्धृत करते समय वह अश जो सं० १९६६ में प्रकाशित सस्करण में बढ़ाया गया है कोष्टकों के अंदर रक्खा गया है, और शेष जो सं० १९३१ का है कोष्टकों के बाहर रहने दिया गया है।

"कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल मे (सं० १६१३ से १६६२ तक) एक संत, जिस का नाम तुलसीदास था, और जो सोरों, तहसील कासगंज, ज़िला एटा का निवासी था, यमुना-तट के उस जगल में आया जहाँ इस समय राजापुर आबाद है और वहाँ पर ईश्वर-प्रार्थना और ईश्वर-ध्यान मे दत्तचित्त रहने लगा। उस के पुनीत आचरण से प्रभावित होकर अनेक उस के अनुयायी हो गए जो उस के समीप रहने लगे, और जब उन की सख्या और बढ़ी वे व्यापार और धर्माचरण मे लगे। [यह वही तुलसीदास थे जिन्होंने 'रामायण' की रचना की, और क़स्बे में उन का मकान अब भी दिखाया जाता है। यह वस्तुतः एक कच्ची इमारत थी, किंतु अब पुनर्निर्मित हुई है और इस में

[1] देखिए ऊपर पृ० ९५

एक स्मारक और एक किंचित् खंडित प्रति 'रामायण' की है। स्मारक के साथ थोड़ी सी मुआफी प्राप्त है, किंतु इस समय के मुआफीदार अनपढ़ और झगड़ालू हैं, और आदरणीय कवि की धार्मिक पवित्रता तथा उदारता की उन भावनाओं को प्रसार देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते जिन का उपदेश कवि किया करता था। उक्त स्मारक में एक प्रस्तर मूर्ति भी है जो कवि की प्रतिमूर्ति कही जाती है, और जिस की उत्पत्ति दिव्य बताई जाती है, और यह कहा जाता है कि यह मूर्ति राजापुर के निकट बालू में गड़ी हुई प्राप्त हुई थी। स्थानीय जन-श्रुति कहती है कि तुलसीदास का परिचय राजापुर से उस महेवा गाँव के एक ब्राह्मण घर में विवाह के कारण हुआ जो तहसील सिराथू जिला इलाहाबाद में है।] राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हुई हैं; कोई भी पत्थर या ईंट का मकान बनाने नहीं पाता, धनी से धनी लोग भी कच्चे मकानों में रहते हैं, केवल मंदिर ईंट के बनते हैं, नाई क़स्बे मे आवाद नहीं होने पाते, और वेड़ियों के अतरिक्त दूसरी कोई नर्तकियों की जाति उस में रहने नही पाती। कुम्हारो को भी मकान बना कर रहने के विषय में प्रतिवंध है और तमाम घड़े और मिट्टी के वर्तन बाहर से आते हैं। ये नियम अब अवश्य ही इतने ढीले हो गए हैं कि केवल तुलसीदास के मकान के पास-पड़ोस तक ही सीमित माने जाते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि राजापुर की जन-श्रुति का अब से कुछ प्राचीनतर रूप तुलसीदास के सोरों के साक्ष्य का अंशतः समर्थन करता है; दोनों स्थानो के साक्ष्यों में अंतर अवश्य यह है कि एक तो सोरों की सामग्री वहाँ के वदरिया गाँव मे ससुराल का उल्लेख करती है और राजापुर की जन-श्रुति यहाँ से महेवा गाँव में ससुराल होने का उल्लेख करती है; और दूसरे, सोरों की सामग्री कवि की राजापुर-यात्रा का कोई उल्लेख नहीं करती और राजापुर की जन-श्रुति के अनुसार कवि सोरों से आकर राजापुर इतने दिनों तक रहता है कि वहाँ पर एक वस्ती उस के तत्वावधान मे वस जाती है और उस मे वहुत सी प्रथाएँ उस के उपदेशों का आधार ग्रहण कर के चल पड़ती हैं। इस दशा में थोड़ी देर के लिए सोरों की सामग्री के तथा राजापुर की उपर्युक्त जन-श्रुति के साक्ष्य में जहाँ पर अंतर है वहाँ पर यदि हम राजापुर की जन-श्रुति को ही प्रामाणिक मानें तो भी संत तुलसी साहिब के उल्लेख इस का स्पष्ट विरोध करते हैं; और संत तुलसी साहिब की आत्म-कथा के संबंध में ऊपर हम देख आए

हैं कि अधिक से अधिक उसे हम किन्हीं परंपराओं का प्राचीनतम उल्लेख मान सकते हैं;[1] इस लिए यह एक विचित्र समस्या है कि सोरों के निकटवर्ती प्रांत में—हाथरस सोरों के निकट ही है—राजापुर जन्म-स्थान होने का प्रमाण मिले और राजापुर और उस के आस-पास सोरों जन्म-स्थान होने का प्रमाण मिले। फलतः दोनो पक्षों के प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन है कि दोनों में से कौन सा स्थान कवि का जन्म-स्थान है, और यह भी सर्वथा असंभव नहीं कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गोस्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और यात्रा उन्हों ने कदाचित् उसी सूकरक्षेत्र की की थी जो सोरों कहलाता है।

जाति-पाँति

२२. इस बात में कदाचित् संदेह नहीं किया जा सकता कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। न केवल इस लिए कि इस के विरोध में कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं बल्कि 'कवितावली' के निम्नलिखित छंद से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वे ब्राह्मण थे :

> भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
> मोको न लेनो न देनो कछू कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौं।
> जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्हैं पछितैहौ पै मैं न भितैहौं।
> ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं॥
>
> (कविता० उत्तर० १०२)

इस लिए वस्तुतः जो समस्या है वह यह है कि हमारे कवि की उपजाति आदि क्या थी। इस संबंध में तीन विभिन्न कथन किए जाते हैं :

(१) स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का अनुसरण करते हुए स्वर्गीय सर जॉर्ज ग्रियर्सन का कहना था कि "तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे, कान्यकुब्ज नहीं, क्यों कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण दान लेना तथा भिक्षा-याचना आदि गर्हित मानते हैं, किंतु कवि ने स्वतः 'कवितावली' में (उत्तर० ७३) अपने जन्म के संबंध में कहते हुए 'जायो कुल मंगन' कहा है।"[2] सरयूपारीण-पक्ष में निम्नलिखित एक जन-श्रुति का भी उल्लेख किया जाता है :

[1] देखिए ऊपर पृ० ५९

[2] इं० ऐं० १८९३, पृ० २६४

"तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के"

(२) राजापुर तथा आसपास के गाँवो में बसने वाले ब्राह्मणों की बस्ती का पता लगा कर मिश्रबंधु कहते हैं कि वहाँ पर कान्यकुब्ज द्विवेदियो की बस्ती है, सरयूपारीण ब्राह्मणों (द्विवेदियों ?) की नहीं। इस लिए इस प्रकार की संभावना विशेष है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे सरयूपारीण नहीं, यदि वह वस्तुतः द्विवेदी थे। दूसरे, हमारे कवि का विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था, किंतु सरयूपारीणों में पाठक द्विवेदियों से ऊँचे माने जाते हैं, इस लिए यह असंभव था कि—यदि तुलसीदास सरयूपारीण रहे होते तो उन्हों ने पाठकों के यहाँ विवाह किया होता। कान्यकुब्जों में, इस के विपरीत, पाठक द्विवेदियो से नीचे माने जाते हैं, इस लिए संभावना इस बात की है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे, यद्यपि राजापुर में जन-श्रुति यह है कि तुलसीदास सरयूपारीण थे।[1]

(३) सोरों जन्म-स्थान के समर्थकों का कहना है कि तुलसीदास सनाढ्य थे, और उन का गोत्र 'शुक्ल' था; अपने इन कथनों के संबंध में वह सोरों की सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः २५२ वार्ता में उल्लिखित नंददास की वार्ता तथा 'विनयपत्रिका' की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत करते हैं :

"दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।"

(विनय० १३५)

और पुनः कहते हैं कि यदि गोस्वामी जी सनाढ्य न होते तो काशी में अपनी जाति-पाँति बतलाने में आनाकानी क्यों करते।[2]

२३. इन कथनो पर अलग अलग हम क्रमशः विचार कर सकते हैं। पहले कथन को लीजिए। इस में दो बातें पूर्व-कल्पित हैं : एक कान्यकुब्जों में दान लेना गर्हित माना जाता है, तथा दूसरी 'जायो कुल मंगन' में आने वाले 'मंगन' से ब्राह्मण का ही आशय लिया जा सकता है। जहाँ तक प्रथम पूर्व-कल्पना का सबंध है स्वर्गीय महामहोपाध्याय जी का कथन अंशतः ठीक जान पड़ता है, क्यों कि शेरिंग भी सरयूपारीणो के कान्यकुब्जों से पार्थक्य का कारण बताते हुए कहते हैं "एक परंपरोक्ति के अनुसार सरयूपारीण ब्राह्मण कान्यकुब्जों की पक्ति से इस कारण हटा दिए गए कि उन्हो ने दान लेना स्वीकार कर

[1] 'हिंदी-नवरत्न' पृ० ६८

[2] देखिए ऊपर पृ० १२५

लिया।"[१] किंतु दूसरी पूर्व-कल्पना ठीक नहीं ज्ञात होती, क्योंकि 'मंगन' शब्द से दूसरा आशय भी लिया जा सकता है। और, जन-श्रुति को विशेष महत्व देना तो ठीक न होगा।

दूसरा मत दो तर्कों के आधार पर उपस्थित किया जाता है। पहला तर्क है राजापुर और उस के आस-पास कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती के होने का, और दूसरा द्विवेदियो और पाठकों के बीच विवाह संबधी प्रथा का। प्रथम के संबंध में यह सत्य हो सकता है कि राजापुर और उस के आस-पास बसने वाले द्विवेदी-कुल इस समय केवल कान्यकुब्जों के ही हों, किंतु, यह असंभव नहीं कि पहले सरयूपारीण द्विवेदी कुल भी वहाँ बसते रहे हों, क्यों कि स० १९४८ में राजापुर कान्यकुब्ज और सरयूपारीण जन-क्षेत्रों की विभाजन रेखा पर बहुत कुछ सरयूपारीण जन-क्षेत्र में स्थित था जैसा उक्त वर्ष की जनगणना-विवरण में दिए हुए संयुक्तप्रात में ब्राह्मणों की बस्ती के नक़शे से ज्ञात होता है।[२] दूसरे तर्क के संबध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'तुलसी-ग्रथावली' के सपादक, जिन में से एक स्वतः सरयूपारीण ब्राह्मण थे, यह स्वीकार नहीं करते कि उन में पाठक द्विवेदियों से ऊँचे माने जाते हैं।

तीसरा मत सोरों की सामग्री, 'वार्ता' के उल्लेख, तथा 'विनयपत्रिका' की एक पंक्ति में आए हुए एक शब्द के आधार पर उपस्थित किया जाता है; और उस की पुष्टि इस प्रकार की जाती है कि यदि गोस्वामी जी सनाढ्य न होते तो काशी में उन्हें अपनी जाति-पाँति बतलाने में आपत्ति क्यों होती। इन चारों ही आधारों पर ऊपर सम्यक् रूप से विचार किया जा चुका है।[३] और उन की प्रामाणिकता और युक्ति-युक्तता के सबंध में हम अलग अलग जिस परिणाम पर पहुँचे हैं वह निश्चय ही प्रस्तुत मत के लिए अनुकूल नहीं है।

२४. श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित 'विनय पत्रिका' की एक अन्य पक्ति पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वह इस प्रकार है :

"कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं वाजपेयी।"

(विनय० १०६)

१ 'हिंदू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स, ऐज रेप्रेजेंटेड ऐट बनारस', पृ० २९

२ 'सेन्सस आव् इंडिया' सन् १८९१, जिल्द १६, भाग १, पृ० ३१८

३ देखिए ऊपर पृ० ८९ तथा १२२

और कहते हैं कि गजराज की तुलना 'वाजपेयी' से कर के कवि ने अनसोचे ही स्वतः कान्यकुब्ज होने का प्रमाण दे दिया है, क्यो कि सरयूपारीणों और सनाढ्यों में वाजपेयी नहीं होते, वे कान्यकुब्जों में ही होते हैं।[1] तर्क कुछ भारी अवश्य ज्ञात होता है, किंतु थोड़ा और निकट से विचार करने पर ज्ञात होगा कि 'वाजपेयी' का प्रयोग कवि ने यहाँ किसी ब्राह्मण उपजाति के अर्थ में नही किया है वरन् केवल 'सोमयागी' के समानातर 'वाजपेययागी' अर्थ मे ही किया है। इसी प्रकार का प्रयोग उस ने अन्यत्र भी 'विनय पत्रिका' के एक पद में किया है :

बिरद गरीब निवाज राम को।......

बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को ?

(विनय० ९९)

प्रस्तुत प्रसंग में हम एक साक्ष्य पर और विचार कर सकते हैं, वह है तुलसी साहिब का। उन का कथन है कि अपने पूर्व-जन्म में जब वह राजापुर में उत्पन्न हुए थे वह कान्यकुब्ज थे।[2] इस साक्ष्य की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए ऊपर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि तुलसी साहिब ने हमारे कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली कुछ अमूल्य किंवदंतियो और जनश्रुतियों का इतना पुराना संकलन उपस्थित किया है उस से पुराना संकलन हमे अन्यत्र नहीं मिलता। अमूल्य वे इस अर्थ में निस्संदेह हैं कि एक तो वे आज की अपेक्षा उन के समय में कहीं अधिक अक्षुण्ण और अविकृत रूप में उन्हें उपलब्ध रही होगी—कम से कम १०० वर्ष पूर्व उन की स्थिति वह नहीं रही होगी जो आज है—और दूसरे, तुलसी साहिब ने इस संबंध में जान बूझ कर केवल उन्हीं का प्रतिपादन किया होगा जिन को वह सत्य समझते रहे होंगे क्यों कि उन के असत्य ठरहने पर उन के महात्मापन और उन की पूर्व-जन्म की दिव्य स्मृति के निराकरण की आशका उन्हें इस संबंध में सर्वथा सतर्क रखती रही होगी।

२५. प्रस्तुत परिस्थिति में फलतः गोस्वामी जी की जाति-पाँति की भी लगभग वही परिस्थिति है जो उन के जन्म-स्थान की, और इस संबंध में भी अंतिम निर्णय करना अभी उपयुक्त न होगा।

[1] 'माधुरी' जिल्द ७, भाग २, पृ० ८५

[2] देखिए ऊपर पृ० ५७

तुलसीदास-नंददास

२६. सोरों जन्म-स्थान के समर्थकों का कहना है कि तुलसीदास और नंददास में परस्पर भ्रातृ-संबंध था, और सोरों की सामग्री के अतिरिक्त इस संबंध में एक प्रमाण और वह देते हैं, वह है २५२ वार्ता में संगृहीत नंददास की वार्ता का।[1] सोरों की सामग्री[2] तथा २५२ वार्ता की परीक्षा ऊपर की जा चुकी है।[3] केवल उन के आधार पर इस प्रकार के संबंध की कल्पना कदाचित् युक्ति-युक्त न होगी। साथ ही इस धारणा को एक बड़ा आघात पहुँचता है नाभादास जी के साक्ष्य से। नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में तुलसीदास और नंददास दोनों के संबंध में एक-एक छप्पय लिखे हैं[4] और दोनों सत्कवियों की बड़ी प्रशंसा की है, किंतु किसी के भी छप्पय में इस प्रकार के संबंध की ओर संकेत भी नहीं किया है। साथ ही, नंददास का परिचय देते हुए उन्हें 'रामपुर ग्राम निवासी' और "चंद्रहास अग्रज सुहृद' कहा है—जब कि तुलसीदास का परिचय देते हुए वह इतना भी नहीं कहते। नाभादास ही तुलसीदास तथा नंददास दोनों के समकालीन थे। यदि तुलसीदास और नंददास में भ्रातृ-संबंध होता तो नंददास का परिचय देते हुए वह यही क्यों न करते कि उन तुलसीदास से उन का संबंध बताते जिन का उन्हों ने 'भक्तमाल' में ही अन्यत्र परिचय दिया था—बजाय इस के कि उन "चंद्रहास' के साथ उन का संबंध स्थापित करते जिन के संबंध मे वह अपने 'भक्तमाल' में एक शब्द भी नहीं कहते। सोरों की सामग्री के अनुसार नंददास के सगे भाई चंद्रहास ही थे, तुलसीदास नहीं,[5] इस लिए कहा यह जा सकता है कि नाभादास जी ने केवल चंद्रहास का ही भ्रातृ-संबंध नंददास का परिचय देतें हुए दिया हो, फिर भी किसी और प्रकार से दोनो महानुभावों की सन्निकटता नाभादास जी व्यक्त कर ही सकते थे। सं० १७६९ मे उक्त छप्पयों पर टीका करते हुए प्रियादास जी भी इस संबंध का उल्लेख नहीं करते। इस लिए प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार पर यह विश्वास करना ज़रा कठिन ज्ञात होता है कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई थे।

[1] देखिए ऊपर पृ० १२४

[2] देखिए ऊपर पृ० ८०

[3] देखिए ऊपर पृ० ६१

[4] 'भक्तमाल' १२९ तथा ११०

[5] देखिए ऊपर पृ० १०५

जन्म और जीवन-संघर्ष का प्रारंभ

२७. 'कवितावली' का एक छंद—जिस के कुछ शब्द ऊपर उद्धृत किए जा चुके हैं—इस प्रकार है :

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारिफल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सु सेवक है
सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो
करत गिरी तें गरु तन ते तिनक को॥

(कविता० उत्तर० ७३)

एक और दूसरा छंद उसी ग्रंथ का इस प्रकार है :

मातु पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई।
राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहब खोरि न लाई॥

(कविता० उत्तर० ५७)

और 'विनय पत्रिका' का एक पद इस प्रकार है :

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषन काहूँ।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहूँ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत छुइ छाहूँ।
दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ॥

(विनय० २७५)

'कवितावली' के उपर्युक्त छंद में कवि दरिद्र कुल में जन्म-ग्रहण के उल्लेख के

पश्चात् कहता है कि उस के "माता-पिता बधावे का बजाया जाना सुन कर अत्यंत परितप्त हुए और उन्हों ने पाप किया।" कुछ लेखकों का विचार है कि इस का कारण यह है कि तुलसीदास पाप-कर्म की संतान थे।[1] प्रस्तुत लेखक यह नही समझ पाता है कि माता ने जब तुलसीदास को अपने उदर में स्थान देकर "पाप" नहीं किया था तो उन के जन्म के बधावे को सुन कर उस ने पाप कैसे किया; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त पक्ति में केवल माता ही नहीं है "पिता" भी हैं।

वास्तविकता कुछ और ही जान पड़ती है। हिंदुओं में पुत्र का जन्मोत्सव कुछ अन्य सबधियों द्वारा ढोल तथा संगीत के साथ, जिसे 'बधावा' कहते हैं, मनाया जाता है। साधारणतः मूल में पुत्र-जन्म पर मूल-शाति के पूर्व यह नही मनाया जाता, क्यों कि उन हिंदुओं के घरों मे जिन के यहाँ ज्योतिष-शास्त्र मे विश्वास है यह एक सामान्य धारणा है कि अभुक्त-मूल में उत्पन्न हुआ पुत्र निरपवाद रूप से पिता अथवा माता के जीवन के लिए अनिष्ट कारक होता है और साधारण कोटि के मूल में भी उत्पन्न होने पर कम से कम पिता के धनादि की क्षति करता है। अतएव मूलशाति होने पर ही यह आनंदोत्सव मनाया जाता है, विशेष कर उस मूल की दशा में जिसे कि 'अभुक्त मूल' कहते हैं, और बिना मूल-शाति हुए तो 'बधावा' सुनना भी पाप माना जाता है। इस लेखक का विचार है कि केवल यही रीति कवि के उपर्युक्त कथन समझाने के लिए यथेष्ट हो सकती है। प्रस्तुत मत की पुष्टि कदाचित् उपर्युक्त छद के तीसरे चरण से भी होती है जिस में कवि कहता है कि "विधि और गनक (ज्योतिषी) तक उस से ईर्षा करते हैं जब वे यह सुनते हैं कि तुलसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का दास है।"

'कवितावली' के दूसरे छंद में वह कहता है "मुझे जन्म देकर मेरे माता-पिता ने मुझे छोड़ दिया तथा दैव ने भी मुझे अभागा उत्पन्न किया।" इसी प्रकार वह 'विनय पत्रिका' से उद्धृत पद मे कहता है "मेरे माता-पिता ने मुझे उत्पन्न कर के कुटिल कीट की भाँति त्याग दिया।" तो क्या कवि के माता-पिता का उसे उस के शैशवकाल ही मे उसे त्याग देना सभव है? कभी-कभी ऐसा विचार किया जाता है कि संभवतः 'अभुक्त-मूल' में उत्पन्न होने के कारण उन्हों ने

[1] चपाराम मिश्र; 'कवितावली' सटीक, भूमिका

उस को त्याग दिया।[1] परंतु यह कारण प्रतीति-जनक नहीं ज्ञात होता है, क्यों कि ज्योतिषियों ने ही कुछ ऐसे साधनों की व्यवस्था की है जिन के द्वारा मूल-शांति की जा सकती है। उन की दरिद्रता भी पुत्र-त्याग का कारण नहीं हो सकती क्यों कि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता भी अपनी संतान को नहीं छोड़ते हैं। तो फिर इस घटना के कारण का समाधान हम और कैसे कर सकते हैं? संभवतः यह कहने के अतिरिक्त समाधान का और कोई साधन नहीं है कि उस के माता-पिता का देहांत उस के बचपन ही में हो गया था।

२८. 'विनय पत्रिका' के उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए "कुटिल कीट" से सोरों वाले किसी 'कुटीला' नामक ऐसे कीड़े का आशय निकालते हैं जो संतान को जन्म देने के बाद ही मर जाता है, और कहते हैं कि कवि के माता-पिता का देहांत उस के जन्म के कुछ ही समय बाद हो गया होगा इस लिए उस ने ऐसा लिखा है, किंतु इस अर्थ में शंका यह है कि कदाचित् मादा कीड़ा ही मरता होगा, नर नहीं, और यहाँ पर "मात-पिता हू" है; दूसरे, "तनु जनेउ" के जो पाठ-भेद मिलते हैं वह इस अर्थ का विरोध करते हैं: सं० १६६६ की एक प्रति में, जिस का परिचय आगे दिया जायगा[2], "तनुज तऊ" पाठ मिलता है, और एक अन्य प्राचीन प्रति में, जिस की तिथि अज्ञात है और जो प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है, "तुचा तजत" पाठ है। इन में से कौन सा पाठ समीचीन है यह कहना कठिन है; किंतु सं० १६६६ की प्रति का पाठ हम न ग्रहण कर इधर की प्रतियों का पाठ ग्रहण करें इस बात का पर्याप्त कारण नहीं दिखाई पड़ता; और इस पाठ को लेने पर 'कुटीला' आशय की संगति नहीं बैठती; इस लिए "कुटिल कीट" से साधारणतः प्रचलित अर्थ लेना ही कदाचित् ठीक होगा।

२९. दरिद्र कुल में उत्पन्न होकर माता-पिता से अपने शैशव-काल ही में वंचित होने के कारण हमारे कवि को भिक्षा के अतिरिक्त जीवन-निर्वाह का कदाचित् और कोई साधन नहीं रहा। अपने जीवन के प्रभात ही में उसे इस लिए जीवन-संघर्ष का सामना करना पड़ा। 'विनय पत्रिका' के उपर्युक्त पद में वह कहता है: "मैं अपनी आपदाओं की कथा को दर-दर बारंबार दुहराता रहा, अपने दाँतों को दिखलाते हुए तथा उन के चरणों को स्पर्श करते हुए, इस संसार में दसो दिशाओं में ऐसे दानी तथा परोपकारी पुरुष हैं जो कि मेरी

[1] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० २६५ [2] देखिए नीचे अध्याय ४

पीड़ाओं का अंत कर सकते थे परंतु किसी ने मुझ से बात भी न की।" इसी प्रकार 'कवितावली' के उपर्युक्त छंद में वह कहता है "बचपन से ही मैं द्वार-द्वार निरुद्देश्य, क्षुधित, शोकग्रस्त और चारो पुरुषार्थों को चने के चार दानों का पर्यायवाची जानता हुआ भटकता रहा।" इसी प्रकार 'कवितावली' के दूसरे छंद में वह कहता है कि "मेरे माता-पिता ने मुझे जन्म देकर त्याग दिया था, और विधाता ने भी भाग्यहीन बनाया था, इस लिए अपमानित तथा कायर मैं कुत्तों के आगे फेंकी हुई रोटी के टुकड़ों की लालच में इधर-उधर फिरा करता था।"

३०. 'विनयपत्रिका' के उपर्युक्त छंद में वह कहता है कि "संतों ने मुझे दुखित देख कर कहा 'चिंता न करो; राम ने उन पशुओं को भी नहीं भुलाया जो कि तुम से भी अधिक घृणित तथा पापी थे; जब ही कोई उन की शरण में जाता है राम उस की सहायता उस समय तक करते हैं जब तक कि वह दुखों से मुक्त नहीं हो जाता है।' और जैसे ही तुलसी ने राम का आश्रय लिया वह सुखी हो गया—यद्यपि उस के हृदय में आराध्य के प्रति भक्ति और पूर्ण निर्भरता न थी।" फलतः कवि संभवतः अपने प्रारम्भिक युवाकाल से ही राम-भक्ति में मन लगाने लगा था। इसी समय वह तत्कालीन रामभक्त संतों के सम्पर्क में आया हुआ जान पड़ता है, जिन्हों ने उसे राम के तईं अपने को समर्पित करने का उपदेश दिया।

यह सर्वथा असंभव नहीं कि प्रस्तुत प्रसंगों के विस्तार में थोड़ा सा अतिरंजन किया गया हो, परंतु इस में कोई भी संदेह नहीं कि कवि को अपने प्रारंभिक शैशवकाल में अत्यंत भयानक दरिद्रता का सामना करना पड़ा था।

हनुमदाश्रय

३१. 'बाहुक' में तीन छंद इस प्रकार के आते हैं :

बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनो कियो
दीनबंधु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारिए।
रावरो भरोसो तुलसी को रावरोई बल
आस रावरीयै दास रावरो बिचारिए।
बड़ो बिकराल कलि काको न बिहाल कियो
माथे पगु बली को निहारि सो निवारिए।

केसरी किसोर रन रोर बरजोर बीर
बाहुबीर राहुमातु ज्यौं पछारि मारिए ॥
पालो तेरे टूक को परे हूँ चूक मूकिए न
कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिए।
भोरानाथ भोरे हौ सरोष होत थोरे दोष
पोषि तोषि थापि अपने न अवडेरिए।
अंबु तू हौ अंबुचर अंब तू हौं डिंभ सो न
बूझिए बिलंब अवलंब मेरे तेरिए।
बालक विकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए ॥
टूकनि को घर घर डोलत कँगाल बोलि
बाल ज्यौं कृपाल नतपाल पालि पोसो हैं।
कीन्ही है सँभार सार अंजनीकुमार बीर
आपनो बिसारि हैं न मेरे हू भरोसो है।
एतनो परेखो सब भाँति समरथ आजु
कपिनाथ साँची कहौं को त्रिलोक तोसो है।
साँसति सहत दास कीजे पेषि परिहास
चीरी को मरन खेल बालकन कोसो है ॥

(क्रमशः बाहुक २१, ३४, २९)

छंदों का साधारण अर्थ तो स्पष्ट है, किंतु उस का सामंजस्य कवि के व्यावहारिक जीवन से करने के लिए देखना हमें यह है कि अपने शैशव-काल मे हनुमान के कृपालु करों की सहायता पाने का जो उल्लेख उस ने किया है वह किस दृष्टिकोण से अधिक युक्तिसंगत रूप में समझा जा सकता है, और उपर्युक्त उल्लेखों का हमें किस दृष्टि से तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

३२. 'बाहुक' के उपर्युक्त पहले छंद में वे कहते हैं "हे निःसहायों के बंधु मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुम ने मुझे अल्पवयस्क देख कर मेरे बचपन ही मे मुझे अपना बना लिया और अपनी असीम एवं अनुपम दयालुता का दान मुझे दिया।" फिर दूसरे छंद मे वे कहते हैं "तुम ने जिन रोटी के टुकड़ों को मुझे दिया उन्हीं से मेरा पालन-पोषण हुआ। इस लिए इस समय भी यदि कोई त्रुटि मुझ से हुई हो तो मुझे (असहाय) मत छोड़ देना।" और तीसरे छंद

में वे कहते हैं "हे शरणागत तथा दीन-रक्षक ! तुम ने मेरा भरण-पोषण अपने पुत्र के समान किया। मैं 'कंगाल' कहा जाता हुआ दर-दर भिक्षा माँगता फिरता था। हे अंजनिकुमार वीर ! जब मैं निःसहाय था उस समय तुम ने मेरा पालन-पोषण किया। अतएव, मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम कभी भी उस तुलसीदास को नहीं भूल सकते हो जो कि तुम्हारा ही है।" इन वाक्यों को पढ़ने के उपरांत ज्ञात यह होता है कि बाल्यावस्था में कवि किसी हनुमान-मंदिर या मंदिरों से अपने जीवन-निर्वाह के लिए सहायता प्राप्त करता था; हनुमान-मंदिरों में अब भी प्रसाद ख़ूब चढ़ा करता है, इस लिए यह असंभव भी नहीं है; फलतः कदाचित् इसी अर्थ में हमें उपर्युक्त उल्लेखों का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

गुरु

३३. अपने गुरु के विषय में तुलसीदास ने बहुत कम संकेत किया है। निम्नलिखित अंश ही उन के विषय में जितना उन्हों ने कहा है वह सब कुछ है:

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर॥

(मानस, बाल० वंदना)

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषा बद्ध करबि मै सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

(मानस, बाल० ३०, ३१)

बहुमत सुनि गुनि पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥

(विनय० १७३)

३४. कवि के गुरु के विषय मे तत्कालीन प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। विल्सन संभवतः किसी जनश्रुति के आधार पर कवि के गुरु का नाम जगन्नाथ-दास बतलाते हैं, जो कि उन्ही के अनुसार नाभादास के एक शिष्य थे।[1] परंतु यह सर्वथा असंभव प्रतीत होता है जब हम यह देखते हैं कि नाभादास ने, जैसा

[1] 'ए स्केच अव् दि रेलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज़' पृ० ४१

हम अभी देखेंगे, हमारे कवि की प्रशंसा इतने सम्मानपूर्ण शब्दों में की है जितने सम्मानपूर्ण शब्दो में कदाचित् कोई भी अपने प्रशिष्य की न करेगा।

'भविष्य पुराण' कहता है कि कवि के गुरु काशी निवासी राघवानंद थे, और उन्हों ने ही इन्हें रामानंदी संप्रदाय के अंतर्गत अंगीकृत किया था।[1] परंतु इस कथन को पुष्ट करने वाला और कोई प्रमाण नही हैं।

ग्रियर्सन ने कवि की गुरु-परंपरा की दो सूचियाँ दी हैं।[2] उन दोनों के अनुसार वे रामानंद के पश्चात् इस प्रकार आठवे ठहरते हैं :

(१) रामानंद—(२) सुरसुरानंद—(३) माध्वानंद—(४) गरीवदास—(५) लक्ष्मीदास— (६) गोपालदास— (७) नरहरिदास— (८) तुलसीदास। और इन सूचियों की प्रामाणिकता के विषय में कहते हुए वे एक के विषय में वतलाते हैं कि वह अधिकाश संभवतः मौखिक परंपरा के आधार पर निर्मित है, और दूसरी सूची के संबंध में वे कहते हैं कि उस के आधार का उन को ज्ञान नहीं है।[3] नाभादास का 'भक्तमाल' ही इस गुरु-परंपरा की प्रामाणिकता की जाँच के लिए एकमात्र विश्वसनीय साक्ष्य है। हमारे सौभाग्य से रामानंद के अनुयायियों के विषय में जानने के लिए यह एक विशेष साधन के रूप मे सुरक्षित है, क्यों कि नाभादास स्वयं उन्हीं की शिष्य-परंपरा मे थे। उन के अनुसार सुरसुरानंद रामानंद जी के शिष्य थे,[4] परंतु माध्वानंद तथा उपर्युक्त सूची के शेप संतो के संवंध में वे यह नहीं लिखते कि वे सुरसुरानंद की शिष्य-परंपरा में हुए थे अथवा नहीं। और जव हम यह देखते हैं कि नाभादास सुरसुरानंद की परंपरा मे ऐसे अप्रसिद्ध संतों तक का उल्लेख करना नहीं भूलते जैसे केशव लटेरा[5] का तो यह आश्चर्य-जनक ज्ञात होता है कि 'भक्तमाल' के सुमेरु तुलसीदास के विपय में लिखते हुए यह उल्लेख करना भूल जाते। अतएव, ग्रियर्सन की सूचियों पर विश्वास करना कठिन हो जाता है।

कुछ लोग कवि-कथित "नर रूप हरि" के आधार पर, जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कहते हैं कि कवि के गुरु का नाम 'नरहरि'

[1] देखिए ऊपर पृ० ७३
[2] इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० २६६
[3] वही
[4] 'भक्तमाल' छप्पय ३६
[5] वही, १७२

था—या कुछ ऐसा ही दूसरा था जिस का प्रथम पद 'नर' और दूसरा 'हरि' अथवा उस का पर्यायवाची 'सिंह' था। परंतु यहाँ पर इस ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होगा कि प्रत्येक हस्तलिखित प्रति में पाठ एक सा नहीं है: कुछ में तो "हरि" पाठ पाया जाता है, किंतु कुछ में "हर" पाया जाता है,[1] और यह कहना सरल नहीं है कि इन दोनों में से कौन सा पाठ प्रामाणिक है। फिर, यदि कवि के गुरु का नाम 'नरहरि' या उस का कोई पर्यायवाची स्वीकृत भी कर लिया जाय तो भी वह हमारी ज्ञान-वृद्धि में वस्तुतः कोई सहायता नहीं करता जब तक कि हमें उन के विषय में कुछ विशेष बातें न ज्ञात हो सकें, क्योंकि अकेले नाभादास ने ही ऐसे नाम के छः संतों का उल्लेख किया है।[2] यह सभी रामानंद जी के समय से ले कर हमारे कवि के समय तक के भीतर ही हुए थे, और इन में से तीन तो नाभादास जी के अनुसार रामानंद जी की ही शिष्य-परंपरा के अंतर्गत हुए थे।

सोरों की सामग्री के आधार पर कहा जाता है कि कवि के गुरु का नाम नरसिंह चौधरी था, और वे सोरों-निवासी थे; वहाँ पर वे एक मंदिर भी दिखाते हैं जिसे वे उन्ही का मंदिर कहते हैं। ऊपर इस सामग्री का परिचय प्राप्त करते हुए इस की प्रामाणिकता के संबध में भी हम विचार कर चुके हैं[3] इस लिए उस के संबंध में पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं है।

विवाहित जीवन तथा वैराग्य

३५. इस में कदाचित् संदेह नहीं कि तुलसीदास ने विवाहित-जीवन व्यतीत

[1] उदाहरणार्थ, देखिए सं० १८७१ की एक प्रति जो काशी के राय कृष्णदास जी के पास है, और सं० १८७८ की एक प्रति जो प्रस्तुत लेखक के पास है, खेद है कि वह पृष्ठ जिस पर कि इस सोरठे को होना चाहिए था सं० १६६१ की हस्तलिखित प्रति में जिस पर हम आगे (अध्याय ४) विचार करेंगे अब नहीं है।

[2] (१) नरहरि: रामानद के शिष्य, छप्पय ३६, ६७; (२) नरहरि: अनतदेव के शिष्य, छप्पय ३७; (३) नरसिंह: अग्रदास के शिष्य, छप्पय १५०; (४) नरहरियानंद: छप्पय १००, (५) नरहरि: छप्पय १००; तथा (६) नरसिंहारण्य: छप्पय १८१;

[3] देखिए ऊपर पृ० ८०

किया था, क्यों कि यदि वस्तुस्थिति इस के विपरीत होती तो फिर 'दोहावली' में इस दोहे के संकलन का कोई अवसर ही न उपस्थित होता :

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै बिमल बिबेक बिराग॥

(दोहा० २५५)

'बाहुक' के उस छंद से भी कदाचित् इस बात का समर्थन होता है जिस मे वे बाल्यावस्था मे रामसम्मुख होने के उपरात "लोक रीति" में पड़ने का उल्लेख करते हैं :

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‌यो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं।
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥

(बाहुक ४०)

कहा जाता है कि वैराग्य के पूर्व वे अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे, और राम-भक्ति की ओर उन को अग्रसर करने की उत्तरदायिनी उन्हीं की धर्मपत्नी थी। परंतु स्वयं कवि ने अथवा उन के किसी समकालीन व्यक्ति ने इस का उल्लेख नही किया है। यह अवश्य है कि मौखिक परंपरा इस संबंध में व्यापक तथा एकरूप है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' के छप्पय की टीका को आरंभ करते हुए इसी कथा का उल्लेख किया है।[1]

३६. गृह-त्याग के उपरात कवि को स्वभावतः एकात जीवन और समाज-संबद्ध जीवन में से एक को ग्रहण करना था, और मानवता के कल्याण के लिए उस ने दूसरा ही मार्ग अपनाया ऐसा 'दोहावली' के एक दोहे से ध्वनित होता है जिस में वह कहता है :

घर छोड़े घर जात है घर राखे घर जाय।

[1] देखिए ऊपर पृ० ६०

तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाय ॥

(दोहा० २५६)

मूल नाम

३७. कवि ने 'कवितावली' के एक छंद में कहा है कि उस का नाम "तुलसी" था जिस में उस ने किसी समय "दास" जोड़ लिया :

नाम तुलसी भौंड़े भाग सो कहायो दास

किया अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।

(कविता०, उत्तर० १३)

इस लिए मूल नाम या तो "तुलसी" रहा होगा—अथवा ऐसा कोई दूसरा नाम जिस का प्रथम शब्दांश "तुलसी" ही रहा होगा। और यह असंभव नहीं कि उसी का दीक्षित होने के अनंतर "तुलसीदास" हो गया हो।

३८. अन्यत्र उस ने यह उल्लेख किया है कि उस का नाम "रामबोला" था जो कि उस के स्वामी राम द्वारा उसे प्राप्त था :

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,

काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।

(विनय० ७६)

'रामबोला' नाम हौं गुलाम राम साहि को।

(कविता०, उत्तर० १००)

स्पष्ट है कि यह उस का आध्यात्मिक नाम था, जैसा कभी-कभी वैष्णव भक्तों का हुआ करता है, और केवल इतना ही व्यक्त करता है कि नाम-स्मरण को हमारा कवि आराध्य की सब से बड़ी सेवा मानता था।

काशी-गमन तथा काशी-निवास

३९. जान पड़ता है कि तुलसीदास सं० १६२१ के पहले किसी समय काशी पहुँच गए थे, क्यों कि 'रामाज्ञा प्रश्न' के निम्नलिखित दोहे में उन्हों ने उसी वर्ष किन्हीं गंगाराम को संबोधन किया है—जो कहा जाता है कि काशी में प्रह्लाद-घाट के निवासी थे[1] :

[1] ना० प्र० प०, भाग १९, पृ० ३१५

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम ।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर गोगन गंगाराम ॥

(रामाज्ञा० १-७-७)

४०. तत्पश्चात् उन्हों ने काशी को अपना निवास-स्थान सा बना लिया था, क्यो कि उस का उल्लेख प्रायः उन्हों ने 'विनय पत्रिका'[1], 'दोहावली'[2], 'कविता-वली'[3], और 'बाहुक'[4] मे किया है। वे अन्य तीर्थों की भी यात्रा किया करते थे। यह निश्चित् है कि वे कई बार चित्रकूट गए थे।[5] कुछ समय तक वे अयोध्या में[6] कदाचित् तुलसी-चौरा नामक स्थान पर[7] रहे थे। वे प्रयाग[8], सीतावट[9] और कदाचित् बदरी नारायण भी[10] गए थे। फिर भी, मालूम होता है कि उन्हों ने काशी को अपना केंद्र बना रक्खा था, और इसे उन्हों ने मृत्यु-समय तक न छोड़ा, और प्रसिद्ध जन श्रुति के अनुसार वहीं के असीघाट पर उन्हों ने शरीर-त्याग किया।

मित्र और स्नेही

४१. ऊपर अभी हम ने एक गंगाराम जी का उल्लेख किया है जिन्हें कवि ने 'रामाज्ञा प्रश्न' मे संबोधित किया है। बहुत समय तक उन के उत्तराधिकारियों के पास सं० १६५५ की लिखी हुई इस कृति की हस्तलिखित प्रति मौजूद थी जो कवि की लिखी हुई मानी जाती थी।[11] अब भी उन के पास एक चित्र है जिसे वे कवि का बताते हैं।[12] टोडर कवि के दूसरे मित्र थे, जो काशी के एक जमींदार थे। उन की मृत्यु के बाद गोस्वामी जी ने उन की जमीदारी का बँटवारा उन के उत्तराधिकारियों मे एक पंचायतनामे के द्वारा कर दिया था जिस की प्रथम कुछ पंक्तियाँ उन्हीं की लिखी हुई कही जाती हैं। पंचायतनामे पर सं० १६६९ की

[1] विनय० २६४,
[2] दोहा० १८०
[3] कविता०, उत्तर० १६५, १६७
[4] बाहुक ४२
[5] कविता०, उत्तर० १४१, १४२; तथा विनय० २३, २४, २६४
[6] मानस, बाल० ३४
[7] देखिए ऊपर, पृ० ७६
[8] कविता०, उत्तर० १४४, १४५, १४६, १४७
[9] कविता०, उत्तर० १३८, १३९, १४०
[10] विनय० ६०
[11] देखिए नीचे अध्याय ४
[12] देखिए ऊपर पृ० ७४

तिथि लिखी है और अब वह काशिराज के संग्रह में है।[1] टोडर के उत्तराधिकारी आज तक कवि की बर्षी मनाते हैं और उस की मृत्यु-तिथि पर सीधा बाँटते हैं।[2] कहा जाता है कि नवाब अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना भी कवि के मित्र थे, जो असंभव नहीं है। ख़ानख़ाना सं० १६४६–४८ के बीच बनारस के शासक थे,[3] और उस समय यह असंभव नहीं कि कविता के इस प्रसिद्ध सरक्षक ने अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि से जब कि वह वहाँ था मैत्री की हो। मौखिक परपरा द्वारा यह बात भी चली आ रही है कि मानसिंह तथा कुछ अन्य राजे कवि के दर्शनों को जाया करते थे।[4] यह नितांत असंभव नहीं है, क्यों कि कवि स्वयं कहता है :

> घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाँय।
> जो तुलसी तब राम बिनु सो अब राम सहाय॥
>
> (दोहा० १०९)

सम्मान

४२. 'रामचरित मानस' की रचना के बाद कवि की ख्याति शीघ्रता से बढ़ी होगी। उस ने स्वतः अपनी इस बढ़ती हुई ख्याति और प्रतिष्ठा का उल्लेख किया है।[5] धीरे-धीरे अपने जीवन-काल मे ही वह वाल्मीकि का अवतार माना जाने लगा था, और इस का भी उल्लेख वह स्वय करता है :

> *जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस*
> खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो।
> मानस बचन काय किए पाप सति भाय
> राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो।
> राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप
> तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।
> अति ही अभागो अनुरागत न राम पद
> मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो॥
>
> (कविता०, उत्तर० ७२)

[1] देखिए नीचे इसी अध्याय में
[2] विजयानद त्रिपाठी : 'रामचरित मानस' भूमिका
[3] इलियट 'हिस्ट्री अव् इंडिया' जि० ५, पृ० ४५८
[4] इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० २७२
[5] कविता०, उत्तर० ५६, ६०, ६४, ७२

नाभादास का छप्पय भी प्रमुख रूप से हमारे कवि के प्रति इसी श्रद्धा से प्रेरित हो कर लिखा गया जान पड़ता है :

त्रेता काव्य निबंध करिव सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन।
पुनि भक्तन सुख देन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लिए।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए॥

(भक्तमाल, छप्पय० १२९)

और पीछे के सतों और कवियों ने तो इस विश्वास की परंपरा को बनाए रक्खा ही है। महाराष्ट्र के भक्त कवि मोरोपंत का ही उल्लेख इस संबंध मे यथेष्ट होगा।[1]

विरोध

४३. 'दोहावली' के निम्नलिखित दोहों में इस प्रकार की ध्वनि स्पष्ट है कि हमारे कवि का विरोध भी होने लगा था :

तुलसी रघुबर सेवकहिं खल डाँटत मन माखि।
बाजराज के बालकहिं लवा दिखावत आँखि॥
रावन रिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।
खर दूषन मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि॥
पुन्य पाप जस अजस के भावी भाजन भूरि।
संकट तुलसीदास को राम करहिंगे दूरि॥
भली कहै बिनु जानेहूँ बिनु जाने अपबाद।
ते नर गादुर जानि जिय करिय न हरष बिषाद॥
पर सुख संपति देखि सुनि जरहिं जे जड़ बिनु आगि।
तुलसी तिनके भाग ते चलै भलाई भागि॥
तुलसी जे कीरति चहैं पर कीरति को खोय।
तिनके मुँह मसि लागि है मिटिहि न मरिहैं धोय॥

[1] देखिए ऊपर पृ० ७२

माँगि मधुकरी खात जे सोवत पाँव पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते बाढ़ी रारि॥
रामायण अनुहरत सिख जग भो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै कलि कुचाल पर प्रीति॥

(क्रमशः दोहा० १४४, १४५, १४६,
३८७, ३८८, ३८९, ४९४, ५४५)

'कवितावली' के भी कुछ छंदों में इसी प्रकार का उल्लेख होता है।[1] केवल एक छंद उद्धृत करना यथेष्ट होगा :

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जानैं महासाधु खल जानैं महाखल
बानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है।
चहत न काहू सों न कहत काहू को कछु
सब की सहत उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥

(कविता०, उत्तर० १०८)

४४. स्वतः इन छंदों में कोई ऐसी सूचना नहीं है जिस से किसी तिथि के साथ इस विरोध का संबंध स्थापित किया जा सके, और 'दोहावली' तथा 'कवितावली'—जिस रूप में वे हमें अब प्राप्त हैं—कवि द्वारा संपादित नहीं हो सकते जैसा आगे ज्ञात होगा[2], फलतः यह कहना कठिन है कि इन बाधाओं का समय क्या है। एक विशेषता उपर्युक्त दोहों में से चार में अवश्य है : वह यह है कि वे 'सतसई' (रचना-काल सं० १६४२ ?) में भी पाए जाते हैं।[3] किंतु 'सतसई' के रचना-काल के संबंध में संदेह किया जा सकता है, जैसा आगे किया भी गया है,[4] इस लिए इस प्रकार भी काल-निर्धारण की समस्या प्रस्तुत प्रसंग में बनी ही रह जाती है। अधिक से अधिक हम यह कह

[1] कविता०, उत्तर० १०८, १२३

[2] देखिए नीचे अध्याय ५

[3] दोहा० ३८७, ३८९, ४९४, ४९५ = क्रमशः 'सतसई' सर्ग ७, दो० ९७, १०३, ३६, ८८

[4] देखिए नीचे अध्याय ५

सकते हैं कि इस प्रकार का विरोध कवि की सुख-संपत्ति, कीर्ति और प्रतिष्ठा-वृद्धि के साथ प्रारंभ हुआ, और यह कदाचित् 'मानस' की समाप्ति के बाद ही विशेष रूप से हुई होगी, क्यो कि और पहले की रचनाएँ—और बहुत कुछ बाद की भी—उतनी लोकप्रिय न हुईं जितनी 'मानस'।

४५. गोस्वामी जी का एक और प्रकार का विरोध उन की जाति-पाँति के प्रश्न को ले कर खड़ा हुआ था। 'कवितावली' के अनेक छंदों में कवि ने उस आक्षेप का खरा उत्तर दिया है :

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै किन कोऊ।
माँगि कै खैबौ मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

(कविता०, उत्तर० १०६)

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को॥

(कविता०, उत्तर० १०७)

'विनय पत्रिका' के भी एक पद मे इसी प्रकार का उत्तर है—यद्यपि वह इतना खरा नहीं है :

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥

(विनय० ७६)

इस प्रकार का विरोध संभवतः तत्कालीन रूढ़िवादी ब्राह्मण-समाज का कार्य रहा होगा, क्यों कि और किसी को क्या पड़ी थी कि जाति-पाँति के पचड़े इस

विरक्त कवि के संबंध में खड़े करता। ऐसा जान पड़ता है कि अंधी जनता पर इस का कुछ प्रभाव भी पड़ा, जैसा कि 'विनय पत्रिका' के एक अन्य पद से ध्वनित होता है, यद्यपि हमारा कवि उस से ज़रा भी विचलित न हुआ :

रीझि बूझि सब की प्रतीति प्रीति एही द्वार
दूध को जर्‌यो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौं।
रटत रटत लट्यो जाति पाँति भाँति घट्यो
जूठनि को लालची न चाह्यो दूध नह्यो हौं।
अनत चह्यो न भलो सुपथ सुचाल चल्यो
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।
तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार
अपनो सो नाथ हूँ सों कहि निरबह्यो हौं॥
(विनय० २६०)

तुलसीदास वर्णाश्रम-धर्म के पूरे समर्थक थे, और ब्राह्मण-सेवा तक का उपदेश रामभक्ति के साधन रूप में करने वाले थे—जैसा आगे ज्ञात होगा[1]—फिर क्या कारण ब्राह्मण-समाज द्वारा इस विरोध का हो सकता है? संभवतः वह उन का एक संकुचित स्वार्थ था : 'मानस'-रचना के अनंतर उन की पंडिताई कदाचित् जनसाधारण के लिए उतनी अनिवार्य न रह गई होगी जितनी उस के पूर्व थी, अथवा कम से कम उन्हें इस प्रकार का भय हुआ होगा, और असंभव नहीं यदि इसी लिए तुलसीदास का यह विरोध भी उन्हों ने किया हो।

४६. एक और तीसरे प्रकार का विरोध काशी के शिवोपासकों ने, कदाचित् शिव-मंदिरों के पुजारियों ने किया। इस विरोध का उल्लेख शिव से प्रार्थना करते हुए कवि 'कवितावली' तथा 'विनय पत्रिका' में इस प्रकार करता है :

देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरेई
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं।
एते पर हू जो कोऊ रावरो है जोर करै
ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।

[1] देखिए नीचे अध्याय ७

पाइकै उराहनौ उराहनो न दीजे मोहिं
काल कला कासीनाथ कहे निबरत हौं।
(कविता०, उत्तर० १६५)

गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥
(विनय० ८)

शिवोपासक पुजारियों के विरोध का कारण कदाचित् आसानी से समझा जा सकता है। यद्यपि तुलसीदास ने शिवोपासना का विरोध नहीं किया—बल्कि राम-भक्ति की प्राप्ति के लिए उसे एक आवश्यक साधन के रूप मे स्वीकार किया[१]—फिर भी उन की रचनाओ से रामभक्ति की लोकप्रियता जनता मे एक बार बड़े ज़ोरों पर बढ़ी होगी, और उस बाढ़ में कुछ आश्चर्य नही कि बहुत से शिवभक्त भी रामभक्ति की ओर आकृष्ट होने लगे हों और उन के उपास्य के एकाधिपत्य से बाहर निकलने लगे हो—अथवा इन पुजारियों को भविष्य के लिए ही इस प्रकार की आशंका होने लगी हो, इस लिए उस शिवपुरी मे यदि उन्हों ने हमारे कवि को पीड़ा पहुँचाने का कोई प्रयत्न किया हो तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

४७. अंतिम प्रकार का आक्रमण उन के जीवन पर भी किया हुआ ज्ञात होता है। 'कवितावली' में वे निर्भीकता के साथ उस आक्रमण की तैयारी का समाचार पा कर उस का उत्तर देते हैं: और इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' मे भी वे अविचलित रहते हैं। वे छंद इस प्रकार हैं:

ब्याल कराल महा विष पावक मत्त गयंदहु के रद तोरे।
साँसति संकि चली डरपे हुते किंकर ते करनी मुख मोरे।
नेकु विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केवल केहरि होरे।
कौन की त्रास करै तुलसी जोपै राखिहै राम तो मारिहै कोरे॥
(कविता०, उत्तर० ४८)

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै।

[१] देखिए नीचे अध्याय ७

तकै नीच जो मीच साधु की सोइ पामर तेहि मीच मरै।
बेद बिदित प्रहलाद कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै।
जो जो कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनेहु सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै।
हैं कराके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।
तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥

(विनय० १३७)

४८. इन सब यातनाओं पर गोस्वामी जी ने विजय पाई। अपनी रक्षा के लिए अपने उपास्य पर ऐसा अखंड भरोसा उन्हें था कि उन्हों ने निर्भीक भाव से इन का सामना किया, और अपने निश्चित् पथ से एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुए। रामभक्ति का जो संदेश देना उन्हों ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था आजीवन उस की पूर्ति की चिंता में लगे रहे, और यही कारण है कि वे आज भी हमारे बीच अमर हैं।

रुद्रबीसी तथा मीन के शनि

४९. 'दोहावली'[1] तथा 'कवितावली'[2] में काशी के तत्कालीन उपद्रव के संबंध में कवि रुद्रबीसी का उल्लेख करता है। रुद्रबीसी—अथवा रुद्रविंशति—६० वर्ष की बार्हस्पत्य वर्ष-प्रणाली के अंतिम २० वर्ष के काल को कहते हैं।[3] इस वर्ष-प्रणाली की गणना दो रीतियों से होती है एक तो उत्तरीय रीति से तथा दूसरी दक्षिणीय रीति से। चूँ कि कवि ने दक्षिणीय रीति का प्रयोग किसी तिथि के उल्लेख में नहीं किया है और जब 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि बार्हस्पत्य वर्ष में दी तब उस ने उत्तरीय रीति का अवलंबन किया है[4] इस लिए उत्तरीय रीति पर जो तिथियाँ प्राप्त हों हमें उन्हीं पर विचार करना चाहिए। उत्तरीय रीति पर बार्हस्पत्य वर्ष-प्रणाली का इकतालीसवाँ वर्ष और रुद्रबीसी का पहला वर्ष कवि के जीवन-काल में दो बार उपस्थित हुआ होगा :[5] पहले

[1] दोहा० २४०

[2] कविता०, उत्तर० १७०

[3] मन्० विलियम्स : 'संस्कृत इंग-लिश डिक्शनेरी' पृ० ८४९, तथा 'बाचस्पत्य' पृ० ४४७४

[4] देखिए परिशिष्ट अ

[5] देखिए स्वामी कन्नू पिलाई : 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' चक्र १४

सं० १५९६ में और फिर सं० १६५६ में। इन दोनो में से दूसरे की ही संभावना है, क्यों कि सं० १५९६–१६१६ में उस की शैली इतनी प्रौढ़ नही हो सकती थी जितनी 'दोहावली' के उक्त दोहों तथा 'कवितावली' के उक्त छंद में मिलती है। कुछ लोगों का विचार है कि रुद्रबीसी का समय सं० १६६५ से सं० १६८५ तक होता है[1], और स्वर्गीय ग्रियर्सन स्वर्गीय सुधाकर द्विवेदी के गणना के आधार पर इस का समय सं० १६५५ से सं० १६७५ तक मानते थे,[2] किंतु मैं कोई कारण इस बात के लिए नही देखता कि रुद्रबीसी का समय वह क्यों न मानूँ जो मुझे गणना द्वारा प्राप्त हुआ है। पहला तो असभव है। दूसरे में एक वर्ष का अंतर संभव है विगत और प्रचलित संवत् वर्ष प्रणालियों पर गणना के अंतर के कारण पड़ता हो।

५०. मीन के शनि के विषय में, जिस का उल्लेख तुलसीदास 'कवितावली' में करते हैं[3], स्वर्गीय सुधाकर द्विवेदी कहते थे कि शनि का प्रवेश मीन मे चैत्र शुक्ला ५, सं० १६४० को या उस के लगभग हुआ और यहाँ वह सं० १६४२ के ज्येष्ठ तक बना रहा; फिर मीन में उस ने चैत्र शुक्ला २ सं० १६६९ को प्रवेश किया और वहाँ वह सं० १६७१ के ज्येष्ठ तक रहा। दोनों ही तिथियाँ गणना से ठीक उतरती हैं,[4] किंतु इन दो मे से दूसरा ही योग अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है क्यों कि वह रुद्रबीसी की तिथियों के निकट पड़ता है।

महामारी

५१. 'कवितावली' के कुछ छंदों में कवि काशी का विनाश करती हुई एक भयंकर महामारी का उल्लेख करता है।[5] यह महामारी हैजा थी या ताऊन यह उस ने नहीं लिखा है। दुर्भिक्षों के पश्चात् तो हैजा वहुधा हो जाया करता था, परंतु ताऊन तो केवल सं० १६७३ में आया जब कि वह एक अनोखी बात मानी जाती थी।[6] कवि बीमारी का वर्णन जो देता है वह इस प्रकार है :

[1] तु० ग्रं० भाग ३, पृ० ८५

[2] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९७

[3] कविता०, उत्तर० १७७

[4] देखिए परिशिष्ट अ

[5] कविता०, उत्तर १७३–१७६ तथा १८३

[6] स्मिथ: 'अकबर दि ग्रेट मोगल' पृ० ३९

संकर-सहर सर नर नारि बारिचर
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात
भभरि भगात जल थल मीचु मई है।
देव न दयालु महिपाल न कृपालु चित
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत
रामहू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है॥
(कविता०, उत्तर० १७६)

उपर्युक्त वर्णन दोनों मरियों में से किसी एक के संबंध में निर्णय पर पहुँच सकने के लिए प्रर्याप्त नहीं है यह स्पष्ट होगा। परंतु अधिक संभावना ताऊन की ही मालूम पड़ती है[1] जो काशी में सं० १६७३ और सं० १६८० के बीच किसी समय आया रहा होगा—सं० १६७३ भारत में ताऊन पहली बार आने की, सं० १६८१ उस के बने रहने तक की,[2] और सं० १६८० कवि की मृत्यु की तिथियाँ हैं।

५२. कुछ विद्वानों का विचार है कि हमारा कवि ताऊन से पीड़ित हुआ था[3] किंतु स्वतः वह कहता है कि राम ने उस का अंत कर दिया, यद्यपि हनुमान भी कहीं-कहीं बीमारी का दमन कर चुके थे[4] :

आस्रम बरन कलि बिबस बिकल भय
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारी ही तें जानियत
साहिब सरोष दुनी दिन दिन दार दी।
नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोउ
काहू देवतन मिलि मोटी मूठ मार दी।
तुलसी सभीत पाल सुमिरे कृपालु राम
समय सुकरुना सराहि सनकार दी॥
(कविता०, उत्तर० १८३)

१ देखिए नीचे अध्याय ५

२ इलियट : 'द हिस्ट्री अव् इंडिया' जिल्द ६, पृ० ४०६

३ ग्रियर्सन : 'जनरल अव् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' सन् १९०३, पृ० ४५०

४ कविता०, उत्तर० १७५

बाहुपीड़ा और अन्य कष्ट

५३. 'दोहावली',[१] 'कवितावली'[२] और 'विनय पत्रिका'[३] के कुछ छंदों में कवि देवताओं से किसी पीड़ा की शांति के लिए प्रार्थना करता है, यद्यपि वह उस बीमारी का नाम नहीं लिखता जिस के कारण पीड़ा है। परंतु 'दोहावली' के कुछ दोहों[४] तथा 'बाहुक' के कुछ छंदों में[५] वह अपनी बाहुपीड़ा की शांति के लिए प्रार्थना करता है। वह यह भी कहता है कि वह बहुत समय से इसी पीड़ा से व्यथित है।[६] मालूम होता है कि यह पीड़ा वर्षा-ऋतु में हुई थी क्यों कि एक पद में वह हनुमान से पीड़ा को उसी प्रकार जलाने की प्रार्थना करता है जिस प्रकार वर्षा का जल जवासे को जला देता है।[७] कवि पीड़ा का कारण 'बात' बतलाता है[८] यद्यपि कभी-कभी वह उस का कारण कलिकाल की बुराइयाँ तथा भूत-प्रेत-पिशाचादि की बाधा को भी सोचता है।[९] वेदना पहले कदाचित् दाईं भुजा में प्रारंभ हुई थी[१०] और फिर सारे शरीर में फैल गई थी।[११] अंत में, जैसा कि कवि स्वयं कहता है, राम-कृपा से उस पीड़ा का अंत हो गया :

> बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि
> मुँहपीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।
> राम नाम जप जाग सानुराग कियो चाहौं
> काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं।
> सुमिरे सहाइ राम लषन आखर दोउ
> जिनके साके समूह जागत जहान हैं।
> तुलसी सँभारि ताड़का सँहारि भारी भट
> बेधे बरगद से बनाई बान बान हैं॥
>
> (बाहुक ३९)

[१] दोहा० १७८,
[२] कविता०, उत्तर० १६६, १६७
[३] विनय० १९५
[४] दोहा० २३४–२३६
[५] बाहुक २०–३४, ३६, ३७
[६] वही, २८, ३०
[७] वही, ३५
[८] वही, २४, २७
[९] वही, २१, ३६
[१०] वही, ३७
[११] वही, ३५, ३८

५४. किसी समय कवि के सारे शरीर में बरतोर के घिनौने फोड़े भी निकल आए थे जिन में से रुधिर और पीब बहता था।[1] उस ने राम, शिव, तथा हनुमान से—जिन में उस का अविचल विश्वास था—प्रार्थना की, परतु जान पड़ता है कि रोग का शमन नहीं हुआ, क्यों कि कवि यह कहीं नही लिखता कि वह इन फोड़ों से अच्छा हो गया था, और यह असंभव नहीं कहा जा सकता यदि इसी रोग से उस की मृत्यु हो गई हो।

५५. इस प्रसंग में उस बात-रोग के वर्णन पर विचार करना कदाचित् उपयोगी होगा जिस से उस के समकालीन बनारसीदास जैन भी पीड़ित हुए थे। यह वर्णन बनारसीदास जी के आत्म-चरित 'बनारसी-अवस्था' में मिलता है। प्रसंग के छंद इस प्रकार हैं :

मास एक जब भयो बितीत। पौष मास सित पष रितु सीत।
पूरब कर्म उदै संजोग। आकस्मात बात्त को रोग।
भयो बनारसि दास तनु कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड उपजी बिथा केस रोम जनु भंग॥
बिस्फोटक अगनित भए हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सीवा ससुर भोजन करै न संग॥
ऐसी असुभ दशा भई निकट न आवे कोय।
सासू और बिबाहिता करहि सेव तिय दोय॥
जल भोजन की लेहि सुधि देहि आन मुष माहि।
औषध नावैं देह मैं नाक मूंदि उठि जाहि॥
इस अवसर ही नापत कोय। औषध पुरी षवावे सोय।
चने अलौने भोजन देय। पैसा टका कछू नहिं लेय।
च्यार मास बीते इस भाँति। तब कछु भई बिथा उपसांति।
मास दोय औरउ चल गए। तब बानारसि नीके भए।

कवि के रोग में और बनारसीदास के रोग में कितना साम्य है, यह आसानी से देखा जा सकता है। अंतर दोनों के निदान और उपचार में है। यदि प्रार्थनाओं आदि पर विशेष विश्वास न करके बनारसीदास की भाँति दवा-दारू पर उतारू हो जाता तो आश्चर्य नहीं कि हमारा कवि कुछ और भी जीवित

[1] बाहुक ४०, ४१

रहता, किंतु वहाँ तो बातें दूसरी ही थीं।

मृत्यु

५६. कवि की मृत्यु के विषय में कोई समकालीन प्रमाण नहीं मिलता। साधारण जन-श्रुति कहती है कि सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को काशी में असीघाट पर कवि की मृत्यु हुई :

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे सरीर॥

'मूल गोसाईं-चरित' का लेखक इसी संवत् को मानते हुए कहता है कि निधन-तिथि श्रावण कृष्णा तृतीया थी और दिन शनिवार था :

संवत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे सरीर॥

(मू० गो० च० ११९)

गणना द्वारा तिथि की जाँच अन्यत्र की गई है और वहाँ वह सही निकली है।[1] इस के अतिरिक्त कवि के मित्र टोडर के उत्तराधिकारी कवि की स्मृति में इसी तिथि को सीधा बाँटते हैं और उस की वर्षी मनाते हैं।[2] फलतः यह नितात संभव मालूम होता है कि कवि की मृत्यु इसी तिथि को हुई हो, और पीछे कभी इस में और "सावन शुक्ला सप्तमी" मे भ्रम हो गया हो, जो कि घाघ की कुछ अति प्रसिद्ध कहावतों में भी आती है, उदाहरणार्थ :

श्रावण शुक्ला सप्तमी जो गरजै अधिरात।
तो पिय जायो मालवा मैं जैहौं गुजरात॥

अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि कवि की मृत्यु-तिथि सं० १६८० श्रावण कृष्णा तृतीया थी।

गोसाईं-उपाधि

५७. कवि के नाम के साथ लगी हुई 'गोसाईं' उपाधि की विवेचना करना हमारे लिए आवश्यक होगा : 'कवितावली' के एक छद में तुलसीदास राम को संबोधित करते हुए कहते हैं :

[1] देखिए परिशिष्ट आ

[2] विजयानंद त्रिपाठी : 'मानस' भूमिका

स्वारथ सयानप प्रपंच परमारथ
कहायो राम रावरो हौं जानत जहानु है।
नाम के प्रताप बाप आजु लौं निबाही नीके
आगे को गोसाइँ स्वामी सबल सुजानु है।
कलि की कुचालि देखि दिन दिन दूनी देव
पाहरु रुई चोर हेरि हिय हहरानु है।
तुलसी की बलि बार बार ही सँभार कीबी
जद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है॥
(कविता०, उत्तर० ८०)

इस पद में कवि स्पष्टतः यह सूचित करता है कि ऐसे कोई 'गोसाइँ' थे जिन्हें वह अपना स्वामी-सा मानता था। इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' के एक पद में भी किन्हीं 'गोसाइँ' को संबोधित करते हुए वह कहता है :

नाथ नीके कै जानिबी ठीक जन-जीय की।
रावरो भरोसो नाह कैसो प्रेम नेम लियो
रुचिर रहनि रुचि मति गति तीय की।
दुकृत सुकृत बस सब ही सों संग पर्‌यो
परखी पराई गति आपने हूँ कीय की।
मेरे भले को गोसाइँ पोच को न सोच संक
हौं किए कहौं सौंह साँची सीय पीयकी।
ज्ञान हूँ गिरा के स्वामी बाहर भीतर जामी
यहाँ क्यों दुरैगी बस मुखकी औ हीय की।
तुलसी तिहारो तुमहीं ते तुलसी को हित
राखि कहौं हौं जो पै तो ह्वैहौ माखी घीय की॥
(विनय० २६३)

कवि के इन वक्तव्यों को पढने के पश्चात् निश्चय ही यह प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने एक ऐसे संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण की थी—अथवा ऐसे मठ में पदार्पण किया था—जिस का प्रधान कोई 'गोसाइँ' था।

५८. और भी पीछे मालूम होता है कवि स्वयं गोसाइँ (मठाधीश) बन गया था, यह 'बाहुक' के कुछ छंदों से जिन में उस ने अपने 'गोसाइँ' होने पर पश्चात्ताप प्रकट किया है स्पष्ट हो जाता है : छंदों का संबंध उन फोड़ों से है

जिन से वह अपने जीवन के अन्तिम काल मे दुखित हुआ था[1] :

बालपने सूधे मन राम नाम सनमुख भयो
रामनाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोक रीति में पुनीत प्रीति रामराय
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥
असन बसन हीन बिषम बिषाद लीन
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो
दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो
बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
तातें तन पेषियत घोर बरतोर मिस
फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को॥

(बाहुक ४०, ४१)

५९. प्रस्तुत लेखक एक 'तुलसीदास मठ' का पता चलाने मे सफल हुआ है, जिस की स्थिति काशी मे लोलार्क कुंड पर है। यह मठ सं० १७९७ तक विद्यमान था क्यों कि उसी वर्ष किसी जयकृष्ण दास ने इस मठ में 'न्याय सिद्धांत मंजरी' की किसी हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि की थी। मालूम होता है कि वह इसी मठ का एक सदस्य था। उक्त हस्तलिखित प्रति अब इंडिया ऑफ़िस लाइब्रैरी मे है,[2] और उस की पुष्पिका इस प्रकार है:

"सं० १७९७ वैशाष सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोलार्क तुलसीदास मठे जयकृष्णदास शुभम्"

[1] देखिए ऊपर पृ० १५६

[2] 'इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी कैटेलॉग अव् संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' जिल्द १, पृ० ६३८ बी

महाकवि के समकालीन केशवदास जी की की हुई मठाधीशों की स्पष्ट निंदा[1] से हम परिचित हैं। अतः हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिये कि 'तुलसीदास' ने 'गोसाईं' हो जाने का पश्चात्ताप किया है और इसी को फोड़ों का मूल कारण भी बताया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब हमें लोलार्क कुंड पर के मठ के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। संभव है आगामी खोजों से इस पर कुछ प्रकाश पड़े। यदि हमारे पास उक्त स्थान के सब गोसाइयों की परंपरा की एक ऐसी सूची होती जिस में उस के मठाधीशों और सदस्यों के नाम होते तो संभवतः हम कवि के दार्शनिक और धार्मिक विचारों को दृष्टि कोण में रखते हुये अनुमान कर सकते कि वह कौन सा गोसाइयों का संघ विशेष था जिस में उस ने अपना जीवन बिताया। दुर्भाग्य से इस विषय में सूचना अत्यंत अपूर्ण है। ऐसा जन-गणना-विवरण जिस में गोसाइयों को फ़क़ीरों से भिन्न स्थान दिया गया है और जिस में उन के सभी संघों की जन-संख्या भी दी है केवल एक है जो सं० १९४८ में प्रकाशित है, परंतु यह भी संतोष-जनक नहीं है।

६०. किंतु, बनारस के लोलार्क मुहल्ले में स्थित 'स्थान तुलसीदास जी' से यह मठ भिन्न नहीं प्रतीत होता। यह बड़े दुःख की बात है कि अब हमें इस स्थान पर सं० १८३२ के पूर्व का लेख नहीं मिलता। प्राचीनतम लेख जो इस स्थान पर मिलता है वह बनारस के महाराज चेतसिंह का सं० १८३२ का एक फ़रमान है जिस में उन्हों ने स्थान पर बाहर से आने वाले अन्न तथा अन्य खाद्य पदार्थों को चुंगी आदि करों से बरी किया है। यह हिंदी अनुवाद सहित फारसी में है।' और इस में स्थान के महंत तुलाराम को "गोसाईं तुलाराम" कहा गया है :

"(फारसी में) व इस्म राहेदारान व चौकीदारान व गुज़रवानान मुस्तक़िलान तरक नवाज़श्र आँ कि चू ग़ल्ला वग़ैरह जेहत सदावर्त गोसाईं तुलाराम अज़ बेरूंजात साल ब साल व माह ब माह मी आमद वाला कि कसे बइल्लत महसूले राहदारी वग़ैरह मुज़ाहिम मुतअरिज़ नसले बहुदूद ख़ुदहा बसलामत बगुज़ारेद दर निहायत ताकीद सनद नंबर ७२ बतारीख़ २१ रमज़ान सन् ११८३ फसली। (हिंदी में) इस्तमबररी चौकीदारान वो राहदारान गुज़रबानान व मुस्तकीलान वोगैरे के मालुम आगे गोसाइं तुलाराम की सदाबरत वो गला वो सरंजाम सदाबरत जो साल ब साल माह दर माह बाहर से आवत

[1] 'राम चंद्रिका' ('केशव कौमुदी') भाग २ पृ० २६५

है सो कोइ महसुल और केहु बाबत से हरगीज मुजाहिम न होना चौकी पहरा से अपनी हद भर खबरदारी भरी देना डीहवा तक ताकीद वड़ी जानना ता० २१ रमजान सन् ११८३ स० १८३२"

अन्य लेख किसी शिवरतन सिंह का दान-पत्र है जिस में सं० १८४८ की तिथि दी है। यह हिंदी में है और इस में तुलसीदास के स्थान का नाम 'स्थान श्री गोसाईं तुलसीदास जी' और उस स्थान के महंत 'पीतावरदास' को 'श्री गोसाईं जी पीतावर वैष्णव' लिखा है :

"ली० शिवरतन सीघ आगे मौजे कहरपुरा अमले तालुके लोहता में पंदह बीगहा खेत उपजाऊ आपने हीशे का हम अपने खुशी रजामंदी से श्री गोशाइं जी पीताबर वैस्नौ श्री स्थान श्री गोशाइं तुलशीदास जी क क्रीश्नार्पन करी दीहा जमा इश जमीन का गाव के वंदवशत पर बैठाए लीआ शो गोशाइं बी इस जमीन क्रीश्नार्पन कों अपने खातिर जमा शों जोतै जोतावै उश जमीन का श्री ठाकुर जीव को भोग लगावै कोइ हमारे में इस जमीन का मोजाहिमत न करे जो कोइ हींदु इआ मुसलमान इश जमीन क्रीश्नार्पन शों मोजाहिम होए इआ मोआखीजे वेजाए करै तीश कों अपने दीन ईमान का शौगद है जमीन क्रीश्नार्पन जानी अपने इमान केउ वइमान कोइ कीशी वात का मोआखीज़ न करै जमीन पन्दह बीगहा का ब्योरा आशामी वारामासी क तफशील वो नाम पटवारी गाव के जमा जमीन के १५) कातीका शुदी ७ संवत ४८ शाः शन १२९९ फशली"

६१. अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि महतों ने 'गोसाईं' की उपाधि छोड़ी नहीं थी परंतु सं० १८४८ तक स्थान का नाम 'तुलसीदास मठ' से 'स्थान तुलसीदास' हो गया था। वास्तव में 'मठ' और 'स्थान' में बहुत कम अंतर मालूम होता है। दोनों शब्दों से ऐसे स्थान का बोध होता है जहाँ किसी वर्गविशेष के तपस्वी या विरक्त सामूहिक रूप मे रहते हैं, अंतर दोनों मे केवल व्यवहार-भेद का विदित होता है। साधारणतया 'मठ' का अर्थ किसी भी वर्ग के तपस्वियों के स्थान से होता है। परंतु 'स्थान' कदाचित् केवल वैष्णव-मतानुयायियों के स्थानों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे अयोध्या में, यह भी असंभव नही है कि अयोध्या के मठों के अनुकरण में ही इस स्थान के नाम में परिवर्तन हुआ हो। अयोध्या में प्राचीनतम वैष्णव मठ कदाचित् 'वड़ा स्थान' है जिस की नींव स्वामी रामप्रसाद जी ने डाली थी। उन की तिथि सं० १७६०–१८६१ है, जिस

का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।[1]

६२. जय कृष्णदास द्वारा की हुई 'न्याय सिद्धात मंजरी' की प्रतिलिपि के लगभग १०० वर्ष पश्चात् की तिथि सं० १८९२ पर हम विचार करेंगे। उस समय कोई लक्ष्मणदास स्थान के महंत थे। काष्ठजिह्वा स्वामी ने 'रामायण-परिचर्या' नाम से उसी वर्ष 'रामचरित मानस' की एक टीका की थी जिस में उन्हों ने इन लक्ष्मणदास का उल्लेख बिना 'गोसाईं' उपाधि के किया है।[2] उस के विपक्ष में कोई इस प्रकार का प्रमाण नहीं मिलता जिस से यह सिद्ध होता हो कि लक्ष्मणदास अथवा उन के उत्तराधिकारी आज तक कभी भी अपने नाम के साथ 'गोसाईं' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सं० १८९२ तक इस मठ के महतों ने 'गोसाईं' उपाधि छोड़ दी थी।

६३. हमें ज्ञात महतों में सब से पहले महंत तुलाराम से अब तक के महंतों की परंपरा जान लेनी चाहिए। प्रस्तुत लेखक को यह परपरा श्री विजयानद त्रिपाठी से मिली थी जो इस समय ६५ वर्ष के ऊपर की अवस्था के हैं। और कोई दूसरा व्यक्ति मुझे नहीं मिला जो 'स्थान' के विषय में उन से अधिक कुछ बतला सके, क्यों कि जीवित व्यक्तियों में से कोई ऐसा न होगा जो उक्त स्थान से पिछले ४०–४५ वर्षों में उन की अपेक्षा अधिक निकट संपर्क में रहा हो। इस समय के महंत बाँकेराम ३२–३३ वर्ष के एक नवयुवक हैं, और स्थान के विषय में वे जो कुछ जानते हैं अधिकतर श्री विजयानंद जी से ही उन्हों ने उस की जानकारी प्राप्त की है। महत-परंपरा इस प्रकार है :

तुलाराम
|
धनीराम
|
पीताबरदास
|
लक्ष्मीनारायण[3]
|
विंध्येश्वरीप्रसाद

[1] देखिए ऊपर पृ० ३८

[2] 'रामायण परिचर्या' भूमिका

[3] यह वही जान पड़ते हैं जिन्हें ऊपर लक्ष्मणदास कहा गया है

|
गिरिधरदास
|
तुलसीराम
|
स्वामीनाथ
|
बाँकेराम

६४. विजयानंद जी कहते हैं कि उन्हों ने स्वयं गिरिधरदास और उन के उत्तराधिकारी महंतों को देखा है, और उन के अनुसार वे सभी गृहस्थ थे। मालूम होता है कि जैसे ही वे लोग गृहस्थ हुए उन की 'गोसाईं' उपाधि छूट गई और महंतों की परंपरा ने वंश-परंपरा का रूप धारण कर लिया और उस निर्वाचन-प्रणाली का अंत हो गया जिस मे गुरु द्वारा शिष्यों में से उत्तराधिकारी मनोनीत होता है अथवा मठ के सदस्यों द्वारा बहुमत से महंत का चुनाव होता है। यह पिछली प्रथा अन्यत्र आज भी प्रचलित है।

हस्तलेख

इस तरह के सात नमूने हस्तलेखों के हैं जो अलग अलग तुलसीदास के कहे जाते हैं। इन का संक्षिप्त परिचय मनोरंजक और आवश्यक होगा।

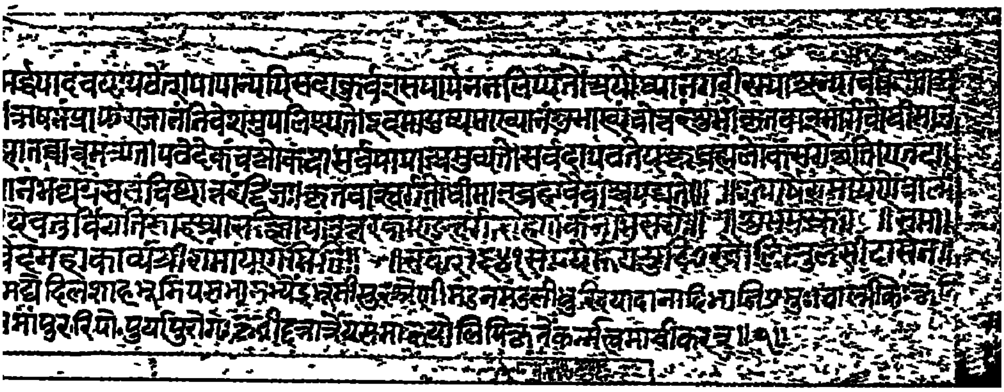
६५. ए : सं० १६६९ का लिखा हुआ एक पंचायतनामा है जिस के द्वारा एक टोडर की जायदाद का बँटवारा उन के देहात के पीछे उन के दो उत्तराधिकारियों के बीच किया गया है—इन उत्तराधिकारियों मे से एक उन का लड़का है और दूसरा उन के एक मृत लड़के का लड़का है। यह पंचायतनामा अब काशिराज के निजी संग्रह में है। इस की केवल पहली छः पंक्तियाँ ही तुलसीदास की लिखी कही जाती हैं। इस की प्राप्ति का स्थान विश्वसनीय है। यह सैकड़ों वर्षों तक टोडर के उत्तराधिकारियो के पास था—केवल थोड़े ही वर्ष हुए जब यह वर्तमान महाराज बनारस के एक पूर्वज के अधिकार मे आया। इस के बदले में प्राप्तकर्ता महाराज ने कुछ वार्षिक सहायता देने का वचन दिया था, जो अभी तक चौधरी लालबहादुर सिंह को राज्य से मिला करती है—चौधरी लालबहादुर सिंह ही अब उपर्युक्त टोडर के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। टोडर का घर बनारस में असीघाट के निकट ही था, और वह अब

भी लालबहादुर सिंह जी के अधिकार में है। लालबहादुर सिंह जी प्रत्येक वर्ष श्रावण की श्यामा तीज को तुलसीदास के नाम पर उन की निधन-तिथि के उपलक्ष्य मे सीधा दिया करते हैं। उन का कहना है कि उन्हों ने अपने पिता को भी इसी तिथि पर तुलसीदास के नाम पर सीधा देते हुए देखा था, और उन से यह सुना भी था कि यह प्रथा उन के घराने मे पहले ही से चली आ रही है। इस साक्ष्य से यह भली भाँति जान पड़ता है कि टोडर और तुलसीदास का सबंध बहुत कुछ घरेलू ढंग का रहा होगा। फलतः यह असभव नहीं है कि कवि ने उन के उत्तराधिकारियों के बँटवारे मे कुछ हाथ बँटाया हो और पचायतनामे की प्रथम छः पक्तियाँ लिख दी हों। यह हलके भूरे हाथ के बनाए हुए काग़ज़ पर फीकी काली स्याही से लिखा हुआ है। काग़ज़ पतला है, और यह बहुत घिसा हुआ है। यह बड़ी ही असावधानी के साथ एक मोटे काग़ज़ पर चिपकाया और मोड़ कर लपेटा हुआ है। इसी असावधानी के कारण हाशियों पर पक्तियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गई हैं और अनेक अक्षर बिगड़ गए हैं। नीचे के विवेचन में इस पत्र की पहली छः पंक्तियाँ ए कही जाएँगी।

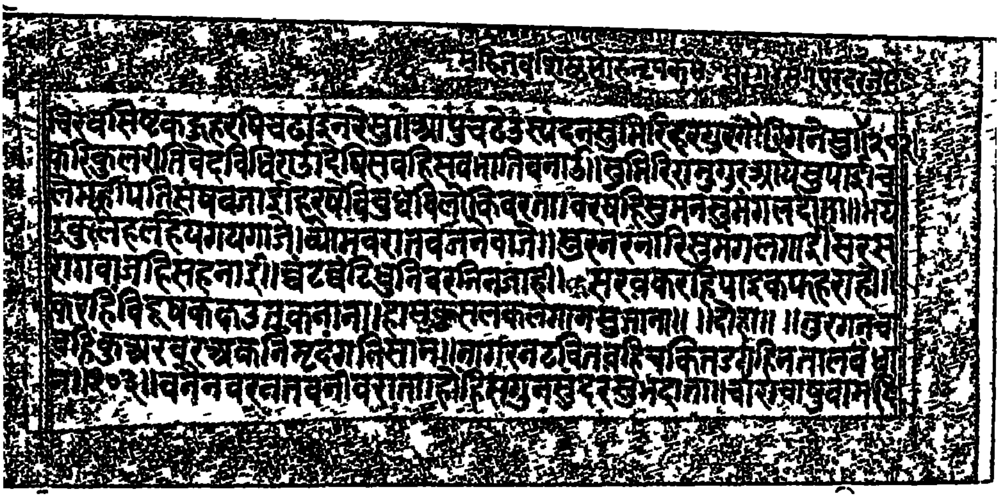
६६. बी: सं० १६४१ की लिखी हुई 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाड की एक हस्तलिखित प्रति है। प्रतिलिपि किन्ही तुलसीदास की की हुई है यह उक्त प्रति की पुष्पिका से प्रकट है। प्रति इस समय काशी के सरस्वती-भवन मे सुरक्षित है। यह किस प्रकार हस्तातरित होते हुए सरस्वती-भवन में पहुँची, और कब और किस प्रकार अपने पहले स्वामी से इस का सबध-विच्छेद हुआ अब अज्ञात है। प्रति की पुष्पिका के नीचे एक श्लोक लिखा हुआ है, जो इस सबंध में जानने योग्य है। वह इस प्रकार है:

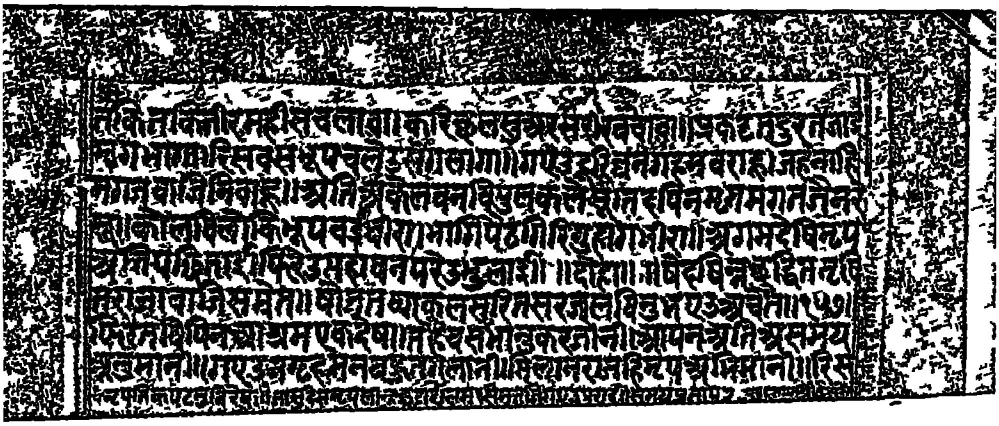
श्रीमद्येदिलशाह भूमिपसभा सभ्येंद्र भूमीसुर—
श्रेणीमंडन मंडलीधुरि दयादानादि माजिप्रभुः।
वाल्मीकेःकृतिमुत्तमां पुररिपोःपुर्यां पुरोगःकृतीद्
दत्तात्रेय समाह्वयो लिपिकृतेः कर्म्मत्वमाचीकरन् ॥१॥

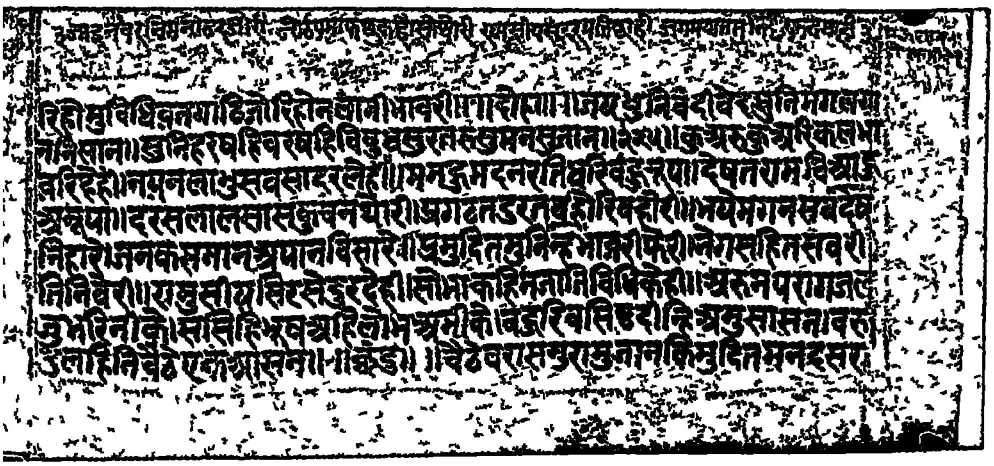
"जो राजा एदिलशाह की सभा का सर्वश्रेष्ठ सदस्य है, जो ब्राह्मणों का भूषण और उन की मंडली का धुरा है, जो दया-दानादि विभाग का अध्यक्ष है, और जिस का नाम दत्तात्रेय है, उस ने वाल्मीकि की इस उत्तम कृति का लिपि-कर्म शिव की पुरी मे करवाया।" किंतु यह समझने में कठिनाई ज्ञात होती है कि महाकवि और महात्मा तुलसीदास से कोई भी व्यक्ति "लिपि-कर्म" कैसे



बी. सं० १६४१ की हस्तलिखित 'वाल्मीकि-रामायण' का अंतिम पृष्ठ







सी, डी और ई. सं० १६६१ के हस्तलिखित 'रामचरितमानस'
बालकांड के तीन पृष्ठ

करा सकता था, विशेषतः उस समय जिस समय अपना लोक-प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरित मानस' उन्हो ने प्रकाशित कर दिया था। यह अत्यंत स्पष्ट है कि यह श्लोक उस हाथ का लिखा नही है जिस हाथ की लिखी पूरी प्रति सपुष्पिका है। फलतः ऐसा समझ पड़ता है कि किसी किंवदंती के आधार पर बाद को किसी ने इस प्रकार का उल्लेख प्रति के अंत मे कर दिया। प्रति सुरक्षित दशा मे है। कागज़ उस का हाथ का बना भूरापन लिए हुए सफ़ेद है। प्रति भर मे काली स्याही का प्रयोग हुआ है, केवल पुष्पिका लाल स्याही से लिखी गई है। उसके नीचे का श्लोक चूँकि उस हाथ का लिखा नहीं है जिस की शेष प्रति है, अतः नीचे के विवेचन मे हम प्रति के हस्तलेख पर विचार करते हुए इस श्लोक के हस्तलेख को विस्मृत रक्खेंगे। इस प्रति को हम बी कहेंगे।

६७. सी, डी, और ई : सं० १६६१ की लिखी 'रामचरित मानस' के बालकांड की एक प्रति है। यह अयोध्या मे श्रावणकुंज नामक एक मंदिर मे है। तुलसीदास को इस प्रति का लिपिकार नही कहा जाता, केवल इस में किए हुए कुछ स्थलों पर के संशोधन उन के हाथ के कहे जाते हैं। ये संशोधन पूरी-पूरी पंक्तियो के हैं, और तीन पृष्ठों पर हैं। पुनः ये संशोधन पृष्ठों के ऊपरी या नीचे के हाशिए मे लिखे गए हैं। इन संशोधनों के तुलसीदास के हस्तलेख होने का दावा किन्हीं सीताप्रसाद का किया हुआ है, और उस का आधार उन के ही लिखने के अनुसार केवल यह है कि इन का हस्तलेख राजापुर के 'मानस' की प्रति के हस्तलेख से पूरा-पूरा मेल खाता है। स्पष्ट ही इस निष्कर्ष में यह पहले से मान लिया गया है कि राजापुर वाली प्रति तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई है, जो विवादग्रस्त है। प्रति हाथ के बने सफेद कागज़ पर लिखी है, जो पुराना होने के कारण कुछ भूरा हो गया है। प्रतिलिपि और संशोधन दोनो ही काली स्याही से किए गए हैं। प्रति अच्छी हालत मे है। इन तीनो संशोधनों को हम क्रमशः सी, डी तथा ई कहेंगे।

६८. एफ़् : सं० १६६६ की लिखी 'रामगीतावली' की एक हस्तलिखित प्रति है जो रामनगर (बनारस स्टेट) निवासी एक चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। यह प्रति भी, ऊपर लिखी प्रति की भाँति, कवि की लिखी हुई नहीं कही जाती, केवल इस के एक पृष्ठ पर किया हुआ संशोधन उस का किया हुआ कहा जाता है। प्रति किसी भगवान ब्राह्मण की लिखी है, जो उस की पुष्पिका मे लिखा हुआ है। संशोधन के तुलसीदास का किया हुआ होने का दावा चौधरी

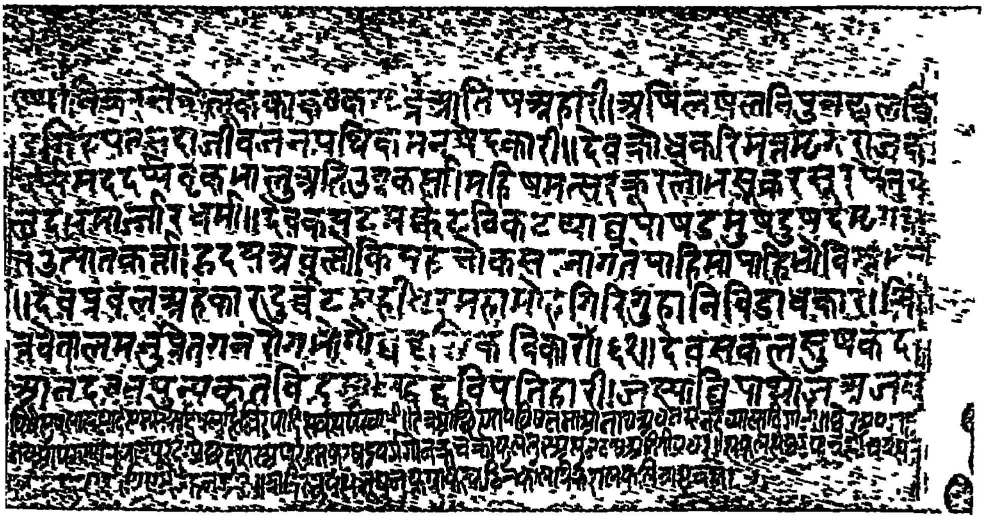
साहब इस आधार पर करते हैं कि उन्हें इस के हस्तलेख और पंचायतनामे के हस्तलेख में यथेष्ट साम्य समझ पड़ता है। वस्तुतः दोनों में कहाँ तक साम्य है यह हम आगे देखेंगे। प्रति भूरापन लिए हुए सफेद काग़ज़ पर लिखी हुई है, और इस की स्याही काली है। प्रति अत्यंत घिसी हुई है, और इस को उलटने-पुलटने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। और, जान पड़ता है कि कभी इस के पन्नों पर से धूल हटाने के उद्देश्य से मोटा कपड़ा या और कोई ऐसी ही चीज़ भी रगड़ दी गई थी जिस से पृष्ठों के अक्षरों की स्याही थोड़ी बहुत निकल गई। इस संशोधन को नीचे के विवेचन में हम एफ् कहेंगे।

६९. जी : 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाड की एक प्रति है जो राजापुर के पंडित मुन्नीलाल उपाध्याय के पास है। इन का मकान तुलसीदास के मंदिर के पास ही है। कहा जाता है कि पहले प्रति इसी मंदिर में रक्खी रहती थी, बाद को चोरों के डर से उपाध्याय जी इसे अपने घर में रखने लगे। प्रति में कोई पुष्पिका नहीं है, इस लिए लिपि-काल के संबंध में कहना कठिन है। हस्तलेख के संबन्ध में जन-श्रुति यह है कि इस के लिपिकार तुलसीदास ही थे। प्रति हाथ के बने सफेद काग़ज़ पर है, जो पुराना होने के कारण कुछ भूरा पड़ गया है, और स्याही काली है। प्रति साधारणतः अच्छी हालत में है, केवल काग़ज़ के किनारों पर पानी से भीगने के दाग़ बने हुए हैं। नीचे के विवेचन मे इस प्रति का उल्लेख जी नाम से किया जायगा।

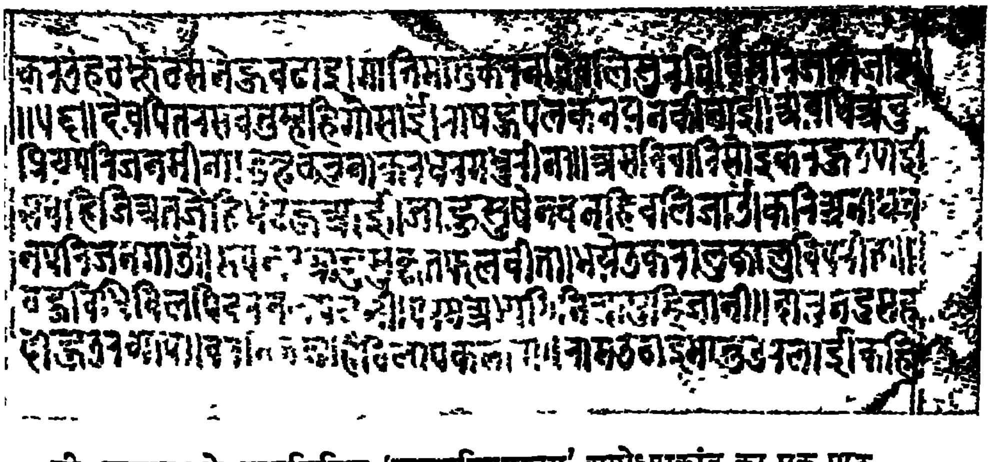
इस लेख के साथ जो चित्र दिए जा रहे है, वे सभी मूल के प्रतिचित्र हैं, केवल जी मूल के एक छपे हुए 'ब्लाक'[१] का परिवर्धित प्रतिचित्र है, और यह इस कारण कि मूल का प्रतिचित्र इस के अधिकारियों ने अनेक प्रयत्न करने पर भी देने से इन्कार कर दिया था। हस्तलेखों का मिलान करने के कुछ प्रसिद्ध नियम हैं, उन्हीं को ध्यान में रखते हुए नीचे इन नमूनों का हम विश्लेषण करेंगे।

७०. हस्तलेखों के मिलान में पहली बात जो साधारणतः देखी जाती है वह है उन का 'साधारण स्वरूप' ('स्टाइल')। 'साधारण स्वरूप' से तात्पर्य है उस मानसिक चित्र से जो कोई भी हस्तलेख उस के विश्लेषक के मस्तिष्क मे निर्मित करता है। अस्तु, 'साधारण स्वरूप' की दृष्टि से जब हम ए से ले कर जी तक के हस्तलेखों की तुलना करते हैं तो, यह ज्ञात होता है कि वी तथा जी

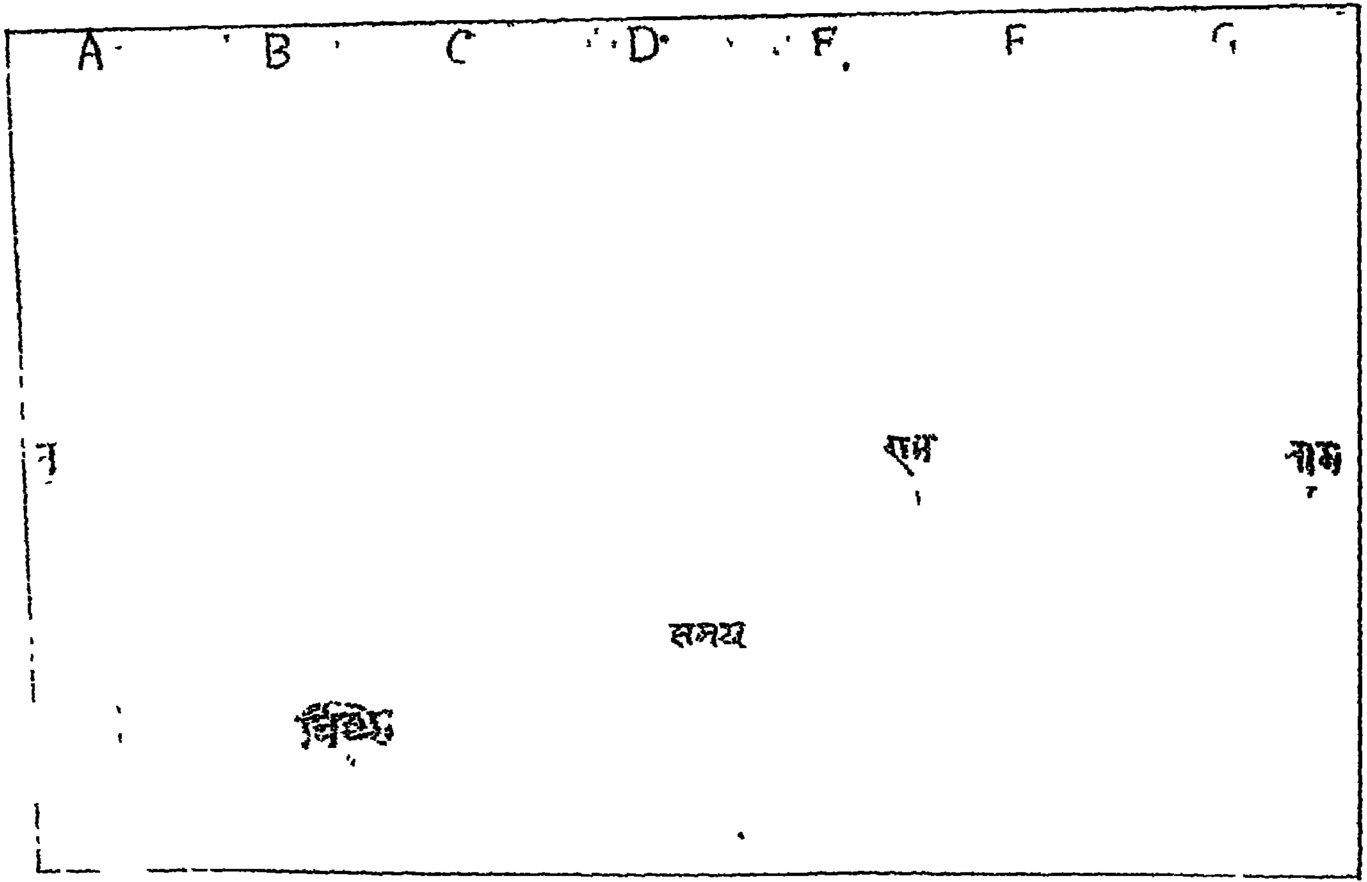
१ 'वीयन इटरनैशनल ओरिएंटल कॉग्रेस' सन् १८८६, पृ० २११



एफ् सं० १६६६ की हस्तलिखित 'राम गीतावली' का एक पृष्ठ



जी राजापुर के हस्तलिखित 'रामचरितमानस' अयोध्याकांड का एक पृष्ठ



ए से जी तक के हस्तलेखो के विविध अक्षरों का क्रमागत 'तुलनात्मक मानचित्र' (१)

सब से अधिक नियमित हैं और एक-ढंग पर लिखे गए हैं; ए का स्थान इस दृष्टि से बी तथा जी के बाद आता है, क्यों कि उन की अपेक्षा यह कम नियमित ढंग पर लिखा गया जान पड़ता है; सी, डी और ई का साधारण स्वरूप इन तीनों की अपेक्षा कम नियमित और एक-सा जँचता है; और एफ़् तो इस दृष्टि से सब से पिछड़ा हुआ ज्ञात होता है।

७१. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और तरीक़ा उन की 'गति' ('मूवमेंट') की जाँच का है, अर्थात् यह देखने का है कि विभिन्न हस्तलेखों में उन के लेखकों ने अपेक्षाकृत द्रुत या मंद 'गति' से लिखा है। इस दृष्टि से जब हम ए से ले कर जी तक के लेखों को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि ए सर्वश्रेष्ठ है, क्यों कि अन्य सब की अपेक्षा इस में गतिविधि स्वछंद और द्रुत ज्ञात होती है; एफ़् सी डी और ई क्रमशः ठीक इस के पीछे आते हैं, क्यों कि इन मे 'गति' कुछ बाधित और अपेक्षाकृत मंद है; बी और जी इस दृष्टि से सब से पीछे हैं, क्यों कि वे सब से अधिक सावधानी और इसी लिए मंद 'गति' से लिखे ज्ञात होते हैं; और बी और जी में भी बी की गति जी मंदतर ज्ञात होती है।

७२. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और तरीक़ा उन में व्यवहृत अक्षरों के 'ख़तों' और 'मोड़ों' (क्रमशः 'स्ट्रोक्स' और 'कर्व्स') की जाँच करने का है। नमूनों को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो जान पड़ता है कि बी और जी के 'ख़त' अन्य हस्तलेखों के 'ख़तों' की अपेक्षा कहीं अधिक भरपूर हैं—और यह स्वाभाविक भी है, क्यों कि वे अन्य सभी नमूनों की अपेक्षा अधिक सावधानी से लिखे गए हैं; सी, डी और ई के 'ख़त' बी और जी के ख़तो से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं; इन के पीछे का स्थान, इस दृष्टि से, एफ़् का है, और ए सभी से इस दृष्टि से गया-बीता जान पड़ता है। इन नमूनों को 'ख़त' की दृष्टि से तुलना करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये सभी लेख बहुत पुराने हैं, और इसी लिए 'ख़तों' की स्याही पर समय का प्रभाव यथेष्ट पड़ा है। ये नमूने, अलग अलग, अभी तक जिस प्रकार सुरक्षित रक्खे गए होंगे उस का भी प्रभाव कम न पड़ा होगा। फिर वह काग़ज़, जिस पर ए लिखा गया है, असावधानी के साथ प्रयोग में आने के कारण हाशिए पर और सिरे पर कई जगह फट गया है; इस की मरम्मत, जैसा अधिकतर होता है, पूरे पत्र को एक दूसरे काग़ज़ पर चिपका कर की गई है, किंतु इस को चिपकाने में कौन सी गोंद का प्रयोग हुआ है यह भी अज्ञात है, इस लिए यह कहना कठिन

है कि ए का 'ख़त' दूसरे काग़ज़ पर उसे चिपकाने के कारण कहाँ तक विकृत हुआ है।

७३. एक और भी तरीक़ा हस्तलेखों के विश्लेषण का उन के अक्षरों के 'आकार' ('साइज़') की तुलना का है। यह अनुभव करने में कदाचित् देर न लगेगी कि इस बात मे बी और जी सर्वश्रेष्ठ हैं—इन दोनों में अक्षरों का 'आकार' अन्य नमूनों की अपेक्षा अधिक एक-सा है। इन के बाद स्थान सी तथा डी का है, जिन के अक्षरों का 'आकार' बी जी की अपेक्षा कम एक सा है; ए का इस दृष्टि से और भी नीचा स्थान है, और ई, तथा एफ्, विशेषतः एफ् का स्थान सभी से नीचा है। पुनः, यह ध्यान देने योग्य है कि ए, बी तथा सी के अक्षरों का 'आकार' कुछ-कुछ वर्ग का-सा है, डी, जी, ए तथा एफ् के अक्षरो का 'आकार' अपेक्षाकृत समकोण-समद्विबाहु-चतुर्भुज का-सा है, और ई तथा एफ् में कुछ अक्षरों का 'आकार' तो ऐसा है कि उन की लंबाई और चौड़ाई का अनुपात दो और एक का है।

७४. हस्तलेखो के विश्लेषण का एक और भी अन्य तरीक़ा अक्षरों के बीच का 'फ़ासला' ('स्पेस') देखने का है। यह स्वतः स्पष्ट है कि ए के अक्षरो के बीच सब से अधिक 'फ़ासला' रक्खा गया है, किंतु साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि ए मे लिखने के लिए लेख-स्थान भी अपेक्षाकृत सब से अधिक था। ए के बाद स्थान सी और डी का आता है; इन में यह फ़ासला ए की अपेक्षा कम है; बी और जी में यह फ़ासला और भी कम रक्खा गया है, और ए तथा एफ् मे तो बहुत ही कम है; ई तथा एफ् में अक्षर एक दूसरे से जितने सटा-सटा कर लिखे गए हैं उतने किसी भी अन्य नमूने मे वे नही लिखे गए हैं।

७५. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी तरीक़ा यह देखने का है कि उन की पंक्तियो की 'गति' काग़ज़ के दूसरे किनारे तक पहुँचते-पहुँचते कैसी रहती है। इस संबंध मे ए विशेष ध्यान देने योग्य है: उस की पंक्तियाँ दूसरे छोर तक पहुँचते-पहुँचते नीचे की तरफ़ कुछ झुक जाती हैं। किंतु, काग़ज़ के फट जाने और पुनः एक दूसरे काग़ज़ पर उस के चिपकाए जाने, और चिपकाने में भी असावधानी होने के कारण—जो पंक्तियों के दाहिनी छोर पर अक्षरों और शब्दों की विकृति से अत्यत स्पष्ट है—यह झुकाव सभवतः जितना होना चाहिए था उस से कुछ अधिक ज्ञात होता है। इस लिए यह झुकाव कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। और, अन्य नमूनों में तो यह झुकाव ज्ञात ही नहीं होता। फिर भी

वी और जी की पंक्तियों में जो सीधापन है वह भी महत्व नहीं रखता, दोनो मे पहली पंक्ति के लिए रेखा खींच लेने के बाद लिखना आरंभ किया गया है। और सी, डी, ई तथा एफ् पूरा पत्रा लिखे जाने पर लिखे गए हैं, इस लिए लेखक को लिखी हुई पंक्तियो से समानातर रेखा पर लिखने में सहायता अवश्य मिली होगी। यह ध्यान देने योग्य है कि ए के लेखक को इन मे से एक भी सुविधा नहीं थी।

एक और महत्त्वपूर्ण बात इस संबंध में ध्यान देने योग्य है; यदि ए के प्रत्येक अक्षर का सम्यक् निरीक्षण किया जाय तो यह विदित होगा कि प्रत्येक अक्षर अपने पूर्ववर्ती अक्षर की अपेक्षा कुछ नीचे से लिखा जाने लगता है, और इसी लिए पूरी पंक्ति एक सीढ़ियों की पंक्ति सी दिखाई पड़ती है। यह 'सीढ़ीनुमा' पंक्ति-विन्यास अन्य किसी नमूने मे नहीं मिलता।

७६. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी तरीक़ा यह देखने का है कि लेखक शिरोरेखा के साथ अक्षरों का शेष भाग साधारणतः कितने अंश के कोण पर रखता है, जिसे 'झुकाव' ('स्लैंट') कहते हैं। इस संबंध में यह प्रकट है कि ए तथा एफ् में यह कोण समकोण हैं, अर्थात् यदि शिरोरेखा से समानातर कोई रेखा खींची जाय तो इन के अक्षर ९०° का कोण बनावेंगे। अन्य नमूनों अर्थात् बी, सी, डी, ई, तथा जी में यद्यपि यह झुकाव समकोण प्रतीत होता है, किंतु ध्यानपूर्वक देखने पर विदित होगा कि अनेक स्थलों पर वस्तुतः वह पूरा समकोण नही है।

७७. अंत में, हस्तलेखों के विश्लेषण का सब से अधिक प्रचलित और मान्य तरीक़ा नमूनो में से ऐसे शब्दों और अक्षरों को काट-काट कर एकत्र आमने-सामने चिपकाने का है जिसे 'तुलनात्मक मानचित्र' ('जक्स्टापोज़्ड चार्ट') तैयार करना कहते हैं। इस के निर्माण से अक्षरों की बनावट का अंतर आसानी से स्पष्ट हो जाता है। इन नमूनों का 'तुलनात्मक मानचित्र' देखने से यह भली भाँति विदित होगा कि अक्षरों की बनावट में ये नमूने एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यह अंतर कुछ अक्षरों के संबंध में तो अत्यंत स्पष्ट है, जैसे ज, ध, न, न्, ब, भ, म, र, ल, व, स और, ह के संबंध में; ये अक्षर अधिकतर नमूनों में परस्पर बनावट मे बहुत भिन्न हैं। यही बात इ, ई, उ, ऋ तथा ओ की मात्राओं के विषय में भी कही जा सकती है, न केवल इन मात्राओं की बनावट अधिकतर नमूनों में एक दूसरे से भिन्न है, बल्कि वर्णों के साथ जिस ढंग से

इन्हें जोड़ा गया है उस में भी ध्यान देने योग्य अंतर है।

७८. इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऊपर के सात नमूनों में से कोई दो भी ऐसे नहीं हैं जो कसौटी पर ठीक-ठीक एक-से उतरते हों। अधिक से अधिक साम्य यदि देखा जावे तो बी और जी में है: वे परस्पर बहुत निकट हैं; विशेष ध्यान देने योग्य अंतर केवल कुछ अक्षरों की बनावट में पाया जाता है, जैसे ब, र तथा ॠ की मात्रा की बनावट मे, जो 'तुलनात्मक मानचित्र' मे आसानी से देखा जा सकता है। और यह सर्वथा असंभव नहीं है कि इस प्रकार का अतर—अक्षरों की बनावट का भी—कालातर-प्रसूत हो, यद्यपि बहुत निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, फलतः यह असंभव नहीं कि ब और ज एक ही व्यक्ति की लिखावटे हों। और, ऐसी दशा में चूँ कि एक ओर यह कल्पना करना कठिन होगा कि महाकवि तुलसीदास का समसामयिक उसी नाम का ऐसा कोई प्रतिलिपिकार भी था जिस ने उन्हीं की रचना और उस रचना की प्रतिलिपि की जो उन के पारायण का विषय था, और दूसरी ओर जन-श्रुति के अनुसार दोनों ही गोस्वामी तुलसीदास के हस्तलेख माने जाते हैं, इस लिए असंभव नहीं कि दोनों ही गोस्वामी जी के हस्तलेख हों। कठिनाई तब उपस्थित होती है जब हम इन की लिखावट की तुलना अन्य नमूनों की लिखावटों से करते हैं। बी और जी की तुलना इन अन्यों से करने पर अंतर इस प्रकार का नहीं ज्ञात होता कि अवस्था-भेद से उस का समाधान किया जा सके, और इन अन्य नमूनों में ए को छोड़ कर कोई ऐसा भी नहीं है जिस के संबध की परंपरा प्राचीन हो, इस लिए अधिक से अधिक ए ऐसा है जिस का विरोध कुछ महत्व रखता है। फलतः परिस्थिति इस प्रकार है: बी के पक्ष में है "तुलसीदास" लिपिकार का नाम, जी के पक्ष में हैं परपरा और बी के साथ उस का एक उल्लेखयोग्य अंश तक लिपि-साम्य; और ए के पक्ष में है केवल परपरा, इस लिए ए के साथ बी और जी के विरोध की इस दशा में बी और जी को ही महाकवि का हस्तलेख मानना पड़ेगा।

४

कृतियों का पाठ

१. हस्तलिखित प्रतियाँ मूलतः दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं : कवि-हस्तलिखित प्रतियाँ, तथा प्रतिलिपियाँ। प्रतिलिपियाँ फिर दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं : कवि-हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपियाँ, तथा किसी भी उत्तरोत्तरक्रम-संख्या तक पहुँची हुई प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ। इन का एक संक्षिप्त विवेचन आवश्यक होगा, इस के पूर्व कि हम कवि की कृतियों के पाठ पर विचार करें।

कवि-हस्तलिखित प्रतियों से आशय रचयिता की अपने हाथ से लिखी हुई प्रतियों से होता है, और इन के अंतर्गत वे कवि-संशोधित प्रतियाँ भी आ जाती हैं जिन्हें यद्यपि रचयिता ने स्वतः लिपिबद्ध न किया हो फिर भी जिन का उस ने स्वयं निरीक्षण कर के संशोधन किया हो। फलतः पाठों के समालोचक को इन प्रतियों के संबंध में लिपि की भूलों को सुधारने के अतिरिक्त साधारणतः किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु अधिकतर कवि-हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत कम प्राप्त होती हैं, और पाठ-सपादकों को दूसरी ही प्रकार की प्रतियों का आश्रय लेना पड़ता है।

इन दूसरी प्रकार की प्रतियों के लिपिकार प्रायः वे होते हैं जो प्राचीन काल में मुद्रण-यंत्रों के अभाव में पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ कर के जीविकोपार्जन करते थे। फलतः यह अनुमान सहज मे किया जा सकता है कि ऐसी परिस्थिति में की हुई प्रतिलिपियाँ मूलग्रंथ की सच्ची प्रतिकृति बहुत कम हो सकतीं हैं; यही नहीं, अधिकतर प्रतिलिपियाँ तो अपने मूल की अपेक्षा इस लिए निकृष्ट भी देखी जाती हैं; और ज्यों-ज्यों आनुक्रमिक प्रतिलिपियाँ कवि की स्वहस्तलिखित मूल से दूर होती जाती हैं त्यों-त्यों यह विकार बढ़ता जाता है। अतएव किसी भी प्रतिलिपि के पाठ के मूल्याकन में हमें कृति की रचना-तिथि से उस के कालातर को उचित महत्व देना होगा।

कवि-हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपियों से आशय उन प्रतियो से है

जो उक्त प्रकार की प्रति को देख कर या उस से मिला कर तैयार की गई होती हैं। किसी भी रचना की कवि-हस्तलिखित प्रति की अनुपस्थिति में उस के पाठ को इसी प्रकार की प्रतिलिपियों के आधार पर निश्चित रूप दिया जाता है। किंतु इस प्रकार की प्रतियाँ कभी-कभी प्राप्त होती हैं, अधिकतर प्राप्त होती हैं किसी भी उत्तरोत्तरक्रम-संख्या तक पहुँची हुई प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ। अपने कवि के विषय में हमें देखना है कि किस प्रकार की प्रतियाँ और प्रतिलिपियाँ हमें प्राप्त हैं।

समस्त प्रतिलिपियो के संबध में हमें दो बातों पर और ध्यान देना होता है; एक तो लिपिकार की लिपि संबंधी प्रवृत्तियों पर और दूसरे सशोधक की संशोधन सबंधी प्रवृत्तियों पर; इन का सम्यक् अध्ययन कर के ही वस्तुतः हम प्रतिलिपियों का ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। आगे फलतः प्राप्त प्रतियों का पाठ-विवेचन करते हुए हमें इन दो बातों को भी निरंतर अपने ध्यान मे रखना होगा।

लेखक को आशा है कि प्रस्तुत गवेषणा का आशय एव उद्देश्य इस समय तक स्पष्ट हो गया होगा। विवशता हमारी यह है कि यहाँ पर हम कवि की रचनाओं के केवल मुख्यतातिमुख्य पाठों पर ही विचार कर सकते हैं, क्यों कि प्रस्तुत ग्रथ की छोटी परिधि मे यही संभव भी है। दूसरी कठिनाई हमारी यह है कि इस प्रकार के सम्यक् अध्ययन के लिए आवश्यकता होती है हस्तलिखित प्रतियों की खोज की पूर्णता की, और हमारे साहित्य का यह अंग कितना अपूर्ण है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी विषय इतना महत्वपूर्ण है कि उस की ओर उपेक्षा नही की जा सकती, फलतः प्रस्तुत दशा में यह प्रथम प्रयास भी विश्वास है कि लाभदायक होगा। आगे चल कर जिस क्रम से कवि की कृतियों के रचना-काल पर विचार किया गया है वही क्रम प्रस्तुत अध्याय में उन के पाठ-विवेचन में भी रक्खा गया है; लेखक को आशा है कि यह क्रम सुविधा-जनक सिद्ध होगा।

रामलला नहछू

२. तुलसी-ग्रंथावली में जितनी कम प्रतियाँ 'नहछू' की प्राप्त हैं उतनी कदाचित् किसी भी अन्य ग्रंथ की नहीं; और, अभी तक की खोज में उस की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उन में कोई ऐसी नहीं है जो उल्लेखयोग्य रूप से

प्राचीन कही जा सके; पाठ भी इन प्रतियों का, जहाँ तक पता चलता है, मुद्रित प्रतियों के पाठ से मिलता-जुलता है; इस लिए उन में से कोई भी ऐसी नही है जिस का उल्लेख यहाँ पर किया जावे। प्रस्तुत लेखक को सौभाग्यवश ग्रंथ की एक ऐसी प्रति प्राप्त हुई है जो कवि के जीवन-काल की है; उस का विस्तृत परिचय देना आवश्यक होगा।

३. प्रति संपूर्ण प्राप्त है और उस की पुष्पिका का आवश्यक अंश इस प्रकार है :

"ऐती श्री पोथी राम जी का नहछु···दसखत कीसोरदास वासीदा गआ जी प्रगना सोनउत संबत् १६६५ साल मीती माघ सुदी पंचमी दीन सोमार समाप्त।"

पुष्पिका से यह स्पष्ट ही है कि प्रति कवि-हस्तलिखित नहीं है। वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सशोधित भी नही है; इस लिए यह प्रश्न नहीं उठता कि वह कवि सशोधित भी है या नहीं, और न यही कि संशोधन साधारण लिपि-त्रुटि को दूर करने के लिए किया गया है अथवा पाठ-परिवर्तन के लिए। एक विषय प्रस्तुत प्रति के संबंध मे अत्यंत महत्वपूर्ण है : वह है लिपिकार की लिपि संबंधी प्रवृत्तियों का अध्ययन। ऊपर हम ने पुष्पिका से कुछ अंश उद्धृत किया ही है, नीचे मूल पाठ से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर उस के अध्ययन का प्रयत्न करेंगे।

४. लिपिकार की लिपि संबधी प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए हम कृति के चार अन्य विभिन्न स्थलों से निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

कनक कलसां गंगा जल भरी लाइअ।
चंदन चौका पुराऐ प्रभु को नहवाइअै॥

*   *   *

श्री राम भऐ दसरथ को लछुमन आन को।
भरथ चतुरगुन भए दोउ चतुर सुजान को॥

*   *   *

काचही बांस कर माडव हरीअर हुबी हे।
पानन्ही माडो छाऐ अम्ब डारही कपुर हे॥

*   *   *

होन लागु नीहछावरी गोतनी सब हलीआ।
जस सावन को बुंद स्याम घन बलीआ॥

ऐसा जान पड़ता है कि लिपिकार केवल अ, आ, ए, ऐ, ओ, तथा औ, की मात्राएँ ही बनाना ठीक-ठीक जानता है; इ तथा ई की ध्वनियों के लिए केवल ई की मात्रा का और उ तथा ऊ की ध्वनियों के लिए केवल उ की मात्रा का ही प्रयोग वह जानता है, और र की ध्वनि को लिपि में वह यथास्थान नहीं रख पाता है। यह प्रवृत्तियाँ लिपिकार की अत्यंत स्पष्ट हैं; और जब तक हम उस की इन प्रवृत्तियों को जान नहीं लेते उस की प्रति के पाठ का यथेष्ट मूल्याकन नही कर सकते। उस की इन प्रवृत्तियों को ध्यान मे रखते हुए यदि हम पाठ का पुनर्निर्माण करना चाहें तो कदाचित् कोई कठिनाई नहीं होगी।

५. इस प्रकार की लिपिकार की प्रवृत्तियों का यथेष्ट मार्जन कर देने के अनतर इस महत्वपूर्ण प्रति के पाठ और मुद्रित पाठ में परस्पर जो अतर दिखाई पड़ता है अब हमें उस पर ध्यान देना चाहिए। ग्रंथ के मुद्रित पाठ में कुल ४० द्विपदियाँ हैं और प्रस्तुत प्रति के पाठ में कुल केवल २६ द्विपदियाँ हैं, और ऐसी द्विपदियाँ जो दोनों मे लगभग सामान्य हैं—क्यों कि ऐसी एकाध ही हैं जो शब्दशः सामान्य हैं—केवल १३ हैं, यद्यपि वे भी दोनों में विभिन्न क्रम से संगृहीत हैं, इस लिए मुद्रित पाठ की २७ द्विपदियाँ प्रस्तुत पाठ मे, और प्रस्तुत पाठ की १३ द्विपदियाँ मुद्रित पाठ में नहीं मिलती हैं। मुद्रित पाठ की जो द्विपदियाँ प्रस्तुत पाठ मे नहीं मिलतीं उन में से प्रमुख हैं वे जिन में लोहारिनि, अहिरिनि, तँबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मलिनियाँ, बरिनिआँ, और नउनियाँ के हाव-भाव का वर्णन है, जिन मे राजा दशरथ उन में से एक के यौवन पर मुग्ध बतलाए जाते हैं, और जिन में 'कौसल्या की जेठि' का उल्लेख होता है, और जिन मे नाउनि की विद्यमानता का पहले से ही उल्लेख मिलता है। और प्रस्तुत पाठ की उन द्विपदियों में से जो मुद्रित पाठ में नही मिलती प्रमुख हैं वे जो नाइन के 'निहछावर' के लिए झगड़ने का उल्लेख करती हैं। पहले प्रकार के अंशों का पाठ-परिचय प्राप्त करने के लिए ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी— वे कुछ अंतर के साथ दोनों में पाई जाती हैं। दूसरे प्रकार के अंशों का पाठ-परिचय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं; प्रस्तुत पाठ उपर्युक्त प्रवृत्तियो के प्रकाश मे संपादन के अनंतर दिया जा रहा है :

मढ़वहि झकरै नउनिआ एहि सब निहछावर थोर हे।
रघुबर कै निहछावर लेहु मए थोर हे॥
काहे झगरहु नउनिआ एहि सब लेहु हे।

राम बिआहि घर आएव देबुँ भए थोर हे॥
जो सब देहल रानी सो सब थोर हे।
सामी चढ़न को घोरा मोहि पटोर हे॥

अन्य विस्तारों मे अधिक उल्लेखनीय हैं 'गीति' और 'निहछावर' संबंधी। उन के द्वारा प्रति के पाठ मे जिस 'सोहर'-तत्व का समावेश हुआ है वह मुद्रित पाठ मे मिल नहीं सकता। यह विस्तार उपर्युक्त प्रकार से संपादित रूप में क्रमशः इस प्रकार हैं :

(सोने कर कलसा ऊपर बरहि मानिक दीप हे।
मचिआ बैठली कोसिला उठै लागु गीति हे॥)
केहि एह पोखरा खनावल घाट बंधावल हे।
काकर भरिहैं कहार तौ केहि नहवाएब हे॥
राजा दसरथ पोखरा खनावल घाट बंधावल हे।
कोसिला के भरिहैं कहार तौ प्रभु को नेहवाएब हे॥

* * *

(होन लागु निहछावरि गोतनि सब हरखिअ।
जस सावन को बुंद स्यामघन बरखिअ॥)
के दिहल चुटकी मुदरिआ के दीहल रूप हे।
के दिहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे॥
केकइ दिहल चुटकी मुदरिया सोमित्रा दीहल रूप हे।
कोसिला दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे॥

दोनों पाठों में से कौन सा पाठ कवि की विचार-धारा के अधिक निकट है यह समझने में कदाचित् कठिनाई न होगी। मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त प्रति का इतना परिचय यथेष्ट होगा।

वैराग्य संदीपिनी

६. 'वैराग्य संदीपिनी' की प्राप्त प्रतियाँ संख्या मे 'नहछू' की प्रतियों की अपेक्षा अधिक हैं पर उन में से भी कोई ऐसी नही है जो उल्लेख-योग्य रूप से प्राचीन कही जा सके; और न जहाँ तक पता चलता है उन में से और ऐसी ही है जिस में मुद्रित प्रतियों की तुलना में कोई महत्वपूर्ण पाठांतर मिलता हो; इस लिए उन में से कोई ऐसी नही है जिस का उल्लेख हम यहाँ पर कर सकें।

रामाज्ञा-प्रश्न

७. 'रामाज्ञा-प्रश्न' की प्रतियाँ कई नामों से मिलती हैं, 'रामाज्ञा-प्रश्न' के अतिरिक्त उन में से कुछ यह हैं : 'रामायण-सगुनौती', 'सगुनावली', 'रामशलाका', 'रघुवरशलाका' तथा 'सगुनमाला'। खोज में प्राप्त इन विभिन्न नामों के अंतर्गत सूचीबद्ध प्रतियों की सूचनाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सब का पाठ एक ही है, और मुद्रित प्रतियों के पाठ से मिलता-जुलता है; फलतः 'रामाज्ञा-प्रश्न' की प्रतियों पर विचार करते समय हम इन सब पर भी विचार कर सकते हैं।

८. प्राप्त प्रतियों में से इस समय सब से प्राचीन सं० १६५५ की है, जो हाल में ही पंजाब में हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज में प्राप्त हुई है।[1] यह अत्यंत खेद का विषय है कि खोज-विवरण में उस की जो सूचना दी गई है उस में उस की प्राप्ति का स्थान-निर्दिष्ट नहीं है, और नागरी प्रचारिणी सभा काशी से, जिस ने वह खोज-विवरण प्रकाशित किया है, पत्र-व्यवहार करने पर भी उस का पता नहीं चल सका। क्या ही अच्छा होता यदि इस महत्वपूर्ण प्रति का पता चल जाता।

९. अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा था, "छक्कनलाल कहते हैं कि सन् १८२७ (सं० १८८४) में उन्हों ने 'रामाज्ञा-प्रश्न' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी जो कवि के हाथ की लिखी थी और जिस की तिथि कवि ने स्वतः सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।"[2] उन्हों ने छक्कनलाल की प्रति की पुष्पिका भी दी थी जो इस प्रकार थी : "श्री सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गोसाईं जी के हस्तकमल की प्रह्लादघाट श्री काशी जी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलाम जी के सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ मिरजापुरवासी ने अपने हाथ से सं० १८८४ में लिखा था।"[3] "वह प्रति" ग्रियर्सन साहब का कहना है, "प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (सं० १९२०) तक विद्यमान् थी",[4] और पं० सुधाकर द्विवेदी की सूचना

[1] 'रिपोर्ट ऑॅन दि सर्च अव् हिंदी मैन्युस्क्रिप्टस इन दि पंजाब' (सन् १९२२–२४ नो० ११२ ई०

[2] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९६

[3] वही, पाद-टिप्पणी

[4] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९६

के अनुसार "पं० रामकृष्ण नामक एक पुरोहित के पास थी जिन के पास से वह उस समय चुरा ली गई थी जिस समय उसे एक बार रेल में यात्रा करते समय उन्हो ने बाँचने के लिए निकाला था।"[1]

१०. उक्त खोज के प्रकाशित होने के लगभग इक्कीस वर्ष बाद सं० १९७१ में प्रह्लादघाट निवासी रणछोड़ लाल व्यास ने एक लेख उस के प्रतिवाद मे प्रकाशित किया था,[2] जिस मे उन्हो ने लिखा था कि वह उन गगाराम के उत्तराधिकारियों मे से हैं जो गोस्वामी जी के समकालीन और उन के मित्रो और स्नेहियों में से थे, और असल मे वह 'रामाज्ञा-प्रश्न' नहीं 'रामशलाका' थी जो इस प्रकार छिन गई थी, और इसी की एक प्रतिलिपि छक्कन लाल ने भी की थी।

११. यह विवाद लगभग तेइस वर्ष तक और इसी रूप मे चलता रहा,[3] जब कि अत में प्रस्तुत लेखक ने उसे इस प्रकार सुलझाने का यत्न किया कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामशलाका' वस्तुतः एक ही कृति हैं, और अतर दोनो मे केवल नामो का है।[4] पंजाब की खोज में जो प्रति प्राप्त हुई है उस की भी तिथि स० १६५५ बताई जाती है, और उस के संबंध मे भी यही कहा जाता है कि प्रति कवि-हस्तलिखित है, इस लिए यह असंभव नहीं कि वह प्रति जो पहले प्रह्लादघाट पर थी अब हमे इतने दिनों बाद फिर प्राप्त हो रही हो।

१२. मुद्रित प्रतियों के पाठ में से एक की पुष्पिका प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। वह है 'षोडस रामायण संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा-प्रश्न' की पुष्पिका जो इस प्रकार है:

"हस्ताक्षर श्री गुसाईं जी सं० १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १०।"

इस पुष्पिका से ज्ञात होता है कि मुद्रित प्रति उक्त पुष्पिका की किसी प्रति का पाठ सीधे अथवा किसी प्रतिलिपि के द्वारा लेकर तैयार की गई है।

१३. प्रश्न यह अवश्य है कि उक्त प्रति पूरी-पूरी कवि के हाथ की लिखी है या केवल हस्ताक्षर मात्र उस पर कवि का है। पूर्ण निश्चय के साथ इस संबंध में तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि मूल प्रति देख नही ली जाती।

[1] इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९६, पाद-टिप्पणी

[2] ना० प्र० प०, सं० १९७१, पृ० ३१५ [3] देखिए मिश्रबंधु: 'हिंदी नवरत्न' पृ० ७८

[4] ना० प्र० प०, सं० १९९०, पृ० ३२३

फिर भी इतना कदाचित् अनुमान किया जा सकता है कि यदि उस के अंत का हस्ताक्षर मात्र भी कवि का होगा तो उस ने प्रति के पाठ को स्वतः दुहराया होगा, और इस प्रकार उक्त प्रति यदि प्रथम आशय में कवि की स्वहस्तलिखित न ठहरेगी तो भी दूसरे आशय में उस की स्वहस्तलिखित अवश्य ठहरेगी। और, यह तो निश्चित-सा ही है कि उस मूल प्रति की एक प्रतिलिपि भी मुद्रित रूप में हमे प्राप्त है।

१४. इस प्रति के बाद की सब से प्राचीन प्रति सं० १६८९ की है, जो काशि-राज के संग्रह मे है। प्रस्तुत लेखक ने उसे भली भाँति देखा है। उस का भी पाठ वैसा ही है जैसा मुद्रित प्रतियो का है। शेष प्राप्त प्रतियो का पाठ भी मुद्रित पाठों से भिन्न नही है, इस लिए उन के सबध में विचार करने की आवश्यकता यहाँ हमें नहीं है।

जानकी मंगल

१५. 'जानकी मंगल' की भी प्रतियाँ खोज में पर्याप्त सख्या मे प्राप्त हुई है, और इन में से एक कवि के जीवन-काल की भी है।[१] उस का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा। खोज में प्राप्त अन्य प्रतियों मे से कोई भी ऐसी नहीं है जो उल्लेखयोग्य रूप से प्राचीन हो, अथवा जिस का पाठ विचारणीय हो, इस लिए उन के सबंध मे विस्तृत विचार की आवश्यकता नही है।

१६. कवि के *जीवन-काल की यह प्रति कामदकुंज, अयोध्या में प्राप्त हुई* बताई जाती है। प्राप्त सूचना के अनुसार प्रति मे पुष्पिका नही है, इस लिए उस के लिपिकार के सबंध मे अनिश्चय अवश्यंभावी है। तिथि एक प्रारभ में दी हुई है जो इस प्रकार है :

"संवत् १६३२ कथा किये सवा ॥"

शेष प्रारंभ और अंत का पाठ क्रमशः इस प्रकार दिया हुआ है :

गुर गणपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेप सुकवि स्रुति संत सरल मति॥
हाथ जोरि करि बिनइ सबहि सिर नावौं।
सिअ रघुबीर बिआह जथामति गावौं॥

[१] हिं० खो० रि० (सन् १९२०-२२) नो० १९८ ई

शुभ दिन रचेउ स्वयंबर मंगल दायक।
सुनत श्रवण हिये बसहि सीभ्र रघुनायक॥
देश सुहावन पावन बेद बषानिश्र।
भूमि तिलक सम तिरहुत त्रिभुश्रन जानिश्र॥

*

बेगसहि कुमुदिनी देषि बिधु भई श्रवध सुष सोभा नई।
येहि बिधि बिबाह जो राम गावहिं सकल सुष कीरति नई।
सुभ चरित व्याह उछाह जो सिश्र राम मंगल गाइहैं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पाइहैं॥

तिथि तथा लिपिकार के संबंध मे खोज-विवरण के संपादक का कहना है कि "तिथि का प्रति के शीर्ष मे दिया जाना कुछ विचित्र जान पड़ता है। 'संवत् १६३२ कथा किये सवा' का श्रर्थ भी स्पष्ट नहीं है : यह रचना-तिथि भी हो सकती है और प्रतिलिपि-तिथि भी। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रति किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है या कवि की स्वहस्तलिखित है। पिछले विचार के विपक्ष में एक बड़ा तर्क यह है कि प्रति मे ण का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है और कवि ण के स्थान पर सर्वदा न का प्रयोग करता था।" प्रति दर्शनीय है, किंतु खेद यह है कि प्रस्तुत लेखक उसे देख न सका। सं० १९९२ मे अयोध्या जा कर उस ने यह प्रति देखनी चाही, किंतु कामदकुंज के अधिकारियों ने उस से कहा कि उसे कोई महाशय माँग ले गए थे और उन्हों ने उसे लौटाया नहीं, और वह महाशय कौन थे यह भी स्मरण नहीं रहा। इधर मैंने अयोध्या के एक सज्जन से सुना है कि एक अन्य प्रति सं० १६३२ की उन के पास भी है। जब से यह सूचना मुझे मिली है मै अयोध्या जा नहीं सका, और न उक्त सज्जन ने प्रति भेजने की कृपा की, अन्यथा इस प्रति के संबंध में कुछ विशेष विस्तार के साथ कहा जा सकता था। पहली प्रति की एक प्रतिलिपि—कहाँ तक वह शुद्ध प्रतिलिपि है यह कहना कठिन है—नागरी प्रचारिणी सभा काशी के कार्यालय मे रक्खी हुई है।

१७. जहाँ तक पाठ का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि वह लगभग वैसा ही है जैसा मुद्रित प्रतियों का। दी हुई तिथि के संबंध में मैं समझता हूँ कि उसे प्रतिलिपि-तिथि ही होना चाहिए, क्यों कि एक तो पूरा ग्रंथ पद्य में होने के कारण यह असंभव-सा जान पड़ता है कि उतना अंश प्रारंभ मे कवि ने गद्य मे दिया हो,

दूसरे ग्रंथ में पहले तिथि का निर्देश कर लेने के अनंतर कवि ने मगलाचरण आदि किया हो यह भी कम सभव जान पड़ता है—कम से कम ऐसा उस की किसी अन्य कृति में नही मिलता। कृति के रचना-काल के विषय में जो विचार हम ने अन्यत्र किया है[1] उस से भी हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'जानकी मगल' 'मानस' से पूर्व की रचना है, इस लिए प्रस्तुत तिथि उस की रचना-तिथि नहीं हो सकती। फलतः उसे प्रतिलिपि-तिथि ही मानना ठीक होगा। प्रतिलिपि-कार उस का कोई अन्य व्यक्ति था या स्वतः कवि ही, इस संबंध में कोई भी कथन बिना प्रति देखे और उस की लिखावट की तुलना कवि की मानी जाने वाली अन्य लिखावटो से किए, करना ठीक न होगा। सपादक का यह कथन कि कवि ण का प्रयोग नहीं करता था, और उस के स्थान पर न का ही प्रयोग करता था प्रति के कवि की स्वहस्तलिखित होने के विरोध मे बहुत दृढ़ तर्क नही माना जा सकता। किंतु उसे यदि कवि-हस्तलिखित हम न भी मान सकें तो इस में सदेह नहीं कि वह किसी कवि-हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि अवश्य हो सकती है, क्यों कि न केवल वह कवि के जीवन-काल की ही है बल्कि कृति के प्रस्तावित रचना-काल[2] से बहुत बाद की नही है।

१८. 'जानकी मंगल' की एक और प्रति है जिस का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक होगा। वह प्रति प्राचीन तो नहीं है—उस की प्रतिलिपि तिथि सं० १९१० है—किंतु उस का पाठ मुद्रित प्रतियों के पाठ से सर्वथा भिन्न है, इस लिए प्रति महत्वपूर्ण है। यह प्रति डॉक्टर भवानी शंकर याज्ञिक, पटुवा डाँगर, नैनीताल, के पास है और उन्हीं से प्राप्त हुई थी। कृति केवल ८८ चरणों की हैं और उस का आदि-अत लिपिकार की लिपि-संबधी सामान्य प्रवृत्तियों के प्रकाश मे संपादन के अनंतर क्रमशः इस प्रकार है :

प्रथम सुमिरि गुरदेव गणेश मनाइयै।
सारद कूँ सिरु नाइ राम गुन गाइयै॥
प्रभु गुन सिंधु समानि कौन बरनन करै।
जैसी जाकी बुद्धि जैसी हिरदै धरै॥
तब कह्यौ तपधनी अवध पति (सूं) कुमर हमकूं दीजियै।
जग्य. पूरन होइ हमरौ बिप्र कौ जस लीजियै॥
तब बोले रिपिराय सोच कीनौ घनी।
कीजै कौन उपाइ बात गाढ़ी बनी॥

*

सुर नर मुनि सब देव सुमन बरषा करै।
ब्रह्मादिक सब देव मुदित जै जै करै॥
राम सिया कौ ध्यान संकर हिरदै धरै।
ब्रह्मा रूप निहारि इंदु पूजा करै॥
यह छबि जुगल किसोर मुनीजन ध्यावहीं।
लिखि लिपि बिमल बिनोद बेद जस गावहीं॥
तुलसी सीताराम हिरदै उर आनियै।
राम भजन बिनि जनम मिथ्या करि मानियै॥

प्रति भर में कोई स्थल ऐसा नहीं है जहाँ पर मुद्रित प्रति से पाठसाम्य मिलता हो। फलतः यह एक स्वतंत्र कृति है यह अत्यंत स्पष्ट है। प्रश्न अब यह है, क्या यह और वह दोनों गोस्वामी जी की कृतियाँ हैं, अथवा एक ही उन की कृति है, और पिछली दशा में कौन सी कृति निश्चयपूर्वक उन की कही जा सकती है। पहली वाली कृति के संबंध में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं, और वहाँ हम ने देखा है कि उस के संबध में कोई ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती जिस से उस की प्रामाणिकता में अविश्वास किया जा सके[3] इस लिए उस को हमें प्रामाणिक मानना ही चाहिए। जहाँ तक इस कृति का संबंध है इस में भी कोई ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती कि जिस का समाधान कृति को कवि की प्रारंभिक कृतियों मे रख कर न किया जा सके; भाषा में राजस्थानी का प्रभाव जो दिखाई पड़ता है वह प्रस्तुत—या उस के किसी पूर्व के—लिपिकार का भी योग हो सकता है। किंतु यह तनिक संगत नहीं जान पड़ता कि कवि ने दो रचनाएँ एक ही विषय पर और एक ही छंद में और बहुत कुछ एक ही ढंग पर की हों, इस लिए इन में एक ही को प्रामाणिक—और दूसरी को एक नक़ल मात्र—मानना ठीक होगा; और यदि दो में से एक को चुनना होगा तो निस्सदेह प्रचलित कृति को ही चुनना होगा, न केवल इस लिए कि इस की एक प्रति कवि के जीवन-काल की मिलती है, बल्कि जैसा हम कृति की रचना-तिथि का अनुमान करते हुए देखेंगे[4] 'मानस' से उस का गहरा साम्य बहुत स्पष्ट है।

[1] देखिए नीचे अध्याय ५

[2] वही

[3] देखिए ऊपर पृ० ९७

[4] देखिए नीचे अध्याय ५

रामचरित मानस

१९. कवि की सभी अन्य कृतियों की अपेक्षा 'मानस' की प्रतियाँ सख्या में अधिक प्राप्त हुई हैं। यह प्रतियाँ अधिकतर भिन्न-भिन्न काडों की हैं इस लिए यदि हम काड-क्रम से उन पर विचार करें तो कदाचित् सुविधा होगी।

'मानस' के बालकाड की प्राप्त प्रतियो में से कोई भी ऐसी नहीं है जो कवि के हाथ की लिखी हो और इस अर्थ में कवि-हस्तलिखित हो। एक प्रति कवि के जीवन-काल की प्राप्त है : वह है श्रावणकुंज अयोध्या मे सुरक्षित सं० १६६१ की प्रति, जिस के संबंध मे कहा जाता है कि वह कवि-संशोधित है और इस प्रकार दूसरे अर्थ में कवि-हस्तलिखित है। इस प्रति का एक सामान्य परिचय कवि के हस्तलेखों के विवेचन में ऊपर दिया जा चुका है; यहाँ पर उस का किंचित् विस्तृत परिचय आवश्यक होगा। प्रति की पुष्पिका निम्नलिखित है :[1]

"इति श्री रामचरित मानसे कल कलि कलुष विध्वंशने प्रथमो सोपान समाप्त ।। सुभमस्तु ।। सवत् १६६१ वैशाख शुदि ६ बुधे ।।"

और यहीं पर पृष्ठ समाप्त हो जाता है। इस पृष्ठ की दूसरी ओर एक बहुत मोटा काग़ज़ चिपकाया हुआ है और उस पर किन्हीं सीताप्रसाद जी का इस आशय का लेख है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवानदास की लिखी हुई है जिन की लिखी 'विनय पत्रिका' की एक प्रति रामनगर, काशी के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है, और यह कि लेखक ने अपना नाम भगवानदास दिया है किंतु पत्रा अनवरत उपयोग के कारण फटा जा रहा था इस लिए उस पर यह काग़ज़ चिपका दिया गया और लिपिकार का नाम इस काग़ज़ के नीचे पढ़ने के कारण छिप गया। प्रति के संशोधनकर्ता के सबंध में भी उन्हों ने लिखा है। उन का कहना है कि प्रति का संशोधन स्वतः कवि का किया हुआ है, क्यों कि संशोधनों की लिखावट राजापुर वाली अयोध्याकाड की प्रति की लिखावट से मिलती-जुलती है। प्रस्तुत लेखक ने उस दुहरे काग़ज़ के आर-पार सूर्य के प्रकाश में देखने और लिपिकार के कथित आत्मोल्लेख के संबध मे निश्चय करने का उद्योग किया किंतु कृतकार्य न हो सका। जहाँ तक इस प्रति और उक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति के लिपि-साम्य का प्रश्न है साम्य कुछ न कुछ अवश्य ज्ञात होता है, और यह असंभव नहीं कि

[1] प्रतिचित्र के लिए देखिए हिं० खो० रि० सन् १९०१

दोनों एक ही व्यक्ति की की हुई प्रतिलिपियाँ हों।[1] एक अंतर दोनों मे अवश्य है, उक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति का लिपिकार अपना नामोल्लेख 'भगवान ब्राह्मण' कर के करता है, और सीताप्रसाद जी के अनुसार इस प्रति के लिपिकार का नाम 'भगवानदास' है, किंतु यह असंभव नहीं कि 'दास' पद उक्त सीताप्रसाद जी ने अपनी ओर से बढ़ा दिया हो, लिपिकार ने स्वतः न लिखा रहा हो।

२०. प्रति वस्तुतः कवि-सशोधित है या नहीं यह प्रश्न निश्चयात्मक रूप से कथित संशोधनों की लिखावट के आधार पर ही हल किया जा सकता है, इस लिए अन्यत्र कवि के समस्त कथित हस्तलेखो का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैं ने ऐसे तीन स्थलो के सशोधनों को ले कर विचार किया है जिन के सबध में सीताप्रसाद जी ने स्वतः लिखा है कि "ये दसखत तुलसीदास के अहीं राजापुर की पोथी मा मिलत हैं।"[2] वहाँ हम ने देखा है कि संशोधनों की लिखावट कवि की अन्य कथित लिखावटो से—और राजापुर की लिखावट से भी—मेल नहीं खाती, और राजापुर की लिखावट से वह विशेष रूप से ज, भ, र और उकार की मात्रा की बनावट में कितना भिन्न है यह 'तुलनात्मक मानचित्र' के द्वारा आसानी से देखा जा सकता है।[3] फलतः सीताप्रसाद जी का यह कथन कि प्रति कवि-संशोधित है ठीक नहीं जान पड़ता।

२१. सीताप्रसाद जी ने कदाचित् एक संभावना छोड़ दी थी: "क्या यह—अथवा इन में से कोई—संशोधन प्रतिलिपिकार द्वारा स्वतः किए हुए तो नहीं हैं?" वस्तुतः पहला दृष्टिकोण उन का यही होना चाहिए था। इस दृष्टि से यदि हम देखे तो ज्ञात होगा कि उपर्युक्त में से प्रति के दोहा १५८ की अर्द्धालियों में किया हुआ सशोधन स्वतः प्रतिलिपिकार का किया हुआ है। यदि उन्हो ने मूलप्रति की लिखावट से इस सशोधन की लिखावट का मिलान ध्यानपूर्वक किया होता तो कदाचित् यह बात प्रकट हो जाती। उपर्युक्त में से शेष दो संशोधनो की लिखावट स्पष्ट ही मूलप्रति की लिखावट से भिन्न है। इसी प्रकार एक और स्थल का सशोधन है, जिस का प्रतिचित्र नही दिया गया है। इन पिछले संशोधनों में आने वाली पदावली—उपर्युक्त दोहा १५८ वाले संशोधन के विपरीत—पूरी-पूरी अर्द्धालियों के रूप में है और निम्नलिखित प्रकार से प्रति

[1] प्रतिचित्रों के लिए देखिए ऊपर पृ० १६५

[2] वही

[3] वही, पृ० १६९

यह किया जा सकता है कि प्रति गोस्वामी जी के निरीक्षण में लिखी गई होगी और कृष्णदास ने उस का पाठ भी किया होगा—और कृष्णदास के संबध में कहा यह गया है कि वह स्वतः एक कवि थे और उन्हो ने कुछ ग्रंथों की रचना की है।[1] ये अनुमान कहाँ तक सार्थक सिद्ध होते हैं देखना हमें यह है।

२५. प्रति में संशोधन कहीं-कहीं किया हुआ है,[2] किंतु उस की लिखावट तुलसीदास के कथित हस्तलेखो से मेल नहीं खाती। और प्रति को देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि जगह जगह पर पूरे चरण छूट गए हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण तो प्रति के अंतिम पृष्ठ पर ही देखा जा सकता है[3] : काड के अंतिम छंद का अंतिम चरण संशोधन के बाद भी रह गया है। "निजगिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।" में आने वाला "कारन" छूट गया था, और वह पंक्ति के ऊपर यथास्थान लिख दिया गया, किंतु "बैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावही" जो उक्त छंद का अंतिम चरण है—और जिस के बिना न छंद पूरा होता है और न उस का अर्थ ही—संशोधन के बाद भी कहीं नहीं लिखा गया दिखाई पड़ता। फलतः यह कदाचित् निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रति न तो कवि के निरीक्षण मे लिखी गई होगी और न कृष्णदास द्वारा—यदि वह वस्तुतः वैसे योग्य थे जैसा सोरों वाले उन्हें कहते हैं—कभी भी वह पढ़ी गई होगी।

२६. 'मानस' के अयोध्याकाड की केवल एक प्रति इस प्रकार की प्राप्त है जिस का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया जा सकता है : वह है राजापुर की प्रति। उस का एक सामान्य परिचय ऊपर कवि के हस्तलेख का विवेचन करते हुए दिया जा चुका है[4] और वहाँ पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उस की लिखावट 'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकाड की उस प्रति की लिखावट से कुछ मिलती है जिस की पुष्पिका में लिपिकार ने अपना नाम तुलसीदास दिया है, और इस प्रकार वह कवि-हस्तलिखित जान पड़ती है। यहाँ हम उस के पाठ के संबंध में विचार कर सकते हैं।

२७. जिस वस्तु पर हमारा ध्यान प्रति को देखने पर पहले ही जाता है वह है प्रति के पाठ की भाषा का रूप। कवि की भाषात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन

[1] देखिए ऊपर पृ० ८०

[2] प्रतिचित्र के लिए देखिए ऊपर पृ० ८०

[3] वही

[4] देखिए ऊपर पृ० १६६

एक स्वतंत्र विषय है, और उस का अध्ययन करने का कुछ प्रयत्न किया भी गया है, किंतु नितात प्रामाणिक संस्करणों के अभाव मे इस प्रकार का अध्ययन एक अर्द्ध-सत्य से अधिक कुछ नहीं हो सकता। इस लिए उन के प्रकाश में कुछ कहना अभी ठीक न होगा। इतना हम अवश्य कह सकते हैं सं० १६६१ की बालकाड 'मानस' की प्रति में[1] हम कवि की भाषा-संबंधी जिन प्रवृत्तियोंका दर्शन करते हैं राजापुर की प्रति में भी वे प्रवृत्तियाँ हमें पूर्ण रूप से मिलती हैं। राजापुर की प्रति के पाठ में एक अच्छाई और है: उस में हमें पाठ-सुधार का प्रयत्न नहीं मिलता, जिस का दर्शन हमें सं० १६६१ वाली प्रति में होता है: इस लिए ऐसा विश्वास होता है कि उस में मूल पाठ हमें अक्षुण्ण रूप में प्राप्त हो जाता है। साथ ही उस मे एक त्रुटि भी है: प्रति का सामान्य संशोधन भी रह गया है और जगह-जगह पर अर्द्धालियाँ छूटी हुई मिलती हैं।

२८. इस प्रति के पाठ का अच्छा अध्ययन किया गया है। इस का एक अच्छा अध्ययन इंद्रदेवनारायण द्वारा किया हुआ है, जिन्हों ने इस के पाठ की तुलना स० १८७१ की एक प्रति के पाठ के साथ कर के—जिसे बीजक का पाठ भी कहते हैं—यह दिखलाया है कि बीजक की कौन-कौन सी अर्द्धालियाँ इस में नहीं मिलतीं—और उन के न होने से किस प्रकार प्रसंगों की संगति नहीं बैठती—और किन-किन स्थलों पर विभिन्न पद-पाठ मिलता है और वह कहाँ तक ग्राह्य है।[2] इस लेख का एक उत्तर श्री भगवानदास हालना ने देने का प्रयत्न किया है जिस में उन्हों ने बीजक के पाठ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[3] किंतु यह उत्तर ठीक नहीं है। बीजक में यह माना जा सकता है कि पाठ की अशुद्धियाँ हैं, फिर भी राजापुर की प्रति उस की त्रुटियों के कारण अपनी त्रुटियों से कहाँ तक मुक्त हो सकती है। इस लिए हमें पूरे प्रश्न पर एक भिन्न और स्वतंत्र दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। जो अर्द्धालियाँ राजापुर के पाठ मे नहीं मिलती उन मे से कोई ऐसी नही है जो इस समाधान द्वारा न हल की जा सके कि प्रतिलिपिकार ने भूल से उन्हें छोड़ दिया—और कुछ तो कदाचित् इस प्रकार की भी हैं जो उसी समय प्रामाणिक मानी जा सकती हैं जब वे बीजक की प्रति की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतियों में भी निरपवाद से मिलें। पहले

[1] प्रतिचित्र के लिए देखिए ऊपर पृ० १६५ [2] 'सुधा' वर्ष ६, खंड २, पृ० ५६०
[3] वही वर्ष ७, खंड २, पृ० ७३ तथा १०३

प्रकार की वह हैं जिन का अपने प्रसगों में अंगांगी संबंध है, दूसरे प्रकार की ऐसी हैं जो प्रसंगो के लिए उतनी अनिवार्य नहीं हैं। विचार की सुविधा के लिए हम थोड़ी देर के लिए यदि यही कल्पना कर लें कि वह सभी की सभी अपने अपने प्रसंगों में अनिवार्य हैं, फिर भी क्या प्रतिलिपि कर ने में इस प्रकार अर्द्धालियाँ छूट नहीं सकतीं थीं? उत्तर में एक शंका उठाई जा सकती है कि प्रति का लिपिकार स्वतः कवि कहा जाता है, तब यह कैसे हो सकता था। इस शका का समाधान उस समय स्वतः हो जाता है जब हम प्रति की इस त्रुटि पर ध्यान देते हैं कि उस का संशोधन किया ही नहीं गया है, और अन्यथा कवि स्वतः प्रतिलिपि करने में इस प्रकार की भूलें कर सकता था। मैं समझता हूँ पाठ भेदों का समाधान भी लगभग इसी प्रकार हो सकता है। यह अवश्य है कि पक्तियाँ छूट जाना कदाचित् कुछ अधिक स्वाभाविक है बनिस्बत शब्द-विपर्यय के। किंतु पहला भी असंभव नही है और बहुधा हो ही जाया करता है। इतना हमें और ध्यान में रखना चाहिए कि यह त्रुटियाँ उस पाठ के आधार पर निकाली गई हैं जो प्रति की मुद्रित प्रतिलिपियों में मिलता है, मूल प्रति को ही अगर देखा जावे तो कदाचित् इतनी भूलें न भी मिलें। मैं स्वतः प्रति को आदि से अंत तक नहीं देख पाया हूँ, इस लिए इस विषय को अधिक विस्तार देना मेरे लिए उचित न होगा। एक संभावना और रह जाती है और उस का उल्लेख करना आवश्यक होगा। संभव है कि बीजक आदि प्रतियों में जो पाठ मिलता है वह बाद का हो—चाहे कवि का ही दिया हुआ क्यों न हो—और राजापुर की प्रति का पाठ उस से पूर्व का हो। किंतु, इस पर बल नहीं दिया जा सकता। राजापुर की प्रति के संबंध में इतना विस्तार कदाचित् यथेष्ट होगा।

२९. अरण्यकांड की प्राप्त प्रतियों में सब से अधिक उल्लेखनीय सोरों की है जिस की पुष्पिका में उस की प्रतिलिपि-तिथि सं० १६४३ दी हुई है। ऊपर उस का सामान्य परिचय देते हुए पुष्पिका की प्रामाणिकता पर विचार किया जा चुका है।[1] यहाँ पर उस के पाठ पर विचार कर सकते हैं। पुष्पिका के अनुसार प्रति "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उन के भ्रातासुत कृष्णदास सोरोंक्षेत्र निवासी हेत" लछिमनदास द्वारा काशी में लिखी गई थी।[2] इस लिए इस प्रति के संबंध में भी सामान्यतः यह अनुमान किया जा सकता है कि

[1] देखिए ऊपर पृ० ८० [2] वही

वह कवि के निरीक्षण में लिखी गई होगी और उन कृष्णदास ने इस का पाठ भी किया होगा जिन के संबंध में कहा गया है कि वह स्वतः कवि थे और उन्हों ने कुछ ग्रंथों की रचना की है।[1] फिर, एक और विचित्रता इस में है : इस का प्रतिलिपिकार तुलसीदास का शिष्य है और उन्हीं की आज्ञा से उस ने प्रतिलिपि तैयार की है। प्रश्न यह है कि यह धारणाएँ कहाँ तक यथार्थ सिद्ध होती हैं।

३०. प्रति में स्थान-स्थान पर संशोधन किया हुआ है, किंतु उन सशोधनों की लिखावट कहीं भी उन लिखावटों से मिलती हुई नहीं जान पड़ती जो कवि की मानी जाती हैं।[2] और, जो संशोधन किए गए हैं उन से तो धारणा यह होती है कि वे किसी नासमझ व्यक्ति के किए हुए हैं : उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित सशोधनों को ले सकते हैं। नीचे हम पूर्व का और संशोधित दोनों पाठ दे रहे हैं, और स्थल-सकेत गीता प्रेस की प्रति के अनुसार कर रहे हैं :

पूर्व का पाठ	संशोधित पाठ
बालक सुत सम दास अमानी।	बालक सुत सम दास अज्ञानी। (मानस, अरण्य० ३७)
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि पेषिय।	सास्त्र सुचिंतित पुनि जग पेषिय। (मानस, अरण्य० ३८)
गुनागार संसार के सुख रहित बिगत संदेह।	गुनागार संसार के दुख रहित बिगत संदेह। (मानस, अरण्य० ४६)

इन सभी स्थलों पर पूर्व का पाठ ही अधिक समीचीन है यह स्वतः स्पष्ट है। एक स्थल पर एक चरण चौपाई का छूटा हुआ था जिस को निम्नलिखित प्रकार से पूरा किया गया है : उस का जो पाठ साधारणतः मिलता है वह भी सुविधा के लिए दे दिया गया है :

संस्करण का पाठ	संशोधन का पाठ
होउ नाथ अघ खग गन बधिका।	अहे सदा अघ खग गन बधिका। (मानस, अरण्य० ३६)

[1] देखिए ऊपर पृ० ८०

[2] उदाहरणार्थ देखिए ऊपर पृ० १६५ के सामने प्रति के पत्रा २६ का प्रतिचित्र

यहाँ भी यदि हम प्रसंग को देखें तो अन्यत्र प्राप्त पाठ और संशोधन द्वारा प्राप्त पाठ में से कौन सा समीचीन है यह बतलाने की आवश्यकता न होगी। फलतः संशोधक के संबंध में कोई अच्छी धारणा हमारी नहीं बनती। मूल पाठ का परिचय भी आवश्यक होगा। नीचे गीता प्रेस संस्करण से स्थल-संकेत करते हुए प्रति का पाठ तुलना के लिए दिया जाता है :

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहु नारि बसंता।
जप तप नेंम जलासय भारी। ह्वै ग्रीषम सोषै बर बारी।
काम क्रोध मद मत्सर नेका। तिनहिं हर्ष प्रद ल (?) वल एका।
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन कह सदा सरद सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ तिनहि घेद बर चंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई। पलहै नारि सिसिरि सम पाई।

(मानस, अरण्य० ४५)

तुलना कर ने पर ज्ञात होगा कि दोनो में अंतर स्पष्ट है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि संस्करण का पाठ ही शुद्ध पाठ है, किंतु प्रति का पाठ सर्वथा शुद्ध नहीं है यह स्वतः जान पड़ता है। फलतः हमारे कवि के शिष्य ने उन की आज्ञा से इस प्रकार की प्रतिलिपि की होगी; प्रति के मूल पाठ को देख कर यह धारणा भी बहुत कुछ कुंठित हो जाती है।

किष्किंधाकांड की कोई भी ऐसी प्रति नहीं प्राप्त है जिस का प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेख किया जा सके।

३१. सुंदरकांड की प्राप्त प्रतियों में से सब से प्राचीन है सं० १६७२ की दुलही की प्रति, जिस का उल्लेख 'मानसांक' के संपादकों ने किया है।[१] प्रति की पुष्पिका इस प्रकार दी हुई है :

"इति श्री रामचरित मानस सकल कलि कलुप विध्वंसने ज्ञान संपादनी नाम पंचमस्सोपान समाप्त ॥ सुभमस्तु ॥ रामार्पणमस्तु ॥ सं० १६७२" अस्तु, पुष्पिका में न तिथि का ही कोई विस्तार है और न प्रतिलिपिकार ने अपना नामोल्लेख ही किया है। प्रति के कतिपय पृष्ठों के प्रतिचित्र भी उन्हों ने प्रकाशित किए हैं, किंतु लिखावट का मिलान कर ने के लिए वह बहुत सफल प्रतिचित्र नहीं हैं, इस लिए उन के आधार पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता

१ 'कल्याण' भाग १३, पृ० १२०

कि प्रति कवि-हस्तलिखित है या नहीं। किंतु पुष्पिका, जो उपर्युक्त है, इतनी अशुद्ध है कि स्वतः कवि उसे नहीं लिख सकता था। कवि संशोधित भी है या नही यह भी इसी कारण नहीं कहा जा सकता। किंतु मूल-पाठ शुद्ध जान पड़ता है। प्रतिलिपि की एकाध भूलों के अतिरिक्त कोई अशुद्धि उन पृष्ठों में नही दिखाई पड़ती जिन के प्रतिच्त्रि प्रकाशित हैं, और भूल-सुधार के अतिरिक्त संशोधन किया हुआ नही दिखाई पड़ता। इसी प्रति के आधार पर 'मानसाक' के सुंदर-काड का संपादन हुआ है, यद्यपि व्याकरण के रूपों में कदाचित् कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। प्रति को स्वतः देखे बिना इस से अधिक कहना बहुत उचित न होगा।

३२. सुंदरकांड की एक अन्य प्रति प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है जो इस से भी पहले की सं० १६६४ की है। उस की पुष्पिका इस प्रकार दी हुई है :

"संवत १६६४ मीति कार्तिक शुक्र १४ शनिवासरे दखपत लाल जगूलाल का दंडवत ॥"

प्रति सशोधित है किंतु कदाचित् लिपिकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संशोधित नहीं है। प्रति बहुत सावधानी से लिखी गई है, फिर भी लिपिकार बहुत पढ़ा-लिखा नही था—जैसा उस की पुष्पिका से भी ज्ञात होता है—इस लिए यदि प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ हो गई हो तो आश्चर्य नही। तुलना के लिए उपर्युक्त दुलही की प्रति तथा इस प्रति का पाठ नीचे दिए जाते हैं। दोनों में पाठातर इतना अवश्य है कि उस का समाधान केवल लिपिकारों की योग्यता के अंतर द्वारा कदाचित् नहीं किया जा सकता। नीचे दोनो प्रतियों का पाठ देते हुए स्थल-संकेत गीता प्रेस सस्करण के अनुसार किया गया है :

सं० १६७२ की प्रति	सं० १६६४ की प्रति
कौतुक कह आए पुरबासी।	कौतुक लगि आए पुरबासी।
मारहिं चरन करहि बहु हासी।	मारहि चरन करहि बहु हासी।
बाजहि ढोल देहि सब तारी।	बाजहि ढोल देहि सब तारी।
नगरु फेरि पुनि पूंछ प्रजारी।	नगर फेरि पुनि पूछि प्रजारी।
पावक जरत देपि हनुमंता।	पावक जरत देपि हनुमंता।
भएउ परम लघु रूप तुरंता।	भएउ परम लघु रूप तुरंता।
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी।	निबुकि चढे कपि कनक अटारी।
भई सभीत निसाचर नारी।	भए सभीत नीसाचर नारी।

हरि प्रेरित तेहि अवसर	हरि प्रेरित ताही समय
चले मारुत उनचास।	बहे पवन उनचास।
अट्टहास करि गर्जा	अट्टहास करि गरज करि
कपि बढ़ि लाग अकास॥	कपि बढ़ि लागु अकास॥

(मानस, सुंदर० २५)

किंतु इस प्रकार के पाठ-भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है : आकार-प्रकार अर्थात् छंद-संख्या और छंद-क्रम में उपर्युक्त दोनो समान हैं।

३३. लंकाकाड की प्राप्त प्रतियों मे से कोई ऐसी नहीं है जिस का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। प्रस्तुत लेखक को उस की एक प्रति सं० १६९७ की प्राप्त हुई है। उस का परिचय देना आवश्यक होगा। पुष्पिका उस की इस प्रकार है :

"ईती श्री राम चरित्रे मानसे सकल कलि कलुष विध्वसनो विमल वैराग संपादिनी नाम षष्टमो सोपान संपुरन समापत॥ सुभमस्तु संवतु १६९७॥ मास माघ वदि ८ रवउ श्रीराम राम राम राम १६२"

प्रति संशोधित है किंतु सशोधन प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया हुआ नहीं है; और प्रतिलिपिकार स्वतः—जैसा पुष्पिका से ज्ञात होगा—साधारण योग्यता का व्यक्ति है, इस लिए कहीं कही पाठ मे इस कारण भी अंतर पड़ गया होगा, यद्यपि प्रति मनोनियोग पूर्वक लिखी गई जान पड़ती है। इ और ई दोनों को वह ई के रूप में लिखता है : अन्यथा साधारण पाठ प्रतिलिपि की भूलों को छोड़ कर बुरा नहीं है। उदाहरण के लिए हम निम्न-लिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

मेघनाद कै मुर्छा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी।
तुरत गएउ उठि गिरिवर कंदर। करै अजै मष अस मन धरा।
सो सुधि पाई बिभीषन कहई। सुनि प्रभु समाचार अस अहई।
मेघनाद मष करै अपावन। षल मायावी देव सतावन।
जौं प्रभु सिद्धि होई सो पाईह। नाथ बेगि रिपु जीति न जाईह।
सुनि रघुपति अतिसय सुष माना। बालि अंगदादि कपि नाना।

किंतु एक प्रकरण में साधारणतः प्राप्त पाठ की अपेक्षा ४६ 'चौपाइयाँ'[1] अधिक

[1] चौपाइयों का आशय चौपाई-दोहा समष्टि है जिस के अनुसार छंद-क्रम-संख्या प्रत्येक काट मे दी गई है

मिलती हैं : वह है मेघनाद वध-प्रकरण जो सामान्यतः लगभग ढाई चौपाइयों मे समाप्त मिलता है।[1] नीचे लिखी पंक्तियाँ उन चौपाइयों में से उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं :

बहुरि सबन भैटेव हनुमाना। कहहि तात तुम रापेउ प्राना।
देवन्ह सुमन ब्रिष्टि तब कीन्हा। प्रमुदित हिदय दुंदुभी दीन्हा।
अनुज सहित हरषे रघुबीरा। बोले बचन सुनु तनय समीरा।
तोहि समान नहिं कोउ हितकारी। सुर मुनि सिध्य जो कोउ तनुधारी।
जस तुम्हार त्रिभुवन मह भयऊ। सुनि अस बचन चरन कपि नयऊ।
नाथ कहहु तुम मै केहि लेषे। तरनी चलै न बिनु जल पेषे।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उपर्युक्त हमारे कवि की रचना नही है। किंतु कवि के देहावसान के सत्रह वर्षों के भीतर ही इस प्रकार की पाठवृद्धि आश्चर्य-जनक जान पड़ती है।

३४. उत्तरकाड की भी खोज में प्राप्त प्रतियो मे से कोई ऐसी नही है जिस का यहाँ उल्लेख किया जा सके। उस की एक प्रति प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है जो सं० १६९३ की है। उस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"इती स्री पोथी उत्तरकाड कृत गोसाईं तुलसीदास भाषा लिखा संपूरन समाप्त ॥ जो देषा सो लिषा मम दोष न दीयते : लिखा मिती सावन बदी ७ सन् १०४२ संमत १६९३ साल के ॥"

प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त संशोधन किसी अन्य व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, और पाठ साधारणतः प्रतिलिपि की भूलों के अतिरिक्त शुद्ध है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

ऐह सुभ उमा संभु संबादा। सुषदाऐक मन समन बिषादा।
भवभंजन गंजन संदेहा। जन रंजन स्सजन प्रय ऐहा।
राम उपासक जो जग माही। ऐह सम प्रय तिन्ह का कछु नाहीं।
रघुपति कृपा जथामति गावा। मैं ऐह पावन चरित्र सोहावा।
ऐह कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा।
रामहि सुमिरिऐ गाईं रामहि। संतत सुनहि राम गुन ग्रामहि।

(मानस, उत्तर० १३०)

[1] मानस, लंका० ७६—७८

किंतु पाठाधिक्य इस प्रति में भी ज्ञात होता है। कांड का प्रारंभ इस प्रति में उस स्थल से होता है जहाँ गीता प्रेस संस्करण लंकाकांड ११९ (क) समाप्त होता है, और ११९ (क) लंकाकांड और १२० (ख) लंकाकांड के बीच की १ 'चौपाई' के स्थान पर १० 'चौपाइयों' का विस्तार किया गया है; उस के बाद उत्तर-कांड के छंद आते हैं, किंतु कांडारंभ के श्लोक नहीं हैं, और फिर गीता प्रेस संस्करण उत्तरकांड ६ के बाद ही २ दोहों का विस्तार है; इसी प्रकार गीता प्रेस संस्करण उत्तरकांड १०९ के चार दोहों में से पहले दो दोहों के बाद और बाद वाले दो दोहों के पहले दो 'चौपाइयाँ' बढ़ाई गई हैं। यह सब स्पष्टतः प्रक्षिप्त हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

बहुरि हलो संभाषन कीन्हा। पोंछि नैन जल अंकम लीन्हा।
सुनहु पुत्र मैं तोहि बुझावौं। हहुक पुत्र का मेलि अढावौं।
नर तन धरे रघुबंस कुमारा। करत चरित्र परम बिस्तारा।
तासु चरन सेएहु अनुरागी। नहि जग तोहि समान बड़ भागी।
तोहि देषत दसकंठ अपारा। कछु नहि पौरुष कीन्ह कुमारा।
अस्थिन दाबि देषाएउ धारा। परबत फोरि निकरि गा पारा।

३५. जैसा पिछली लंकाकांड वाली प्रति के संबंध मे भी देखा गया था यह आश्चर्य-सा लगता है कि कवि के देहावसान के इतने इने-गिने वर्षों के भीतर ही पाठ-वृद्धि होने लगी थी। तब अगर और बाद वाली प्रतियों में पाठवृद्धि मिलती है तो आश्चर्य न होना चाहिए। कुशल यह है कि जीवन-काल की प्राप्त प्रतियों मे यह पाठ वृद्धि अभी तक नहीं पाई गई है। जान ऐसा पड़ता है कि कवि के देहावसान के बाद ही क्षेपक मिलाने की यह प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी जिस की कुछ दिनों तक बड़ी क़द्र हुई, और इसी क़द्रदानी के कारण 'मानस' में क्षेपकों की भरमार हो गई।

३६. समस्त ग्रंथ की प्राप्त प्रतियों में से सब से प्राचीन सं० १७०४ की है जिस को प्रमुख रूप से आधार मान कर 'तुलसी-ग्रंथावली' मे 'मानस' का संपादन हुआ है। उक्त संस्करण के संबंध मे ऊपर हम भली भाँति विचार कर चुके हैं।[1] प्रति में जगह-जगह पर कितना क्षेपक घुस गया है यह यदि ग्रंथावली वाले संस्करण को उठा कर देखा जाय तो प्रकट हो जावेगा, इस लिए उस

[1] देखिए ऊपर पृ० १४

के संबध में विशेष विचार की आवश्यकता नहीं है। जान पड़ता है वह भी उपर्युक्त लंका तथा उत्तरकांड की प्रतियो की ही परंपरा मे है। और प्रतियाँ जो मिल रही हैं वह उपर्युक्त के बहुत बाद की हैं। इस लिए आशा है कि 'मानस' के पाठ के संबध में इतना ही पर्याप्त होगा।

सतसई

३७. 'सतसई' की प्रतियाँ बहुत थोड़ी प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त हुई हैं उन में से कोई ऐसी नहीं है जो बहुत प्राचीन हो, पाठ भी उन का जहाँ तक पता चलता है मुद्रित प्रति के पाठ से कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं रखता, इस लिए उन मे से कोई ऐसी नहीं है जिस का उल्लेख किया जा सके। एक प्रति प्रस्तुत लेखक को भी प्राप्त हुई है, वह सं० १९०३ की है। प्रति सावधानी से लिखी गई है और पाठ उस का सामान्यतः वही है जो मुद्रित प्रतियों का है, केवल मुद्रित पाठ की अपेक्षा प्रथम सर्ग में १ तथा चतुर्थ मे ७ दोहे अधिक हैं और सप्तम मे ३ दोहे कम हैं। इस से अधिक विस्तार पूर्वक उस का परिचय देना कदाचित् अनावश्यक होगा।

पार्वती मंगल

३८. 'पार्वती मंगल' की प्रतियाँ भी बहुत ही थोड़ी प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त भी हुई हैं उन में से कोई भी प्राचीनता अथवा पाठ के नाते महत्वपूर्ण नहीं है, इस लिए उन पर विचार करना यहाँ अनावश्यक होगा।

गीतावली

३९. 'गीतावली' की प्रतियाँ पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई हैं। इन का पाठ मुद्रित प्रतियो का-सा ही है। सब से प्राचीन इन में से—जहाँ तक उन की तिथियाँ प्राप्त हैं—सं० १७९७ की है जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। इस को प्रस्तुत लेखक ने भली भाँति देखा है। यद्यपि अंतिम कुछ पत्रे इस प्रति के नहीं मिलते किंतु जहाँ तक पत्रे मिलते हैं वहाँ तक पाठ मुद्रित प्रति के समान ही है, और साधारणतः शुद्ध जान पड़ता है।

४०. किंतु इस ग्रंथ की एक ऐसी प्रति है जो उपर्युक्त सभी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, और जिस की ओर विद्वानों का ध्यान पर्याप्त रूप से

अभी तक नहीं गया है। यह प्रति रामनगर (बनारस स्टेट) के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। प्रति बुरी तरह खंडित है: सुंदर और उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त—और वे भी सपूर्ण नहीं हैं—और अंश उस में कोई नहीं हैं, और दुर्भाग्यवश वह अंतिम पत्रा भी नहीं बचा है जिस पर प्रति की पुष्पिका रही होगी। प्रतिलिपि-तिथि तथा प्रतिलिपिकार का अनुसंधान भी फलतः एक समस्या है।

४१. इन्हीं चौधरी साहब के पास 'विनय पत्रिका' की भी एक अमूल्य प्रति है, जिस के संबंध में हम थोड़ी ही देर में विचार करेंगे। इन दोनों प्रतियों को चौधरी साहब के पितामह ने साथ-साथ प्राप्त किया था, ऐसा उक्त चौधरी साहब का कथन है। दोनों में लिपिसाम्य भी इस कोटि का है कि दोनों एक ही व्यक्ति के हस्तलेख कहे जा सकें[१]। और, दोनों मुद्रित 'गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' से भिन्न किंतु परस्पर सापेक्ष्य पाठ भी उपस्थित करती हैं, इस लिए दोनों एक ही व्यक्ति की और लगभग एक ही समय की लिखी जान पड़ती हैं। उपर्युक्त अन्य सूचनाओं को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता कदाचित् नहीं है, अंतिम कथन का ही स्पष्टीकरण वांछित होगा।

४२. प्रति का जितना अंश प्राप्त है—और उस पर हम नीचे ही विचार करेंगे—उस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आकार-प्रकार अर्थात् पद-संख्या और पद-क्रम दोनों में मुद्रित 'गीतावली' से कुछ भिन्न हैं: पद-संख्या इस में कम है और क्रम भी कुछ दूसरा है। 'विनय पत्रिका' की उक्त प्रति की भी यही दशा है: उस का भी जो अंश प्राप्त है—जैसा हम इस के बाद ही देखेंगे—उस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस में पद-संख्या मुद्रित 'विनय पत्रिका' से कम और पद-क्रम कुछ भिन्न है। किंतु जो अधिक महत्वपूर्ण विशेषता दोनों की है वह है परस्पर सापेक्ष होने की। 'रामगीतावली' में—जो उक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति का वास्तविक नाम है—कुछ पद ऐसे हैं जो 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते और न 'पदावली रामायण' में मिलते हैं—जो 'गीतावली' की उक्त प्रति का नाम है—बल्कि 'गीतावली' में मिलते हैं, जैसे 'रामगीतावली'

[१] 'गीतावली' की प्रति के हस्तलेख के प्रतिचित्र के लिए देखिए इसी पृष्ठ के सामने, और 'विनय पत्रिका' की प्रति के हस्तलेख के प्रतिचित्र के लिए देखिए ऊपर पृष्ठ १६५ के सामने

१६ (गीता०, उत्तर० १५), २७ (गीता०, उत्तर० १४), ३६ (गीता०, उत्तर० १२), ८० (गीता०, उत्तर० ३८), १६६ (गीता०, अरण्य० ५), जिस से ज्ञात होता है 'पदावली रामायण' और 'रामगीतावली' को जब क्रमशः 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' का स्वरूप दिया गया तभी यह उलट-फेर किया गया। और यह रूपातर कवि के जीवन-काल में ही हुआ होगा क्यों कि और नही तो स० १६८९ से—इस से प्राचीन प्रति 'गीतावली' पाठ की दूसरी नही मिलती—इधर की जितनी प्रतियाँ 'गीतावली' की मिलती हैं वे सभी आकार-प्रकार में मुद्रित प्रतियों-जैसी हैं। इस लिए हम यह अनुमान सहज मे ही कर सकते हैं कि 'पदावली रामायण' और 'रामगीतावली' भी उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष्य हैं जैसे 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका', और जब कि दोनों ही एक व्यक्ति की लिखावटें ज्ञात होती हैं, दोनों संभवतः लगभग एक ही समय में लिखी गई होंगी।

४३. प्रति असशोधित रह गई है, फिर भी पाठ साधारणतः शुद्ध ज्ञात होता है। नीचे लिखा पद उदाहरण स्वरूप मे लिया जा सकता है, स्थल-निर्देश मुद्रित पाठ के अनुसार है :

देषी जानकी जब जाइ।
परम धीर समीर सुत के प्रेमु उर न समाइ।
कृसु सरीर सुभाय सोहत लगी उड़ि उड़ि धूलि।
मनहु मनसिज मोहनी मनि गयो भोरें भूलि।
रटति निसि बासर निरंतर राम राजिव नैन।
जात निकट न बिरहिनी अरि अकनि ताते बैन।
नाथ के गुन गाथ कहि कपि दई मुंदरी डारि।
कथा सुनि उठि लई कर वर रुचिर नाम निहारि।
हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि।
दास तुलसी दसा सो केहि भांति कहौं बषानि॥

(गीता०, सुंदर० ३)

४४. प्राप्त पदो का क्रम समझने के लिए नीचे 'पदावली रामायण' पाठ के पदों की क्रम-संख्या बाहर और 'गीतावली' पाठ में उन की क्रम-संख्या कोष्ठकों मे दे रहे हैं, और यथासंभव खडित पदों के संबंध में भी अनुमान का आश्रय लेकर 'गीतावली' में उन की पद-सख्याओं का निर्देश कर रहे हैं किंतु

स्पष्टीकरण के लिए खंडित पदो के सामने 'खं०' और अनुमान-सिद्ध पदो के सामने '?' चिह्न लगा रहे हैं :

सुंदर कांड :

१ खं० (१)? २ (४७) ३ (४९) ४ (२)
५ (६) ६ (९) ७ (१०) ८ (११)
९ (७) १० (८) ११ (१४) १२ (१५)
१३ (४८) १४ (५०) १५ (५१) १६ (१६)
१७ (१७) १८ (१८) १९ (१९) २० (२०)
२१ (२१) २२ (२३) २३ (२४) २४ (२५)
२५ (२६) २६ (२७) २७ खं० (२८)? २८ खं० (२९)?
२९ खं० (३०)? ३० खं० (३१)? ३१ (३२) ३२ (३३)
३३ (३४) ३४ (३५) ३५ (३६) ३६ (३७)
३७ (३८) ३८ (४३) ३९ (४४) ४० (२२)

शेष खंडित हैं ।

उत्तर कांड :

१ खं० (२०)? २ (२३) ३ (१०) ४ खं० (२१)?
५ (२२) ६ (३) ७ (५) ८ (१८)
९ (१९) १० (२४) ११ (२५) १२ (२६)
१३ (२७) १४ (२८) १५ (२९) १६ (३०)
१७ (३१) १८ (३२) १९ (३३) २० (३४)
२१ (३५) शेष खंडित हैं ।

प्रति कितनी महत्वपूर्ण है यह बात इस पाठांतर को देखने पर कदाचित् स्पष्ट हो गई होगी । कितना अच्छा होता यदि हम को 'पदावली रामायण-पाठ' पूरा-पूरा प्राप्त हो जाता ।

४५. केवल एक प्रति का उल्लेख इस संबंध में और करना है, वह प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है और—जैसा अभी कहा जा चुका है—'गीतावली' पाठ की उपलब्ध सब से प्राचीन प्रति है । पुष्पिका उस की इस प्रकार है :

"इति श्री रामगीतावल्या सप्तम कांड समाप्तं ॥ शुभं भवतु ॥ तत्रवर्षे आसाढ़ मासे शुक्ल पक्षे पुन्यस्तिथौ ६ भौमबासरे संवत् १६८९ ॥ पुस्तक लिखी शुभस्थान मथुरा जी मध्ये बंगालि घाट उपर शुभंभूयात्"

यह प्रति संपूर्ण है कहीं भी खंडित नहीं है और आकार-प्रकार में मुद्रित 'गीतावली की-सी है। पाठ से परिचय कराने के लिए ऊपर जो पद 'पदावली रामायण' की प्रति से दिया गया है वही इस प्रति से भी दिया जा रहा है. स्थल-संकेत मुद्रित पाठ से किया गया है :

देषी जानकी जब जाई।
परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाई।
कृस सरीर सुभाइ सोभित लगी उठि उडि धूरि।
मनहु मनसिज मोहनी मनि गयौ (भोरे ?) भूल।
रटत निसि बासर निरंतर राम राजीव नयन।
जात निकटि न बिरहिनी अरि अकनि ताते बयन।
नाथ के गुन गाथ कहि कपि दई मुदरी डारि।
कथा सुनि उठि लई कर बर रुचिर नाम निहारि।
हृदय हर्ष विषाद अति पति मुद्रका पहिचान।
दास तुलसी दसा सो किहि भाति कहे बपान॥

(गीता० सुंदर० २)

पाठ में कुछ त्रुटियाँ तो ऐसी हैं जो लिपिकार की प्रवृत्तियों के कारण हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पाठ कदाचित् उतना शुद्ध नहीं है जितना 'पदावली रामायण' वाली प्रति का हम ने ऊपर पाया है। यह अवश्य है कि इतना शुद्ध पाठ भी जितना इस प्रति का है कम मिलता है। प्रति अत्यत सावधानी के साथ सुदर अक्षरों में लिखी गई है। कवि के देहावसान के केवल ९ वर्ष बाद की है, और 'गीतावली पाठ की प्राप्त प्रतियो मे सब से प्राचीन है इस कारण विशेष महत्वपूर्ण है।

विनय पत्रिका

४६. 'विनय पत्रिका' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ खोज मे प्राप्त हुई हैं। इस के पूर्व कि हम अन्य कुछ प्रतियो का उल्लेख करे एक बड़ी महत्वपूर्ण प्रति का उल्लेख आवश्यक होगा जिस की ओर विद्वानों का ध्यान कम गया है। यह हस्तलिखित प्रति कवि के जीवन-काल की है, और संभवतः किसी ऐसी कवि-हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि है जिस की किसी भी अंश तक कोई अन्य प्रतिलिपि प्राप्त नहीं है। यह प्रति रामनगर (बनारस स्टेट)

निवासी चौधरी छुन्नीसिंह के पास है जिन का उल्लेख 'पदावली रामयण' की हस्तलिखित प्रति के संबंध में ऊपर हो चुका है। कुछ खोये हुए पत्रों को छोड़ कर यह प्रति संपूर्ण है। इस का अंतिम पृष्ठ अवश्य कई स्थलों पर फट गया है, फलतः पुष्पिका के कुछ बड़े महत्वपूर्ण अंश जाते रहे हैं। 'विनय पत्रिका' पाठ की प्रतियों से रिक्त स्थलों की पूर्ति के पश्चात पुष्पिका का वह अंश इस प्रकार पढ़ा जा सकता है जिस में रचयिता का नाम, रचना का विषय तथा रचना का नाम दिया गया है :

"इति श्री तुलसीदास रचित [राम गीता] वली समाप्त।
यदि रघुपति भक्तिर्मुक्तिदा पेक्ष्यते सा
सकल क [लुष हर्त्री] सेवनीयाऽप्रयासात्।
श्रयुत सुमति पुंसो निर्मिता रामभक्तैं
जग [ति तुल] सिदासै रामगीतावलीयम्॥

हस्तलिखित प्रति के प्रत्येक पृष्ठ के हाशिए पर "रा० गी०" के लिखे होने से यह स्पष्ट है कि इस कृति का नाम 'राम गीतावली' के अतिरिक्त और कुछ न था; कुछ दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में भी यही नाम देखने में आता है;[1] रचयिता का नाम तथा विषय स्पष्ट ही है और वह 'विनय पत्रिका' की भी सामान्य संपत्ति है।

४७. पुष्पिका का दूसरा भाग जिस में प्रतिलिपि-तिथि तथा प्रतिलिपिकार का नाम दिया हुआ है इस प्रकार है :

"सुभम् संबत् १६६६ समय श्राव''द १२ बुधवासर लिखितम् भगवान ब्राह्मणेन सुभम भवेत।"

रचनातिथि संबंधी अंश के लिए अवश्य कहीं से भी सहायता नही प्राप्त होती, अतएव रिक्त स्थलों की पूर्त्ति हमें स्वयं करनी है। श्रावण पाठ के लिए "श्राव" में "ण" जोड़ देना अत्यत सरल है, और यहाँ तक कोई कठिनाई नही है; किंतु यह निश्चय करना कठिन है कि "सुद" (शुक्लपक्ष) अथवा "वद" (कृष्णपक्ष) के लिए "द" से पूर्व "सु" जोड़ा जाय या "व"। इस विषय मे गणना के आधार पर हम निम्नांकित परिणाम पाते हैं :[2]

[1] सं० १८८१ की एक प्रति (हिं० खो० रि० सन् १९२०–२२, नो० १९८ आई), तथा एक अन्य प्रति स० १९०६ की जो प्रस्तुत लेखक के पास है।

[2] देखिए परिशिष्ट ६

"सं० १६६६, श्रावण सुद १२" :

(विगत-सवत्-वर्ष) = १ अगस्त सन् १६०९, बुधवार

(प्रचलित-सवत्-वर्ष) = १४ जुलाई सन् १६०८, बृहस्पतिवार

"सं० १६६६ श्रावण वद १२" :

(विगत-सवत्-वर्ष) = १८ जुलाई सन् १६०९, मगलवार

(प्रचलित-सवत्-वर्ष) = २९ जून सन् १६०८, बुधवार

यदि ध्यान से देखा जावे तो ज्ञात होगा कि बुधवार दो तिथियो मे पड़ता है एक तो विगत-संवत्-वर्ष सं० १६६६ श्रावण सुद १२ को और दूसरा प्रचलित-सवत्-वर्ष सं० १६६६ श्रावण बद १२ को। विगत और प्रचलित-संवत्-वर्ष-प्रणालियों में से प्रतिलिपिकार निश्चित रूप से किस प्रणाली का प्रयोग करता था इस विषय का निपटारा बिना उसी की किसी दूसरी हस्त-लिखित प्रति के नही हो सकता। यदि श्रावणकुंज की बालकाड वाली हस्त-लिखित प्रति को. जो उसी प्रतिलिपिकार की मानी जाती है, हम देखे तो हमे ज्ञात होगा उस प्रति मे प्रचलित-संवत्-वर्ष मे गणना किए बिना तिथि ठीक नहीं पड़ती।[1] और चूँ कि यह कुछ असंभव सा ज्ञात होता है कि कोई लेखक एक प्रति में विगत-सवत्-वर्ष में तिथि दे और दूसरी में प्रचलित-सवत्-वर्ष में, अतएव विश्वास होता है कि यदि दोनों एक ही प्रतिलिपिकार की प्रतियाँ हैं तो इस प्रति मे भी तिथि उस ने प्रचलित-सवत्-वर्ष में दी होगी। किंतु प्रचलित-संवत्-वर्ष सं० १६६१ श्रावण में १२ वी तिथि को बुधवार केवल कृष्णपक्ष मे पड़ता है, अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पुष्पिका मे "श्राव (ण)" और "द" के बीच मे "ब" ही होगा। अतएव पूर्ण तिथि अब इस प्रकार पढ़ी जा सकती है : "संवत् १६६६ श्रावण वद १२, बुधवासर"

४८. 'राम गीतावली' का पाठ एक सौ छिहत्तर गीतो पर समाप्त हो जाता है किंतु 'विनयपत्रिका' की दूसरी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों का पाठ दो सौ उन्नासी गीतों पर समाप्त होता है। और, 'राम गीतावली' के पाँच गीत जिन का उल्लेख ऊपर हो चुका है, 'विनय पत्रिका' मे नहीं मिलते, अब 'गीतावली' में मिलते हैं, यद्यपि वे 'पदावली रामायण' मे नहीं मिलते। इसी प्रकार, पदों के संग्रह-क्रम में भी उल्लेखयोग्य अंतर है। इस लिए नीचे 'राम-

[1] देखिए परिशिष्ट ई

गीतावली' के प्राप्त पदों और उन के संग्रह-क्रम का निर्देश करने के लिए उन की पद-संख्याएँ और 'विनय पत्रिका' तथा 'गीतावली' में उन की समानांतर पद-संख्याएँ दी जाती हैं। 'राम गीतावली' की पद-संख्याएँ कोष्ठकों के बाहर हैं और 'विनय पत्रिका' तथा 'गीतावली' की पद-संख्याएँ कोष्ठकों के अंदर हैं; खंडित पदो के संबंध में ठीक-ठीक अनुमान करना प्रायः असंभव है इस लिए उन्हें "खं०" चिह्न के साथ छोड़ दिया गया है : कुछ पदो में पाठ ठीक है सख्या की पुनरावृत्ति है, कुछ में संख्या ठीक है पाठ की ही पुनरावृत्ति है; दोनों का निर्देश यथास्थान "पुनरा०" चिह्न के साथ कर दिया गया है :

१ (१)	२ (६)	३ (५)
४ (४)	५ (१४)	६ (१३)
७ (१०)	८ (१२)	९ (९)
१० (७)	११ (३६)	१२ (३१)
१३ (३०)	१४ (२५)	१५ (२६)
१६ (२७)	१७ (२८)	१८ (२९)
१९ (२)	२० (१६)	२१ (१५)
२२ (१७)	२३ (१८)	२४ (११)
२५ (६४)	२६ (गीता०,उत्तर०१५)	२७ (गीता०,उत्तर०१४)
२८ (२२)	२९ (६७)	३० (६८)
३१ (६९)	३२ (६५)	३३ (६६)
३४ (७१)	३५ (७२)	३६ (गीता०,उत्तर०१२)
३७–४० खं०	४१ (१५१)	४२ (१४५)
४३ (१३८)	४४ (१३७)	४५ (१४२)
४६ (७४)	४७ (७५)	४८ (७६)
४९ (७७)	५० (१३९)	५१ (१३५)
५२ (१३६)	५३ (१०६)	५४ (१०७)
५५ (१०८)	५६ (६०)	५७ (४९)
५८ (४६)	५९ (५०)	६० (५७)
६१ (५८)	६२ (५९)	६३ (६१)
६४ (११३)	६५ (११२)	६६ (११७)
६७ (११८)	६८ (११९)	६९ (१२०)

७० (१२१)	७१ (१२३)	७२ (१२४)
७२ संख्या-पुनरा०(१२२)	७३ (११०)	७४ (१०९)
७५ (१२५)	७६ (११६)	७७ (११४)
७८ (१११)	७९ (११५)	८० (गीता०,उत्तर०३८)
८१ (४७)	८२ (४८)	८३ (८५)
८४ (१००)	८५ (९९)	८६ (१०४)
८७ (१०५)	८८ (८७)	८९ (९८)
९०–१०१ खं०	१०२ (१८७)	१०३ (१८८)
१०४ (१७२)	१०५ (१८५)	१०६ (१६९)
१०७ (१७०)	१०८ (१७१)	१०९ (१६४)
११० (१७३)	१११ (१६५)	११२ (१७५)
११३ (११९ पद-पुनरा०)	११४ (१६७)	११५ (२००)
११६ (१७४)	११७ (१६६)	११८ खं०
११९ (१७७)	१२० (१७८)	१२१ (२५४)
१२१संख्या-पुनरा०(१८९)	१२२ (१९०)	१२३ (१९१)
१२४ (२०१)	१२५ (२०२)	१२६ (१९९)
१२७ (२७१)	१२८ (२६७)	१२९ (२२२)
१३० (२६८)	१३१ (२७०)	१३२ (२७३)
१३३ (२१६)	१३४ (२१७)	१३५ (१५९)
१३६ (२०८)	१३७ (२३५)	१३८ (२३६)
१३९ (२७५)	१४० (२१९)	१४१ (२१२)
१४२ (२३४)	१४३ (२६९)	१४४ (२७४)
१४६ (२३०)	१४६ (२७२)	१४७ (२६३)
१४८ (२१०)	१४९ (२३१)	१५० (२३२)
१५१ (२१८)	१५२ (४२)	१५३ (४१)
१५४ (२२९)	१५५ (२२४)	१५६ (२४१)
१५७ (२२३)	१५८ (२६६)	१५९ (२४०)
१६० (२६४)	१६१ (२३९)	१६२ (२४३)
१६३ (२४२)	१६४ (२३७)	१६५ (२३८)
१६६ (गीता०,अरण्य०५)	१६७ (२६५)	१६८ (२२५)

१६९ (२५५) १७०-१७१ खं० १७२ (२२०)
१७३ (२२७) १७४ (३९) १७५ (४०)

उपर्युक्त तालिका को देखने पर ज्ञात होगा कि 'राम गीतावली' को 'विनय पत्रिका' का वर्त्तमान कलेवर देने के लिए पूर्ववर्ती में न केवल पदों का क्रम बदला गया बल्कि यदि अधिक नहीं तो कम से कम १०८ नए गीत भी जोड़े गए। 'राम गीतावली'-पाठ किसी अन्य प्रति में न मिलने का कारण संभव है यह हो कि 'पदावली रामायण' की प्रति की भाँति 'राम गीतावली' की प्रति भी कवि की उसी नाम की स्वहस्त-लिखित प्रति की प्रथम प्रतिलिपि हो और इस प्रतिलिपि के तैयार होने के कुछ ही दिनों बाद ही 'राम गीतावली' रूप को नष्ट कर और उस के गीतों में और अधिक गीतों को जोड़ कर कवि ने 'विनय पत्रिका' पाठ तैय्यार किया हो। इन परिस्थितियों में प्रस्तुत लेखक को आशा है कि इस प्रति के महत्व की अत्युक्ति नहीं की जा सकती। प्रति के पाठ के उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद लिया जा सकता है : स्थल-संकेत मुद्रित प्रति से किया गया है :

मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई।
हौं तो साईं द्रोहों पै सेवक हितु साईं।
राम सो बड़ो है कोनु मोसो कोनु छोटो।
राम सो खरो खसम मोसो खल खोटो।
लोगु कहै राम को गुलामु हौं कहावौं।
एतो बड़े अपराध भो न मन बावौं।
पाथ माथे चढ़ै तिनु तुलसी जो नीचो।
बोरत न बारि ताहिं जानि आपु सींचो॥

(विनय० ७२)

४९. राय बहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास जी ने एक बार 'विनयावली' नाम की सं० १६६६ की एक प्रति का परिचय दिया था जिस की एक प्रतिलिपि उन्हें कहीं से प्राप्त हुई थी। उक्त परिचय में कुछ भूलें हैं, अन्यथा उल्लिखित प्रतिलिपि की मूल प्रति यही है यह स्वतः ज्ञात होता है, क्योंकि खंडित अंश, और पदक्रम दोनों में एक ही हैं।

५०. 'विनय पत्रिका' पाठ की प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७६० की है।[1]

[1] हिं० खो० रि० सन् १९२६—२८ नो० ४८२ ज़ेड् (१)

जहाँ तक पता चलता है इस का पाठ मुद्रित पाठ से अभिन्न है। प्रस्तुत लेखक स्वतः प्रति को नहीं देख सका है इस लिए विशेष रूप से उस के संबंध में वह नहीं लिख सकता है। अन्य प्रतियाँ बहुत पुरानी नहीं हैं, और न उन का पाठ ही महत्वपूर्ण है, इस लिए उन का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

कृष्ण-गीतावली

५१. 'कृष्ण-गीतावली' की प्रतियाँ कई प्राप्त हुई हैं। इन का पाठ जहाँ तक पता चलता है लगभग वैसा ही है जैसा मुद्रित 'कृष्णगीतावली' का। सब से प्राचीन प्राप्त प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में रक्खी हुई है। इसे प्रस्तुत लेखक ने भली भाँति देखा है। प्रति का पाठ मुद्रित पाठ से आकार-प्रकार में समान है। इस लिए अधिक विस्तार के साथ उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

बरवै

५२. 'बरवै' की कई हस्त-लिखित प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में हुआ है। इन में से जिन के उद्धरण मिलते हैं उन के पाठों को मुद्रित पाठ से मिलाते हैं तो उन्हें अधिकतर भिन्न पाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वर्गीय शिवसिंह सेंगर के पास भी इस की एक प्रति थी जिस का पाठ मुद्रित प्रतियों के पाठ से कुछ भिन्न था, क्यों कि जो उदाहरण उन्हों ने दिए हैं वे मुद्रित पाठ में नहीं मिलते।[1] इन विभिन्न पाठों के अनुकूल एक और बात यह है कि इन में से कुछ तो बहुत प्राचीन हैं। अतएव इस काव्य के संपादन मे बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। खेद का विषय है कि अब तक इस ग्रंथ का सपादन सावधानी से नहीं हुआ है।

५३. ज्ञात प्रतियों में सब से प्राचीन कदाचित् सं० १७९७ की है. जो प्रतापगढ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। प्रस्तुत लेखक को उसे भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मिलाने पर उसे पता चला है कि मुद्रित पाठ के बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किधा, सुंदर तथा लंकाकाड तक के प्रथम बयालीस बरवै तथा उत्तरकाड के ५९–६९ बरवै इस हस्तलिखित प्रति के पाठ

[1] शि० सिं० स०, पृ० १२१

में नहीं मिलते। इन के स्थान पर इस प्रति में पचीस ऐसे बरवै हैं जो मुद्रित पाठ के तेतालीसवें बरवै से पूर्व आते हैं। दोनों के उदाहरण के लिए हम निम्न-लिखित को ले सकते हैं, अंतिम मुद्रित पाठ का तेतालीसवाँ है, शेष उक्त प्रति के पाठ के अपने हैं :

जो पै राम न जानेउ सहज सुभाइ।
सव सुरेस सम राज त जीवन जाइ॥
देखि राम छबि बिबुध गए सब सोक।
रचे परन त्रिन साल गऐ निज लोक॥
सोहत परन कुटी तर सीता राम।
लषन समेत बसहु तुलसी उर धाम॥
चित्रकूट निज तीर सुतरु तर बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

जो पचीस बरवै मुद्रित पाठ में नहीं मिलते वे केवल इसी आधार पर गोस्वामी जी की रचनाओं से कदाचित् बहिष्कृत नहीं किए जा सकते क्यों कि शैली तो उन की प्रमुख रूप से तुलसीदास जी की ही दिखाई देती है। फलतः इस कृति का भी संपादन सावधानी से किया जाना चाहिए इतना कदाचित् स्पष्ट हो गया होगा।

दोहावली

५४. 'दोहावली' की कई हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में हुआ है; दो एक को छोड़ कर शेष सभी से उद्धरण दिए गए हैं। उन के पाठों को मुद्रित पाठों से मिलाने पर बड़ा आश्चर्य यह होता है कि उन में से दो-एक का भी पाठ मुद्रित पाठ से पूरा-पूरा नहीं मिलता है। सब से प्राचीन प्रति सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। लेखक को उसे भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मिलाने पर ज्ञात हुआ है कि उस में ४७८ दोहे हैं जब कि मुद्रित पाठ मे ५७३ दोहे मिलते हैं। और इन ४७८ दोहों में से छः दोहे ऐसे हैं जो मुद्रित पाठ में कहीं नहीं मिलते। तब क्या इस प्रति के इन छः दोहों को—या मुद्रित पाठ के एक सौ बारह दोहों को—प्रक्षिप्त कहना न्यायसंगत होगा? इस प्रश्न का उत्तर बिना प्राप्त प्रतियों की पूरी जाँच किए नहीं दिया जा सकता। फलतः इस ग्रंथ का भी पुनर्संपादन

आवश्यक है यह कदाचित् स्पष्ट होगा।

कवितावली और बाहुक

५५. 'बाहुक' अधिकतर प्रतियों में केवल 'कवितावली' का परिशिष्ट सा मिलता है, इस कारण दोनों को एक ही कृति मान कर उन पर विचार किया जा सकता है। इस संकलन की अनेक प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में हुआ है। इन में से कुछ ही को छोड़ कर सभी से उद्धरण भी दिए गए हैं। इन उद्धरणों के अध्ययन से पता चलता है कि थोड़ी-सी ही प्रतियाँ ऐसी हैं जिन का पाठ मुद्रित पाठ से मिलता है, शेष का पाठ भिन्न है। ज्ञात होता है कि शिवसिंह सेंगर के पास भी इस संकलन की दो प्रतियाँ थी। उन्हों ने 'कवितावली' और 'बाहुक' दोनों से उद्धरण दिए हैं।[1] पहली कृति के उद्धरण तो मुद्रित पाठ से मिलते हैं किंतु दूसरी कृति के नहीं। प्रस्तुत लेखक को इस कृति की सं० १७९७ की एक प्रति को भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है जो ज्ञात प्रतियों में कदाचित् सब से प्राचीन है और प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। मिलाने पर इस में उसे मुद्रित पाठ के कुछ छंद नहीं मिले और इस पाठ के अंतिम भाग में जिस क्रम से छंद संकलित किए गए हैं वह क्रम भी मुद्रित पाठों में पूरा-पूरा नहीं मिला।

५६. फिर भी, एक ऐसी प्रति का उल्लेख किया जा सकता है जो यद्यपि उपर्युक्त प्रति से बाद की है किंतु कदाचित् उस से अधिक महत्वपूर्ण है। यह सं० १८२० की है और काशी के पंडित विजयानंद त्रिपाठी के पास है। मुद्रित पाठ से इस के पाठ में बहुत अंतर है। इस में न केवल दूसरी प्रतियों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम छंद ही हैं वरन् उन का क्रम भी कुछ भिन्न है। यह अंतर 'कवितावली' और 'बाहुक' के अंतिम भागों में है जिस में कवि के जीवन-संबंधी बड़ी महत्व पूर्ण बातें आती हैं। छूटे हुए प्रसंगों में सब से मुख्य महामारी, बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की पीड़ा, बरतोर के फोड़े तथा कवि की (संभवतः परलोक-) यात्रा के स्थल हैं। यदि इस का कारण यह है कि जिस मूल प्रति की यह प्रतिलिपि है उस का पाठ अन्य पाठों से पूर्व का है, जो कि असंभव नहीं ज्ञात होता, तो इस प्रति के महत्व और मूल्य की अत्युक्ति नहीं

[1] शि० सिं० स०, पृ० ११२

की जा सकती ।[1] किंतु जब तक कृति की अधिकतर प्राप्त प्रतियों की सावधानी से जाँच न की जाय तब तक यह विचार केवल एक अनुमान मात्र ही रहेगा। वास्तव में यह कार्य ऐसा है जिस के लिये कुछ कष्ट उठाना भी वाञ्छनीय होगा। यह बड़े दुःख की बात है कि कवि के जीवन-वृत्त के लिए इस सब से महत्वपूर्ण रचना का यथेष्ट संपादन अभी तक नहीं हुआ है।

[1] देखिए प्रस्तुत लेखक का 'विशाल भारत' अप्रैल सन् १९३३ में "कवितावली और तुलसीदास के अंतिम दिन" शीर्षक लेख

५

कृतियों का काल-क्रम

१. कवि की कृतियों का काल-क्रम निर्धारित करने के लिए प्रत्येक कृति सबंधी विस्तृत अनुसधान के पूर्व यदि हम पूरे विषय को एक व्यापक दृष्टि से देखने का उद्योग करें तो वह कदाचित् लाभदायक होगा। इस पथ-निर्माण के प्रयत्न में हम इस से अधिक कुछ नहीं कर सकते कि समस्त रचनाओं के एक साधारण काल-क्रम का अनुमान लगाने का यत्न करें, और तब तक विषय की विस्तृत परीक्षा स्थगित रक्खें। इस प्रारंभिक अनुमान के आधारों का सम्यक् उल्लेख हम पीछे आने वाले विस्तृत विवेचन के सुरक्षित रख सकते हैं। रचनाएँ हम इस समस्त प्रसंग मे अनुसधान के लिए वही लेंगे जिन को हम ऊपर कवि की कृतियों मे स्थान दे चुके हैं।[1]

२. उपर्युक्त १३ रचनाओं मे से चार मे ही कहीं न कही पर कवि ने तिथि-निर्देश किया है। अपनी तिथियों के साथ वह रचनाएँ इस प्रकार हैं: रामाज्ञा-प्रश्न (सं० १६२१), रामचरित मानस (सं० १६३१), सतसई (स० १६४१) पार्वती मंगल (सं० १६४३)। इन चार के अतिरिक्त कवि की और कोई भी कृति अपनी रचना-तिथि नहीं बतलाती है, अतएव अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए हमें अन्य युक्तियों का आश्रय लेना पड़ेगा।

३. इन युक्तियों मे से एक जिस पर कि हमारा ध्यान सर्वप्रथम जाता है यह है कि आलोच्य रचनाओं में देखा जावे कि उन मे से किसी में ऐसे तथ्यों का सकेत पाया जाता है—या नहीं—जो कि ज्योतिष की गणना से या समकालीन ऐतिहासिक वृत्तों से प्रमाणित होने के योग्य है, और इस प्रकार उस की तिथि के सन्निकट पहुँचा जावे। 'दोहावली' और 'कवितावली' के अंतर्गत ऐसी घटनाओं का उल्लेख है। 'दोहावली' मे रुद्रबीसी का उल्लेख है जो कि ज्योतिष की गणना से सं० १६५६ से ले कर सं० १६७६ तक के बीच पड़ती है।

[1] देखिए ऊपर पृ० १७

'दोहावली' एक यथाक्रम रचना नहीं है, इस में केवल दोहों का संकलन है। अतएव यह असंभव नहीं कि इस में कुछ दोहे ऐसे भी हों जो उन दोहों के पश्चात रचे गए हों जिन से रुद्रबीसी का उल्लेख मिलता है, परंतु इस की हमें खोज करना है। अभी तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि इस के अंतर्गत कदाचित् कवि की कुछ अंतिम रचनाओं का भी संकलन है। 'कविता-वली' में इसी प्रकार उक्त रुद्रबीसी के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है, जो गणना के अनुसार सं० १६६९ और सं० १६७१ के बीच में घटित होता है। एक तीसरी भी घटना है जिस का उल्लेख 'कवितावली' में होता है: वह है महामारी, किंतु महामारी से कवि का आशय नितांत निश्चित नहीं है; यदि महामारी से कवि का आशय ताऊन से हो जिस ने सं० १६७३ से सं० १६८१ तक देश को पहली बार पादाक्रांत किया था तो जिन छंदों का संबंध महामारी से है वे इस महामारी के समय के अंतर्गत कभी न कभी रचे गए होंगे, और यदि यह किसी दूसरे संक्रामक रोग से उस का आशय हो, जिस का होना सर्वथा असंभव नहीं है, तो वे छंद किसी भी निश्चित रूप से हमारी सहायता नहीं करते हैं। इस लिए यदि केवल प्रथम दो संकेतों पर भरोसा रखते हैं तो हम इतना ही कह सकते हैं कि 'दोहावली' की अपेक्षा कुछ अधिक निश्चित रूप से 'कवितावली' में कवि की कुछ अंतिम रचनाएँ हैं।

४. दूसरी युक्ति जो हम लोगों को इस अन्वेषण में सहायक हो सकती है वह है कवि के मृत्युपूर्व की उस की रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियों की खोज। जिन रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ इस रूप से सहायक होती हैं वे हैं 'जानकी मंगल', 'रामलला नहछू', 'विनय पत्रिका', तथा 'गीतावली'। 'जानकी मंगल' की एक हस्तलिखित प्रति में सं० १६३२ की तिथि दी हुई है, और उस की लिखावट कवि की नहीं वरन् किसी दूसरे की है। अतएव स्पष्ट है कि उस की रचना सं० १६३२ के पूर्व की होनी चाहिए। इसी प्रकार 'रामलला नहछू' की एक प्रति सं० १६६५ की प्राप्त हुई है जो कवि के अति-रिक्त किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है। स्पष्ट ही इस रचना की तिथि सं० १६६५ के पूर्व होनी चाहिए। 'विनय पत्रिका' की एक हस्तलिखित प्रति सं० १६६६ की प्राप्त हुई है। इस की भी लिखावट कवि के अतिरिक्त किसी दूसरे की है, अतएव इस की रचना सं० १६६६ के पूर्व की होनी चाहिए। यद्यपि 'गीतावली' की हस्तलिखित प्रति की निश्चित प्रतिलिपि-तिथि का ज्ञान हमें

नहीं है, परतु कुछ विशेषताएँ प्रति की ऐसी हैं जिन से यह ज्ञात होता है कि उसकी तिथि 'विनय पत्रिका' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति की तिथि के कुछ ही इधर-उधर होगी, इस लिये इस ग्रंथ की रचना भी 'विनय पत्रिका' की भाँति स० १६६६ के कुछ पूर्व की होनी चाहिए।

५०. अंत मे जिस युक्ति का आश्रय हमे लेना पड़ता है वह है कृतियों के विपय-निर्वाह तथा शैली का अध्ययन। विषय-निर्वाह एव शैली किस प्रकार कवि की कुछ अन्य रचनाओं के समय-निर्धारण मे हमारी सहायता करते हैं, इसे देखने के पहले हमे देखना यह चाहिये कि कैसे इन तीन रचनाओ के समय-निर्धारण में जिन के समय के सबंध में कवि की जीवन-कालीन प्रतियों के आधार पर अनुमान का प्रयत्न हम ने अभी किया है, यह हमारी सहायता करते हैं। 'जानकी मंगल' के संबंध मे हम देखते हैं कि मूल कथानक तथा उस का विस्तार कुछ प्रमुख स्थलों पर 'रामचरित मानस' (स० १६३१) से भिन्न है, और इन्हीं स्थलों पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) से उन का सादृश्य है, अतएव स्पष्ट है कि 'जानकी मगल' को 'रामचरित मानस' के पूर्व की रचना होना चाहिए। फिर 'जानकी मगल' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' मे से 'जानकी मंगल' ही विषय के अनुसार 'रामचरित मानस' के अधिक समीप जान पड़ता है, 'रामाज्ञा-प्रश्न' की अपेक्षा इस लिये इसे समय के अनुसार 'रामचरित मानस' के अधिक समीप होना चाहिये। 'रामलला नहछू' कवि की उपर्युक्त सभी रचनाओं मे सब से अपरिपक्व रचना है और इस में ऐसी मर्यादाहीन कामुक प्रवृत्ति का प्रदर्शन हुआ है कि कवि की अन्य रचनाओं को पढ़ने के अनतर जो सस्कार हमारे हृदय मे बनता है उसे इस से बड़ा धक्का पहुँचता है। इस लिए या तो यह कवि की रचना नही है और या तो समय-क्रम मे उपर्युक्त सूची में इसे सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए। 'विनय पत्रिका' के सबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि उस के एक पद में कवि अपने को जीवनात के निकट बतलाता है। इस बात से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इस का संकलन कवि के प्रारंभिक अथवा मध्य रचना-काल मे नहीं हो सकता और इसे कवि के उत्तर रचना-काल की रचनाओ में स्थान मिलना चाहिए। 'गीतावली' के संबंध में विपय-निर्वाह पर ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अंशतः वह 'रामाज्ञा-प्रश्न' से मिलती और 'मानस' से भिन्न है, अशतः 'मानस' से मिलती और 'रामाज्ञा-प्रश्न से भिन्न है, और अंशतः वह 'मानस' की अपेक्षा

मूल कथा तथा उस के विस्तार में सुधार उपस्थित करने का प्रयत्न करती है। इस लिये संकलन-काल उस का 'मानस' के बाद आना चाहिए। 'विनय पत्रिका' और 'गीतावली' की जो प्रतियाँ कवि के जीवन-काल की मिलती हैं वे ऐसा परस्पर सापेक्ष्य पाठ प्रस्तुत करती हैं जो बाद वाली प्रतियों के पाठ से बहुत भिन्न हैं, इस से ज्ञात होता है कि इन दोनों का सकलन 'मानस' के बाद किसी समय कवि की वृद्धावस्था में साथ-साथ हुआ होगा। किंतु 'पार्वती मगल' में और इन मे यह कहना कदाचित् कठिन होगा कि कौन पहले की रचना है। केवल 'विनय पत्रिका' में जीवनात के निकट होने के आत्मोल्लेख के कारण हम उस का तथा 'गीतावली' का संकलन काल अवश्य इतना पूर्व नही रख सकते जितना 'पार्वती मगल' का रचना-काल (सं० १६४३) है।

६. अन्य रचनाएँ जो शैली तथा विषय-निर्वाह से इस तिथि-निर्धारण में सहायता प्राप्त कर सकती हैं वे हैं 'वैराग्य संदीपनी', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'बरवै'। वैराग्य संदीपनी' की शैली के विषय में भी वही कहा जा सकता है, जो कि 'रामलला नहछू' के बारे में ऊपर कहा गया है। प्रबध और विषय-निर्वाह अपरिपक्व है तथा छंदों का प्रयोग भी बेढंग हुआ है। इन कारणों से यह भी कवि-रचना नहीं जान पड़ती है। यदि यह किसी प्रकार उस की रचना है भी तो यह 'रामलला नहछू' की ही भाँति कवि के जीवन के प्रारंभिक काल मे लिखी गई होगी। 'कृष्ण गीतावली' तथा 'गीतावली' में शैली-सादृश्य प्रकट होता है और विषय की दृष्टि से वह 'गीतावली' से परिष्कृत जान पड़ती है। 'कृष्ण गीतावली' का परिष्कार अधिकतर विषय-विभाजन में समानुपात, एकरूपता, और कवि की कलात्मक अभिरुचि की परिपक्वता की ओर संकेत करता है। इस लिए यह जान पड़ता है कि कवि के जीवन में 'गीतावली' में कुछ समय के पश्चात ही इस का समय-निर्देश करना पड़ेगा। 'बरवै' में ऐसे पद हैं जो, कैसी ही अस्पष्टता से सही किंतु, सन्निकट जीवनात की ही ओर संकेत करते हैं। अतएव यह रचना भी 'विनय पत्रिका' की भाँति कवि के जीवन के अन्तिम काल की होगी। इस में फिर 'दोहावली' और 'कवितावली' से सादृश्य यह है कि इस की जो हस्तलिखित प्रतियाँ अन्वेषण में प्राप्त हुई हैं उन मे से अधिकतर परस्पर बहुत ही विभिन्न पाठ प्रस्तुत करती हैं। यह बात इसे 'दोहावली' तथा 'कवितावली' के अधिक सदृश बना देती है।

७. इस प्राथमिक अनुसंधान के उपरात हम लोग कदाचित् अपने को

रचनाओं के क्रम निर्धारण के योग्य स्थिति में पाते हैं। निम्नलिखित क्रम आशा है कि उपर्युक्त परिणाम को यथेष्ट रूप में उपस्थित करेगा :

(१) रामलला नहछू
(२) वैराग्य संदीपनी
(३) रामाज्ञा-प्रश्न (सं० १६२१)
(४) जानकी मंगल
(५) रामचरित मानस (सं० १६३१)
(६) सतसई (सं० १६४१)
(७) पार्वती मंगल (सं० १६४३)
(८) गीतावली
(९) विनय पत्रिका
(१०) कृष्ण गीतावली
(११) बरवै
(१२) दोहावली
(१३) कवितावली (सबाहुक)

इसी क्रम के अनुसार नीचे हम रचनाओं का निरीक्षण उन के काल-क्रम-निर्णय के लिए करेंगे।

८. मुख्य विवेचन के आरंभ करने के पूर्व, मैं केवल एक बात पर आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा : वह यह है कि यद्यपि मैं ने अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा संक्षिप्तता के लिए परिणामों को निश्चयात्मक रूप दिया है परंतु आगे वाले पृष्ठों में मेरा उद्देश्य निरंतर यही रहा है कि सिद्धात-वाद की अपेक्षा अनुमान-वाद को अधिक प्रश्रय दूँ तथ्य-वाद के स्थान पर विचार-वाद को भी प्रधानता दूँ और आप से प्रस्तुत प्रसंग में अतिम शब्द कह देने की चेष्टा न करूँ वरन् तर्क-क्रिया तक ही प्रमुख रूप से अपनी शक्ति का उपयोग करूँ। आशा है कि आप इस क्षेत्र में मेरे परिश्रम का मूल्य—जो इस दिशा में प्रथम प्रयास है—मेरे इस संकल्प के आधार पर ही निर्धारित करेंगे।

रामलला नहछू

९. इस ग्रंथ की रचना-तिथि का कोई निर्देश कवि ने स्वतः नहीं किया है, और न ग्रंथ में किसी ऐसे तथ्य या किसी ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिस

के आधार पर हम उस का समय निर्धारित कर सकते। प्रतियाँ इस ग्रंथ की जो खोज में प्राप्त हुई हैं ऐसी कोई भी नहीं हैं जो कवि के जीवन-काल की हों। सौभाग्य से प्रस्तुत लेखक को इस की एक प्रति प्राप्त हुई है जो सं० १६६५ की है। और इस प्रकार कवि की निर्वाण-तिथि से पंद्रह वर्ष पूर्व की है। यद्यपि इस प्रति का पाठ साधारणतः मुद्रित पाठ से अधिकांश भिन्न है फिर भी दोनों में साम्य यथेष्ट है और कृति का नाम भी उक्त प्रति में 'राम जू को नहछू' दिया हुआ है, इस लिए यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'रामलला नहछू' की रचना सं० १६६५ के पूर्व ही किसी समय हुई होगी। प्रश्न केवल पाठांतर का रह जाता है। पर चूँ कि यहाँ पर हमारा वह विषय नहीं है इस लिए कुछ समय तक के लिए पाठ की समस्या को हम स्थगित रख सकते हैं जब तक कि कोई सुसंपादित संस्करण ग्रंथ का हमारे सामने नहीं आ जाता। फलतः हम उस के मुद्रित पाठ को ही ले कर विचार करेंगे।

१०. प्रस्तुत प्रसंग में इस परिणाम तक पहुँचने के अनंतर सहायता हमें मिलती है कृति के विषय-निर्वाह तथा शैली से। रचना का विषय है राम का नहछू, जिस के विषय में दो मत हैं :

(क) नहछू यज्ञोपवीत के अवसर का है और अयोध्या में हुआ, और

(ख) नहछू विवाह के अवसर का है और मिथिला में हुआ।

किंतु ये दोनों ही मत भ्रांति-पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि राम का प्रस्तुत नहछू विवाह के अवसर का है और अयोध्या में हुआ। 'रामलला नहछू' में राम के लिए न केवल 'दूलह' तथा 'वर' शब्दों का प्रयोग हुआ है :

गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहिं बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो।
(रा० ल० न० ९)

आनँद हिय न समाइ देखि रामहिं बर हो।
(रा० ल० न० १०)

दूलह कै महतारि देखि मन हरपइ हो।
(रा० ल० न० १९)

वरन् ग्रंथ में प्रथम वर्णित लोकाचार मायन विवाह का ही है :

बनि बनि आवतिं नारि जानि गृह मायन हो।
(रा० ल० न० ५)

तथा शेष तैयारी[1] भी विवाह संबंधी ही है : जिन्हें वैवाहिक लोकाचारों और यज्ञोपवीत की रीतियों का थोड़ा भी ज्ञान है—जिस के लिए प्रत्येक पाठक से आशा की जाती है—वे इस संबंध मे तनिक भी संदेह मे नही पड़ सकते। फिर भी प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी[2] तथा सर जार्ज ग्रियर्सन[3] आदि विद्वानों को प्रथम मत का समर्थन कदाचित् इस लिए करना पड़ा कि राम-विवाह के अवसर पर मिथिला में थे। अस्तु, अन्य विद्वानों ने दूसरे मत का समर्थन किया है किंतु यह भी उतना ही भ्रांतिपूर्ण है, क्यों कि 'रामलला नहछू' में यह स्पष्ट कहा गया है कि यह नहछू अयोध्या में दशरथ के घर हुआ :

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।

(रा० ल० न० २)

आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो।

(रा० ल० न०१३)

अतएव, उपर्युक्त दोनों मत ठीक नहीं हैं। अभी तक राम-कथा के जो उद्गम-स्थान ज्ञात हैं उन में से किसी से भी यह प्रमाणित नहीं होता कि राम धनुष तोड़ने पर अयोध्या आए, यहाँ कुछ वैवाहिक लोकाचार हुए और तदुपरांत पुनः मिथिला जा कर उन्हों ने विवाह किया। अतएव, इसे गोस्वामी जी की एक बहुत बड़ी भूल माननी चाहिए—इतनी बड़ी जितनी उन की ग्रंथावली भर में अन्यत्र नहीं है। 'रामलला नहछू' को गोसाईंजी-कृत मान लेने मात्र से यह अनिवार्य नहीं है कि इतनी बड़ी और स्पष्ट भूलो की ओर से आँख मूँद ली जाए।

११. यही एक भूल होती तो कदाचित् उतना बुरा न होता जितना ऐसी ही एक दूसरी भूल के कारण है :

कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो॥

(रा० ल० न० ९)

इस प्रकार, 'रामलला नहछू' के अनुसार कौशल्या की कोई जेठि (पति की ज्येष्ठा भ्रातृ-वधू) भी थी जिन के अनुशासन से वे नहछू कराने लगीं। क्या

[1] रा० ल० न० ६–९

[2] तु० ग्रं०, खंड ३, पृ० ६६ [3] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० १९७

यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है ? जहाँ तक मेरा अध्ययन है यह उल्लेख कही नही हुआ है कि कोई ऐसी जेठि थीं। पटरानियों मे भी उन का आसन सर्वोपरि था, तब यह सौभाग्यवती कौन थी जिस का अनुशासन—अनुमति सहमति आदि भी नहीं—कौशल्या को नहछू कराने के लिये हुआ ? कदाचित् कोई नही।

१२. ऐसी बड़ी ऐतिहासिक भूलों के अतिरिक्त, 'नहछू' मे प्रबंध-दोष भी साधारण नही है। इतने छोटे आकार के प्रबध-काव्य' में एक प्रबंध-दोष तो अति स्पष्ट है :

> नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
> देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥
>
> (रा० ल० न० ४)

इतने वर्णन के अनुसार नाउनि पहले से ही वहाँ उपस्थित थी और 'गारी' देती तथा गाती थी; किंतु आगे ही चल कर उस के बुलाए जाने का उल्लेख इस प्रकार होता है :

> नाउनि अति गुन खानि तौ बेगि बोलाई हो।
> करि सिंगार अति लोन तौ बिहँसत आई हो।
> कनक चुन्नि सों लसित नहरनी लिए कर हो।
> आनँद हिय न समाइ देखि रामहिं बर हो॥
>
> (रा० ल० न० १०)

१३. एक दूसरे स्थान पर, बारहवें पद में, कुछ ऐसी ही एक प्रबध-त्रुटि है—वहाँ नाउनि का परिहास अत्यत भ्रमपूर्ण है :

> काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
> कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥
>
> (रा० ल० न० १२)

उपर्युक्त तक जो परिहास है वह ठीक है—जो प्रत्येक सहृदय समझ सकता है—किंतु यही आगे उसी पद में नितात भ्रमपूर्ण हो गया है—

> राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
> भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥
>
> (रा० ल० न० १२)

जब एक बार यह माना जाता है कि कौशल्या को ही धोखा हुआ तो उसी के

से—जैसा उद्धृत स्थलों से ज्ञात होगा—उपर्युक्त प्रति का पाठ मुद्रित पाठ से कहीं अधिक प्रौढ़ है तथापि शैली का साक्ष्य इस प्रकार के अनुसंधान में बहुत निश्चयात्मक नहीं हुआ करता है इसलिए हमें अधिक से अधिक यही देखना चाहिए—जब तक कि अंतर बहुत अधिक न हो—कि वह अन्य प्रकार से प्राप्त परिणाम का विरोध तो नहीं करता, और यहाँ तक शैली का साक्ष्य उपर्युक्त परिणाम का विरोध नहीं करता।

१७. इस की रचना दोनों 'मंगलों' के साथ मानते हुए डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने लिखा था, "गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उन का मतलब राम-विवाह ही से है। कथा-प्रसंग के पूर्वापर संबंध की रक्षा का ध्यान इसी लिये उस में नहीं किया गया है।"[1] क्या यह समाधान ठीक है? प्रश्न यह है कि क्या 'जानकी मंगल' में 'उन का मतलब राम-विवाह ही से' नहीं था? किंतु उस में क्यों कथा-प्रसंग के पूर्वापर संबध की रक्षा का ध्यान रक्खा गया है? इस के अतिरिक्त, दोनों की रचना डॉक्टर साहब 'पार्वती मंगल' के साथ की ही मानते हैं किंतु क्या 'नहछू' अन्य दोनों की सुरुचि के दशमांश का भी परिचय देता है? श्री सद्गुरु शरण अवस्थी ने मेरे कुछ तर्कों से तीव्र मतभेद प्रकट करते हुए भी इसे कवि की सर्व प्रथम और सं० १६१६ के लगभग की रचना माना है।[2] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बहुत कुछ मेरे तर्कों के आधार पर ही इसे सं० १६१५ के लगभग की रचना माना है।[3] डॉक्टर रामकुमार वर्मा दोनों पक्षों के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं "नहछू में न तो कवि का आभास ही है, न प्रयास ही। ऐसी स्थिति में या तो नहछू कवि के काव्य-जीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए (मानस से बहुत पहले की) या ऐसी रचना जिसे कवि ने चलते-फिरते बना दिया हो जिसे लोग अश्लील गीतों के स्थान पर गा सकें।"[4] दूसरी संभावना का निराकरण ऊपर मैं अंशतः कर चुका हूँ, पहली संभावना में उन्हों ने भी मेरे ही निष्कर्षों को स्वीकार किया है।

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९६

[2] 'तुलसी के चार दल' पृ० ९९

[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३७९

[4] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३९४

वैराग्य संदीपिनी

१८. अपनी इस कृति में भी कवि ने उस की रचना-तिथि का निर्देश नहीं किया है, और न हमे इस में ही कोई ऐसी घटनाएँ मिलती हैं जिन के आधार पर हम उस का समय निर्धारित कर सकें। हस्तलिखित प्रतियाँ भी कवि की इस रचना की बहुत कम प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त भी हुई हैं वे कवि के देहांत के बहुत बाद की हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,[1] इस लिए उन की प्रतिलिपि-तिथियों से प्रस्तुत अन्वेषण में कोई सहायता नहीं मिलती है। फलतः हमारे सामने केवल एक मार्ग रहता है, वह है विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन का मार्ग।

१९. रचना का उद्देश्य है वैराग्य का प्रतिपादन और उस के द्वारा शांति-लाभ का मार्ग-निर्देश। किंतु विषय-निर्वाह इतने अस्त-व्यस्त ढंग से हुआ है—जो स्वतः देखा जा सकता है—जैसा कि कवि के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं मिलता है। छंदों का प्रयोग और भी अस्त-व्यस्त ढग से हुआ है[2] और शैली में उसी प्रकार की असमर्थता पाई जाती है जिस प्रकार की असमर्थता 'नहछू' में[3], इस लिए यह रचना भी—यदि वस्तुतः उस की रचना हो तो—भक्त तुलसीदास के कवि-जीवन के प्रारंभ की है।

२०. 'नहछू' और इस रचना में से किस को काल-क्रम में पहले स्थान मिलना चाहिए यह कहना कठिन ज्ञात होता है। केवल एक बात में अंतर दिखाई पड़ता है, वह है कामिनी विषयक भावना के संबंध में, 'नहछू' में कामिनी के प्रति जैसा आंतरिक झुकाव कवि का है 'वैराग्य संदीपिनी' में उस का निराकरण मिलता है; कवि के लिए वह काष्ठवत् और पाषाणवत् हो गई है :

> कंचन काँचहि सम गनै कामिनि काठ पखान।
> तुलसी ऐसे संत जन पृथ्वी ब्रह्म समान॥
> कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत।
> तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा॥
> (वै० सं० २७–२८)

चित्तवृत्ति के इस अंतर के कारण ऐसा जान पड़ता है कि 'वैराग्य संदीपिनी' की

[1] देखिए ऊपर पृ० १७५

[2] देखिए ऊपर पृ० १००

[3] देखिए नीचे अध्याय ६

रचना 'नहछू' के कुछ पीछे की ही होगी।

२१. दोनों कृतियो का यह थोड़ा अतर हम कदाचित् दोनो की रचना-तिथियों मे कुछ वर्षों का अंतर दे कर स्पष्ट कर सकते हैं। अभी ऊपर हम ने 'नहछू' की तिथि 'रामाज्ञा-प्रश्न' की तिथि (स० १६२१) से दस वर्ष पूर्व रक्खी है, और हम ने कहा है कि विषय-निर्वाह और शैली की दृष्टि से 'वैराग्य संदीपिनी' और 'नहछू' मे विशेष अतर नहीं है, इस लिए यदि हम इसे 'नहछू' से तीन वर्ष बाद और 'रामाज्ञा-प्रश्न' से सात वर्ष पूर्व की रचना माने तो कदाचित् असगत न होगा। इस प्रकार, हम 'वैराग्य संदीपिनी' की रचना-तिथि अनुमान से सं० १६१४ के लगभग मान सकते है।

२२. 'वैराग्य संदीपिनी' का निम्नलिखित दोहा अवश्य थोड़ा ध्यान देने योग्य है :

राम बाम दिसि जानकी लखत दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय तुलसी सुरतरु तोर॥

'वैराग्य संदीपिनी' का यह प्रथम दोहा है, और 'दोहावली' का भी, और 'सतसई' का भी दूसरा ही है, केवल 'रामाज्ञा-प्रश्न' मे इस का स्थान अंतिम सतकों मे से एक में है। प्रश्न यह है कि वस्तुतः यह किस रचना के लिए पहले-पहल रचा गया होगा। इस दोहे मे 'कल्यानमय' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'रामाज्ञा-प्रश्न' के लगभग कुल दोहो के तीसरे और चौथे चरणों मे शुभाशुभ परिणाम-सूचक कोई न कोई शब्दावली अवश्य रहती है, और उक्त ग्रंथ में जिस सतक मे यह दोहा आता है उसी में और भी दोहे इसी प्रकार के हैं—बल्कि दो मे तो लगभग यही शब्दावली भी आती है :

कौसल्या कल्यानमय मूरति करत प्रनामु।
सगुन सुमंगल काज सुभ कृपा करहिं सिय रामु॥
दशरथ नाम सुकाम तरु फरइ सकल कल्यान।
धरनि धाम धन धरम सुख सुत गुन रूप निधान॥

(क्रमशः रामाज्ञा० ७-३-३ तथा ७-३-५)

फलतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह दोहा पहले-पहल 'रामाज्ञा-प्रश्न' के लिए रचा गया होगा और बाद को ही इन अन्य ग्रंथों में लिया गया होगा। 'सतसई' और 'दोहावली' का रचना-काल 'रामाज्ञा-प्रश्न' के पीछे आता है इस लिए यह समझने मे कोई कठिनाई नही हो सकती कि उन मे यह 'रामाज्ञा-प्रश्न' से भी जा

सकता था। प्रश्न यहाँ पर है 'वैराग्य संदीपिनी' के संबंध में। 'वैराग्य संदीपिनी' एक प्रबंध-ग्रंथ अवश्य है, किंतु 'रामाज्ञा-प्रश्न' भी उसी प्रकार प्रबंध-ग्रंथ है। अंतर यह है कि 'वैराग्य संदीपिनी' में यह दोहा किसी प्रसंग का अनिवार्य अग नही है और 'रामाज्ञा-प्रश्न' में यह एक प्रसंग का अनिवार्य अग है। स्पष्ट है कि यह इस लिए 'रामाज्ञा-प्रश्न' से ही 'वैराग्य सदीपिनी' में गया होगा—इस प्रकार से कभी किसी प्रतिलिपिकार ने इसे ले लिया होगा या स्वतः कवि ने ही 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना के पीछे कभी 'वैराग्य-सदीपिनी' मे इस का समावेश प्रारंभ मे कर दिया होगा।

२३. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'विनय पत्रिका' का रचना-काल सं० १६३८ और १६३९ के बीच मानते हुए लिखा था कि 'वैराग्य सदीपिनी' भी इसी समय की रचना जान पड़ती है क्यों कि इस में भी गोसाईं जी अपने मन को क्रोधादिक से दूर रह कर शाति रखने के लिए प्रबोधन करते हुए दिखाई पड़ते हैं, और दूसरे इस के कई दोहे 'दोहावली' में—जो एक संग्रह-ग्रथ मात्र है और जिस का संग्रह सं० १६४० में हुआ—संगृहीत हैं।[1] यह दोनों तर्क 'विनय पत्रिका' तथा 'दोहावली' के रचना-काल का आधार ग्रहण करते हुए प्रस्तुत किए गए हैं। आगे इसी अध्याय में हम ने इन दोनों ग्रंथों के रचना-काल पर भी विचार किया है, और दोनों ही ग्रन्थों के रचना-काल के लिए जिस परिणाम पर हम अलग-अलग पहुँचे हैं उस से स० १६३९-४० की तिथि का सामंजस्य नहीं होता है फलतः अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इसे कवि की सर्वप्रथम रचना मानते हुए सं० १६१५ की रचना माना है।[2] 'नहछू' की तुलना में इस पर विचार करते हुए ऊपर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि 'नहछू' इस के पूर्व की रचना ज्ञात होती है यद्यपि तिथि-संबंधी निष्कर्ष मे विशेष अतर नहीं है। मेरा अनुमान 'वैराग्य सदीपिनी' 'मानस' से पूर्व की रचना मानते हुए भी उस की तिथि के संबंध में पहले कुछ भिन्न था।[3] किंतु अब मैं भी त्रिपाठी जी के निकट आ गया हूँ, यद्यपि मेरे कारण दूसरे हैं। डॉक्टर रामकुमार वर्मा कोई तिथि न देते हुए भी यह कहते हैं कि

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९१

[2] 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ३५९

[3] 'हिंदुस्तानी' जनवरी, सन् १९३७, पृ० ६०–६३

"इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्य संदीपिनी' तुलसीदास की प्रारंभिक रचना होनी चाहिए, क्यों कि काव्य की दृष्टि से वह विशेष प्रौढ़ नहीं है।"[1]

रामाज्ञा-प्रश्न

२४. प्रस्तुत कृति मे कवि स्वतः उस की रचना-तिथि इस प्रकार देता हुआ दिखाई पड़ता है :

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

(रामाज्ञा० ७-७-३)

"चंद्रमा, नेत्र, गुण, नीति और बाण के आधिक्य की अवधि (समय) में यह सगुन (-माला) जिस का सुयश यह है कि प्रीति-प्रतीति के अनुसार ही सुफल होती है, सत्य है।" कविजन-प्रयुक्त साकेतिक शब्दावली में चंद्रमा १,[2] नेत्र २,[3] गुण ६,[4] नीति ४,[5] और बाण ५[6] के लिए प्रयुक्त होते हैं; और नीति (४) और बाण (५) में अतर १ का है, और कविप्रथा के अनुसार इस प्रकार दी हुई तिथियाँ उल्टे क्रम से पढ़ी जाती हैं, इस लिए उपर्युक्त दोहे से हमें कृति के लिए १६२१ की तिथि प्राप्त होती है यह आसानी से जाना जा सकता है।

२५. इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि कुछ समय पूर्व इस की एक प्रति इस प्रकार की प्राप्त थी जिस पर कम से कम सं० १६५५ में एक तिथि को ‹दि›या हुआ कवि का हस्ताक्षर था, और अब भी एक प्रति सं० १६५५ की प्राप्त ‹है› जो कवि की स्वहस्त-लिखित कही जाती है।[7] पहले प्रश्न यह हो सकता था ‹कि› क्या यह तिथि इस की रचना-तिथि हो सकती है,[8] किंतु अब, उपर्युक्त दोहा ‹प्राप्त› होने के बाद, इस प्रकार की शंका का स्वतः निराकरण हो जाता है।

[1] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३९८
[2] केशवदास : 'कविप्रिया' शीर्षक ११, छंद ५, टीका
[3] वही, छंद ७
[4] वही, छंद १६
[5] वही, छंद १०
[6] वही, छंद १२
[7] देखिए ऊपर पृ० १७६
[8] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९७, पाद-टिप्पणी

२६. विषय-निर्वाह की दृष्टि से 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामचरित मानस' (सं० १६३१) में कुछ स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। दोनों में परस्पर जो कथा-भेद है वह महत्वपूर्ण है। इसी कथा-भेद के आधार पर प्रस्तुत लेखक ने उपर्युक्त दोहे पर ध्यान जाने से पूर्व कृति की रचना तिथि निर्धारित करने का प्रयत्न पहले किया था[1] और उसे हर्ष है कि उस के उस अनुमान की पुष्टि प्रस्तुत दोहे के मिल जाने पर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हुई है। पूर्वकल्पित तिथि में और प्रस्तुत प्राप्त-तिथि में केवल तीन वर्षों का अतर है। कवि के सत्तर वर्ष के दीर्घ कवि-जीवन में यह अंतर न केवल बहुत कुछ नगण्य है वरन् उस युक्ति-प्रणाली की निर्णयात्मकता का समर्थन करता है जिस से पूर्व परिणाम प्राप्त हुआ था।

२७. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने सं० १६५५ की उपर्युक्त प्रति के आधार पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' को सं० १६५५ की रचना लिखा था,[2] अब कदाचित् इस तिथि के निराकरण की आवश्यकता नही है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने पहले उपस्थित किए गए मेरे तर्कों के आधार पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' को 'मानस' से पूर्व की रचना माना है और उस की रचना-तिथि सं० १६२० के लगभग रक्खा है।[3] डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने ग्रंथ की रचना-तिथि पर जो विचार किया है उस में उन का झुकाव मेरी ही ओर ज्ञात होता है, यद्यपि किसी तिथि के अनुमान का प्रयत्न उन्हों ने नही किया है।[4]

जानकी मंगल

२८. 'जानकी मंगल' की तिथि का निर्देश कवि ने स्वतः नहीं किया है, और न उस में किसी ऐसी घटना का समावेश हुआ है जिस की सहायता से कृति का काल निर्धारण किया जा सके। ऊपर हम यह अवश्य देख चुके हैं कि इस कृति की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त है जो कवि के जीवन-काल की—सं० १६३२ की—है, और कवि की स्वहस्तलिखित नहीं है।[5] फलतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस की रचना सं० १६३२ के पूर्व की होनी चाहिए। देखना अब

[1] 'हिंदुस्तानी' जनवरी, सन् १९३२, पृ० ५३–३०
[2] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९९
[3] 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ३९६
[4] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४०६
[5] देखिए ऊपर पृ० १७८

हमें यह है कि रचना कितने वर्ष पूर्व की हो सकती है।

२९. विषय-निर्वाह अब हमारा सहायक होता है। प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना एक ओर 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) तथा दूसरी ओर 'रामचरित मानस' (सं० १६३१) की कथाओं से करने पर प्रश्न पर निर्णयात्मक प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत कृति की कथा निम्नलिखित प्रकार से 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कथा से समान है और 'मानस' की कथा से भिन्न है:

(१) मिथिला की राजवाटिका में राम और सीता के परस्पर दर्शन का उल्लेख नहीं होता है।

(२) परशुराम राम से विवाहानंतर अयोध्या-प्रत्यागमन में मिलते हैं।[1]

(३) लक्ष्मण और परशुराम के बीच किसी प्रकार का विवाद नहीं होता है।

(४) जनक अपने पुरोहित सतानंद के द्वारा विवाह निमंत्रण अयोध्या भेजते हैं।[2]

और प्रस्तुत कृति की कथा निम्नलिखित प्रकार से 'मानस' (सं० १६३१) की कथा से समान है और 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) की कथा से भिन्न है:

(१) जनक के बंदीगण राजसभा में सीता-विवाह संबंधी जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं।[3]

(२) राम जब धनुर्भंग के लिए उठते हैं लक्ष्मण दिक्पालों को अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ पृथ्वी को थाम रखने के लिए सतर्क करते हैं।[4]

फलतः 'जानकी मंगल' में 'रामचरित मानस' की ओर प्रस्थान दृष्टिगोचर होगा।

३०. इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'मानस' और 'जानकी मंगल' के कथा-साम्य वाले यह विस्तार 'हनुमन्नाटक'[5] और 'प्रसन्नराघव नाटक'[6] के आधार पर ही उन में रक्खे गए हैं, और 'रामाज्ञा-प्रश्न' में इन पिछले ग्रंथों का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। इसी प्रकार, कवि के मस्तिष्क पर 'जानकी मंगल' की रचना के समय उस 'अध्यात्म रामायण' का अविकल प्रभाव लक्षित होता है जिस के दर्शन हमें 'रामाज्ञा-प्रश्न' में नहीं होते और जिस

[1] जा० मं० १९९ = रामाज्ञा १-४-६

[2] जा० मं० १३० = रामाज्ञा १-६-४

[3] जा० मं० ९८ = मानस, बाल० २५०

[4] जा० मं० ११० = मानस, बाल० २५९

[5] 'हनुमन्नाटक' अंक १

[6] 'प्रसन्नराघव' अंक ३

का एक परिमार्जित रूप हमें 'मानस' में दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित कथा-विस्तार मेरे इस कथन के साक्षी होंगे :

(१) 'जानकी मगल' में भी 'अध्यात्म रामायण' की भाँति विश्वामित्र जनक से राम को शिवधनु दिखाने के लिए आग्रह करते हैं।[1]

(२) जनक द्वारा कन्यादान का वर्णन भी 'जानकी मगल' में उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार 'अध्यात्म-रामायण' में।[2]

३१. फलतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'जानकी मंगल' की रचना-तिथि 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'मानस' की रचना-तिथियों के मध्य में कहीं पड़नी चाहिए, पर कहाँ पड़नी चाहिए इस सबध में हमें कृति की शैली और शब्द-विन्यास से यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकती है। दोनों रचनाओं मे शैली के साधारण साम्य के अतिरिक्त देखा जा सकता है कि अनेक स्थलों पर एक ही शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के दो स्थलों का उल्लेख ही यहाँ यथेष्ट होगा। 'जानकी मंगल' में कहा जाता है :

रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारहि।
नील कमल सर स्रेनि मयन जनु डारइ।

(जा० म० ९२)

इसी प्रकार 'मानस' में आता है :

जहँ बिलोक मृग सावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।

(मानस, बाल० २३२)

'जानकी-मंगल' में कहा जाता है :

भेद कि सिरिस सुमन कन कुलिस कठोरहि।

(जा० म० १०५)

और इसी प्रकार 'मानस' मे आता है :

सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा।

(मानस, बाल० २५८)

३२. 'रामाज्ञा-प्रश्न' (स० १६२१) तथा 'मानस' (सं० १६३१) से 'जानकी मंगल' के इस अंतर को व्यक्त करने के लिए फलतः यदि प्रस्तुत कृति का

[1] जा० म० १०१ = अध्यात्म०, बाल० (६) १६

[2] जा० मं० १६२ = अध्यात्म०, बाल० (६) ५४–५५

रचना-काल हम अनुमानतः सं० १६२७ के लगभग—अर्थात् 'रामाज्ञा-प्रश्न' से ६ वर्ष बाद तथा 'रामचरित मानस' से ४ वर्ष पूर्व—मानें तो संभवतः हम सत्य से अधिक दूर न होंगे।

३३. डॉक्टर श्यामसुंदर दास बेनीमाधव दास का खंडन करते हुए 'जानकी मंगल' की रचना 'पार्वती मंगल' के समय (सं० १६४३) की मानते हैं, और उस का कारण यह बतलाते हैं कि दोनों की शैली और भाषा एक ही प्रकार की है, और दोनो बिल्कुल एक ही साँचे मे ढले से लगते हैं।[१] श्री सद्गुरु-शरण अवस्थी भी इसी विचार के पोषक हैं।[२] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी पहले इसी का समर्थन किया था,[३] यद्यपि अब उन्हों ने अपना विचार बदल दिया है और रचना-काल सं० १६२४ के लगभग मान रहे हैं।[४] डॉक्टर रामकुमार वर्मा अभी तक 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' के संपूर्ण सादृश्य के कारण 'जानकी मंगल' को भी सं० १६४३ की कृति मान रहे हैं।[५] किंतु, कदाचित् एक बहिरंग साम्य के कारण ही दो रचनाओं को परस्पर समकालीन मानना उस दशा मे बहुत युक्ति-संगत न होगा जब कि उस से कहीं अधिक महत्वपूर्ण साक्ष्य स्पष्ट रूप से उस परिणाम का विरोध करते हों।

रामचरित मानस

३४. 'मानस' के आरंभ की तिथि कवि ने स्वतः उक्त ग्रंथ में "संवत सोरह सै इकतीसा...नौमी भौमवार मधु मासा...जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं..." करके दी है, जिस का अर्थ "सं० १६३१ चैत्र शुक्ल नवमी, मंगलवार" होता है। प्रश्न यह है कि क्या तिथि का यह सारा विस्तार ठीक है। सूर्योदय-व्यापिनी तिथि को ही सारे दिन की तिथि मानने के सर्वसामान्य भारतीय सिद्धांत[६] के अनुसार सं० १६३१ के चैत्र शुक्ल में नवमी बुधवार को होनी

[१] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ८४

[२] 'तुलसी के चार दल' पृ० २२९

[३] 'रामचरित मानस' भूमिका पृ० २४०

[४] 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ४०३

[५] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४०४

[६] स्वामी कन्नू पिलाई : 'इण्डियन क्रॉनालॉजी', ५

चाहिए, गणना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।[1] तब बुधवार के स्थान पर भौमवार (मंगलवार) का उल्लेख कवि ने किस प्रकार किया यह विचारणीय है।

३५. इस शंका का समाधान अधिकतर दो प्रकार से किया जाता है: एक तो, चूँकि तिथि-संबंधी पर्वादि अधिकतर उस के भोग-काल में ही मनाए जाते हैं न कि सूर्योदय-व्यापिनी तिथि के अनुसार सामान्यतः मानी जाने वाली तिथि में, इस लिए यह कल्पना की जा सकती है कि तुलसीदास ने 'मानस' का आरंभ मंगलवार को ही किया जब कि नवमी का भोग-काल समाप्त नहीं हो पाया था।[2] दूसरे, चूँकि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे और बड़े शिवोपासक थे, उन्हों ने शैव-मतानुसार मंगलवार को ही रामनवमी मानी होगी जब कि मध्याह्न में भी नवमी का भोग-काल चल रहा था।[3] यह दोनों समाधान अपनी आतरिक त्रुटियों के कारण कदाचित् ही किसी को संतोषजनक ज्ञात होंगे क्यों कि पहले समाधान में 'अधिकतर' शब्द और दूसरे मे कवि के स्मार्त वैष्णव होने की पूर्व-कल्पना तर्कों की क्षमता को बहुत कुछ क्षीण कर देते हैं। और जब हम यह देखते हैं कि कवि ने कोई भी तिथि—विवादग्रस्त प्रस्तुत तिथि के अतिरिक्त—इस प्रकार नहीं दी है[4] तो उन पर संतोष करना और भी कठिन हो जाता है।

३६. एक और समाधान इस व्यतिक्रम का हो सकता है जिस की ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक नही गया है। उस को प्रस्तुत लेखक ग्रथ के रचना-काल से संबद्ध पूरे प्रसंग को उद्धृत कर के स्पष्ट करना चाहता है, केवल विचार-सुविधा के लिए उद्धरण को तीन खंडों मे उसने विभाजित कर दिया है:

(१) एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु पद पंकज धूरी।
पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहिं लागि न खोरी।
सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम गुन गाथा।
संबत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।
(२) नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

[1] देखिए इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० ८९–९४ तथा इस ग्रंथ का परिशिष्ट अ

[2] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९३

[3] वही, पृ० ९४

[4] देखिए परिशिष्ट अ

अखुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा।
जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना।
मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥
दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना।
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमलमति।
राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जग पावनि।
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा।
सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।
(३) रामचरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।
मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहि सर परई।
रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।
कहउँ कथा सोई सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।
जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥

(मानस बाल० ३४-३५)

प्रथम खंड की पंक्तियों को ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि उत्तम पुरुष लुप्त कर्त्ता की तीनों क्रियाएँ 'बिनवउँ', 'बरनउँ' तथा 'करउँ'—विशेष उल्लेखनीय हैं अंतिम दो जिन के कर्म क्रमशः 'गुनगाथा' तथा 'कथा' हैं—अपूर्ण वर्तमान-काल की हैं; इसी प्रकार तृतीय खंड की उत्तम पुरुष कर्त्ता की दोनों क्रियाएँ 'कहउँ' तथा 'कहउँ'—विशेष उल्लेखनीय है पहला 'कहउँ' जिस का कर्म है 'कथा'—अपूर्ण वर्तमान-काल की हैं; किंतु द्वितीय खंड की उत्तम पुरुष लुप्त कर्त्ता की दोनों क्रियाएँ 'प्रकासा' तथा 'कीन्ह अरंभा'—जिन के कर्म क्रमशः 'चरित' और 'कथा' हैं—सामान्य भूत-काल की हैं। इस के अतिरिक्त द्वितीय खंड में 'दिन' के लिए संबंधवाचक विशेषण 'जेहिं' और स्थान के लिए अन्य स्थानवाचक अव्यय 'तहाँ' के प्रयोग भी चिंत्य हैं। यदि

नवमी तिथि को और अवधपुरी में ही द्वितीय खंड की पंक्तियाँ भी लिखी गई होतीं तो इस प्रकार का अंतर होना असंभव था, क्यो कि आसानी से कवि 'जेहिं' और 'तहाँ' के स्थान पर 'ऐहिं, और 'इहाँ' लिख सकता था। इस लिए यह अत्यंत स्पष्ट है कि द्वितीय खंड की पंक्तियाँ उस समय नहीं लिखी गई थी जिस समय प्रथम और तृतीय खड की पक्तियाँ लिखी गई थी, वे बाद को ही किसी समय उस रचना-काल के प्रसग में बढाई गई; वे रामनवमी को भी नहीं लिखी गईं; और न वे अयोध्या में लिखी गई। और जब यह निश्चित हो जाता है कि द्वितीय खड की पक्तियाँ कभी पीछे बढ़ाई गई तो क्या यह संभव नहीं कि वह इतने पीछे बढाई गई हों कि उस समय कवि को रचनारंभ के दिन का ठीक-ठीक स्मरण न रह गया रहा हो और उस की स्मृति में बुधवार के स्थान पर भौमवार ने जगह कर लिया रहा हो ? मैं तो समझता हूँ कि यह समाधान उपर्युक्त दो अन्य समाधानों की अपेक्षा अधिक संतोष-जनक है। यह असंभव नहीं कि महाकाव्य की प्रथम पाडुलिपि में कवि ने केवल तिथि का उल्लेख किया रहा हो—और द्वितीय खंड ऐसा नहीं है कि उस के न होने पर पूरे प्रसंग की संगति बैठने में किसी प्रकार की अड़चन होती हो—और पीछे उक्त उल्लेख को अपूर्ण समझ कर उसे और पूर्ण करने के लिए उस ने उन पंक्तियों को बढ़ा दिया हो जिन्हें ऊपर हम ने द्वितीय खंड मे स्थान दिया है।

३७. ग्रथ की समाप्ति-तिथि के संबंध में कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है। 'मूल गोसाई-चरित' मे अवश्य समाप्ति-तिथि का उल्लेख किया गया है, किन्तु गणना से तिथि का विस्तार शुद्ध नही उतरता और वैसे भी 'चरित' की प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है।[1] इस लिए इस प्रसंग में हम अयोध्या की एक जन-श्रुति पर अवश्य विचार कर सकते हैं जिस के अनुसार तुलसीदास ने ग्रथ की समाप्ति सं० १६३३ की राम-विवाह-तिथि पर की।[2] तिथि तो 'मूल गोसाईं चरित' में भी यही दी गई हैं, इस लिए संभवतः यह जन-श्रुति किसी समय भली भाँति प्रचलित थी। यद्यपि यह असभव नहीं कि हमारे महाकवि ने इतने थोड़े समय के अंदर ही महाकाव्य की समाप्ति कर दी हो फिर भी इतना समय कुछ कम जान पड़ता है। संभव है कि महाकाव्य की प्रथम पाडुलिपि उस ने

[1] देखिए ऊपर पृ० ४०   [2] देखिए ऊपर पृ० ७६

इतने ही समय मे तैयार कर ली हो, किंतु जन-श्रुति पर इस से अधिक बल देना उचित न होगा। 'रामचरित मानस' एक बड़ा ग्रन्थ है, उस की प्रथम पाडुलिपि—और उस के बाद की उस की पाडुलिपियों—का रूप क्या रहा होगा यह एक स्वतंत्र विवेचन के लिए उपयुक्त विषय है, इस लिए एतत्संबंधी प्रयास इसी अध्याय के अत में अलग से किया गया है।

सतसई

३८. संग्रह के अतर्गत एक दोहा है जिस का अभिप्राय उस की तिथि देना है:

अहि रसना थनधेनु रस गनपति द्विज गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसइया अवतार॥

(सत० प्रथम अध्याय, ९)

और संख्याओं की साकेतिक शब्दावली में सर्प की जिह्वा २,[1] गाय के थन ४,[2] रस ६,[3] और गणपति के दाँत १[4], के लिए प्रयुक्त होते हैं। जब इन अंकों को हम उलटे क्रम से पढते हैं—जैसा इस प्रकार दी हुई सख्याओं को पढ़ने का नियम है—हम को सग्रह की तिथि के लिए संवत् १६४२ प्राप्त होता है, और सीता की विवाह-तिथि वैशाख शुक्ला ९ है इस लिए पूरी तिथि सं० १६४२, वैशाख शुक्ला ९ गुरुवार प्राप्त होती है।

३९. किंतु स्वर्गीय श्री ग्रियर्सन ने लिखा है "यदि यह तिथि शुद्ध है तो तुलसीदास ने 'सतसई' की तिथि लिखने में प्रचलित-संवत्-वर्ष का व्यवहार किया न कि विगत-सवत्-वर्ष का। पडित सुधाकर द्विवेदी इस बात की ओर सकेत करते हैं कि यह उस कवि की प्रणाली के विरुद्ध है और उस दोहे की प्रामाणिकता पर, जिस मे वह तिथि आती है, सब से अधिक संदेह उत्पन्न करता है।"[5] श्री ग्रियर्सन का यह कथन सर्वथा उचित है। गणना से ज्ञात होता है कि तिथि-विस्तार प्रचलित-सवत्-वर्ष-प्रणाली पर ही ठीक उतरता है, विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर नही, और इस तिथि के अतिरिक्त एक भी ऐसी तिथि नहीं है

[1] केशवदास. 'कविप्रिया' शीर्षक ११, छद ६

[2] स्वतः स्पष्ट है

[3] केशवदास: 'कविप्रिया' शीर्षक ११, छद १५

[4] वही, छंद ५

[5] इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० ९५

जो दूसरी प्रणाली पर ठीक उतरती हो,[1] इस लिए दोहे की प्रामाणिकता पर संदेह होना स्वाभाविक है। ग्रंथ के विषय-निर्वाह तथा शैली के आधार पर हम अन्यत्र ऊपर विचार करते हुए रचना की प्रामाणिकता के संबंध में सदेह प्रकट कर चुके हैं[2], साथ ही यह भी है कि इस के अनेक दोहे कवि की अन्य रचनाओं में मिलते हैं,[3] यह इस लिए असंभव नहीं कि कभी कवि के देहावसान के अनंतर किसी 'सतसई' के अनुकरण पर कवि के किसी भक्त ने उस के कुछ दोहों के किसी संग्रह में स्वरचित कुछ दोहे मिला कर प्रस्तुत संग्रह तैयार कर के उपर्युक्त तिथि संबंधी दोहा भी उस में रख दिया हो।

पार्वती मंगल

४०. कृति की रचना-तिथि का निर्देश कवि ने निम्नलिखित प्रकार से किया है:

जय संवत् फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥
(पा० म० ५)

'जय' बार्हस्पत्य वर्ष-प्रणाली का एक वर्ष है।' उक्त वर्ष-प्रणाली की गणना दो प्रकार से की जाती है, दक्षिणी रीति के अनुसार और उत्तरी रीति के अनुसार। दक्षिणी रीति पर कवि ने कोई तिथि नहीं दी है[4] इस लिए उस से हमारा कोई प्रयोजन यहाँ नहीं है। उत्तरी रीति के अनुसार कवि के जीवन-काल में यह वर्ष एक ही वार उपस्थित होता है, सं० १६४२ में,[5] अतएव ग्रंथ की रचना भी इसी वर्ष में हुई माननी चाहिए। किंतु सं० १६४२ में फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार को पड़ती है, गुरुवार को नहीं, सं० १६४३ में अवश्य वह गुरुवार को पड़ती है, और नक्षत्र दोनों में अश्विनी ही रहता है,[6] इस से अनुमान यह होता है कि पिछली ही तिथि कवि ने ऊपर दी है। इस व्यवधान का कारण क्या हो सकता है इस पर थोड़ा विचार करना कदाचित् अनुचित न होगा। 'जय' वर्ष चांद्र वर्ष सं० १६४२ में प्रारंभ हो कर

[1] देखिए परिशिष्ट अ

[2] देखिए ऊपर पृ० १००

[3] इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० १२४–१२७

[4] देखिए परिशिष्ट अ

[5] देखिए स्वामी कन्नू पिलाई: 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' चक्र १४

[6] देखिए परिशिष्ट अ

सं० १६४३ में समाप्त होता है, यद्यपि सं० १६४३ की फाल्गुन शुक्ला ५, 'जय' वर्ष के बाहर पड़ती हैं, इस लिए जान ऐसा पड़ता है सं० १६४३ में 'जय' वर्ष की समाप्ति के कारण पूरे सं० १६४३ को कवि ने 'जय' सवत् मान लिया था, कदाचित् उसी प्रकार जिस प्रकार पूरे दिन की तिथि वही मान ली जाती है जो उस दिन में समाप्ति पाती है। इस लिए हम समझते हैं कि सं० १६४३, फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार को ग्रंथ की रचना-तिथि मानना अनुचित न होगा। अन्यथा हमें मानना पड़ेगा कि या तो कवि ने दिन देने में भूल की है, या हमें शुद्ध पाठ नहीं प्राप्त है, या तिथिवाला उपर्युक्त छंद प्रक्षिप्त है। किंतु, इन पिछले समाधानों के लिए पर्याप्त कारण न होने से यदि हम उपर्युक्त प्रथम समाधान को ही स्वीकार कर ले तो कदाचित् अनुचित न होगा।

गीतावली

४१. 'गीतावली' में स्वतः कवि ने उस की रचना-तिथि का कहीं उल्लेख नही किया है। और न उस में किसी ऐसी घटना का ही उल्लेख मिलता है जिस के द्वारा कृति के रचना-काल का निर्णय करने में हमें कोई सहायता मिल सकती हो। उस की प्रतियों का अध्ययन करते हुए हम ने ऊपर देखा है कि सं० १६८७—अर्थात् कवि के देहावसान के केवल ७ वर्ष बाद—की जो प्रति प्राप्त है वह उसी आकार-प्रकार की है जो मुद्रित संस्करणों तथा साधारणतः प्राप्त प्रतियों का है,[1] इस लिए यह निश्चित जान पड़ता है कि उस का यह संस्करण कवि के जीवन-काल का है। एक और प्रति का भी हम ने ऊपर विशेष रूप से अध्ययन किया है जिस का आकार-प्रकार मुद्रित संस्करणों तथा साधारणतः प्राप्त प्रतियों से एक विशेष प्रकार से भिन्न है और जो कवि के जीवन-काल की—सं० १६६६ के लगभग की—ज्ञात होती है।[2] इस लिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'गीतावली' के कम से कम दो संस्करण कवि के जीवन-काल में हो गए थे: एक, जिसे हम 'पदावली रामायण' संस्करण कह सकते हैं, और दूसरा जिसे हम 'गीतावली' सस्करण कह सकते हैं। 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति का प्रतिलिपि-काल नितात निश्चित नहीं है, अनुमान से वह सं० १६६६ के लगभग निर्धारित किया गया है, इस

[1] देखिए ऊपर पृ० १९८ [2] देखिए ऊपर पृ० १९५

लिए 'पदावली रामायण' संस्करण के लिए उस की अंतिम सीमा अनुमान द्वारा हम सं० १६६६ के लगभग मान सकते हैं। दूसरा संस्करण कवि के जीवन-काल में ही इस प्रथम के संस्करण के बाद किसी समय हुआ होगा इस से अधिक अभी हम कुछ नहीं कह सकते क्यों कि इस संस्करण की कोई प्रति हमें ऐसी नहीं प्राप्त है जो कवि के जीवन-काल की हो—अथवा जिस के संबंध में इस प्रकार का अनुमान भी किसी हद तक किया जा सकता हो।

४२. विषय-निर्वाह अवश्य इस प्रसंग में हमारी सहायता करता है। प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना जब हम 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) और 'मानस' (सं०१६३१) की कथाओं से करते हैं तो निम्नांकित बातों में उसे हम 'रामाज्ञा-प्रश्न' के समान और 'मानस' से भिन्न पाते हैं;

(१) जनक विवाह का निमंत्रण दशरथ के पास अपने पुरोहित सतानंद के द्वारा भेजते हैं।[1]

(२) परशुराम और राम की भेंट बारात की वापसी में होती है।[2]

(३) वन-यात्रा के समय गंगा पार करने के पूर्व राम और केवट में कोई बातचीत नहीं होती।

(४) भरत के द्वारा राम के अनिष्ट की कल्पना कर के शृंगवेरपुर का निषाद-मंडल उन से मोर्चा लेने के लिए तैयारी नहीं करता।

(५) चित्रकूट-निवास के समय राम के पास जनक का आगमन नहीं होता।

(६) प्राणांत करने के लिए त्रिजटा से सीता अग्नि-याचना नहीं करती।

(७) सेतुबंध के अवसर पर राम शिवलिंग की स्थापना नहीं करते।

(८) सीता-निर्वासन तथा लवकुश-जन्म आदि भी होता है।[3]

यहाँ हम देख सकते हैं कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' से 'गीतावली' का साम्य कहीं पर इस प्रकार का है कि 'मानस' की कोई विशेष घटना घटती नहीं, और कहीं पर साम्य इस प्रकार का है कि कोई घटना उस प्रकार नहीं घटती जैसी वह 'मानस'

[1] गीता०, बाल० १००-१०१
=रामाज्ञा० १-४-६

[2] गीता०, उत्तर० ३८
=रामाज्ञा० १-६-४

[3] गीता०, उत्तर० २४-३६
=रामाज्ञा० ६-६ संपूर्ण
तथा वहीं, ६-७ संपूर्ण

में घटती है अथवा 'मानस' में बिल्कुल ही नहीं मिलती है। पहले प्रकार के साम्य के संबंध में यह शंका की जा सकती है कि प्रस्तुत कृति कोई प्रबंध काव्य नहीं है इस लिए कथांश विशेष का छूट जाना कुछ महत्वपूर्ण नहीं है, किंतु दूसरे प्रकार के साम्य के विपक्ष में ऐसी कोई बात नहीं कही जा सकती।

४३. फिर, प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना हम जब 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं०१६२१) तथा 'मानस' (सं० १६३१) की कथाओं से करते हैं तो उसे निम्नांकित बातों में 'रामाज्ञा-प्रश्न' से भिन्न और 'मानस' के समान पाते हैं :

(१) जनक की वाटिका में धनुर्भंग के पूर्व राम और सीता का परस्पर दर्शन करते हैं।[1]

(२) बंदीजन सीता-विवाह संबंधी जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं।[2]

(३) एकत्रित राजकुमारों की धनुर्भंग विषयक असफलता देख कर जनक एक नैराश्यपूर्ण व्याख्यान देते हैं जिस का उत्तर लक्ष्मण किंचित कठोर शब्दों में देते हैं।[3]

(४) राम जब धनुष तोड़ने के लिए खड़े होते हैं तब लक्ष्मण पृथ्वी को धारण करने वाले दिक्‌कुंजरादि को उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ रखने के लिए सावधान करते हैं।[4]

(५) रावण की राजसभा में अंगद राजदूत बन कर जाते हैं।[5]

यहाँ हम देख सकते हैं कि 'मानस' के साथ 'गीतावली' का कथा विषयक साम्य विशेष घटनाओं के विशेष प्रकार से घटित होने पर निर्भर है, घटना विशेष के न घटित होने पर बिल्कुल नहीं, इस लिए 'मानस' के साथ 'गीतावली' का यह साम्य 'रामाज्ञा-प्रश्न' के साथ उस के साम्य की अपेक्षा अधिक निर्विवाद है।

४४. परंतु 'गीतावली' यहाँ पहुँच कर रुक नहीं जाती, कथानक संबंधी निम्नलिखित बातों में वह 'रामचरित मानस' के आगे भी बढ़ी हुई ज्ञात होती है :

(१) राम जब चित्रकूट छोड़ कर अपनी वन-यात्रा में दण्डकारण्य की

[1] गीता० बाल० ६९–७०
=मानस, बाल० २२८–२३६

[2] गीता० बाल० ८७
=मानस, बाल० २४९–२५०

[3] गीता०, बाल० ८२, ८३
=मानस, बाल० २५१–२५३

[4] गीता०, बाल० ८८
=मानस, बाल० २६०

[5] गीता०, लंका० २–४
=मानस, लंका० २०–३५

ओर बढते हैं तब निपादराज इस समाचार की पत्रिका अयोध्या भेजता है।[१]

(२) सीताहरण के कारण राम को व्यथित देख कर देवता चिंतित होते हैं, और लक्ष्मण जब उन्हें इस का कारण बताते हैं वे राम को सीता का पता बताते हैं।[२]

(३) हनुमान जब सीता के सामने रामनामाकित मुद्रिका डाल देते हैं तब सीता भावावेश में उस मुद्रिका से राम का कुशल-प्रश्नादि करती है,[३] मुद्रिका उस का उत्तर देती है,[४] और हनुमान इस सीता-मुद्रिका-संवाद सुन कर बालक के समान रोने लग जाते हैं।[५]

(४) रावण से निरादृत हो कर विभीषण सीधे राम की शरण में नहीं जाते। पहले वह अपनी माता से उस के लिए अनुमति प्राप्त करते हैं[६]—जो उन्हें एक बार अपने बड़े भाई के अपराध को क्षमा कर के वही बने रहने के लिए समझाती भी है—और फिर वे कुबेर से इस संबध मे परामर्श करते हैं[७] क्यों कि कुबेर भी उन का भाई है—और यहाँ पर शंकर की प्रेरणा के कारण अपने संकल्प में वह दृढ़ हो जाते हैं और दूसरे क्षण हम उन को राम की शरण में जाते हुए पाते हैं।

(५) संजीवनी ले कर आते समय जब हनुमान भरत के बाण से आहत हो कर गिरते हैं, और उनसे माताएँ लक्ष्मण-मूर्छा का समाचार पाती हैं, उस अवसर पर वीर माता सुमित्रा अपने एक पुत्र की मूर्छा की चिंता न कर राम की सहायता के लिए अपने दूसरे पुत्र को भी जाने का आदेश करती हुई दिखाई पड़ती है।[८]

(६) उत्तरकाड में राज्याभिषेक के अनतर दोलोत्सव, दीपमालिकोत्सव तथा वसंतोत्सव आदि के वर्णन आते हैं जिन मे राम-सीता के साथ अयोध्या का सारा नर और नारी-समाज निस्संकोच भाव से और निर्भयतापूर्वक एक धरातल पर सम्मिलित होता है।[९]

[१] गीता०, अयोध्या० ८९
[२] वही, अरण्य १०-११
[३] वही, सुंदर० ३
[४] वही, ४
[५] वही, ५
[६] वही, सुंदर० २६
[७] वही, २७
[८] वही, लका० १३
[९] वही, उत्तर० १८–२२

४५. इस तुलनात्मक अध्ययन मे एक वस्तु हमारी सहायता विशेष रूप से कर सकती थी : 'पदावली रामायण'। यदि वह संपूर्ण प्राप्त होती तो हमारा यह अध्ययन और भी पूर्ण होता किंतु खेद है कि, जैसा हम ऊपर देख चुके है,[१] हमें इस समय उस के सुंदर और उत्तर काड मात्र प्राप्त हैं—यद्यपि वे भी पूरे-पूरे नहीं प्राप्त हैं। फिर भी जितना वह हमें प्राप्त है वही हमारे प्रस्तुत प्रसग के लिए वहुत है। जिन वातों में 'गीतावली' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' मे साम्य और 'मानस' से उन का वैषम्य हम ने ऊपर पाया है उन में से उन के संवंध में 'पदावली रामायण' देखने की हमें आवश्यकता नहीं है जो कि 'गीतावली, में नही पाई जाती हैं, क्यों कि प्राप्त 'पदावली रामायण' के समस्त पद प्रस्तुत 'गीतावली' मे आ जाते हैं और उन के अतिरिक्त और भी वहुत से दूसरे पद आते हैं; शेष में से केवल एक कथा ऐसी है जो सुंदर अथवा उत्तरकाड में आती है वह है आठवीं अर्थात् सीता-निर्वासन तथा लवकुश-जन्म की, और वह प्राप्त 'पदावली रामायण' मे भी मिलती है। जिन वातो मे 'गीतावली' और 'मानस' मे साम्य और 'रामाज्ञा-प्रश्न' से उन का वैषम्य है उन के संवंध मे अवश्य वह हमारी सहायक हो सकती थी। खेद है कि वह अंश 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति मे नहीं हैं। परंतु कथानक-संवधी जिन वातों मे 'गीतावली' 'मानस' से भी वढ़ी हुई ज्ञात होती है उन के संवंध मे अवश्य 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति भी एक महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इस प्रकार के छः कथा-भेदों में से तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ ही ऐसे हैं जो सुंदर और उत्तर काडों के हैं और इन में से चतुर्थ तथा षष्ठ अर्थात् विभीषण के माता तथा कुवेर से परामर्श संवंधी तथा उत्सव संवंधी कथा-भेद उस में मिलते ही हैं, फलतः ज्ञात यह होता है कि 'गीतावली' के पदो की रचना एक विस्तृत काल क्षेत्र में हुई, किंतु न केवल प्रस्तुत 'गीतावली' रूप ही मानस के वाद की वस्तु है वल्कि 'पदावली रामायण' रूप भी, और 'गीतावली' का वह अश जो 'पदावली रामायण' मे नहीं है कदाचित् उस के भी वाद की रचना है क्योंकि हनुमान-सीता-मिलन प्रसंग के समस्त पद उपलब्ध होते हुए भी तृतीय कथा-भेद अर्थात् सीता-मुद्रिका-संवाद के तीन पद वहाँ नहीं आते हैं।[२] अव प्रश्न यह है कि इन दो संस्करणों का समय क्या होगा।

[१] देखिए ऊपर पृ० १९५-१९९ [२] वही, पृ० १९८

४६. यहाँ पर अनुमान के अतिरिक्त हमारे पास और कोई साधन नही है। साधारणतः हमे 'पदावली रामायण' का संकलन-काल 'मानस' से काफी दूर इस लिए रखना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार के कथा-भेदो को 'मानस'-रचना के बहुत बाद ही कवि ने रामकथा मे रखने का निश्चय किया होगा, क्यों कि बहुत दिनों तक निरंतर उस मे लगे रह कर उस ने 'मानस' की कथा का ही अंतिम रूप निश्चित किया होगा, और वह रूप भी 'मानस' का कथा-भेद वाले पदों की रचना तक इतना पर्याप्त प्रचार पा चुका रहा होगा कि उस मे उपर्युक्त प्रकार के संशोधन करना उस ने ठीक न समझा होगा—'मानस' की प्राप्त प्रतियों मे पाठ की सामान्य एकरूपता स्पष्टतः इन अनुमानों का समर्थन करती है। फिर, ऊपर 'पदावली रामायण' तथा 'राम गीतावली' पाठों पर विचार करते हुए हमने देखा है कि वे परस्पर सापेक्ष्य है,[१] इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने 'पदावली रामायण' तथा 'राम गीतावली' का संपादन एक साथ ही किया होगा क्यों कि अन्यथा यह असंभव था कि राम-कथा संबंधी पद विनय संबंधी पदों के साथ मिल न जाते; और—जैसा हम आगे ही देखेंगे—'राम गीतावली' के अनेक पदों मे कवि ने तथा जीवनावधि के अति निकट होने का उल्लेख किया है इस लिए दोनों का संपादन वृद्धावस्था में ही कवि ने किया होगा, और चूँ कि अंतिम प्रकार के कथा-भेद वाले 'पदावली रामायण' के पदो की रचना 'मानस' के बहुत पीछे हुई होगी इस लिए यदि हम 'पदावली रामायण' के सपादन का समय अनुमानतः कवि की ६४-६५ वर्ष की अवस्था में और 'मानस' की कथित समाप्ति तिथि (सं० १६३३) के लगभग बीस वर्ष बाद अर्थात् सं० १६५३ के लगभग मानें तो हम कदाचित् सत्य के अधिक निकट होंगे।

४७. 'पदावली रामायण' को 'गीतावली' रूप कब मिला यह कहना कठिन है; उस का कारण यह है कि न तो कवि ने स्वतः इस विषय का कोई उल्लेख किया है, और न 'गीतावली' रूप की कवि के जीवन-काल की कोई प्रति ही प्राप्त है; 'पदावली रामायण' का अखंडित पाठ अप्राप्य होने के कारण निश्चय-पूर्वक यह कहना कठिन है कि 'गीतावली' का कौन सा अंश 'पदावली रामायण' के अतिरिक्त है, इस लिए संकेतात्मक उल्लेख और विषय-निर्वाह तथा

[१] देखिए ऊपर पृ० १९६

शैली वाले साधन भी हमारी सहायता नहीं कर सकते। फलतः खोज की इस स्थिति मे इस प्रश्न पर विचार करना युक्तिसगत न होगा।

४८. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईंचरित' के आधार पर 'गीतावली' का रचना-काल सं० १६१६—२८ माना है।[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने गीतावली' को 'मानस' से पूर्व स० १६१५ और १६२० के बीच की रचना मानते हुए[2] कारण यह बताए हैं—एक तो यह कि 'गीतावली' मे कवि ने 'मानस' से भी अधिक कथा का विस्तार किया है और वह विस्तार अधिक काव्योचित है, दूसरे जहाँ पर 'मानस' और 'गीतावली' मे भाव-साम्य है वहाँ पर 'मानस' मे वे भाव 'गीतावली' की अपेक्षा परिष्कृत रूप मे हैं। उन के दूसरे तर्क की यथार्थता स्वीकार किए बिना भी यह कहा जा सकता है कि दोनों तर्क परस्पर विरोधी हैं, और एक दूसरे के बल को क्षीण कर देते हैं। उन का कथन यह भी है कि 'गीतावली' मे उन्हे भक्त तुलसीदास के दर्शन नहीं होते केवल कवि तुलसीदास के दर्शन होते हैं, और फिर 'गीतावली' के प्रारंभ में न किसी देवता की प्रार्थना है और न अत मे दीनता-प्रदर्शन की बाढ़। पहली शंका का समाधान तो वे 'गीतावली' के विभीषण-शरणागति संबंधी पदों को पढ़ कर स्वतः कर सकते हैं—मुझे तो कुछ पद उस मे ऐसे ज्ञात होते हैं[3] जिन में कवि की दास्य भाव की भक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण मिलता है। दूसरे के उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि देवताओं से प्रार्थना तथा दीनता प्रदर्शन संबंधी पदावली का हमारे कवि ने एक अलग ही संग्रह तैयार किया था जो पहले 'राम गीतावली' और बाद मे 'विनय पत्रिका' रूप में हमारे सामने आया। डॉक्टर रामकुमार वर्मा 'गीतावली' को 'मानस' के बाद की और सं० १६४३ से लगभग की रचना मानने के पक्ष मे है, और कारण यह बताते हैं कि 'गीतावली' की कथा में 'वाल्मीकि रामायण' की कथा से—जिस की प्रतिलिपि गोस्वामी जी ने स० १६४१ मे की थी—यथेष्ठ साम्य पाया जाता है।[4] 'वाल्मीकि रामायण' से जिन स्थलों पर साम्य पाया जाता है लगभग उन सभी स्थलों पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' से भी 'गीतावली' का साम्य है, जैसा हम

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ७७—७८

[2] 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ३८०—३९०

[3] उदाहरणार्थ: गीता०, सुं० २८-३०

[4] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४१९—२१

ऊपर देख चुके हैं, इस लिए वह निश्चयात्मक नहीं हो सकता।

विनय पत्रिका

४९. 'विनय पत्रिका' भी एक संग्रह-ग्रंथ है। कवि ने स्वतः इस संग्रह का भी निर्माण-काल नहीं दिया है। एक पद इस प्रकार का अवश्य कई बार प्रस्तुत लेखक के सुनने मे आया है जिस का आवश्यक अश निम्नलिखित है:

भजि मन राम चरन दिन राती।
रसना कस न भजे तू हरि को क्यों बैठी अलसाती।...
जिनके कहत दहहि दुख दारुन सुनि अघ ताप नसाती।
लिखा सो सुजस सिया रघुबर को सुनि जुड़ाय हिय छाती।
संवत सोरह सै एकतीसा जेठ मास छठि स्वाती।
तुलसिदास इक अरज करत है प्रथम विनय की पाती॥

किंतु यह पद किसी प्रति में प्रस्तुत लेखक को देखने को नहीं मिला और न वह योग ही—स्वाती का ज्येष्ठ शुक्ला या ज्येष्ठ कृष्णा ६ को—सं० १६६१ विगत-संवत्-वर्ष अथवा प्रचलित-संवत्-वर्ष मे पड़ता है,[1] इस लिए उपर्युक्त पूरा पद—अथवा कम से कम उस का वह अंश जिस मे रचना-तिथि आती है और जिस से हमारा निकट प्रयोजन है—हमारे कवि का नहीं हो सकता। 'विनय पत्रिका' के पदों में ऐसी किसी घटना का भी उल्लेख नहीं होता जिस का संबंध ज्योतिप की गणना अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके।

५०. उस की एक प्रति अवश्य कवि के जीवन-काल की प्राप्त है; वह है सं० १६६६ की लिखी हुई 'रामगीतावली' नाम की प्रति जिस का परिचय ऊपर दिया जा चुका है।[2] हम ने देखा है कि वह कवि-हस्तलिखित नहीं है, न केवल इस अर्थ में कि कवि उस का लिपिकार नहीं है, वरन् इस अर्थ में भी कि उस का संशोधन भी कवि द्वारा किया हुआ नहीं है, फलतः 'रामगीतावली' पाठ सं० १६६६ के पहले की रचना होगी यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जा सकता है। किंतु, इस से आगे बढ़ने पर प्रस्तुत प्रसंग में विपय-निर्वाह तथा शैली के साक्ष्य के अतिरिक्त हमारे पास कोई और साधन नहीं रहता।

[1] देखिए परिशिष्ट अ

[2] देखिए ऊपर पृ० १९९

५१. 'राम गीतावली' में एक पद है जो इस समय 'गीतावली' के निरे अंत में मिलता है, उस के अनुसार परशुराम-राम मिलन विवाहानंतर अयोध्या के लिए बारात के प्रस्थान करने पर होता है :

सब भूपन को गरब हर्‌यो हरि भंज्यो संभुचाप भारी ।
जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मद हारी ॥
(रा० गी० ८० = गीता०, उत्तर० ३८)

यह पद निश्चय ही 'मानस' से पहले रचा गया होगा : संभव है 'रामाज्ञा-प्रश्न (सं० १६२१) अथवा 'जानकी-मंगल' (सं० १६२७ ?) की रचना के लगभग किसी समय रचा गया हो ।

५२. दूसरी ओर 'राम गीतावली' में ऐसे पद भी आते हैं जो वृद्धावस्था की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं । उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित को ले सकते हैं :

तुम्ह तजि हौ कासौं कहौं और को हितु मेरे ।
दीनबंधु सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरे ।
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरें ।
कृपा कोध सति भाय हूँ धोखेहुं तिरीछेहुँ राम तिहारेहि हेरे ।
जौं चितवनि सौंधी लगै चितइयै सबेरें ।
तुलसिदास अपनाइऐ कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरें ॥
(रा० गी० १३२ = विनय० २७३)

फलतः यह निश्चत रूप से ज्ञात होता है कि 'पदावली रामायण' के गीतों की भाँति 'राम गीतावली' के पदों की रचना भी एक विस्तृत काल-क्षेत्र में हुई ।

५३. प्रश्न यह है कि 'राम गीतावली'-पाठ का संपादन कब हुआ। जैसा हम ने 'गीतावली' के रचना-काल पर विचार करते हुए ऊपर कहा है, जान ऐसा पड़ता है कि कवि ने 'राम गीतावली' का संपादन भी उसी समय किया जब उस ने 'पदावली रामायण' का किया क्यों कि अन्यथा 'राम गीतावली' के विनय संबंधी पदों को 'पदावली रामायण' के उत्तरकांड में उसी प्रकार स्थान मिल सकता था जिस प्रकार 'बरवै' और 'कवितावली' में हुआ है। और ऊपर हम देख ही चुके हैं कि 'रामगीतावली' के पदों की रचना विस्तृत काल-क्षेत्र में हुई, फलतः यदि "जीवन अवधि अति नेरे" से—जो उपर्युक्त पद में आया है—हम यह परिणाम निकाले कि उक्त कथन कवि ने कम से कम ६० वर्ष

की अवस्था के पूर्व न किया होगा, और संपादन 'राम गीतावली' का उस के बाद ही किसी समय, अनुमानतः ६४-६५ वर्ष की अवस्था में अर्थात् सं० १६५३ के लगभग किया होगा तो कदाचित् हम वास्तविकता से दूर न होंगे।

५४. 'राम गीतावली' को 'विनय पत्रिका' रूप कब मिला यह कहना कठिन है। कारण यह है कि न तो कवि ने कहीं इस विषय का उल्लेख किया है, और न कवि के जीवन-काल की कोई प्रति 'विनय पत्रिका'-पाठ की प्राप्त है। और 'राम-गीतावली' की संपूर्ण प्रति प्राप्त न होने से यह अनिश्चित है कि कौन से पद 'विनय पत्रिका'-पाठ में ऐसे हैं जो पहले से 'राम गीतावली' की सपत्ति नही थे, इस लिए इन मे ऐसे उल्लेखों को ढूँढ़ना जिन का संबंध किन्हीं तिथियों के साथ स्थापित किया जा सके, अथवा इन के विषय-निर्वाह और शैली के साक्ष्य पर भी कोई अनुमान करना ठीक न होगा।

५५. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर लिखा था कि 'विनय पत्रिका' की रचना सं० १६३६ और १६३९ के बीच किसी समय हुई होगी।[१] उपर्युक्त आत्मोल्लेखों से इस तिथि का स्पष्ट विरोध ज्ञात होता है, इस लिए इस तिथि के सबंध में विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि गोस्वामी जी सं० १६४५ के आस-पास व्रज गए होंगे और वहाँ से लौटने के बाद ही अपने अंतिम ग्रंथ 'विनय पत्रिका' के पद उन्हों ने प्रारंभ किए होंगे, और सं० १६६८ तक उस में पद रचे जाते रहे।[२] त्रिपाठी जी ने कदाचित् केवल 'विनय पत्रिका'-पाठ को ले कर विचार किया है; 'पदावली रामायण'-पाठ पर यदि उन्हों ने ध्यान दिया होता तो इस प्रकार की कल्पनाएँ वे न करते; वैसे भी, व्रज-यात्रा गोस्वामी जी ने सं० १६४५ के ही आस-पास की और उस यात्रा का कोई संबंध 'विनय पत्रिका' से है यह प्रमाणित नहीं हो सकता। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने सं० १६६६ की उपर्युक्त प्राप्त प्रति के आधार पर 'विनय पत्रिका' की रचना-तिथि सं० १६६६ माना है। यदि प्रति कवि की स्वहस्त-लिखित प्रति होती तो इस प्रकार की सभावना हो सकती थी—यद्यपि फिर भी प्रति की तिथि केवल प्रतिलिपि की तिथि भी हो सकती थी, किंतु—जैसा हम ऊपर अभी देख चुके हैं—प्रति कवि-

[१] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९१

[२] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ४०८

हस्तलिखित नहीं है इस लिए सं० १६६६ ग्रंथ की केवल एक प्रतिलिपि-तिथि है, रचना तिथि नहीं है।

कृष्ण-गीतावली

५६. 'कृष्ण-गीतावली' भी एक संग्रह-ग्रंथ है। उस की तिथि कवि ने स्वतः नही दी है। और न कृति मे किसी ऐसी घटना का उल्लेख होता है जिस का संबंध ज्योतिष की गणना द्वारा अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों के द्वारा किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके। उस की हस्तलिखित प्रतियाँ भी जो प्राप्त हुई हैं उन में से कोई भी ऐसी नही है कि वह कवि के जीवन-काल की हो—अथवा वैसी मानी जा सके। फलतः हमारे सामने एक ही मार्ग शेष रहता है: वह है उस के विषय-निर्वाह तथा शैली के अध्ययन का।

५७. 'कृष्ण-गीतावली' विषय-निर्वाह मे 'गीतावली' से निस्संदेह भिन्न है, और इस वैभिन्य में उत्कृष्टता 'कृष्ण-गीतावली' के पक्ष मे है। 'गीतावली' मे अनेक ऐसे प्रसंग मिलेंगे जो अनावश्यक रूप से विस्तार पाते हैं: उदाहरण के लिए राम-वन-पथिक-प्रसंग;[1] और इसी प्रकार कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलेंगे जो बिलकुल छूट गए हैं: जैसे सुग्रीव-मैत्री, रावण-वध, तथा उस के अनंतर सीता-मिलन के प्रसंग; किन्तु 'कृष्ण गीतावली' मे एक भी ऐसा प्रसंग नहीं है जिसे अनावश्यक विस्तार मिला हो, और न ग्रंथ के आकार के ध्यान से कोई ऐसा प्रमुख प्रसंग है जो छूट गया हो—६० गीतों मे कवि ने पूरी कृष्ण-कथा सुंदर ढंग से उपस्थित की है। फिर, यद्यपि गीतात्मकता मे 'गीतावली' 'कृष्ण-गीतावली' से कहीं-कहीं पर अधिक तीव्र प्रभाव डालती है, किंतु कथात्मक विस्तारों ने जिस प्रकार 'गीतावली' मे अनेक स्थलों पर गीतात्मक प्रभाव की सृष्टि में बाधा पहुँचाई है उस प्रकार 'कृष्ण-गीतावली' मे उन्हो ने कहीं भी नहीं उपस्थित की है। शैली मे 'कृष्ण-गीतावली', 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक एकरूपता उपस्थित करती है, साथ ही 'कृष्ण-गीतावली' मे शैली के द्वारा ब्रज का जो वातावरण उपस्थित करने का यत्न किया गया है—विशेष कर के वहाँ के स्थानीय प्रयोगों को स्थान-स्थान पर ला कर—वह उस की एक अपूर्व विशेषता है।[2]

[1] गीता०, अयोध्या० १५-४७ [2] देखिए नीचे अध्याय ६

५८. फलतः हम देखते हैं कि 'कृष्ण-गीतावली' में कलापक्ष गीतावली से अपेक्षाकृत अधिक सफल है। यह सफलता दो कारणों से मिली हुई ज्ञात होती है: एक तो 'कृष्ण-गीतावली' बहुत कुछ सीमित काल-क्षेत्र में रची गई जान पड़ती है—उस की रचना उतने स्फुट ढंग पर नहीं हुई जितनी 'गीतावली' की—और दूसरे उस की रचना उस समय कवि ने की जब उस का कलापक्ष मँज गया था। फलतः ऐसा जान पड़ता है कि 'कृष्ण-गीतावली' के पदों का रचना-काल 'पदावली रामायण' से कुछ पीछे मानना पड़ेगा। इस अंतर को व्यक्त करने के लिए यदि हम अनुमान से 'कृष्ण-गीतावली' का रचना-काल 'पदावली रामायण' के संपादन-काल से पाँच वर्ष पीछे रक्खें और सं० १६५८ के लगभग मानें तो कदाचित् हम सत्य से अधिक दूर न होंगे।

५९. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर लिखा था कि 'कृष्ण-गीतावली' के पदों की रचना 'गीतावली' के साथ-साथ सं० १६१६ से सं० १६२८ तक हुई थी और उन का संग्रह सं० १६२८ में किया गया था।[1] 'कृष्ण-गीतावली' की तिथि-निर्धारण के संबंध में, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, विषय-निर्वाह तथा शैली के अतिरिक्त दूसरा साक्ष्य नहीं है, और उस के आधार पर हम ने ऊपर ग्रंथ की रचना-तिथि पर विचार किया ही है, फलतः पुनः कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं "मेरा अनुमान है कि इस की रचना सं० १६२८ और १६३० के बीच में हुई होगी। उन दिनों वे काशी में प्रायः अधिक रहते थे और वल्लभ कुल के गोसाइयों के संपर्क में रहते थे, संभवतः उन को प्रसन्न करने के लिए यह 'गीतावली' उन्हीं के अनुरोध से लिखी गई।"[2] इस प्रकार की कल्पनाओं पर विचार करना कदाचित् व्यर्थ ही होगा। डॉक्टर रामकुमार वर्मा 'गीतावली' 'कृष्ण-गीतावली' का युग्म मानते हुए कदाचित् दोनों को साथ-साथ की ही रचना मानते हैं।[3] 'गीतावली' की तिथि के संबंध में उन का जो मत है उस पर अभी हम विचार कर चुके हैं, 'गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' का कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी ऊपर हम ने किया है, इसलिए यहाँ पुनर्विचार की

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ७७-७८

[2] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ४०५

[3] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४१२-१३

आवश्यकता नही है।

बरवै

६०. 'बरवै' एक संग्रह-ग्रथ है। स्वतः कवि ने 'बरवै' की रचना-तिथि नहीं दी है, और न ग्रंथ मे उस ने किसी ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिस का समय ज्योतिष की गणना से अथवा किसी ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर निर्धारित किया जा सके, 'बरवै' की प्राचीन प्रतियो मे भी ऐसी कोई नहीं है जो कवि के जीवन-काल की हो।

६१. विषय-निर्वाह का अध्ययन, अवश्य प्रस्तुत प्रश्न पर प्रकाश डालता है। 'बरवै' मे कुछ ऐसे छद आते है जिन मे निकट आती हुई मृत्यु की धुँधली प्रतिच्छाया से कवि प्रभावित दिखाई पड़ता है. इस प्रकार के कुछ छंद निम्नलिखित हैं :

मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परनाम॥
तुलसी राम नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहिं देहु।
तहँ तहँ राम निवाहब नाम सनेहु॥

(क्रमशः बरवै० ६५, ६७, ६८, ६९)

फलतः यह जान पड़ता है कि 'बरवै' मे कवि की कुछ न कुछ अंतिम कविता काल के छद भी होंगे।

६२. सकलन तो 'बरवै' का कदाचित् कवि स्वतः नहीं कर पाया था, क्योंकि इस ग्रथ की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई है उन मे से अधिकतर ऐसी हैं जो आकार-प्रकार मे मुद्रित प्रति से बहुत भिन्न हैं, और यह भिन्न प्रतियाँ भी परस्पर एक सी नहीं हैं,[1] और इस विशेषता में 'बरवै' उन्हीं रचनाओं के समान है जिन में निश्चित रूप से कवि की अंतिम रचनाएँ भी संगृहीत हैं,

[1] देखिए ऊपर पृ० २०५

अर्थात् 'दोहावली' और 'कवितावली' और 'बाहुक'[1] जिन के रचना-काल पर हम अभी विचार करेंगे।

६३. 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने लिखा था कि 'बरवै' की रचना गोस्वामी जी ने रहीम के बरवै देख कर सं० १६६९ में की थी।[2] रहीम ने स० १६६९ मे कोई बरवै हमारे कवि के पास भेजे होंगे इस बात की असंभावना पर हम ऊपर पहले विचार कर चुके हैं।[3] किंतु यदि कवि ने इस संवत् के आस-पास कोई बरवै रचे हों तो कुछ आश्चर्य नही जैसा ऊपर उद्धृत बरवों से ज्ञात होगा, फिर भी किसी निश्चित तिथि के साथ उन का संबंध स्थापित करना कठिन है। श्री सद्गुरु शरण अवस्थी कहते हैं कि यह ग्रंथ तुलसीदास जी ने 'रामलला नहछू' के अनतर अथवा उस के लेखन-समय के आस-पास ही लिखा है क्यों कि इस में जो शृगार-प्रियता तथा अलंकार-प्रियता मिलती है वह कवि के प्रारभिक युग की ही हो सकती है।[4] फिर तुलसीदास के 'मानस' तथा रहीम की कुछ रचनाओं में साम्य दिखाते हुए अवस्थी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों मे से तुलसीदास जी की रचना बाद की है, और उस का समय सं० १६३१ है, इस लिए रहीम और तुलसीदास की भेंट सं० १६३१ के पूर्व किसी समय हुई होगी।[5] अवस्थी जी के पहले अनुमान का निराकरण ऊपर उद्धृत छदों से हो जाता है, शृगार पूर्ण छद— जो अलकार पूर्ण भी हैं—संभव हैं, यदि वह वस्तुतः कवि की रचना हैं, कवि की वृद्धावस्था के न हों किंतु ऊपर उद्धृत छद किसी दूसरी अवस्था के कदाचित् नहीं हो सकते। रहीम की रचनाएँ और तुलसीदास से उन की भेंट भी सं० १६३१ या उस के पूर्व हो सकती थी यह कल्पना करने के पहले अवस्थी जी ने कदाचित् रहीम का जन्म कब हुआ था यह जानने का प्रयत्न नहीं किया, अन्यथा ऐसी कल्पना वे कभी न करते। रहीम का जन्म सं० १६१३ में हुआ था।[6] प० रामनरेश त्रिपाठी छदों का रचना-काल सं० १६१० से १६४० तक मानते हैं, किंतु कहते हैं कि सग्रह स्वतः कवि का किया हुआ नहीं ज्ञात होता।[7]

[1] देखिए ऊपर क्रमशः पृ० २०६, २०७
[2] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० १००
[3] देखिए ऊपर पृ० ४९-५०
[4] 'तुलसी के चार दल' पृ० १०२
[5] वही १२२-२३
[6] ब्लोचमैन : 'आईन-ए-अकबरी' जिल्द १, पृ० ३३४
[7] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३७८

डॉक्टर रामकुमार वर्मा स्वतंत्र रूप से तिथि-निर्धारण का प्रयत्न नहीं करते 'मूल गोसाईं-चरित' की दी हुई सं० १६६९ की तिथि पर विचार करते हुए कहते हैं कि संभव है वह 'बरवै' की संग्रह-तिथि ही हो, रचना-काल कुछ वर्षों का होना चाहिए।[1] सं० १६१०-४० की तिथि का सामंजस्य उन छंदों से करना कठिन ज्ञात होता है जिन को ऊपर उद्धृत किया गया है, और यदि रचना इतने पूर्व ही समाप्त हो चुकी थी, और उस के बाद कवि के ४० वर्षों के जीवन मे यदि उस मे कुछ वृद्धि नहीं हुई, तो कवि ने उस का संग्रह और सपादन क्यो अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ रक्खा था यह बात ज़रा बहुत समझ में नहीं आती। इसी प्रकार, यह भी बहुत कम संभव ज्ञात होता है कि कवि ने ग्रंथ का संपादन स्वतः किया हो और फिर भी ग्रंथ में कथा-क्रम की सर्वथा उपेक्षा की गई, जो कि आसानी से देखी जा सकती है।

दोहावली

६४. 'दोहावली' का रचना-काल कवि ने नहीं दिया है, और न उस की कोई ऐसी प्रति हमें प्राप्त है जो कवि के जीवन-काल की हो, किंतु उस में कुछ इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख आते हैं जिन की सहायता से उक्त उल्लेख-युक्त छंदों का रचना-काल जाना जा सकता है। इस प्रकार का सर्वप्रमुख उल्लेख रुद्र-बीसी विषयक है, जो 'दोहावली' के एक दोहे में स्पष्ट रूप से हुआ है।[2] किंतु रुद्र-बीसी के समय के संबंध में विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि वह कवि के जीवन-काल में दो बार उपस्थित होती है: पहले सं० १५९६ से १६१६ तक, और फिर सं० १६५६ से १६७६ तक।[3] प्रश्न यह है कि समय-संबंधी इस दुविधा का निपटारा किस प्रकार संभव है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें ज्ञात होगा कि 'दोहावली' के कुछ दोहे ऐसे हैं जिन में वृद्धावस्था और मृत्यु की एक धुँधली प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उत्कर्ष-क्रम से इस प्रकार के तीन दोहे निम्नलिखित हैं:

रोग निकर तनु जरठपनु तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा लै पालिए दीन पालिबे जोग॥

[1] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३९९

[2] दोहा० २४०

[3] देखिए ऊपर पृ० १५२

स्रवन घटइ पुनि दृग घटइ घटइ सकल बल देह ।
इते घटे घटि है कहा जौ न घटै हरि नेह ॥
नीच मीच लै जाइ जो राम रजायसु पाइ ।
तो तुलसी तेरो भलो न तु अनभलो अघाइ ॥

(क्रमशः दोहा० १७८, ५६३, १५५)

यह दोहे निश्चय ही कवि की जरा-जर्जर अवस्था की रचनाएँ होंगी, फलतः रुद्र-बीसी संबंधी दोहा सं० १५९६ और १६१६ के बीच का नही हो सकता, उसे हमे स० १६५६ से १६७६ के बीच का ही मानना होगा और साथ ही यह स्वीकृत करना होगा कि 'दोहावली' में बहुत सी ऐसी रचना होगी जो कवि के जीवन के अतिम भाग से संबंध रखती है।

६५. इस अनुमान की पुष्टि एक और तथ्य से होती है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस ग्रथ की प्रतियाँ बहुतेरी मिलती हैं, किंतु मुद्रित पाठ की तुलना में —तथा परस्पर भी जहाँ तक उन के पाठ का पता लगता है—आकार-प्रकार संबधी विचारणीय विभिन्नता है। जान ऐसा पड़ता है कि कवि स्वतः इस रचना का अतिम रूप नहीं दे पाया था, और उस के देहावसान के कारण सग्रह असंपादित रह गया।

६६. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर लिखा था कि 'दोहावली' का संग्रह कवि ने सं० १६४० में किया।[१] इस तिथि का स्पष्ट विरोध ऊपर उद्धृत दोहों से होता है। फिर, 'सतसई' को भी डॉक्टर साहब कवि की रचना मानते हैं, और उस का रचना-काल सं० १६४२ मानते हैं, किंतु यह लिखते हुए भी कि एक सौ से अधिक दोहे दोनो में एक ही हैं[२] वे इस समस्या पर विचार नही करते कि वे किस रचना से किस दूसरी रचना में लिए गए होंगे। मैं समझता हूँ कि 'दोहावली'-संग्रह के लिए सं० १६४० की तिथि के पक्ष में 'मूल गोसाईं-चरित' से अधिक विश्वसनीय और कोई साक्ष्य उन के पास नही है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है, "मेरी राय में 'दोहावली' मे स० १६१० से १६७१ तक के दोहे सम्मिलित हैं।"[३] पहली तिथि से हमे विशेष प्रयोजन नहीं है, यद्यपि वह भी ठीक नहीं जँचती, दूसरी

[१] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९२
[२] वही, पृ० ९३
[३] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३७१

तिथि के विपक्ष में ऊपर जो तिथि-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है वही यथेष्ट होगा। डॉक्टर रामकुमार वर्मा का झुकाव मेरी ही ओर है।

कवितावली और बाहुक

६७. 'बरवै' और 'दोहावली' की भाँति 'कवितावली' और 'बाहुक' भी संग्रह-ग्रंथ हैं। 'कवितावली' और 'बाहुक' का रचना-काल कवि ने स्वतः नहीं दिया है, और न कवि की जीवन-काल की कोई प्रति ही इन ग्रंथों की प्राप्त हुई है। यह अवश्य है कि 'कवितावली' में कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख हुआ है जिन का समय ज्योतिष की गणना और ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात हो सकता है: इस प्रकार के उल्लेख हैं रुद्रबीसी, मीन के शनि, तथा महामारी संबंधी, और, इन के अतिरिक्त ऐसे वृद्धावस्था संबंधी उल्लेख भी प्रायः आते हैं जिन से आगे आती हुई मृत्यु की धुँधली प्रतिच्छाया का भान होता है। इन के समय-संबंध में संक्षेप में हम यहाँ फिर विचार कर सकते हैं।

६८. रुद्र-बीसी के संबंध में ऊपर हम देख चुके हैं कि वह कवि के जीवन-काल में दो बार उपस्थित होती है: पहले सं० १५९६ से सं० १६१६ तक, और फिर स० १६५६ से १६७६ तक।[1] इसी प्रकार मीन के शनि के संबंध मे भी विचार करते हुए हम ऊपर देख चुके हैं कि यह योग दो बार उपस्थित होता है: एक चैत्र शुक्ला ५, स० १६४० से ज्येष्ठ सं० १६४२ तक, और फिर चैत्र शुक्ला २, स० १६६९ से ज्येष्ठ सं० १६७१ तक।[2] फिर इसी प्रकार, महामारी के संबध मे हम देख चुके हैं कि उस का जो वर्णन कवि ने दिया है उस से यह निश्चय करना कठिन है कि वह हैजा थी या ताऊन, और हैजा दुर्भिक्षों के पश्चात् प्रायः हो जाता था परंतु ताऊन पहले-पहल स० १६७३ में आया और उस के बाद लगातार ८ वर्षों तक देश के विभिन्न भागों मे बना रहा।[3] प्रश्न यह है कि इन घटनाओं के समय सबंधी इस दुविधा में कौन-सा साक्ष्य हमारा सहायक हो सकता है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो वृद्धावस्था तथा मृत्यु-सामीप्य सबधी कवि के उल्लेख इस विषय में हमारी सहायता अवश्य करते हैं। इन मे से केवल सर्वप्रमुख और किसी कोटि तक निश्चयात्मक छंदों का उल्लेख

[1] देखिए ऊपर पृ० १५७

[2] वही, पृ० १५३

[3] वही, पृ० १५३

ही यथेष्ट होगा। स्थिति के क्रमोत्कर्ष-क्रम मे वे निम्नलिखित हैं :

पाइ सुदेह बिमोह नदी तरनी न लही करनी न कछू की।
राम कथा बरनी न बनाइ सुनी न कथा प्रहलाद न ध्रू की।
अब जोरि जरा जरि गात गयो मन मानि गलानि कुबानि न मूकी।
नीके कै ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ो उर आखर दू की॥
पाप हरे परिताप हरे तन पूजि भो सीतल सीतलताई।
हंस कियो बक तें बलि जाउँ कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई।
काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई॥
जीव जहान में जायो जहाँ सो तहाँ तुलसी तिहुँ दाह दहो है।
दोस न काहू कियो अपनो सपनेऊ नहीं सुख लेस लहो है।
राम के नाम तें होउ सो होउ न सोऊ हिए रसना ही कहो है।
कियो न कछू करिबो न कछू कहिबो न कछू मरिबोइ रहो है॥

(क्रमशः कविता०, उत्तर० ८८, ५८, ९१)

इस जरा-जर्जर अवस्था में रोग-ग्रस्त होने पर तो एक बार वह मृत्यु की कामना भी करने लगता है :

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर
पाइँ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।
बामदेव राम को सुभाव सील जानि जिय
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अबिभूत बेदन बिषम होत भूतनाथ
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासीबास खास फल
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं॥
जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं
मालुम है तोहिं मरिबेइ को रहतु हौं।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं।
रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को
भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं।

आइए तो जानकीरमन जन जानि जिय
मारिए तो माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं ॥
(क्रमशः कविता०, उत्तर० १६६, १६७)

जब इन छंदों की रचना कवि ने वृद्धावस्था में की होगी—और इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है—तब रुद्र-बीसी और मीन के शनि और महामारी के संबंध में हमे उन की वही तिथियाँ कदाचित् माननी चाहिएँ जो कवि की वृद्धावस्था मे पड़ती हों। और इस प्रकार मीन के शनि के लिए स० १६६९–७१ तथा रुद्र-बीसी के लिए स० १६५६–१६७६ और महामारी के लिए स० १६७३–८० की तिथियाँ लेना ही अधिक उचित होगा। फलतः यह स्पष्ट है कि 'कवितावली' में कवि की निरी अंतिम अवस्था की भी रचनाएँ सगृहीत हैं।

६९. सकलन के संबध में अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, इस ग्रथ की प्रतियाँ बहुतेरी मिलती हैं, किन्तु मुद्रित पाठ की तुलना में तथा परस्पर भी जहाँ तक उन के पाठ का पता लगता है आकार-प्रकार सबंधी विभिन्नता विचारणीय है।[1] जान ऐसा पड़ता है कि पूर्वोल्लिखित दो रचनाओं की भाँति कवि इस रचना को भी अंतिम रूप नहीं दे पाया था और सग्रह उस के देहावसान के कारण असंपादित ही रह गया था।

७०. 'बाहुक' 'कवितावली' की प्रतियों में अधिकतर एक परिशिष्ट की भाँति मिलता है, और वैसे भी वह प्रकृत्या 'कवितावली' के अंतिम अंश से किसी प्रकार भिन्न नही है, इस लिए उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रश्न यह हो सकता है कि 'बाहुक' को हम यदि स्वतंत्र रचना माने तो उस का समय क्या होगा। निरे 'बाहुक' के संबध मे वस्तुतः एक बात को छोड़ कर कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिस से हम 'बाहुक' के संपादन-समय का ठीक-ठीक निर्धारण कर सके। वह बात जो इस विषय पर प्रकाश डालती है 'बरवै', 'दोहावली' और शेष 'कवितावली' की भाँति यह है कि 'बाहुक' की प्रतियाँ भी यद्यपि सख्या मे बहुत सी मिलती हैं पर ठीक-ठीक एक-सी, एक-ही आकार-प्रकार की प्रतियाँ बहुत कम मिलती हैं,[2] और 'बरवै', 'दोहावली' और 'कवितावली' के सबंध मे ऊपर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि वे ऐसे संग्रह हैं जिन मे कवि

[1] देखिए ऊपर पृ० २०७ [2] वही।

की बहुत सी निरी अंतिम रचनाएँ भी संगृहीत होनी चाहिए इस लिए कदाचित् उन्हीं की भाँति इस रचना के संबंध में भी मानना पड़ेगा कि इस में भी कवि की कुछ लिखी अंतिम रचनाएँ संगृहीत हैं जिन को कवि अतिम रूप नहीं दे पाया था और यही कारण है कि प्रतियों के पाठ में परस्पर इतना अंतर मिलता है।

७१. 'मूल गोसाईं-चरित' में दी हुई 'कवितावली' की तिथि पर विचार करते हुए डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने लिखा था 'यदि जिस क्रम से उत्तरकांड के अंत में कवित्तों का संग्रह है उस से 'कवितावली' के रचना-काल का कुछ पता चल सकता है तो वह यही कि कवितावली का कथा-भाग और सीतावट-विषयक कवित्त १६२८ और १६३१ के बीच में बनाए गए हैं और शेषांश १६६९ के पीछे।"[१] किंतु, 'बाहुक' की जो तिथि 'मूल गोसाईं-चरित' में दी हुई है वह उन्हों ने ठीक मान ली थी।[२] 'कवितावली' के कथा-भाग और सीतावट-संबंधी कवित्तों को हम सं० १६२८-३१ की रचना और 'बाहुक' के छंदों की सं० १६६९ की ही रचना क्यों माने इस के लिए 'मूल गोसाईं-चरित' के साक्ष्य के अतिरिक्त कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता, शेष कथन युक्ति-संगत हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी 'बाहुक' को 'कवितावली' का ही एक अंश मानते हुए लिखते हैं कि इस संग्रह के छंदों की रचना सं० १६१० से कम से कम १६७१ तक हुई, और यदि क्षेमकरी वाला सर्वथा तुलसीदास के अंतिम दिन का माना जाय तो इस का निर्माण-काल सं० १६८० पहुँच जाता है।[३] त्रिपाठी जी जिन छंदों को सं० १६१० की रचना मानते हैं उन में कोई ऐसी बात नहीं है कि वे सं० १६१०— या उस के आस पास—के अतिरिक्त किसी और तिथि, कदाचित् बहुत बाद की भी तिथि, के न हो सकें; शेष के संबंध में जो कुछ ऊपर हम लोग देख चुके हैं उस से अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। डॉक्टर राम-कुमार वर्मा का कहना है कि 'कवितावली' के कुछ कवित्तों का रचना-काल मीन के शनि के उल्लेख के कारण कम से कम सं० १६६९ ठहरता है, पर शेष के संबंध में वे कुछ नहीं कहते।[४] 'बाहुक' के संबंध में वे 'मूल गोसाईं-चरित' से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यदि 'बाहुक' में वर्णित बाहु पीड़ा से कवि की

[१] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ८३
[२] वहीं, पृ० १०१
[३] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३६८
[४] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४४७

मृत्यु मानें तो यह उस की अंतिम रचना है और इस का रचना-काल सं० १६८० है, और यदि उपर्युक्त घटना सही न भी हो तो यह रचना स० १६६९ के लगभग की तो माननी ही चाहिए।[1] 'कवितावली' के विषय में जहाँ तक उन का कथन है उस से किसी को मतभेद नहीं हो सकता, किंतु 'बाहुक' के संबंध में स० १६६९ की तिथि के लिए 'मूल गोसाईं-चरित' के अतिरिक्त कदाचित् और कोई आधार न होगा।

सिंहावलोकन

७२. रचना-काल संबंधी उपर्युक्त विवेचन का सिंहावलोकन करने पर विदित होगा कि काल-क्रम और अवस्था-क्रम (जन्म सं० १५८९)[2] के अनुसार कवि की कृतियाँ स्वतः निर्मित चार समूहों में विभाजित की जा सकती हैं; तिथियाँ सभी विगत-संवत् वर्ष में दी जा रही हैं, और जैसा हम ऊपर देख चुके हैं 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'राम चरित मानस' 'सतसई', तथा 'पार्वती मंगल' के अतिरिक्त सभी ग्रंथों की तिथियाँ केवल अनुमान-सिद्ध हैं :

अ. प्रारंभिक	(स० १६११–२५)				
(१) रामलला नहछू	सं० १६११	अवस्था	लगभग	२२ वर्ष	
(२) वैराग्य संदीपिनी	सं० १६१४	,,	,,	२५ वर्ष	
(३) रामाज्ञा-प्रश्न	सं० १६२१	,,	,,	३२ वर्ष	
आ मध्यकालीन	(स० १६२६–४५)				
(१) जानकी मंगल	सं० १६२७	,,	,,	३८ वर्ष	
(२) रामचरित मानस	स० १६३१	,,	,,	४२ वर्ष	
(३) सतसई	सं० १६४१	,,	,,	५२ वर्ष	
(४) पार्वती मगल	सं० १६४३	,,	,,	५४ वर्ष	
इ. उत्तरकालीन	(स० १६४६–६०)				
(१) गीतावली	स० १६५३	,,	,,	६४ वर्ष	
(२) विनय पत्रिका	सं० १६५३	,,	,,	६४ वर्ष	
(३) कृष्ण-गीतावली	स० १६५८	,,	,,	६९ वर्ष	

[1] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४१४-१५

[2] देखिए ऊपर पृ० १११

ई. अतिम और अपूर्ण (सं० १६६१–८०)

(१) बरवा

(२) दोहावली

(३) कवितावली (सबाहुक)

रामचरित मानस का रचना-क्रम

७३. 'रामचरित मानस' के विभिन्न अशो के रचना-क्रम विषयक अनुसंधान की उपयोगिता बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत कदाचित् इस समस्या की वैज्ञानिक जाँच का प्रथम प्रयास है, इस लिए निःसन्देह इस मे पूर्णता की आशा नही करनी चाहिए, फिर भी विश्वास है कि अध्ययन लाभदायक सिद्ध होगा। यह अध्ययन काव्य के विभिन्न भागों के विश्लेषण पर निर्भर है, और उक्त विश्लेषण में विषय-निर्वाह सबधी तीन साक्ष्यों की सहायता ली गई है: (१) छद-योजना, (२) वक्ता-श्रोता-परंपरा तथा (३) कथा-वस्तु का मूलाधार। साधारणतः सहायता प्रथम दो की ही ली गई है, तीसरे की सहायता वहीं ली गई है जहाँ उस से इस समस्या पर विशेष प्रकाश पड़ा है। ऐसे अध्ययनों मे प्रायः एक साक्ष्य की सहायता और ली जाया करती है, वह है शैली की; किंतु शैली का साक्ष्य प्रायः बहुत निर्बल हुआ करता है, और कभी-कभी भ्रमात्मक भी ठहरता है जब तक कि किन्हीं दो अवतरणो मे इतनी खटकती हुई भिन्नता न हो जो सिद्ध कर सके कि उन का संबंध कवि के जीवन के विभिन्न समयों से है: प्रस्तुत काव्य के भिन्न-भिन्न अंशों में शैली की इस कोटि की विभिन्नता की आशा करना कम युक्ति-संगत होगा; अतः उपर्युक्त तीन विषय-निर्वाह संबंधी साक्ष्यों तक ही विश्लेषण को सीमित रक्खा गया है।

७४. विश्लेषण करने पर हमें ग्रंथ के विभिन्न अंशों के संबंध में जो परिस्थिति दिखाई पड़ती है वह निम्नलिखित हैं, पहली संख्याएँ जो कोष्ठकों मे हैं वे विभिन्न अशों की सकेत-संख्याएँ हैं, तदनतर क्रमशः वर्णित विषय, अर्द्धाली-समूहों में आई हुई अर्द्धालियों की सख्याएँ, विषय-निर्वाह के मूलाधार, तथा वक्ता-श्रोता संबंधी उल्लेख हैं:

बालकांड:

अ (१–१८): वदना तथा प्रस्तावना; अर्द्धाली-समूह क्रमशः

८, १३, १२, ११, ९, ९, १२, १४, ११, १०, ९, १२ १०, ११, ११, ८, १०, १० के अपूर्व; वक्ता कवि।

आ. (१९-२७) : राम नाम-वंदना; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व; वक्ता कवि।

इ. (२८-३५) : शेष वंदना तथा प्रस्तावना, अर्द्धाली-समूह क्रमशः ११, ८, ८, १४, १४, ८, ८, १३ के; अपूर्व; वक्ता कवि।

ई (३६-४३) : रामचरित मानस-रूपक; क्रमशः अर्द्धाली-समूह ९, १५, ९, १३, ८, ८, ८, ८ के; अपूर्व; वक्ता कवि।

उ. (४४-४७) : याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद की प्रस्तावना; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का, आधार अज्ञात, वक्ता याज्ञवल्क्य, जो उमा-शंभु-संवाद सुनाने का संकल्प करते हैं :[1]

> कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।
> भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनि मुनि मिटिहि बिषाद॥
>
> (मानस, बाल० ४७)

यद्यपि यह संवाद यहाँ नहीं, वरन् १०५ में उठाया जाता है।

ऊ. (४८-१०३) : शिव-चरित· अर्द्धाली-समूह एक के अतिरिक्त,[2] प्रत्येक ८ का, आधार 'शिवपुराण', वक्ता कवि; शिव वक्ता नहीं हैं और न याज्ञवल्क्य ही हैं, यह स्पष्ट है : शिव के लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग इतने बड़े प्रसंग में एक बार भी नहीं होता, और न याज्ञवल्क्य-भारद्वाज ही हमें दिखाई पड़ते हैं, दिखाई पड़ता है केवल कवि, जो कहता है :

> देखत रूपु सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कबि को है।
>
> (मानस, बाल० १००)
>
> सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा।
>
> (मानस, बाल० १००)
>
> चरित सिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु।
> बरनै तुलसीदास किमि अति मति मंद गँवारु॥
>
> (मानस, बाल० १०३)

[1] मानस, बाल० ४६, ४७ [2] वही, ७८

ए. (१०४–१०६) : उमा-शंभु-संवाद की भूमिका; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व; वक्ता याज्ञवल्क्य।[1]

ऐ. (१०७–१२२) : मूल कथा की भूमिका : अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; आधार 'अध्यात्म-रामायण'; वक्ता शिव; उमा-शंभु- संवाद का प्रारंभ। बीच में दो सोरठों में आने वाले काग-गरुड़-संवाद की भूमिका भी रख दी गई है :

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस विमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥
सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥

(मानस, बाल० १२०)

किंतु संवाद के रूप में काग-गरुड़-संवाद बाल और अयोध्या कांडों में कहीं नहीं आता।

ओ. (१२३–१२४) : अवतार-हेतु; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ७, ८, के; आधार अज्ञात; वक्ता पहले याज्ञवल्क्य:[2] शिव वक्ता नहीं हैं :

संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा।
परम सती असुराधिप नारी। तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी।

(मानस, बाल० १२३)

तदनंतर शिव,[3] तदनंतर पुनः याज्ञवल्क्य[4]

औ. (१२५–१३९) : नारद-मोह; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ९ का. आधार 'शिवपुराण'; वक्ता याज्ञवल्क्य; शंकर नहीं हैं,[5] यथा :

संभु दीन उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥

(मानस, बाल० १२७)

अं. (१४०–४१) : प्रसंग-पूर्वापर्य; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व;

[1] मानस, बाल० १०४.

[2] वहीं, १२४

[3] वही

[4] वहीं, सोरठा

[5] वही, १२७, १२८, १३३, १३४, १३५, १३९

पहले वक्ता शिव,[1] तदनंतर याज्ञवल्क्य;[2] शिव-चरित वाला उपर्युक्त अंश इस के पूर्व की रचना ज्ञात होता है, क्यों कि शिव उक्त कथा की एक घटना का उल्लेख यहाँ करते हैं :

जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु समेत धरे मुनि बेषा।
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी।

(मानस, बाल० १४१)

अ. (१४२–१५२ अंशतः) : मनु-सतरूपा-चरित; प्रत्येक अर्द्धाली-समूह ८ का; आधार अज्ञात; शिव वक्ता नहीं हैं, यथा :

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।

(मानस, बाल० १४५)

और, याज्ञवल्क्य प्रकरण की समाप्ति के अनंतर आते हैं, उस के पहले नहीं आते, फलतः वक्ता कवि।

क. (१५२ शेष–१५३ अंशतः) : प्रसग-पूर्त्यर्थ, आधार अज्ञात; वक्ता याज्ञवल्क्य।

ख. (१५३ शेष–१७५ अशतः) : प्रतापभानु-चरित, अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; आधार अज्ञात; वक्ता कवि :

तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवहि ताहि पहि ताहि तहाँ लै जाइ॥
तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि॥

(क्रमशः मानस, बाल० १५९, १६१)

ग. (१७५ शेष–१७६) : रावणावतार; अर्द्धाली-समूह ८ का; आधार अज्ञात; वक्ता याज्ञवल्क्य।

घ. (१७७–२००) : रावण-चरित, रामावतार, शिशुलीला; अर्द्धाली-समूह ३ के अतिरिक्त[3] प्रत्येक ८ का; आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य कुछ ग्रंथ; वक्ता शिव।[4]

ङ. (२०१–३६१) : राम-चरित (शेष बालकांड); अर्द्धाली-समूह ९ के

[1] मानस, बाल० १४०, १४१
[2] वहीं, १४१
[3] वहीं, १८२, १८७, १९०
[4] वहीं, १७७, १८५, १९६, २००

अतिरिक्त[1] प्रत्येक ८ का; आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य ग्रंथ; वक्ता कवि :

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥
(मानस, बाल० २११)

सीय बरनि तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।
(मानस, बाल० २४७)

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥
(मानस, बाल० २४७)

जेहिं मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनै असि मति कबि केही।
(मानस, बाल० २८९)

उपमा न कोउ कह दासतुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहैं।
(मानस, बाल० ३११)

सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसें करै॥
(मानस, बाल० ३२३)

कबिकुल जीवनु पावन जानी। रामसीय जसु मंगल खानी।
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी।
निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौनें लह्यो॥
(मानस, बाल० ३६१)

शिव-उमा-संवाद अथवा याज्ञवल्क्य-भारद्वाज-संवाद का उल्लेख कहीं नहीं होता। शिव का उल्लेख कई स्थलों पर होता है, किंतु कहीं भी उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग उन के लिए नहीं होता।

अयोध्याकांड :

अ. सर्वत्र एकरूपता होने के कारण इस कांड को प्रसंगों के अनुसार देखने की आवश्यकता नहीं है; अर्द्धाली-समूह ९ स्थानों के अति-

[1] मानस, बाल० २०३, २०७, २०८, २१०, २३९, २८८, ३२५, ३२७, ३६०

रिक्त[1] सर्वत्र ८ के हैं, और एक स्थान के अतिरिक्त[2] सर्वत्र प्रत्येक २५ दोहे के बाद हरिगीतिका छंद आता है; आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य ग्रंथ, वक्ता न शिव हैं, जिन का उल्लेख कहीं भी उत्तम पुरुष सर्वनाम में नहीं हुआ है,[3] और न याज्ञवल्क्य, क्यों कि जहाँ-जहाँ पर भारद्वाज-मिलन का प्रसंग आता है उन के लिए मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता;[4] वक्ता स्वतः कवि है :

> भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
> कविहि अगम जिमि ब्रह्म सुखु अहमम मलिन जनेषु॥

(मानस, अयोध्या० २२५)

> मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी।
> परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई।
> कहहु सु पेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई।
> कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा।
> अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।
> सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती।

(मानस, अयोध्या० २४१)

> तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कवि कहै मूक जिमि स्वादू।

(मानस, अयोध्या० २४५)

> महिमा तासु कहै किमि तुलसी। भगति सुभायँ सुमति हिय हुलसी।
> आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कवि कुल कानि मानि सकुचानी।

(मानस, अयोध्या० ३०३)

> भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघुमति चापलता कबि छमहूँ।

(मानस, अयोध्या० ३०४)

> सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
> तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥

(मानस, अयोध्या० ३०६)

मानस, अयोध्या० ५, ८, २०, २९, ६४, १७३, १८५, २०२, २१८

वहीं, १२६

[3] वही, १, ४४, ८५, १०४, १०६, १५७, १६८, २२६, २४१, २७२, २८५

[4] वही, १०६–१०९, २०६–२१६, २८५

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥

(मानस, अयोध्या० ३२६)

यह कांड वस्तुतः जितना सुगठित है उतना कोई अन्य कांड ही नहीं, कोई अन्य अंश भी नहीं।

अरण्यकांड :

अ. रामकथा; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, १४, ८, १९, १०, ८, ८, २४, २७, १३, १८, ८, ८, १२, २०, १३, १४, ११, १२, ८, ८, ८, ८, १७, १६, २६, १८, १०, २, ८, १०, ८, १३, १०, १२, ८, ९, ११, ८, १०, ८, ९, ९ के; आधार अधिकतर 'अध्यात्म रामायण'; शिव प्रमुख वक्ता है,[1] यद्यपि काग भी आ जाता है[2], किंतु जिन अर्द्धाली-समूहों में वह आता है वह ८ से अधिक अर्द्धालियों वाले हैं—जिन के विषय में अन्यों की अपेक्षा इस लिए इस बात की संभावना अधिक है कि काग का समावेश पीछे से कर दिया गया हो। याज्ञवल्क्य कहीं वक्ता नहीं हैं, और न कवि ही है।

किष्किंधाकांड :

अ. रामकथा; इस कांड की भी परिस्थिति लगभग वही है जो उपर्युक्त की है। अर्द्धाली-समूह क्रमशः १०, ९, ८, ८, १४, २९, ८, १०, १०, ५, १०, १०, ८, ८, १२, १०, ८, ८, ८, ९, ८, ८, १३, ८, ८, १३, ११, १२, ८, १२, के; आधार अधिकतर 'अध्यात्म-रामायण'; शिव ही प्रमुख वक्ता हैं,[3] काग का वक्ता रूप में उल्लेख एक बार अवश्य होता है किंतु वह २९ के अर्द्धाली-समूह में होता है,[4] जिन के विषय में अन्यों की अपेक्षा इस बात की इस लिए संभावना अधिक है कि कागविषयक उल्लेख पीछे से रक्खा गया हो। याज्ञवल्क्य या तुलसीदास वक्ता रूप मे कहीं नहीं दिखाई पड़ते।

[1] मानस, अरण्य० १, २, ३, १०, ३३, ३९

[2] वही, २, १७

[3] वही, किष्किंधा० २, ११, १२, १८, २२, २९

[4] वही, ७

सुंदरकांड :

अ. रामकथा; इस कांड में उपर्युक्त दो कांडों की अपेक्षा विषमता कम है : अर्द्धाली-समूह क्रमशः ९ १२, ११, ८, ८, ८, ८, ८. ९, ९, ८, १२, ११, १०, १०, ९ ९, ८ ९, ८, ९, १० ८, ९, ८, ८, ८ ८, ८, ९, ८, ९, ८, १०, १०, ९, ८, ८, ८, ९, ८, ९, ८, ८, ८, ८, ८, १०, ८, ८, ८, ८, ८, ८, १०, १२, ८, ८, ८ के; शिव ही प्रमुख रूप से वक्ता हैं,[1] यद्यपि काग एक बार अवश्य आता है;[2] कथा के आधार तो कई हैं किंतु उन का संबंध अर्द्धाली-समूह या वक्ता के साथ कोई नहीं दिखाई पड़ता इस लिए उन का उल्लेख अनावश्यक होगा।

लंकाकांड :

अ. रामकथा; यह भी उपर्युक्त कांड के समान ही है: अर्द्धाली-समूह क्रमशः १०, ८, ९, ९, १०, ९, ८, ९, १०, ९, ८, १०, ८, ८, ८, ८, ८, १०, ८, ८, १०, ८, १०, १६, ८, ८, ८, ८, १०, ८ ८, १०, ९, १४, १३, १३, ८, १०, १०, १०, ८, १०, ८, ८, ८, ११, ८, ८, १०, ८, ८, ८ ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, १८, १२, ८, ९, १०, १०, ८, ८, ८, १२, १२, ११, १३, १०, १४, १६, ८, ९, १३, ११, ८, ८, ८, ८, ८, १०, १०, १०, ८, १०, ८, १४, ८, ८, ८, ८, ८, १५, १३, ११, १०, ११, १३, ८, ८, ८, १४, ८, १२, ८, १०, ८, ८, १०, ११, ९, १२, के· प्रमुख वक्ता शिव हैं[3], काग नहीं है, क्यों कि गरुड़ का उल्लेख मध्यम पुरुष में नहीं होता अन्य पुरुष में होता है :

इहाँ देवरिषि गरुड पठायो। राम समीप सपदि सो आयो।
खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।
माया बिगत भए सब हरषे बानर जूथ॥

(मानस, लंका० ७४)

[1] मानस, सुंदर० ३, २०, २६, ३३, ३४, ४१, ४२, ५७

[2] वही, ५८

[3] वही, लंका० ३, ३५, ४०, ४३, ४५, ५५, ६१, ६६, ७०, ७१, ७३, ७४, ८१, १०२, ११२, ११७

कहीं-कहीं पर वक्ता शिव भी नहीं हैं, क्यों कि शिव के लिए उत्तम पुरुष का व्यवहार नहीं होता :

रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी।

(मानस, लंका० ९६)

अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथबादी।

(मानस, लंका० १०५)

जय कोसलेस महेस बंदित चरन रज अति निर्मली।

(मानस, लंका० १०९)

देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान।

(मानस, लंका० ११५)

पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि।

(मानस, लंका० ११४)

करि बिनती जब संभु सिधाए। तब प्रभु निकट बिभीषनु आए।

(मानस, लंका० ११६)

काग तीन स्थानों पर वक्ता के रूप में अवश्य आता है, किंतु क्रमशः १४, ११, और १० अर्द्धालियों के समूहों मे आता है,[१] फलतः इस बात की संभावना यथेष्ट है कि ये उल्लेख पीछे समाविष्ट किए गए हों। कथा के आधारों का अध्ययन अर्द्धाली-समूह या वक्ता के साथ कोई संबंध रखता हुआ नहीं दिखाई पड़ता इस लिए उन का अध्ययन बेकार होगा।

उत्तरकांड :

अ. (१–२१ अशतः) : राम-चरित; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, १६, १०, ८, ८, ९, ८, ९, ९, ८, ८, १०, ८, ८, ८, १०, ८, ८ के, आधार 'अध्यात्म रामायण'; शिव प्रमुख वक्ता हैं[२]; काग का उल्लेख यद्यपि पाँच स्थलों पर होता है[३] किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि साधारणतः दो दोहों के स्थान पर जहाँ वे उल्लेख आते हैं तीन दोहे चौपाई के अंत में देखे जाते हैं, जिस से संभावना यह ज्ञात होती है कि कभी

१ मानस, लंका० ३४, ७२, ११४

२ वही, उत्तर० ५, ६, ९, १०

३ वही, ११, १२, १३, १५, १९

पीछे ही ये उल्लेख मिलाए गए।

आ. (२१ शेष–२२ अंशतः) : राम-राज्य वर्णन; आधार अनावश्यक है; वक्ता काग।

इ (२२ शेष–५१) : शेष राम-चरित, अर्द्धाली-समूह ७ के अतिरिक्त[1] प्रत्येक ८ का; आधार अधिकाश अज्ञात, वक्ता शिव[2] तथा काग।[3]

ई. (५२–९३) : गरुड़-मोह तथा भुशुंडि-मोह; अर्द्धाली-समूह १० के अतिरिक्त[4] प्रत्येक ८ का; आधार 'भुशुंडि रामायण' ?; वक्ता सम्यक् रूप से शिव तथा काग।

उ. (९४–१२५) : शेष भुशुंडि-चरित तथा अध्यात्म-निरूपण; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, ८, १०, ८, ८, ८, १०, ८, ८, ८, १६, ८, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, ८, १६, १६, १०, १९, ३७, १९, ८, ८, १० के; आधार 'भुशुंडि रामायण' ?; वक्ता सम्यक् रूप से शिव तथा काग।

ऊ (१२६–१२९) : शिव-पार्वती संवाद की समाप्ति; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व; वक्ता शिव।[5]

ए (१३०) रचना को समाप्ति; अर्द्धाली-समूह ८ का; अपूर्व; वक्ता कवि।

७५. उक्त विश्लेषण को ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट ज्ञात होगा कि ग्रंथ के कुछ अंश ऐसे हे जिन मे परस्पर घनिष्ट सबंध है, और वे अन्य अशों से इतनी भिन्नता रखते हैं कि जान पड़ता है कि काव्य का जो स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम से कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम जान पड़ता है। अतः प्रस्तुत लेखक ने "पाडुलिपि" शब्द का प्रयोग नीचे ऐसे ही अशों की पारस्परिक घनिष्ठता तथा अन्य अंशो से विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए किया है, और इस प्रकार तीन पाडुलिपियों को दृष्टि मे रखते हुए उसने ग्रथ के रचना-क्रम पर विचार किया है।

७६. मालूम होता है कि काव्य की प्रथम पाडुलिपि मे वालकाड का

[1] मानस, उत्तर० २३, २४, ३०, ३५, ५०, ५१, ५२,

[2] वही, ३२, ४७, ५०, ५१

[3] वही, २४, ३०

[4] वही, ५२, ५५, ५६, ५७, ६२, ६४, ७३, ७५, ७७, ८६

[5] वही, १२६, १२७, १२९

उत्तरार्द्ध तथा संपूर्ण अयोध्याकाड मात्र था। जब हम बालकाड २०१–३१६ तथा सपूर्ण अयोध्याकाड का विधिवत् निरीक्षण करते हैं तो हमे छंद-योजना तथा श्रोता-वक्ता-परपरा मे एक विशेष साम्य दिखाई पड़ता है। काव्य के इस भाग की प्रत्येक चौपाई[1] एक उपेक्षणीय अपवाद के साथ आठ अर्द्धालियों की है और कवि स्वय वक्ता है। ये दोनो विशेषताएँ साथ-साथ बालकाड के थोड़े और स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलती—और इन पर हम अभी विचार करेंगे। इस से यह पता चलता है कि बालकाड २०१–३६१ और अयोध्याकाड कदाचित् एक ही समय और एक ही ढग से लिखे गए होंगे। परंतु रचना-काल के दृष्टि-कोण से काव्य के इस अंश को अन्य अंशों के पहले हम क्यो रक्खे? इस का उत्तर, उस समय कवि के मस्तिष्क में कथा कहने के लिए किसी पौराणिक वक्ता को लाने के विचार की अनुपस्थिति में निहित है। फिर भी, बालकाड २०१ से कथारभ बहुत भद्दा होगा : उक्त चौपाई का संबध केवल राम के शिशु-काल की एक घटना से है, जिस मे माता बालक को सोता हुआ छोड़ जाती है और थोड़ी ही देर बाद उसे कुल के इष्टदेव के लिए तैयार भोजन को खाता हुआ पाती है। अतः काव्य की प्रथम पाडुलिपि मे कवि ने कथा को जिस स्थल से आरंभ किया है उस की खोज काव्य के किंचित् और पूर्व के अशों मे करनी होगी। 'अध्यात्म रामायण' के आदि की भाँति, जो काव्य के इस अंश का प्रधान आधार है, प्रस्तावना-रूप मे अवतार का कारण बतलाने के पश्चात् रामजन्म-सबधी चौपाइयों से कदाचित् एक सामान्यतः सुंदर आरंभ होगा। काव्यारभ इस लिए अनुमानतः हम बालकाड १८४ के आसपास निर्धारित करेंगे, जहाँ पृथ्वी राक्षसों—विशेष कर रावण—के अत्याचारों से त्रस्त हो जाने के कारण धेनुरूप धारण कर ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं से सहायता की याचना करती है, और जिस के बाद सभी देवता पृथ्वी को ले कर परमेश्वर से दुःख-निवारणार्थ प्रार्थना करते हैं। काव्य का यह अंश भी, अर्थात् बालकाड १८४–२००, दो उपेक्षणीय अपवादों को छोड़ कर आठ अर्द्धालियों वाली चौपाइयों में लिखा गया है। फिर भी, हमे इस स्थल पर ग्रंथारंभ निर्धारित करने के मार्ग में एक बाधा

[1] इन पक्तियों मे "चौपाई" का अर्थ उस अर्द्धाली-समूह से है जिस के अत में एक दोहा या सोरठा या कोई और छंद दे कर एक क्रम-सख्या दी होती है

उपस्थित हो जाती है और वह यह है कि बालकांड के १८४–२०० के बीच के कुछ स्थलों में शिव वक्ता के रूप मे आते हैं। परंतु यह बाधा केवल तभी तक है जब तक हम निश्चित रूप से यह मानते हैं कि काव्य का यह अंश इस के बाद किसी भी समय पीछे आने वाले अंशों से वक्ता-श्रोता-परंपरा संबंधी एकरूपता लाने के लिए दुहराया नहीं गया, अन्यथा यह बाधा कुछ महत्वपूर्ण नहीं सिद्ध होती। वस्तुतः जैसा हम अभी देखेंगे, यह असंगत नहीं है कि जब कवि ने द्वितीय पाडुलिपि में शिव को वक्ता के रूप में स्थान देने के कारण काव्य के इस अंश को दुहराया तो उस ने इन चौपाइयों को नया-नया मिलाया, अथवा उस ने प्रथम पाडुलिपि की कुछ चौपाइयों के स्थान पर यह नई चौपाइयाँ रख दीं। फलतः यह मालूम होता है कि प्रथम पाडुलिपि में लगभग बालकांड १८४ से अयोध्याकांड के अंत तक की चौपाइयाँ रही होंगी, जो कुल मिला कर ५०४ होती हैं। यदि हम इन में मान लीजिए दो[1] और जोड़ दें, जो इस पाडुलिपि की प्रस्तावना की रही होंगी, तब चौपाइयों की कुल संख्या ५०६ पहुँचती है।

७७. इस अनुमान की पुष्टि कदाचित् कवि द्वारा किए गए निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है, जिस में उस ने ग्रंथ के अंत मे छंद-संख्या देने का प्रयत्न किया है :

> रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
> कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं।
> सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
> दारुन अविद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरैं॥
>
> (मानस, उत्तर० १३०)

"सत पंच" के संबंध में साधारणतः निम्नांकित धारणाएँ हैं : (१) इस का अर्थ है "७ या ५",[2] (२) इस का अर्थ है "५००१" जो इस विषय की कवि-प्रथा के अनुसार १०० तथा ५ की संख्याओं को उल्टा पढ़ कर के निर्धारित किया जाता है,[3] और (३) इस का अर्थ है "अच्छे पंच"।[4] प्रथम के विषय में यह कहा जा

[1] उदाहरणार्थ : मानस, बाल० ३८, जिस पर हम ऊपर (पृ० १२८–३०) विचार कर चुके हैं

[2] ग्राउस : 'दि रामायन अव् तुलसीदास' पृ० ६३५

[3] रामदास गौड़ : 'रामचरित मानस की भूमिका' द्वितीय अंश, पृ० १२०

[4] वही।

सकता है कि ७ या ५, ९ हज़ार पंक्तियों के काव्य का बहुत छोटा अंश मालूम होता है। इस के अतिरिक्त "सत" का अर्थ ७ कभी नहीं होता। दूसरे के विषय में, इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी गणना-विधि से योग ५००१ नहीं आता। और तृतीय अर्थात् "अच्छे पंच" का अर्थ प्रसंग से नहीं सिद्ध होता। एक चौथा अर्थ भी संभव है: "सत पंच" अथवा "पंच सत" का साधारण अर्थ ५०० होता है; क्या यह संभव नहीं कि प्रस्तुत छंद काव्य की प्रथम पांडुलिपि के आकार को सूचित करने के लिए लिखा गया रहा हो और उस का अंतिम छंद रहा हो? कम से कम जिस आकार पर हम लोग पहुँचे हैं वह इस से ६ ही संख्या आगे है।

७८. यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि काव्य की प्रथमोत्तर पांडुलिपियों में भी उल्लिखित छंद क्यों चला आया यदि "सत पंच" ५०० की संख्या का वाचक था? इस के लिए एक समाधान तो यही हो सकता है कि चूँकि यह प्रथम पांडुलिपि में था, इस लिए यह उसी प्रकार अन्य पांडुलिपियों में चला आया जिस प्रकार 'राम गीतावली' की पुष्पिका का वह श्लोक जिस में रचना और रचयिता का नाम था 'विनय पत्रिका' में भी रहने दिया गया।[1] इस के अतिरिक्त एक और कारण हो सकता है, जिस पर हम अभी विचार करेंगे।

७९. काव्य की द्वितीय पांडुलिपि में ऐसा जान पड़ता है कि बालकांड की प्रथम ३५ चौपाइयों को छोड़ कर लगभग शेष सभी चौपाइयाँ थीं। परंतु यह सोचना कदाचित् भ्रांति होगी कि यह द्वितीय पांडुलिपि एक ही बार में लिखी गई होगी। मालूम होता है यह ६ बार में निम्नांकित ढंग से लिखी गई:

(१) निम्नांकित अंश प्रस्तुत पांडुलिपि के अन्य अंशों से पूर्व के लिखे हुए मालूम होते हैं: बालकांड ३६-४३; ४८-१०३; १४२-१५३ अंशतः; १५३ अंशतः-१७५ अंशतः। इन में और प्रथम पांडुलिपि की चौपाइयों में बड़ी समानता है। एक को छोड़ कर इन अंशों की सभी चौपाइयों में आठ-आठ अर्द्धालियाँ हैं और इन सभी में कवि स्वयं वक्ता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ये प्रथम पांडुलिपि के थोड़े ही समय उपरांत लिखे गए होंगे। इस के अतिरिक्त एक दूसरी बात भी संभव है। चूँकि इन चारों अंशों की चौपाइयों में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र विषय हैं जैसे मानस-रूपक, शिव-चरित, मनु-

[1] देखिए ऊपर पृ० २००

सतरूपा-चरित, और प्रतापभानु-चरित जो मूल कथा के अनिवार्य अंश नही हैं, ये संभवतः प्रथम पाडुलिपि के समय लगभग लिखे गए होंगे और उस के वाद ही मूल कथा मे सम्मिलित कर लिए गए होंगे।

(२) दूसरी बार में वालकाड के वे अंश लिखे गए होंगे जिन में याज्ञवल्क्य वक्ता के रूप में आते हैं। वे सभी चौपाइयाँ जिन मे याज्ञवल्क्य का उल्लेख है आठ-आठ अर्द्धालियों की हैं। चूँ कि इन अंशों के आगे पुनः याज्ञवल्क्य का उल्लेख वक्ता के रूप में नहीं होता, मालूम होता है कि ये अंश वाद मे आने वाले अशों से पहले लिखे गए। याज्ञवल्क्य-वक्ता वाले प्रकरण क्यों शिव-वक्ता वाले प्रकरणों के पूर्व आते हैं इस संबंध मे नारद-मोह प्रकरण को हम ले सकते हैं : उस मे याज्ञवल्क्य-भरद्वाज वक्ता-श्रोता हैं, किंतु अनेक उल्लेख इस प्रकार के आते हैं जिन से शिव-उमा वक्ता-श्रोता उस प्रकरण मे नहीं हैं यह स्पष्ट ध्वनित होता है।

(३) मालूम होता है कि तीसरी बार में काव्य के निम्नांकित अंश लिखे गए होंगे : वालकांड १०७–१२२; १४०–१४१; १७७–१८३। इन मे से केवल प्रथम अंश के दो सोरठे इस पाडुलिपि के तैयार हो जाने के वाद के मिलाए हुए मालूम होते हैं क्यो कि इन में कहा गया है कि शिव ने यह कथा काग से सुनी थी जब कि वालकाड में अन्यत्र कहीं भी काग स्वतः वक्ता के रूप मे नहीं आते हैं। इन अंशों में एक को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ आठ अर्द्धालियों की हैं, और उन मे शिव वक्ता के रूप में अंत तक हैं। अतः मालूम होता है कि यह अश आने वाले अशों के पहले और पूर्वोक्त अंशो के वाद मे लिखे गए होंगे।

(४) चौथी बार में अरण्यकाड तथा किष्किंधाकाड लिखे हुए मालूम होते हैं। यद्यपि इन काडों में भी शिव वक्ता के रूप मे हैं, तो भी चौपाइयों मे अर्द्धालियों की संख्या इतनी वेढंग है कि वे अवश्य ही ऊपर वालों से भिन्न समय पर लिखी गई ज्ञात होती हैं।

(५) सुंदरकाड, लंकाकाड, और उत्तरकाड १–२१ अंशतः पाँचवीं वार मे लिखे गए जान पड़ते हैं, अर्द्धाली-समूहों के संवंध मे अन्य अंशों से कम विभिन्नता है, यद्यपि काव्य के इस अंश में भी शिव वक्ता के रूप में विद्यमान हैं।

(६) इस पाडुलिपि का अंतिम अंश उत्तरकांड २१ शेष–१३० मालूम होता है। पूर्वोक्त अंशों की भाँति ही इस अंश की चौपाइयों में भी विभिन्नता है। काव्य के इस अंश का मूलाधार 'अध्यात्म रामायण' न हो कर कदाचित्

'भुशुंडि रामायण' है, और इसी लिए कवि ने इस अंश में भुशुंडि को वक्ता के रूप मे रखना उचित समझा। परंतु चूँ कि अभी तक उस ने कहीं भी उन को वक्ता नही बनाया था अतः उस ने आवश्यक समझा कि वक्ता रूप मे उन की भी एकाध चर्चा प्रत्येक कांड में कर दी जाए। संभवतः यही कारण है कि इस अंश के अतिरिक्त जहाँ कहीं भुशुंडि का उल्लेख वक्ता के रूप मे है वहीं वह उल्लेख या तो दोहे मे है या सोरठे में, अथवा ऐसी चौपाइयों में हैं जिन में आठ से अधिक अर्द्धालियाँ हैं। कदाचित् कवि प्रथम पांडुलिपि के अंशों मे इन्हें वक्ता के रूप मे इस कारण से न ला सका कि कुछ को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ ८ चरणों की थी। फिर भी उस ने बालकांड मे उपर्युक्त दो सोरठे ऐसे रक्खे जिन में भुशुंडि को मूल वक्ता कहा गया है जिस से पाठक के सामने आगे बढ़ने पर भुशुंडि-गरुड़-संवाद कहीं आकस्मिक रूप मे न आ जावे।

८०. द्वितीय पांडुलिपि मे हमें आशा करनी चाहिए कि कवि ने यहीं संपूर्ण रचना समाप्त की होगी—अधिक से अधिक प्रथम पांडुलिपि से लाई हुई प्रस्तावना में कुछ और चौपाइयाँ जोड़ दी होगी। तो द्वितीय पांडुलिपि का क्या आकार होना चाहिए? इस समय काव्य मे १०६० चौपाइयाँ[1] है। यदि इस संख्या से हम बालकांड १–३५ निकाल ले, जिन्हें इस पांडुलिपि मे ऊपर हम ने नहीं माना है, तो० १०२५ चौपाइयाँ रह जाती हैं। यदि हम इसी मे अनुमान से ३ और चौपाइयाँ मिला दे जो कि द्वितीय पांडुलिपि की परिवर्धित प्रस्तावना मे आई होगी, तो कुल १०२८ चौपाइयाँ हो जाती हैं।

८१. अब हमे अंत की हरिगीतिका पर फिर विचार करना और देखना चाहिए कि क्या वह अब भी काव्याकार सूचित करने के लिए रक्खी जा सकती है। "सत पंच" के शाब्दिक अर्थ १०० और ५ होते हैं, यदि दोनों को मिला कर लिखा जावे तो संख्या १००५ होती है। क्या यह संभव नहीं है कि १००५ सूचित करने के लिए यह हरिगीतिका पड़ी रहने दी गई हो? द्वितीय

[1] बाल० में ३६१, अयोध्या० में ३२६, अरण्य० में ४७, किष्किंधा० में ३१; सुंदर० में ६०; लंका० में १२१ और उत्तर० मे १३० : कुल १०७६ हैं जिन में से हम १६ घटा सकते हैं जिन को संपादक ने चौपाई के अंदर रख लिया है यद्यपि वे दूसरे छंद हैं (बाल० में २, अरण्य० में ४; किष्किंधा० में १, लंका० में ४ और उत्तर० में ५)

पाडुलिपि के समय ग्रथ का आकार लगभग इसी सख्या के आस-पास रहा होगा अतः यह असंभव भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह एक अनुमान मात्र है, यद्यपि अब तक के सभी अनुमानो से अधिक युक्ति-संगत ज्ञात होता है, इस से अधिक निश्चयपूर्ण परिणाम तो कदाचित् भविष्य की खोज द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा।

८२. अब हमारे सामने बालकाड १–३५ है जिस की प्रत्येक चौपाई मे अर्द्धाली संख्या विभिन्न हैं। इन मे से केवल थोड़ी-सी चौपाइयो को छोड़ कर जो कि प्रथम और द्वितीय पाडुलिपियो की प्रस्तावना में रही होगी, ये केवल तभी जोड़ी जा सकती थी जब कि द्वितीय पाडुलिपि तैयार होती, क्यो कि ये केवल एक बड़े काव्य की प्रस्तावना के लिए ही उपयुक्त थी। इन के विषय मे सदेह किया जा सकता था कि ये काव्य की द्वितीय पाडुलिपि मे ही रक्खी गई होंगी या किसी बाद की पाडुलिपि में, और यदि कवि ने कथा-प्रबंध के विषय मे एक पक्ति न लिखी होती तो इस का निश्चय करना कठिन होता। काव्य के इस अश में वह कहता है कि पहले-पहल शिव ने उसे रचा और उसे उन्हों ने उमा से कहा और फिर उन्ही शिव ने उसे भुशुंडि को दिया :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम रामभगत अधिकारी चीन्हा।

(मानस, बाल० ३०)

परतु अन्यत्र के कथोद्‌गम विषयक उल्लेखों से यह प्रमाणित नहीं होता। द्वितीय पाडुलिपि मे एक स्थान पर भुशुंडि कहते हैं कि उन्हें यह कथा लोमस से मिली थीः

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा।
सादर मोहिं यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई।

(मानस, उत्तर० ११३)

और शिव स्वय द्वितीय पाडुलिपि मे कहते हैं कि इस कथा को उन्हों ने काग से सुना था जब कि वह गरुड़ से कह रहा था :

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस विमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड॥

(मानस, बाल० १२०)

उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई।

(मानस, उत्तर० ५२)

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि।
तहँ बसि हरिहि भजै जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा।
रामचरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना।
तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुननि पुनि आएउँ कैलास॥

(मानस, उत्तर० ५७)

वास्तव में कवि ने इसी बाद की बात का कथा भर में निर्वाह किया है, और इसी के साथ उस ने कथा का अंत भी किया है।[1] अतः इस में कम संदेह रह जाता है कि वह अंश जिस में पहला कथन है काव्य में द्वितीय पाडुलिपि के तैयार हो जाने पर जोड़ा गया होगा।

८३. काव्य का जो रूप इस समय हमें प्राप्त है वह इस पाडुलिपि में भी दुहराया गया होगा, और उस को अंतिम रूप देने के लिए उस में कुछ घटा-बढी भी की गई होगी। यद्यपि यह संभव है कि काव्य की इस पाडुलिपि के तैयार हो जाने पर बहुत समय तक कवि ने कुछ साधारण सुधार किए होंगे, फिर भी हम कदाचित् यह आशा कर सकते हैं कि काव्य के वर्तमान रूप से काव्य की इस पाडुलिपि के आकार में बहुत भिन्नता न हुई होगी।

८४. निःसदेह इस पाडुलिपि में द्वितीय पाडुलिपि से अधिक चौपाइयाँ रही होंगी, किंतु फिर भी वह हरिगीतिका जो कि प्रथम और द्वितीय पाडुलिपियों के अंत में रक्खी हुई हम ने माना है इस के भी अंत मे क्यों रहने दी गई होगी यह प्रश्न किया जा सकता है। यह समस्या दो प्रकार से हल हो सकती है : या तो यह मान कर कि इस पाडुलिपि में काव्य के अंतिम अश में सुधार नहीं किया गया होगा, और या तो यह मान कर कि उपर्युक्त हरिगीतिका यदि किसी कारण विशेष से नहीं तो पहले की पांडुलिपियों की स्मृति-रक्षा के लिए पड़ी रहने दी गई होगी।

---

[1] मानस, उत्तर० १२५

६

कला

१. महाकवि की कला का अध्ययन एक ऐसा विषय है जो उस के अध्ययन के समस्त पक्षो मे सर्व-प्रमुख रहा है. किंतु इस अध्ययन मे अधिकतर यह बात सर्वथा भुला दी गई है कि उस के पूर्ववर्ती साहित्य में भी एक संपन्न राम-साहित्य था, इस लिए जैसा मैं पहले कह चुका हूँ "इस से पूर्व कि हम महाकवि की कृतियों को कला की दृष्टि से देखने बैठें, यह नितात आवश्यक है कि हम इस भारी भ्रम से अपने को मुक्त कर लें कि जो कुछ भी हमारे महाकवि ने लिखा है वह सर्वथा उस की मौलिक कृति है। उस का स्मरणीय ग्रंथ 'रामचरित मानस' ही ऐसे अनेक संस्कृत ग्रंथों से सामग्री प्राप्त करता है जो निश्चित रूप से उस से पूर्व की रचनाएँ हैं। यह विशेषता कथा के ढाँचे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि बहुत कुछ उस ढाँचे की पूर्ति मे भी देखी जा सकती है; और कभी-कभी तो देखा जाता है कि स्थल-विशेष पर प्रयुक्त काव्योक्ति भी पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य मे अभिन्न रूप में मिलती है। फिर भी हमारे महाकवि मे मौलिकता की कमी नहीं है, और यह अच्छा ही होगा कि अब भी हम केवल उस के मौलिक योग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, और अपने महाकवि की महानता का अनुभव केवल उसी के आधार पर करें, और उस की स्तुति या निंदा उस सामग्री के आधार पर न करें जो उस ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है।"[1] अध्ययन उन अनेक शीर्षकों के नीचे किया गया है जो सामान्यतः कवि की समालोचनाओं मे मिला करते हैं, इस लिए उन के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

चरित्र-चित्रण

२. तुलसीदास कथानक के प्रत्येक पात्र के चरित्र का अलग-अलग किस भाँति विकास करते हैं इस पर विचार करने के पूर्व यदि हम यह देखने का

[1] देखिए ऊपर पृ० ३२

प्रयत्न करें कि प्रायः सभी पात्रों के संबंध में उन्हों ने किस प्रकार का एक व्यापक सुधार करने का प्रयत्न किया है तो हमे चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में उन की कला का यथेष्ट परिचय प्राप्त करने मे सहायता मिलेगी।

३. इस प्रकार का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि आधार ग्रंथों मे कथानक के पात्र जिस आवेश, अविचार, और अधीरता का परिचय देते हैं उन्हें उस से रहित कर देने में ही हमारे कवि की प्रमुख विशेषता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हम 'अध्यात्म रामायण' तथा 'वाल्मीकि रामायण' को लेकर कवि के चरित्र-चित्रण के इस पक्ष पर विचार कर सकते हैं। 'अध्यात्म रामायण' मे कौशल्या राम को भय दिखाती हैं कि यदि वे उन की आज्ञा का उल्लंघन कर बन चले जावेंगे, तो वे अपने जीवन का अंत कर यमपुर को चली जावेंगी।[१] आगे बढ़ने पर लक्ष्मण,[२] सीता,[३] और निषाद-राज[४] भी उन्हे भय दिखलाते हैं कि यदि राम उन्हें अपने साथ नहीं ले जायँगे तो वे लोग अपने जीवन का मोह न कर तत्काल प्राण त्याग करेंगे। भरत अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठने के लिए अपनी माता के आग्रह पर कहते हैं कि वे अग्निप्रवेश, विषभक्षण, अथवा खड्ग द्वारा आत्मघात कर यमलोक को चले जावेंगे।[५] चित्रकूट में वे राम से कहते हैं कि वे अन्न जल छोड़ कर प्राण त्याग कर देंगे यदि राम उन्हें अपने साथ में रहने की आज्ञा नही देंगे, और तदनंतर अपने इस निश्चय की पूर्ति के लिए धूप में कुशा बिछा कर पूर्व की ओर मुख कर के बैठ जाते हैं।[६] चित्रकूट से विदा होते समय, फिर वे कहते हैं कि यदि अवधि के समाप्त होते ही राम अयोध्या नहीं लौटेंगे तो वे अग्निसमाधि ले लेवेंगे।[७] शूर्पणखा खर को भय दिखलाती है कि वह अपना प्राणांत कर लेगी यदि वह राम-लक्ष्मण का बध कर उसे उन के रुधिर पान का अवसर प्रदान नहीं करेगा।[८] स्वर्ण मृग के पीछे गए हुए राम को विपत्ति में समझ कर सीता लक्ष्मण को धमकी देती हैं कि वे आत्म-हत्या कर लेंगी यदि राम को सहायता देने के लिए लक्ष्मण तुरत प्रस्थान नहीं

१ अध्यात्म०, अयोध्या० (४) १२–१३
२ वही ५१–५२
३ वही ७९
४ वही (६) २४
५ वही (७) ८०–८१
६ वही (९) ४०
७ वही (९) ५३
८ वही अरण्य० (५) २५

करेंगे।[1] और अंत में, अंगद अपने जीवन का अंत करने का निश्चय कर लेते हैं जब कि उन के साथ के बंदर सीता की खोज करने में अपने आप को अकृतकार्य पाते हैं।[2] इस प्रकार कम से कम दस विभिन्न अवसरों पर 'अध्यात्म रामायण' के सात विभिन्न पात्र अपने जीवन का अंत कर देने का निश्चय प्रकट करते हैं यदि कोई कार्यविशेष उन की इच्छा के अनुकूल नहीं किया जाता है, अथवा नहीं होता है। उपर्युक्त परिस्थितियों में वाल्मीकि के पात्र भी उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं: कौशल्या,[3] सीता,[4] भरत,[5] और अंगद[6] 'वाल्मीकि रामायण' में भी प्रायः उतने ही आवेश, अविचार, और अधीरता-पूर्ण दिखाई पड़ते हैं जितना हम उन्हें 'अध्यात्म रामायण' में पाते हैं।

४. दोनों आधार ग्रंथ इस से कुछ उतरी हुई कक्षा के उदाहरणों से भी रहित नहीं हैं। उदाहरण-स्वरूप 'अध्यात्म रामायण' में राम स्वयं अपने बाल्य-काल में एक दिन उत्तेजित हो जाते हैं और लकड़ी से घर के बर्तन फोड़ डालते हैं।[7] असत्य-स्पर्श से बचने के लिए दुःखातुर दशरथ राम से कहते हैं कि वे उन स्त्री-परवश, भ्रांतचित्त, कुमार्गगामी, पापात्मा को बाँध कर राज्य ले लेवें; इस से उन्हें कोई पाप न लगेगा, और ऐसा होने पर उन्हें भी असत्य स्पर्श न करेगा।[8] कौशल्या-राम-संवाद सुन कर लक्ष्मण राम से कहते हैं कि वे उन्मत, भ्रांतचित्त और कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बाँध कर भरत को उन के सहायक मामा आदि के सहित मार डालेंगे और अभिषेक में विघ्न उपस्थित करने वालों का हाथ में धनुष-बाण ले कर प्राणांत कर डालेंगे।[9] भरत वशिष्ठ से कहते हैं कि वे अपनी नाममात्र की माता कैकेयी का तत्काल वध कर डालते यदि उन्हें यह भय न होता कि राम मातृ-वध के लिए उन्हें क्षमा न करेंगे।[10] राम से अयोध्या लौट चलने के लिए

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (७) ३२-३३

[2] वहीं, किष्किंधा (७) ६–७

[3] वा० रा०, अयोध्या० (२१) २७–२८

[4] वहीं, (२९) २१, तथा वहीं, अरण्य० (१४) २६

[5] वहीं, अयोध्या० (१११) १४–१५ तथा २५–२६

[6] वहीं, किष्किंधा० (५३) १५

[7] अध्यात्म०, बाल० (३) ५३–५४

[8] वहीं, अयोध्या० (३) ६९–७०

[9] वहीं (४) १६–१७

[10] वहीं (८) ७–८

आग्रह करते हुए चित्रकूट में भरत कहते हैं कि यदि उन के पिता ने कामी, मूढ़बुद्धि, स्त्री के वशीभूत और उन्मत्त होने के कारण कोई आदेश किया भी रहा हो तो उसे सत्य न मानना चाहिए।[1] 'वाल्मीकि रामायण' भी अपने पात्रों से उपर्युक्त परिस्थितियों में समान आचरण ही कराता है : उस में भी लक्ष्मण[2] और भरत[3] प्रायः उसी आवेश, अविचार तथा अधीरता का प्रदर्शन करते हैं जिस का प्रदर्शन ऊपर हम 'अध्यात्म रामायण' में देख चुके हैं, बल्कि इस प्रसंग में लक्ष्मण राम को सिंहासनारूढ़ कराने में पितृवध की स्वकल्पित संभावना से भी विचलित नहीं होते। हमारे चरित्र में आवेश का होना बुरा नहीं है, उस का भी अपना एक महत्व है, और एक-दो चरित्रों में एक-दो अवसरो पर इस प्रकार का आवेश कदाचित् स्वाभाविक भी होता, किंतु 'आवेशवाद' अवश्य बुरा है, और कलात्मक प्रभाव का विरोधी भी हो सकता है जैसा वह कदाचित् यहाँ हुआ है।

५. चरित्र-चित्रण विषयक तुलसीदास की इस व्यापक विशेषता के ऊपर यथेष्ट बल देने के अनंतर हम चरित्रों के वैयक्तिक विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। इस रूप मे कथानक के सभी चरित्रों का अध्ययन करना प्रस्तुत परिधि में न संभव है और न कदाचित् आवश्यक ही, इस लिए अत्यधिक प्रधान पात्रों तक ही अध्ययन को सीमित रखना होगा। साथ ही यह अध्ययन प्रमुख रूप मे 'मानस' पर ही आधारित रक्खा गया है। 'मानस' के अतिरिक्त कवि के केवल दो अन्य ग्रंथों 'कवितावली' और 'गीतावली' का ही उल्लेख किया गया है, और यह उल्लेख विशेष कर उन स्थलों पर किया गया है जहाँ पर वे ग्रंथ चरित्रों के वास्तविक अध्ययन की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

६. राम : किसी भी जाति की काव्य-प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी कदाचित् उन का उच्चतम, आदर्शमय और सर्वांग सुंदर रूप हमें राम मे समाहित मिलता है। उन्हें भव्य शारीरिक गठन की देन प्राप्त है, किंतु इस से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है उन का चरित्र, उन की सत्य-प्रियता, उन की दृढ़ता, उन की क्षोभहीनता, उन की कृतज्ञता, उन की निष्कलुष-हृदयता, उन का दृढ़-निश्चय, उन का अदम्य उत्साह, उन की अंतःकरण

[1] अध्यात्म०, अयोध्या० (९) ३३
[2] वही (२१) १०-११
[3] वही (१०६) ९-१०, तथा ११-१६

की पवित्रता, उन की सुशीलता, उन की गंभीरता, उन की धीरता-वीरता, उन की क्षमाशीलता, उन की दानशीलता, उन की सत्यशीलता और सब से अधिक उन का एक निष्ठावान् व्यक्तित्व; अव्यवस्था, अनैतिकता, अधार्मिकता और नास्तिकता के स्थान पर व्यवस्था, नैतिकता, धार्मिकता और आस्तिकता का संस्थापन करने के लिए एक ऐसे ही पूर्ण चरित्र की ईश्वर रूप में दिव्य कल्पना कीजिए और यही तुलसीदास के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं। इसी पूर्ण चरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने में उन की प्रतिमा लीन होती है, और आगे की पंक्तियों में हम देखेंगे कि वह इस स्तुत्य प्रयास मे किस अभूतपूर्व कक्षा तक सफल होती है।

७. 'मानस' के राम में हमारा कवि समावेश करता है एक बालक की सरलता का : राम सीता के प्रति अंकुरित अपने प्रेम को न केवल भाई लक्ष्मण[1] पर वरन् अपने गुरु विश्वामित्र[2] पर भी प्रकट कर देते हैं· अतुलनीय नम्रता और दीनता का : शिव-धनुष के तोड़ने वाले को जानने के लिए परशुराम द्वारा किए गए प्रश्न पर राम द्वारा दिए गए उत्तर[3] तथा आगे के उनके अन्य कथन भी[4] सभी एक महान् चरित्र की इस विशेषता से ओत-प्रोत हैं; छोटों पर स्नेह का, जो अन्यत्र कदाचित् ही कही इतना निखरा हो : राज्याभिषेक के पूर्व शुभ अगों के फड़कने पर राम कल्पना करते हैं कि वे भरत के ननिहाल से लौटने के ही सूचक हैं;[5] गुरुजनों के प्रति समादर की भावना का : राज्याभिषेक के पूर्व दशरथ के अनुरोध पर वशिष्ठ जब राम को संयम का उपदेश करने जाते हैं उस समय जिस प्रकार राम उन का स्वागत करते हैं वही एक इस का ज्वलंत उदाहरण है;[6] उदारता और निःस्वार्थता का, जो जैसे उन के ही गुण हैं : उपर्युक्त अवसर पर जब वशिष्ठ राम से मिल कर राजा के पास लौट आते हैं तब राम को सूर्यवंश की इस रीति पर खेद होता है कि अन्य भाइयो की उपेक्षा कर बड़े भाई का राज्याभिषेक किया जाता है;[7] कर्तव्य-पालन का : राम पिता के सचेत होने तक नहीं रुकते और उन्हें अचेत ही छोड़ कर वन-गमन

[1] मानस, बाल० २३१

[2] वही २३७

[3] वही २७१

[4] वही २७७, २७९, २८१-२८२, २८३-२८४

[5] वही, अयोध्या० ७

[6] वही ९

[7] वही १०

करते हैं;[1] अत्यधिक प्रिय और स्नेही स्वभाव का : वे वन में अयोध्या के अपने संबंधियों का स्मरण करते हैं, किंतु लक्ष्मण और सीता को जब उस स्मृति से विकल पाते हैं तो अपने भावावेश को रोक कर उन का मन-बहलाने का प्रयत्न करते हैं;[2] अन्यायियों के प्रति विशेष प्रेमपूर्ण व्यवहार का : चित्रकूट में माताओं से मिलते समय वे सर्व-प्रथम कैकेयी से भेंट करते हैं तथा उसे शांति और सांत्वना देते हैं और दुःखपूर्ण घटनाओं का सारा दोष काल, कर्म और विधाता के सिर मढ़ते हैं[3] और वन से लौटने पर अपनी सगी माता के समान ही कैकेयी के पास भी जाते हैं, जो राम से मिलते हुए बड़े सकुच का अनुभव करती है,[4] एक असाधारण द्वेपहीनता की भावना का : जो कैकेयी के हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर देती है कि उसे अपना लज्जाजनक जीवन ही घृणापूर्ण जान पड़ने लगता है;[5] एक नितांत संकोची स्वभाव का : चित्रकूट में जब वे अयोध्या लौट चलने के लिए बाध्य किए जाने लगते हैं तब इस समस्या का निपटारा वे दूसरों पर ही छोड़ देते हैं, यहाँ तक कि स्वयं भरत पर ही जो उन्हें लौटा ले जाने को आए हैं;[6] और जब समस्या सुलझ जाती है और वे सोचने लगते हैं कि सब लोग लौट [जा]वें तब भी वे उन सब को देखते हुए ऐसे वचन मुख तक लाने में संकोच करते हैं;[7] एक ऐसी आशावादिता का जो संकल्प का रूप धारण कर लेती है : जैसे ही विभीषण उन के निकट आता है वे उसे लंकेश—उस देश का राजा जिस पर वे अभी चढ़ाई करने की तैयारी ही कर रहे हैं—कह कर संबोधित करते हैं,[8] शत्रुपक्ष तक के लिये सद्भावना की प्रवृत्ति का : अंगद को रावण के दरबार में अपना दूत बनाकर भेजते हुए उस से यह कहना नहीं भूलते कि वह उसी बातचीत तक अपने को सीमित रक्खे जो उन के उद्देश्य की पूर्ति करे और शत्रु का भी भला करे;[9] असाधारण शौर्य का : अपने जीवन को शरणागत की प्राण-रक्षा के लिए संकट में डाल देने से बढ़ कर शायद ही इस का कोई उदाहरण मिलेगा : युद्ध में जब रावण विभीषण पर शक्ति छोड़ता है तब वे

१ वही ७९

२ मानस, अयोध्या० १४१

३ वही २४४

४ वही, उत्तर० १७

५ वही, अयोध्या० २५२

६ वही २५९

७ वही ३१३

८ वही, सुंदर० ४६

९ वही, लंका० १७

आगे आकर उस शक्ति को अपने वक्षस्थल पर झेल लेते हैं, और विभीषण को पीछे ढकेल देते हैं;[1] और अंत मे, अपनी जन्म-भूमि से अनुपम स्नेह का: जिस को वे आकाश-मार्ग से वदरों को अयोध्या दिखलाते समय प्रदर्शित करते हैं।[2] इतना सब होते हुए भी तुलसीदास राम को मानवीय तल पर ही रखते हैं, और सभवत: इसी उद्देश्य से वे राम को यह विलाप करते हुए चित्रित करते हैं कि उन्हों ने पिता के वचनों का भी उल्लंघन किया होता, और पत्नी का विछोह भी सह लिया होता, यदि उन्हें इस का भय होता कि इन का मूल्य एक सच्चे भाई और सहायक के जीवन से चुकाना पड़ेगा।[3]

८. इस उच्च चरित्र के जीवन में केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जिन की ओर कभी-कभी सकेत किया जाता है कि वे चरित्र की महानता के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं: (१) शूर्पणखा का विरूपीकरण, तथा (२) वालि का छल-पूर्वक वध। इन दोनों को न्यायोचित सिद्ध करने के प्रयत्न किए जाते हैं: पहले को इस तर्क के साथ कि शूर्पणखा स्वैरिणी है, जिस का उपयुक्त प्रमाण वह स्वत: क्रम से राम और लक्ष्मण से प्रणय-प्रस्ताव कर के देती है, और इसी सामाजिक नियम की अवहेलना के लिए दंडित करने की दृष्टि से उसे राम ने कुरूप कर दिया, दूसरे को इस तर्क के साथ कि वालि ने अपने अनुज सुग्रीव की पत्नी को रख लिया था और राम ने उसे इसी घोर सामाजिक अपराध के लिए प्राण-दड दिया। इन दोनों प्रसगों से सबध रखने वाले विवादों के विषय मे यह निर्देश कर देना कदाचित् आवश्यक होगा कि वे आचार-नीति के दृष्टि-कोण से किए जाते हैं; हमारा सबध केवल कथा-नायक के जीवन की इन घटनाओं से वहीं तक है जहाँ तक वे काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि मे सहायक होती हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये त्रुटियाँ ही कथा-नायक के दिव्य चरित्र को मानवता के साधारण धरातल पर ले आती हैं और इस लिए उन का औचित्य इसी मे है कि वे जैसी हैं अपने उसी रूप मे कथा में वनी रहें।

९. यही हमारे कवि का वह मौलिक योग है जिस के द्वारा वह अपने पूर्ववर्तियों से प्राप्त राम के पूर्ण चरित्र को जैसे और भी पूर्ण वनाने का प्रयत्न करता है। इन 'मानस' के राम की अपेक्षा 'गीतावली'[4] और

[1] मानस, लका० ९४
[2] वही, उत्तर० ४
[3] वही, लका० ६१
[4] गीता०, लंका० ७

'कवितावली'[1] के राम अधिक उदारचेता दिखाई पड़ते हैं। लक्ष्मण शक्ति लगने पर युद्ध-स्थल में अचेत पड़े हैं, राम उस समय विभीषण के भविष्य के लिए, उपस्थित हानि से कहीं अधिक चिन्तित दिखलाई देते हैं। यह सुधार अवश्य कदाचित् अत्युक्ति की एक शोचनीय मात्रा के कारण बहुत कलात्मक नहीं कहा जा सकता है।

१०. भरत : यदि आधार ग्रंथों में कोई ऐसा चरित्र है जिसे आदर्श रूप में स्वीकार किया जा सकता है तो वह भरत का ही चरित्र है। राम का चरित्र पूर्ण रूप से दोष-रहित नहीं है : शूर्पणखा का कुरूप करना और वालि का वध करना नैतिक दृष्टिकोण से कदाचित् ही उचित ठहराया जा सकता है। सीता का चरित्र भी आदर्श नहीं है : मारीच की बनावटी कातर ध्वनि सुनते ही राम की सहायता के लिये लक्ष्मण को भेजते समय उन के प्रति अपमान-जनक शब्द ही इसे प्रमाणित करने के लिए प्रर्याप्त हैं। लक्ष्मण के विभिन्न अवसरों पर आवेश में किए गए कथन चरित्र की महत्ता को घटा देते हैं। आधार ग्रंथों में मृत्यु-शैय्या पर पड़े हुए राजा के प्रति कौशल्या के दोपारोपण के वचन क्षम्य नहीं हैं। किंतु भरत के संबंध में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो उन के द्वारा ग्रहण किए गए आदर्श से उन्हें नीचे उतार लावे। इस के सिवा भरत के चरित्र में कोशल का राज्य-त्याग—जिसे उन के लिए प्राप्त करने में कैकेयी को पति खोना पड़ा और मानव-सृष्टि के तीन परमोत्कृष्ट चरित्रों को निर्वासन की यातना भुगतनी पड़ी—तथा अपनी माता के अनौचित्यपूर्ण आचरण के लिए प्रायश्चित रूप में अंगीकृत विरक्त जीवन मानव जाति के इतिहास में एक अनूठा उदाहरण है। तुलसीदास भरत के इस चरित्र को उठाते हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्याकाड के उत्तरार्द्ध मे उन्हें कथा-नायक के रूप में चित्रित करते हैं : अयोध्या-कांड के अत तथा अरण्यकांड के प्रारंभ की चौपाइयों में इस लक्ष्य की ओर कुछ संकेत भी मिलता है।

११. राम के प्रति भरत का अत्यधिक प्रेम ही कवि के इस चरित्र की विशेषता है। कई स्थलो पर भरत को राम-प्रेम की प्रतिमूर्ति तक कह दिया गया है। अन्य स्थलों के अतिरिक्त निम्नलिखित उस की पुष्टि करेंगे :

[1] कविता०, लका०, ५३

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही।

(मानस, अयोध्या० १८४)

सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू।

(मानस, अयोध्या० १९७)

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू।

(मानस, अयोध्या० २०८)

रामसखा कर दीन्हें लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू।
नहिं पद त्रान सीस नहिं छाया। पेमु नेमु ब्रतु धरमु अमाया।

(मानस, अयोध्या० २१६)

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही।

(मानस, अयोध्या० २१८)

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

(मानस, अयोध्या० २३८)

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं।

(मानस, अयोध्या० २८४)

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू।

(मानस, अयोध्या० २८९)

प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

(मानस, उत्तर० ५)

और इस स्नेह के विषय में, कवि इतना तक कह देता है कि वह प्राकृत नहीं अलौकिक है, और विधि, हरि, हर की भी चिन्ता के परे है :

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकै न सेषु।
कबिहिं अगम जिमि ब्रह्म सुखु अहमम मलिन जनेषु॥

(मानस, अयोध्या० २२५)

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी।

(मानस, अयोध्या० २४१)

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।

(मानस, अयोध्या० २४१)

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे।

(मानस, अयोध्या० २८३)

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी।...
देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी।

(मानस, अयोध्या० २८९)

जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए।
तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥

(मानस, अयोध्या० ३१७)

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी।

(मानस, अयोध्या० ३१८)

और भरत समस्त पुरुषार्थ, यहाँ तक कि निर्वाण के स्थान पर भी इसी प्रेम की ओर लक्ष्य करते पाए जाते हैं :

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू।
जोरि पानि बर माँगहु एहू। सीय राम पद सहज सनेहू।

(मानस, अयोध्या० १९७)

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(मानस, अयोध्या० २०४)

तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा।
मनहीं मन माँगहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू।

(मानस, अयोध्या० २२४)

इन संदर्भों में से एक में भरत अपने इस प्रेम के आदर्श को व्यक्त करते हैं। स्पष्ट रूप से यह एक-पक्षीय प्रेम है जो कि बदले में एक स्नेहपूर्ण संकेत भी नहीं चाहता :

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ।
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई।
कनकहिं बान चढ़ै जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें।

(मानस, अयोध्या० २०५)

चित्रकूट के संवाद भरत तथा राम के चरित्रो की विशेपताओं को बहुत ही उपयुक्त रीति से प्रकट कर देते हैं। तुलसीदास की कला इन सवादों म अत्यधिक चमत्कृत हो जाती है और इन के आधार पर वे दोनों का एक अद्भुत विश्लेपणात्मक अध्ययन उपस्थित करते हैं जब कि जनक के शब्दों मे वे कहते हैं :

भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीव समता की।

(मानस, अयोध्या० २८९)

और यदि कोई यह जानना चाहता है कि महाकवि इन दो अमर चरित्रो के सबध मे तुलनात्मक दृष्टिकोण से किस प्रकार सोचता है तो उसे ध्यान देना होगा साधारण जनता के उन कथनो पर जो भरत के नदीग्राम के जीवन की व्याख्या करते समय वह उन के मुख मे रखता है :

लपन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तपु तनु कसहीं।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू।

(मानस, अयोध्या० ३२६)

सक्षेप में आधार ग्रंथों से प्राप्त भरत के आदर्श चरित्र म हमारा कवि इस प्रकार चमक उपस्थित करता है। उस का यह चित्र कितना हृदयग्राही है यह कहने की कदाचित् आवश्यकता नही है; 'मानस' के इस भरत मे वह वस्तुतः एक भव्य चरित्र की सृष्टि करता है।

१२. लक्ष्मण : लक्ष्मण में ऊपर वर्णित दोनो चरित्रों से कुछ मौलिक अतर है। यद्यपि वे उन की भाँति दृढ़ और निर्भय, निश्चयनिष्ठ और उत्साही, सरल और निष्कपट हैं किन्तु उन चरित्रो की विनम्रता, गभीरता, शाति, सतोप, संकोचशीलता, दृष्टि-कोण की व्यापकता तथा क्षमाशीलता आदि कुछ भी उन चरित्रों के समान नहीं है· वे हैं निडर, उत्साही, साहसी, स्पष्ट-वादी और अक्षमाशील; वे चुप-चाप कार्य करने वालों म से हैं. और कथनी की अपेक्षा करनी मे विश्वास रखते हैं। इस प्रकार का नवयुवक अपने बड़े भाई राम के लिए सच्चे मित्र और सेवक का, और अपने लिए अत्यधिक आत्मत्याग का जीवन चुन लेता है और यही इस चरित्र की सुंदरता है। महत्वाकांक्षाओं से हीन, यह चरित्र राम मे अपने व्यक्तित्व की भावना को इस प्रकार परिसमाप्त किए हुए है कि इस की जोड़ का चरित्र अन्यत्र कहीं कठिनाई से मिलेगा। उस का यह कोमल पक्ष उस के कठोर पक्ष को एक उल्लेखयोग्य स्निग्धता प्रदान करता

है। तुलसीदास ने इस चरित्र को लेकर बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित करने का प्रयत्न किया है, और वहाँ उन्हें प्रशंसनीय सफलता भी मिली है। केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जो उन के इस चित्रण मे खटक जाते हैं: एक परशुराम से की हुई कहा-सुनी का,[1] तथा दूसरा निषाद से किए हुए दार्शनिक तत्व-निरूपण का,[2] और हम यहाँ कुछ सूक्ष्मता से इन दोनों पर विचार सकते हैं।

१३. अनेक दृष्टि-कोणों से परशुराम और उन के सवाद की परीक्षा की गई है। उन तर्कों को दुहराने से कोई लाभ नही। फिर भी एक नवीन दृष्टिकोण से हम उस की परीक्षा कर सकते हैं: लक्ष्मण का यह व्यवहार उन के वास्तविक चरित्र से कहाँ तक सामजस्य रखता है। हम देखते हैं कि संपूर्ण कथा में अन्य कोई ऐसा अवसर नहीं है जब कि लेश मात्र भी आवेशोत्पादक परिस्थिति हो और उस में लक्ष्मण अपने मस्तिष्क को शात रख सकते हों। कुछ ही पूर्व मिथिला की राजसभा में जनक के अनुचित कथन पर हमें लक्ष्मण की तीव्र भावनाओं का ज्ञान हो जाता है।[3] आगे बढ़ने पर हम देखते हैं कि वे सुमत्र से पिता के कार्यों की निंदा ऐसी भाषा मे करते हैं जिसे कवि अपनी रचना में रखना उचित नहीं समझता।[4] केवल कुछ और अतर पर वे अपने भाई भरत और शत्रुघ्न पर क्रुद्ध हो जाते हैं और उन के प्राणों तक का कोई मोह नहीं करते।[5] और आगे राम के कार्य की उपेक्षा पर सुग्रीव पर किए गए उन के क्रोध की ओर[6] संकेत करने की आवश्यकता ही नहीं है। मार्ग देने के लिए समुद्र की प्रार्थना करने की अपेक्षा बाणों से उसे सोख लेने की उन की सम्मति उन के स्वभाव की इस विशेषता का एक अन्य उदाहरण है।[7] किंतु इतना शीघ्र ही आवेश में आ जाने वाला और बहुत-कुछ उद्धत चरित्र परशुराम के अपमानजनक शब्दों पर अपने मस्तिष्क को शात रख सके यह असंभव जान पड़ता है, परशुराम द्वारा स्वामी राम तथा अपने लिए 'शठ' शब्द का प्रयोग किए जाने पर[8] भी हास्ययुक्त तथा व्यङ्ग्य-काव्य पूर्ण भाषा में परशुराम की एक-एक उक्ति का उत्तर, और वह भी लगभग १००० शब्दो के सवाद में, शेष

[1] मानस, बाल० १-८०
[2] वही, अयोध्या० ९२-९४
[3] वही, बाल० २५३
[4] वही, अयोध्या० ९६
[5] वही २२९-३०
[6] वही, किष्किंधा० १८
[7] वही, सुदर० ५१-५८
[8] वही, बाल० २७२-२८०

भगवान के इन अवतार ने—जैसे वह कवि के द्वारा बार-बार कहे जाते हैं[1]—दिया हो यह बात लक्ष्मण के शेष चरित्र के साथ सामंजस्य रखती हुई नहीं दिखाई पड़ती।

१४. उन के और निषाद के बीच के संवाद पर आने पर तो और भी अधिक असंगति दिखलाई पड़ता है जब कि हमारा कवि इन लक्ष्मण के द्वारा अपने दार्शनिक विचारों का निरूपण करता है। उक्त अवसर पर उन के द्वारा कराया गया 'परमार्थ' का स्पष्टीकरण[2] वास्तव मे इतना विद्वतापूर्ण है कि कोई भी उसे पढ़ कर आश्चर्यान्वित हो सकता है। और कहीं भी लक्ष्मण अपनी दार्शनिक विचारशीलता का प्रमाण नही देते हैं। फलतः राम के परमेश्वर-तत्व और उन के अवतार-तत्व का यह निरूपण[3] भी कदाचित् लक्ष्मण के चरित्र के सर्वथा बाहर की वस्तुएँ हैं।

इन परिस्थितियों मे उपर्युक्त दोनों संवाद, विनोद और विद्वतापूर्ण कथन में वे स्वतंत्र रूप से चाहे उत्कृष्ट ही हों, लक्ष्मण के चरित्र के अनिवार्य गुणों से सामजस्य नहीं रखते और इसी लिए वे कलात्मक प्रभाव का जहाँ तक प्रश्न है उस की उत्पत्ति के लिए अनुकूल नहीं है। किंतु अन्यथा लक्ष्मण का चरित्र 'मानस' मे बहुत ही रोचक है इसमे सदेह नहीं।

१५. दशरथ: दशरथ वस्तुतः एक दुःखपर्यवसायी चरित्र हैं, और वे उस की आवश्यकताओं को पूर्णतः प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धातो के अनुसार दुःखपर्यवसायी नायक को समाज मे इतनी उच्च प्रतिष्ठा वाला होना चाहिए कि उस का पतन समग्र राष्ट्र के भाग्य को प्रभावित कर सके; पुनः उस का पतन उसी की किसी चरित्रगत विशेषता-सापेक्ष्य होना चाहिए: और यह विशेषता या तो उस के चरित्र मे कोई अभाव हो सकती है या किसी सद्भाव की अत्यधिकता। दुःखपर्यवसायी नायक की यह दोनों विशेषताएँ दशरथ मे पाई जाती हैं। वह एक राष्ट्र के अधिपति हैं, इस से उन का पतन उक्त राष्ट्र के भाग्य को प्रभावित करता है; और यह पतन उन के चरित्र की दो विशेषताओं मे से, जो कि दोनों सद्भाव के आधिक्य के अंतर्गत कही जा सकती हैं, किसी

[1] मानस, बाल० १७, २०२; अयोध्या० १३१, लंका० ५४. ७७, ७६, ८३, १०७

[2] वही, अयोध्या० ९३

[3] वही ९३–९४

के भी कारण कहा जा सकता है : इन में से एक तो अपने सब से बड़े पुत्र राम के प्रति आत्यंतिक प्रेम है, और दूसरी अपने वचन-पालन के प्रति पूर्ण तत्परता है। कथा में उन को ऐसी कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है जिस में उन्हें इन दो में से एक को ही अपनाने का अवकाश रह जाता है : या तो वे अपने वचन का पालन कर सकते हैं, या अपने अत्यंत प्रिय पुत्र को वनवास से रोक सकते हैं; कैकेयी दोनों का साथ-साथ निर्वाह उन के लिए असंभव बना देती है। परंतु, दशरथ दोनों ही के निर्वाह का प्रयत्न करते हैं, और इस में सफल भी होते हैं, यद्यपि इस का मूल्य उन्हें अत्यधिक देना पड़ता है, क्योंकि उन्हें इस के पीछे अपने प्राणों का परित्याग करना पड़ता है। अपने वचनों को पूर्ण करने के लिए वे राम को वनवास देते हैं, और राम के प्रति अपने आत्यंतिक प्रेम के कारण प्राणत्याग करते हैं। हमारा कवि आधार ग्रन्थों के इन्हीं दशरथ को लेकर कुछ परिवर्तन के साथ, जिस पर हम अभी विचार करेंगे, एक यथातथ्य चित्र खींचता है :

भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा। जेहिं तनु परिहरि प्रेम निबाहा।

(मानस, अयोध्या० १७४)

तजे राम जेहिं बचनहिं लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी।

(मानस, अयोध्या० १७४)

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पनु लागी।

(मानस, अयोध्या० २६४)

रामहिं कहेउ राउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना।

(मानस, अयोध्या० २९२)

१६. मूल चरित्र में जो परिवर्तन करने का उस ने प्रयत्न किया है, परंतु जिसे कलात्मक ढंग से उपस्थित करने पर वह असफल रहा है, वह यह है कि आधार ग्रंथों में दशरथ राम को युवराज-पद देने की अपनी महत्वाकांक्षा में भरत की ओर से बाधा की शंका करते हैं, और इसी कारण, जैसा कि वह राम से स्पष्ट कहते हैं,[1] राजधानी से भरत की अनुपस्थिति में वह अपनी योजना को सफल करने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कवि राम के पिता को इस आक्षेप से मुक्त करने का प्रयत्न करता है, किन्तु इस प्रयास में वह अपने पाठकों

[1] वा० रा०, अयोध्या० (५) २५-२७

से सत्य को छिपाता, किसी अत्यंत आवश्यक सूचना को दवाता एवं किसी कालिमा के ऊपर सफेदी करता हुआ प्रतीत होता है जब कि वह उन की राम को युवराज पद देने की अकारण आतुरता का चित्रण करता है। इस घटना का विकास वह इस प्रकार करता है : वह प्रजाजनों को राम को अपने अभिभावक रूप में युवराज-पद पर सुशोभित देखने के लिए उत्सुक चित्रित करता है,[1] वह राजा को उन के शिर मे कुछ श्वेत वाल दिखाकर वृद्धावस्था के आगमन से चिंतित और इसी कारण राम को युवराज-पद पर अभिषिक्त देखने के लिए उत्सुक दिखाता है,[2] वह राजा को इस विषय मे वशिष्ठ की अनुमति लेने के लिए भेजता है,[3] और वशिष्ठ को भी राजा के इस कार्य मे सहमत तथा उतना ही उत्सुक दिखाता है,[4] वह मंत्रियों की स्वीकृति भी इस योजना के लिये राजा को दिलाने का प्रवंध करता है,[5] और इस के पश्चात् इस उत्सव की तैयारी के लिए अग्रसर होता है,[6] वह इस समाचार को कौशल्या और सुमित्रा के पास पहुँचाने का भी प्रवंध कर लेता है,[7] और इस के अनंतर वशिष्ठ को राम के समीप इस महान् उत्तरदायित्व के उपयुक्त पूर्ण सयम का आदेश करने के लिये भेजता है।[8] इस समस्त ापार में वह एक पक्ष का समय व्यतीत कर देता है,[9] परतु न तो कैकेयी ो इस की सूचना देता है, और न राजा को भरत को राजधानी मे वापिस ुलाने की आवश्यकता का ज्ञान कराता है। कोई भी यह स्वभावतः पूछ सकता है कि एक पक्ष क उपेक्षा कर उस के नायक की अनुपस्थिति में एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य को कर डालने की इस आतुरता का कारण क्या है? संभवतः इस के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता कि राजा को भरत-पक्ष से यदि वह इस अवसर पर उपस्थित होते इस कार्य में किसी प्रकार की वाधा की आशका थी। और, यदि एक वार पाठक के मस्तिष्क मे यह धारणा वैठ गई तो राम के पिता के चरित्र की कालिमा पर सफेदी पोतने की कवि की

[1] मानस, अयोध्या० १

[2] वही २

[3] वही ३

[4] वही ४

[5] वही ५

[6] वही ६-७

[7] वही ८

[8] वही ९-१०

[9] वही ११

चेष्टा निष्फल हो जाती है, और यहीं पर कवि की कला में त्रुटि आ जाती है।

१७. रावण : रावण के चरित्र में एक 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' ('टाइप') उपस्थित किया गया है, और यह 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' आदर्शवादी नहीं वरन् वस्तुवादी, कल्पनावादी नहीं वरन् प्रत्यक्षवादी, निराशावादी नहीं वरन् आशावादी, अदृष्टवादी नही वरन् संकल्पवादी, सशयवादी नही वरन् निश्चयवादी और धार्मिक नहीं वरन् अधार्मिक का है। इस 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' मे यदि दश शिर और बीस बाहु वाले दैत्य की भयानकता और एक दानव का व्यक्तित्व और उसकी शक्ति सम्मिलित कर दीजिए तो सक्षेप मे आदि-काव्य के रावण का परिचय आपको प्राप्त हो जाता है। दक्षिण के ऋषियों के दुःख से द्रवित होकर राम राक्षस-समूह को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं और सभवतः इसी कारण इस सुरारि के सम्मुख होने के लिए वे उस की भगिनी शूर्पणखा को विरूप करते हैं। राम के इस कार्य से यह रावण क्रुद्ध हो जाता है और राजकुमार से उन की पत्नी चुराकर इस का बदला लेता है। अध्यात्मप्रिय भारतीय मस्तिष्क राम में दैवत्व की स्थापना करते हुए प्रतिशोध की इस साधारण कथा से सतुष्ट न होकर सीता-हरण में एक आध्यात्मिक अभिप्राय की कल्पना करता है : वह कहता है कि रावण को राम के अवतार का पता था और वह यह जानता था कि राक्षस के तमोगुणी शरीर से मोक्षप्राप्ति के लिए कोई भी विहित साधन असभव था, फलतः उस के लिए राम के हाथों से प्राण त्याग करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था, अतः राम के हाथो से प्राण त्याग करने के प्रयोजन से ही उस ने उन की भार्या का हरण[1] एवं मृत्युपूर्व तक के समस्त कार्य किए। तुलसीदास रावण के इस दूसरे ही रूप को लेकर अपनी भावना के अनुसार उस का चित्रण करते हैं।

१८. उन का रावण उन के पूर्व के रावणों से अधिक अभिमानी—कम से कम वे ऐसा कहते हैं[2]—और हठी है। वह मारीच, शुक, विभीषण, माल्यवंत, प्रहस्त, और कुंभकर्ण के परामर्शों एव अपनी पत्नी मंदोदरी की बार-बार की गई प्रार्थनाओं पर किंचित् भी ध्यान नहीं देता। निस्सदेह इस समस्त अवमानना का एक दुःखपूर्ण कारण यह प्रतीत होता है कि यह सभी

[1] अध्यात्म०, अरण्य०, (५) ५८-६१, वही (६) ३०-३२;

[2] मानस, सुदर० २४, लका० २३, ३७, ३८, ४०, ६२, ६३, ९३

मंत्रकारी एक विशिष्ट दार्शनिक राग अलापते हैं : वे उसे राम से शत्रुता न करने के लिए इस लिए कहते हैं कि राम परमात्मा हैं। वह अपने भावों को छिपाने और अवसर आने पर चित्त को स्थिर रखने का गुण प्रदर्शित करता है, यहाँ तक कि जब वास्तव में शत्रु के आक्रमण से वह घबड़ा भी जाता है। परंतु इस समस्त अभिमान, दुराग्रह और दंभ के होते हुए भी इस रावण में एक बात आश्चर्यजनक है : वह है उस की चतुरता और वाक्-पटुता, आत्म-विश्वास और विनोद-प्रियता : उस के समस्त प्रश्नोत्तर इन गुणों का यथेष्ट परिचय देते हैं। किंतु खेद है कि हमारा कवि अपने नायक के प्रति उत्कट भक्ति के कारण इस वीर चरित्र के साथ पर्याप्त न्याय नहीं करता है। अंगद-रावण-संवाद में बहुत सी अपमानपूर्ण शब्दावली का प्रयोग वह अंगद के द्वारा कराता है,[1] और स्वयं उस की पत्नी मंदोदरी के मुख से रावण की मृत्यु को न्यायोचित कहलाते हुए ऐसे पापमय जीवन का अंत करने के लिए राम की प्रशंसा कराता है जब उस के स्वामी का मृत शरीर उस के संमुख पड़ा होता है।[2] स्पष्ट ही इन स्थलों पर भक्त तुलसीदास के आगे कलाकार तुलसीदास भाग खड़े हुए हैं।

१९. विभीषण : मूलतः विभीषण अपने भ्राता, राजा और देश को उन की महान् विपत्ति के समय त्यागने वाला एक स्वार्थ पूर्णचरित्र है। सीता-हरण के विषय में उस का रावण से मतभेद मात्र, अथवा रावण द्वारा उस के प्रति प्रयुक्त दुर्वचन भी उसे उस के विश्वासघात-पूर्ण आचरण से दोषमुक्त नहीं कर सकते हैं। किंतु भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने राम सर्वेश्वर के इस मित्र का इतना कालिमापूर्ण चित्र चित्रित न कर सकने के कारण उस को उन का भक्त बना दिया है, और तुलसीदास इसी विभीषण को ले कर उस में अपने मनो-नुकूल सुधार करते हैं।

२०. उन का विभीषण पूर्ववर्ती साहित्य के विभीषणों की अपेक्षा राम का अधिक भक्त है। लंका में उस का घर रामावत संप्रदाय के चिह्नों से अंकित है, और उस के समीप उस ने तुलसी के पौधे भी लगाए हैं;[3] वह राम-नाम रटता रहता है,[4] जब हनुमान उसे राम की तथा स्वयं अपनी कथा सुनाते हैं

[1] मानस, लंका० २०-३५

[2] वही १०४

[3] मानस, सुंदर० ५

[4] वही ६

हर्ष से गद्‌गद् हो जाता है और अपने "दुष्ट संग" पर ग्लानि प्रदर्शित करते हुए हनुमान से वह राम के दर्शन की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट करता है, और कहता है कि सत हनुमान के दर्शन की प्राप्ति से अब उसे राम-दर्शन की प्राप्ति में भी पूर्ण विश्वास हो गया है।[1] राम के समीप जाते समय जो विचार उस के मन में उदित होते हैं वे पुनः उस की राम-भक्ति के द्योतक हैं।[2] तथापि वह निरा भक्त ही नही है, सामाजिक और नैतिक नियम उसे आध्यात्मिक नियमों के समान ही पवित्र प्रतीत होते हैं; सीता को लौटा देने की उस की सलाह का आधार केवल यही नहीं है कि राम स्वंयं ईश्वर हैं, या वे उस से अधिक शक्तिशाली हैं, बल्कि उस का एक शुद्ध नैतिक आधार भी है, और वास्तव मे यही उस का प्रथम आधार है।[3] वह एक अत्यंत नम्र स्वभाव वाला भी है, जैसा कि वास्तविक रामभक्त को होना ही चाहिए था : रावण को अपनी सम्मति देते हुए उसे सबोधित करने का उसका ढग[4] तथा उस के द्वारा चरण-प्रहार पाने पर भी उस का उत्तर[5] भली भाँति इस के द्योतक हैं।

२१. 'गीतावली' का विभीषण उपर्युक्त विभीषण से भी बड़ा राम-भक्त है। उस के चरित्र के इस पक्ष को प्राधान्य देने के लिए 'गीतावली' म अनेक गीत लिखे गए है, और उन्हें पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि 'गीतावली' में अन्य सभी चरित्रो की अपेक्षा—भरत और हनुमान की अपेक्षा भी—भक्त तुलसीदास को यही चरित्र अधिक चित्रित करता है। कवि की अन्य रचनाओं में किसी को शायद ही 'दास्य' का ऐसा सजीव चित्र मिलेगा जैसा कि 'गीतावली' के विभीषण-शरणागति-योग संबंधी गीतों मे है।[6]

२२. हनुमान : महाकाव्य के हनुमान बलवान तथा समर्थ, साहसी तथा वीर, दृढ़ तथा निर्भीक, कलाओं एवं विद्याओं मे दक्ष, बुद्धिमान् तथा विवेकशील, विनम्र तथा विनयशील, जितेन्द्रिय तथा संयमशील, सरल तथा मात्सर्यहीन, धार्मिक तथा आशावान्, एव चरित्रगुण संयुक्त एक अत्यंत स्वार्थहीन और कर्त्तव्य-परायण सेवक प्रतीत होते हैं, और सदैव स्वामी के कल्याण तथा

[1] मानस, सुदर० ७
[2] वही ४२
[3] वही ३८
[4] वही
[5] वही ४१
[6] गीता०, सुदर० २८-४६

स्वामी के कार्य के साथ तादात्म्य स्थापित किए हुए दिखाई पड़ते हैं। यह स्वार्थहीन सेवा भारतीय आध्यात्मिक मनोवृत्ति के प्रकाश में 'भक्ति' का एक तेज अर्जित कर लेती है, और हमारा कवि अपने कथानक के पात्रों की माला में उन का समावेश करते समय इसी परिवर्तन के साथ उन्हें स्वीकार करता है। अपने महान् काव्य में सर्वत्र समान रूप से वह उन्हें 'दास्य भक्ति' की मूर्ति के रूप में यद्यपि आदि-काव्य के हनुमान में पाए जाने वाले समस्त गुणों के साथ उपस्थित करता है।

२३. अंगद : यद्यपि आदि-काव्य के अंगद में हनुमान के चरित्र के अनेक गुण हैं—वह उन के समान ही बलवान और समर्थ, साहसी तथा वीर, बुद्धिमान् तथा विवेकशील है परंतु उस में हृदय की उस सरलता और मत्सर-हीनता तथा उस धार्मिकता का अभाव है जिन से उस काव्य के कपि-श्रेष्ठ हनुमान का चरित्र सुशोभित होता है। जब सीता-अन्वेषण के लिए निकले वानरयूथ में असफलता तथा तत्परिणाम-स्वरूप प्राणदंड प्राप्ति की आशंका के कारण जीवन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है, और तार राजा सुग्रीव तथा राम के भी प्रति राज-द्रोह का स्वर ऊँचा करता है, अंगद भी पथभ्रष्ट होते हुए दिखाई पड़ते हैं;[1] उन्हों ने स्वयंप्रभा द्वारा छोड़ी हुई सुंदर गुफा में अपना शासन-केन्द्र बना लिया होता और अपना संपूर्ण जीवन वहीं पर व्यतीत किया होता, यदि हनुमान की ओर से इस के तीव्र विरोध की उन्हें आशंका न हुई होती।[2] महाकाव्य के अंगद से 'अध्यात्म रामायण' के अंगद में इस के अतिरिक्त कि वह किंचित् अधिक धार्मिक हैं वस्तुतः और कोई अंतर नहीं है।[3]

२४. हमारा कवि इस दूसरे अंगद को लेता है और कुछ परिवर्तन कर के यथातथ्य रूप में उसे चित्रित करने का प्रयास करता है। केवल यही नहीं कि वह उस के जीवन से राजद्रोह की घटना को अलग कर देता है, वह उन को काफी सरल-हृदय, निरभिमान और धार्मिक भी चित्रित करता है। यह अंगद राम का अत्यधिक भक्त हो जाता है। राम से उस की विदा की घटना हमारे कवि ने यथेष्ट विस्तार और मनोनियोगपूर्वक वर्णित की है। जब समस्त कपि-भालु चलते समय राम से विदा लेते हैं अंगद उन के समीप जाता है और उन से

[1] उदाहरणार्थ वही, २८; ३० [2] वा० रा०, किष्किंधा० (५३) २५–२६

[3] वही (५४)

विनम्र निवेदन करता है कि वे उसे अपनी सेवा में ही रक्खे, यद्यपि उस की प्रार्थना स्वीकृत नही की जाती है।[1] उन सब में से जो राम के साथ, दक्षिण से आए थे—सुग्रीव और विभीषण भी इस के अपवाद नही हैं—केवल अंगद ही ऐसा है जिस को विदा करते समय राम कुछ दूर तक पहुँचाने जाते हैं, और यहाँ भी अगद बारबार उन से संकेत करता है कि उसे अपनी सेवा मे रख ले, किंतु इतने पर भी उस की यह पवित्र आकाक्षा अपूर्ण ही रह जाती है।[2] अतिम सात्वना के रूप मे वह हनुमान से प्रभु को उस का कभी-कभी स्मरण कराने के लिए प्रार्थना करता है और इस के पश्चात् अपनी जन्म-भूमि को वापस जाता है।[3]

२५. दूसरी ओर रावण से उस का संवाद[4] एक ऐसा विषय है जो उस के चरित्र की इस उत्कृष्टता को बहुत कुछ कम कर देता है। रावण की राज-सभा में राम द्वारा भेजे जाते समय शत्रु के साथ उसे ऐसा ही वार्तालाप करने का आदेश किया जाता है जो लक्ष्य पूर्ति में सहायक होने के अतिरिक्त शत्रु का भला भी कर सके :

काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
(मानस, लंका० १७)

किंतु वह लंका की राजसभा में हमें इस आदेश की भरपूर अवहेलना करता हुआ दिखाई पड़ता है। रावण के साथ वार्तालाप में वह रावण को 'खल', 'शठ', 'अधम', और 'मलराशि' ऐसे शब्दों द्वारा कम से कम अठारह बार संबोधित करता है, जब कि राक्षस-राज ऐसे शब्दों का प्रयोग केवल दस बार ही करता है; और भी, हम देखते हैं कि इस प्रकार की शब्दावली के प्रहार का प्रारंभ अंगद की ओर से होता है, जो इन में से एक अशिष्ट शब्द का प्रयोग राक्षस राज द्वारा उसी शब्द के प्रयोग के पूर्व करता है। इस विचार को अलग छोड़कर कि यह "बतकही" राजनीति-अनुमोदित है अथवा नही, क्या कोई यह बता सकता है कि इन शब्दो से किसी अंश तक भी राम के अभीष्ट की पूर्ति या राक्षस-राज की कोई भलाई किसी प्रकार हो सकती थी? राम के समान प्रभु के दूत द्वारा ऐसे शब्दों के प्रयोग के लिए कोई भी उचित

[1] मानस, उत्तर० १७-१८
[2] वही १९
[3] वही
[4] वही, लंका० २०-३५

कारण नहीं प्रतीत होता, अतः यह प्रसंग अंगद के चरित्र के सुंदर विकास में एक अत्यंत अकलात्मक योग सिद्ध हुआ है।

२६. कौशल्या : आधार ग्रंथों की कौशल्या में हम अपने पति द्वारा उचित सम्मान से वंचिता और इसी लिए क्षीणकाया तथा खिन्नमना, उपवासादिपरा, पर क्षमाशीला तथा त्यागशीला, सौम्य तथा विनीत, गंभीर तथा प्रशांत, विशालहृदया तथा पतिसेवापरायणा आदर्श महिला का चित्र पाते हैं जो अपने निरपराध पुत्र के निर्वासित होने पर इन सद्गुणों का और भी विकास करती हुई देखी जाती है। हमारा कवि इस चरित्र को अपना कर एक विशेष ढग से उस को उत्कर्ष प्रदान करता है।

२७. तुलसीदास की कौशल्या कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय की, जिस का दूसरा नाम 'विवेक' है, सूक्ष्म भावना प्रदर्शित करती हैं : जब उन से उन के पुत्र के निर्वासन का कारण बताया जाता है वह एक अंतर्द्वंद मे पड़ जाती है, एक ओर 'कर्त्तव्य' और दूसरी ओर 'मातृ-स्नेह' के संघर्ष में वे पड़ जाती हैं, परंतु अविलंब ही वह कर्त्तव्य के पक्ष में निर्णय कर पाती हैं, राम को वन जाने की आज्ञा देने के लिए प्रार्थना के उत्तर में दिया हुआ उन का व्याख्यान[1] 'विवेक', 'समत्व बुद्धि', 'कर्त्तव्य-बुद्धि' और 'धर्म-बुद्धि' का उत्कृष्ट उदाहरण है। उन के चरित्र में एक महानता है जो अन्यत्र बहुत ही कम देखी जाती है : भरत को राज-मुकुट धारण करने के लिए उन का उपदेश[2] इस का एक पर्याप्त उदाहरण होगा। वह एक अत्यंत दयालु हृदय का परिचय देती है : चित्रकूट-यात्रा मे जब वह पुरजनों को पैदल चलता देखती हैं, क्यों कि भरत भी पैदल चल रहे हैं, तो वह अपनी पालकी दोनों भाइयों के समीप ठहरा कर उन से रथ पर चढ़ने का अनुरोध यह कह कर करती हैं कि अन्यथा सब नर-नारी भी जो कि राम-विरह जनित शोक के कारण दुःखित और कृश शरीर और पैदल यात्रा के योग्य नहीं हैं उसी प्रकार चलेंगे।[3] चित्रकूट में वह एक अत्यंत विलक्षण आध्यात्मिक जागृति प्रदर्शित करती हैं, कथा का कोई भी पात्र इतनी बुद्धिमता पर आंतरिक अनुभूति के साथ नहीं बोलता जितना कौशल्या जब वह सीता की माता से कहती है :

[1] मानस, अयोध्या० ४–५७ [2] वही १७६

[3] वही १८८

देवि मोहवस सोचिय बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हित हानी।

(मानस, अयोध्या० २८७)

२८. 'गीतावली' मे उपर्युक्त कोटि के उदाहरणों का काफ़ी अभाव है पर उस में इस की पूर्ति एक अन्य प्रकार से हुई है, उस मे चरित्र के मातृ-पक्ष का एक बड़ा मौलिक और स्वाभाविक विकास हुआ है : वहाँ पर कौशल्या का चित्रण एक अत्यंत स्नेहमयी माता के रूप मे हुआ है: जब राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ चले जाते हैं तो उन के कुशल की चिता मे कौशल्या अत्यत व्याकुल पाई जाती है।[1] और जब वे निर्वासित होकर वन को जाते हैं तो वह अपने चित्त की समस्त शाति खो देती है; माता की यह दशा वास्तव में बड़ी ही करुण है।[2] चित्रकूट से लौटने के पश्चात् वह पुत्र-वियोग में पुनः अत्यंत व्यथित होती है।[3] और, अंत में वनवास की अवधि समाप्त होने के पूर्व अपनी दयनीय दशा में अत्यंत दुःखित दिखाई पड़ती है।[4] 'रामचरित मानस' मे चरित्र के इस पक्ष का विकास नहीं किया गया है, इस लिए 'गीतावली' का यह चित्र हमारे कवि की रचनाओ मे निश्चय ही एक अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

२९. कैकेयी : आदि-काव्य की कैकेयी मे एक प्रकार से हम रावण का प्रतिरूप-सा पाते हैं : उसी के समान यह भी एक आदर्शवादी नहीं वरन् वस्तुवादी, कल्पनावादी नहीं वरन् प्रत्यक्षवादी, निराशावादी नहीं वरन् आशावादी, अदृष्टवादी नहीं वरन् संकल्पवादी, संशयवादी नहीं वरन् निश्चयवादी और धार्मिक से भिन्न अधार्मिक 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' पाते हैं। पुनः हम उस में कौशल्या के विपरीत अपने पतिद्वारा उचित से अधिक मात्रा में सम्मानित, और इसी कारण शरीर एवं मन में विचित्र रूप से उत्फुल्ल, अपनी सपत्नियों के प्रति अनुदार, असहिष्णु, स्वेच्छापरायणा, निःशंक, मानाभिमानिनी, महत्वाकांक्षिणी, तथा उद्धत स्वभाव की महिला का चित्र पाते हैं। 'रामायण' की शोकपर्यवसायिनी घटना के लिए संपूर्ण रूप से—या मुख्य अंशो मे भी—मंथरा को दोष देना अनुचित है; उस का बीज पहले ही से कैकेयी में दिखाई पड़ता है, मंथरा

१ मानस, बाल० १७, १८, १९
२ वही, अयोध्या० ५१-५५
३ वही ८४-८७
४ वही, लंका १७-२०

केवल उसे उपयुक्त जल से सींचती है, और भरत की अनुपस्थिति और राजा की अपने अभीष्ट-पूर्ति की आतुरता में एक उचित परिस्थित पाकर वह बीज अंकुरित होता है। परंतु उस की अंतिम झलक अनुताप, आत्मग्लानि तथा निष्ठुर आंतरिक व्यथा से ओतप्रोत है : उस की निष्ठुर महात्वाकांक्षा, जो अपने पति की मृत्यु से भी किसी विशेष मात्रा में प्रभावित नहीं होती, पुत्र के द्वारा राज-मुकुट के ठुकराए जाने पर चूर्ण हो जाती है। भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने इस प्रकृतिगत महात्वाकांक्षा की सरल कथा से संतुष्ट न हो कर चरित्र के इस व्यापार को देवताओं की उन के दुर्विजेय शत्रु रावण के प्रतिकूल कूट-युक्तियों से संबंद्ध किया है। यह योजना जब कि एक ओर महात्मा भरत की माता को एक किंचित् निंदनीय महात्वाकांक्षा से शोकपर्यवसायी प्रभाव को बिना कोई गहरी क्षति पहुँचाए भी मुक्त करने का श्रेय प्राप्त करती है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि चरित्र-चित्रण के सौकर्य को बहुत-कुछ कम कर देती है। हमारा कवि इस पिछली कैकेयी को ग्रहण करता है, और उसी को एक सच्चे शोक पर्यवसायी चरित्र की भाँति विकसित करने का प्रयत्न करता है।

३०. किंतु इस प्रशस्त प्रयत्न में वह उस को अनावश्यक रूप से निर्दय चित्रित करता हुआ उस मे अत्यधिक भयानकता का समावेश कर देता है जब राजा के लिए उस से वह यह कहलाता है :

कहहु करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया।

(मानस, अयोध्या० ३३)

अथवा यह कहलाता है :

दुइ कि होइ इक संग भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।
दानि कहाउब अरु कृपिनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई।

(मानस, अयोध्या० ३५)

अथवा पुनः, यह कहलाता है :

तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी।

(मानस, अयोध्या० ३५)

यही बात उस के अपने पिता को सत्य-पालन के लिए प्रोत्साहित करने के लिए राम को दिए गए उपदेश में भी लक्षित होती है :

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन अघ अजसु न होई।

तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि कीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे।

(मानस, अयोध्या० ४३)

फिर भी इस थोड़े से अतिरंजन के दूसरे पक्ष को यदि हम देखें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे कवि को इस कैकेयी में दैव-दुर्विपाक से एक भयानक तथा जुगुप्सामय चित्र उपस्थित करने में आश्चर्यजनक सफलता मिली है।

३१. सुमित्रा: आधार ग्रंथों की सुमित्रा कथा में एक अत्यंत उपेक्षित और दीन जीवन व्यतीत करती है। वह अपने पुत्र को सपत्नी के पुत्र के साथ उस के निर्वासित होने पर भेजती है, किंतु हमारा कवि उस के चरित्र की इस उदारता मात्र से संतुष्ट न होकर उस में एक आध्यात्मिक चेतना का विकास करता है।

३२. अपने पुत्र को राम के साथ वन-गमन की आज्ञा देते समय का सुमित्रा का व्याख्यान स्पष्टतः इतना आध्यात्मिक है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यदि उसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वह वास्तव में कथा में सुसंगत नहीं प्रतीत होता। उस में वह अवतार के ज्ञान की अभिव्यक्ति करती है, और अपने पुत्र को उस के राम सेवा के दृढ़ संकल्प के लिए बधाई देती है। इस संबंध में उस के अंतिम शब्द जिन में वह उस को एक आध्यात्मिक शुद्धि का उपदेश करती है कदाचित् ही भुलाए जा सकते हैं:

राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इनके बस होहू।
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।

(मानस, अयोध्या० ७५)

फिर जब लक्ष्मण वन से वापस आते हैं, सुमित्रा उन्हें इस कारण भेंटती है कि उन्होंने राम-चरणों की भक्ति प्राप्त कर ली है:

भेंटेउ तनय सुमित्रा राम चरन रति जानि।

(मानस, उत्तर० ६)

३३. 'गीतावली' में कवि उसे एक अत्यंत वीर माता के रूप में चित्रित करता है, जो अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को भी रणक्षेत्र में जाने का आदेश करती हुई दिखाई पड़ती है जब वह यह सुनती है कि लक्ष्मण युद्ध में आहत हो कर मूर्छित पड़े हैं।[1] दो परस्पर विरोधी भावों के अनुभावों का ऐसा सुंदर सामंजस्य कवि की समस्त कृतियों में अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिलेगा।

[1] गीता० लंका० १३

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जावे तो 'रामचरित मानस' में माता की भक्तिमयी प्रवृत्ति कुछ अस्वाभाविक सी लगती है : वहाँ कवि अपनी रामभक्ति को बिना किसी अवसर के प्रकट करता हुआ प्रतीत होता है; 'गीतावली' में वीर माता का जो विकास वह करता है उस के लिए हमारा कवि सब प्रकार से सराहना का पात्र है।

३४. सीता : आधार ग्रंथो की सीता में हम एक निश्चयात्मक बुद्धिवाली, निष्कपट, सरल-हृदया, और आत्म-सम्मान के भाव से संपन्न तथापि अतिशय स्नेहमयी, निरीह, महात्वाकाक्षा-रहित, विनीत, नियमशीला तथा सयमशीला, मुखमंडल पर पातिव्रत की आभायुक्त, और अपने स्वामी से वियुक्त होने पर क्षीणकाया कुलवधू का चित्र पाते हैं। हमारा कवि इसी सीता को ग्रहण करता है और अपने ढंग से उसे उपस्थित करता है।

३५. तुलसीदास की सीता एक लज्जाशीला तथा विनयशीला कुलवधू है। जब वह राम के वन-गमन की तैयारी सुनती है, वह व्याकुल हो उठती है। वह अपनी सास के समीप जाती है और उन के चरणों में प्रणाम कर के सिर नीचा कर के बैठ जाती है; वह एक शब्द भी नही बोलती, और नेत्रों से अश्रुपात करती हुई अपने पैर की उँगलियों के नखों से पृथ्वी पर कुछ लिखने-सी लगती है;[1] राम की माता ही राम पर यह प्रकट करती है कि सीता की इच्छा उन के साथ वन जाने की है।[2] फिर जब वह अपने पति द्वारा घर ही पर रहने के लिए दी गई शिक्षा का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत होती है, वह माता के चरणस्पर्श करती है, और इस अशिष्टता के लिए क्षमायाचना करती है।[3] यही लज्जाशीलता तथा सुशीलता उस मे हमें फिर उस समय दिखाई पड़ती है जब वह सुमंत्र द्वारा लाए गए दशरथ के संदेश का उत्तर देने को प्रस्तुत होती हैं। उस समय उन से वह कहती है कि अंत्यत शोक के कारण ही वह उन के संमुख उपस्थित हुई है, अतः वे उसे बुरा नही मानेंगे।[4] उस के चरित्र की यह लज्जाशीलता तथा विनयशीलता उसे 'रामचरित मानस' में एक अत्यंत प्यारा रूप प्रदान करती है। वन जाने के लिए माता से विदा लेते समय के उस के शब्द 'पितृ-सेवा' की उस की आतरिक लालसा के व्यंजक हैं :

[1] मानस, अयोध्या० ५७–५८
[2] वहीं ५८–६०
[3] वहीं ६४
[4] वहीं ९७

तब जानकी सासु पद लागी। सुनिय मातु मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।
तजब छोभ जनि छाँड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू।

(मानस, अयोध्या० ६९)

चित्रकूट पर वह माताओं की सराहनीय सेवा करती हुई दिखाई पड़ती है।[1] जब वह वन से लौट कर आती है तो वह घर के समस्त कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेती है और एक आदर्श भारतीय वधू के समान वह सासुओं की सेवा करती है, और अपने पति की आज्ञाकारिणी है, और यद्यपि राज भवन में अपने-अपने कर्त्तव्यों में कुशल अनेक सेवक हैं, परंतु वह सब गृह कार्य स्वयं करती है।[2] तुलसीदास की सीता के इन अद्भुत गुणों से यह कदाचित् सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कवि-द्वारा निर्धारित पूर्ण स्त्रीत्व के आदर्श का वास्तविक स्वरूप क्या है। उस की स्वाभाविक सलज्जता एवं विनम्रता, विनयशीलता और गुरुजनों के प्रति सेवा-भावना, गृहस्थी के छोटे से छोटे कार्य को करने की चेष्टा एक पाश्चात्य समालोचक को हिंदू स्त्रीत्व की अधोगति के द्योतक हो सकते हैं परंतु एक सामान्य भारतीय मस्तिष्क के लिए इन का संबंध हिंदू परिवार के वास्तविक सुख और शांति से है।

३६. 'गीतावली' की ''सीता के चरित्र में 'मानस' की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है केवल एक स्थान पर देखा जाता है कि वह अपने और अपने स्वामी की अपेक्षा विभीषण के लिए अधिक चिंतित दिखाई पड़ती है जो बहुत स्वाभाविक नहीं जान पड़ता :

कबहूँ कपि राघव आवहिंगे।
यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषन कब पावहिंगे।

(गीता० सुंदर० १०)

सीता के चरित्र का एक और प्रसंग 'गीतावली' में ध्यान देने योग्य है : वह है उस के निर्वासन का प्रसंग जो 'मानस' में नहीं आता। उस में सीता का एक निराश और भग्न हृदय हमें दिखलाई पड़ता है जो बड़ा ही दयनीय है; सीता लक्ष्मण को वन में पहुँच कर विदा देते हुए केवल यही प्रार्थना करती है :

लखनलाल कृपाल निपटहिं डारिबी न बिसारि।

[1] मानस, अयोध्या० २५२

[2] वही, उत्तर० २४

पालबी सब तापसनि ज्यों राज धरम विचारि।

(गीता० उत्तर० २९)

३६. मंथरा : आदि काव्य में मथरा कैकेयी की एक परम विश्वासपात्र परिचारिका है, जो अपनी स्वामिनी के समान कुछ निःशंक भी है; इस के अतिरिक्त वह अत्यत चतुर और स्वामिभक्त है; यह उस की अटल स्वामिभक्ति के ही कारण है कि वह अपनी स्वामिनी को इस की अपेक्षा कि राज-मुकुट उस के सौत के पुत्र को दिया जाए उसे अपने पुत्र के लिए लेने की सलाह देती है, यद्यपि यह सत्य है कि अपनी स्वामिनी को सफलतापूर्वक इस कार्य में प्रवृत करा पाने के कारण तत्परिणाम-स्वरूप दुःखमय पर्यवसान के लिए अंशतः वह भी उत्तरदायिनी होती है फिर भी, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, केवल—या मुख्य रूप से भी—इस कार्य के लिए उस को दोष देना अनुचित है; वास्तविक बात यह है कि शोकपर्यवसायी कार्य का मूल कैकेयी के चरित्र मे पहिले ही से विद्यमान था. मंथरा ने केवल उस के अंकुरित होने मे योग दिया। भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति एक विश्वासपात्र परिचारिका के इस यथातथ्य चित्र से सतुष्ट न होकर उस को राम वन-गमन के षड्यत्र में देवताओ द्वारा प्रेरित एक यत्र का रूप देती है, और वह यही मंथरा है जिस को हमारा कवि अपने काव्य के लिए ग्रहण करता है, तथापि वह इस में अपनी कला का ऐसा उत्कर्ष दिखाता है कि वह एक अमर चरित्र बन जाती है। जिस मनोवैज्ञानिक और व्यंजना-प्रचुर तर्क-प्रणाली[१] को कवि उस के हवाले करता है उस के कारण मंथरा का चित्र किसी भी कलापूर्ण चित्रावली में एक सम्मान-पूर्ण स्थान स्वयं प्राप्त कर सकता है।

फिर भी, तुलसीदास उस के लिए "मंदमति"[२], "कुबुद्धि"[३], "कुजाति"[४], "कुटिल"[५], "पापिनी"[६], "अवध-साढ़साती"[७] तथा "पातकिनि"[८] आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं; उन का यह कार्य बहुत न्यायोचित नहीं जान पड़ता। वे कदाचित् अपनी भक्ति के आवेश मे यह भूल जाते हैं कि जो

[१] मानस, अयोध्या० १३-२२
[२] वहीं १२
[३] वहीं १३
[४] वहीं
[५] वहीं
[६] वहीं
[७] वहीं १७
[८] वहीं २२

कुछ भी उस ने किया एक मात्र अपनी स्वामिनी के स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए किया, और इस लिए वह सर्वथा क्षम्य है।

३७. मदोदरी: चरित्रों की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व हम एक चरित्र की समीक्षा और कर सकते हैं। आधार ग्रंथो में यह चरित्र नगण्य है, परंतु अपनी राम-भक्ति के उत्साह में हमारा कवि उस का विकास कर के उसे एक रामभक्त के सदृश चित्रित करता है: प्रायः हम रावण को राम से शत्रुता त्याग देने के लिए उसे उपदेश देते हुए इस लिए सुनते हैं कि राम नर वेष मे स्वय परमात्मा हैं। यदि बात यही तक रह जाती तो कोई विशेष हानि नही थी, परंतु समय-समय पर हम उसे अपने पति को "नीच"[1] आदि विशेषणो से संबोधित करते हुए देखते हैं। यहाँ पर स्वतः कवि अपने स्त्रियोचित धर्म के आदर्श का उल्लंघन करता हुआ प्रतीत होता है, और स्वनिर्मित नैतिक नियमो के अनुसार एक अक्षम्य अपराध करता है:

> वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
> ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।
>
> (मानस, अरण्य० ५)

'कवितावली' में मंदोदरी का चरित्र कदाचित् और भी गिर गया है: उस में वह पति को "मंदमति"[2] और "नीच"[3] तो कहती ही है अपने पुत्र मेघनाद को "दाढ़ीजार"[4] तक कहती है, जो कदाचित् कोई भी शिष्ट स्त्री कभी किसी को न कहेगी। अच्छा होता यदि हमारे कवि ने उस को इस निम्न—या उच्च—धरातल पर चित्रित करने से अपने को बचाया होता।

३८. यदि हम उस के प्रमुख चरित्रों के इस अध्ययन के अनंतर एक बार समस्त रूप से इस क्षेत्र में उस की कला पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि साधारणतः उस ने चरित्रों का चित्रण एक सुकमार तूलिका से किया है; उस की मौलिक प्रवृत्तियों का परिचय इस क्षेत्र मे हमें सामान्यतः आवेश, अविचार और अधीरता से आधार ग्रंथों के चरित्रों को मुक्त कर उन्हे एक व्यापक और उदार दृष्टि, हृदय की विशालता, सरलता, मात्सर्यहीनता, विनम्रता, स्निग्धता,

[1] मानस, लंका० ३६
[2] कविता०, लंका० १८, २१
[3] वही १८
[4] वही, सुदर० १२

धार्मिकता और भक्ति प्रदान करने में मिलता है। किंतु यह सब गुण उस की कथा के चरित्रों मे विना किसी प्रयास के आए जान पड़ते हैं। यह विशेषताएँ हमारे कवि के चरित्र की ही विशेषताएँ हैं, फलतः जिन चरित्रों के साथ भी उस की सहानुभूति रही है—और कथा के प्रायः समस्त चरित्रों के साथ रही है—उन के विकास मे यह स्वतः आ गई हैं ऐसा प्रतीत होता है, और कलात्मक परिणाम में इस प्रकार की प्रतीति का होना कदाचित् किसी भी कलाकार की सफलता का ज्वलंत प्रमाण हो सकता है।

३९. अपने कवि की चरित्र-चित्रण संबंधी प्रवृत्तियों का अध्ययन समाप्त करने के पूर्व हम कदाचित् एक विषय पर और विचार कर सकते हैं : वह है उस की नारी संबंधी भावना। प्रत्येक युग के कलाकार नारी-चित्रण में प्रायः उदार पाए जाते हैं, किंतु नारी-चित्रण मे तुलसीदास वेहद अनुदार हैं। यद्यपि उन की इस अनुदारता का कारण अभी तक रहस्य के गर्भ में छिपा हुआ है पर नारी-विषयक उन की अनुदारता एक ऐसा तथ्य है जिस को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। कुछ समालोचक कवि की इस अनुदारता पर सफेदी करना चाहते हैं, और प्रमाण-स्वरूप सीता और कौशल्या के दिव्य चरित्रों की दुहाई देते हैं, किंतु उन्हें यह भी सोच लेना चाहिए कि अपने आराध्य की प्रेयसी और माता को कदाचित् दूसरे प्रकार से वह चित्रित भी नहीं कर सकता था। यदि किसी को कवि की नारी-जाति विषयक भावनाओं का यथार्थ परिचय प्राप्त करना हो तो उसे वे स्थल देखने चाहिएँ जहाँ पर किसी भी वहाने वह संपूर्ण नारी जाति के चरित्र के संबंध में टिप्पणी करता है। किसी भी नारी-पात्र से यदि कहीं कोई भूल हो जाती है तो हमारे कवि के अनुसार सारी नारी-जाति उस के लिए भर्त्सना का पात्र है, और पुरुष-पात्र चाहे कितने भी अपराध करें पुरुष-जाति की भर्त्सना हमारा कवि कभी नहीं करता। कवि की इस प्रवृत्ति का बोध कराने के लिए निम्नलिखित उदाहरण ही पर्याप्त होंगे· ये उदाहरण 'मानस' से न केवल विभिन्न कोटि के पुरुष पात्रों द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए गए कथनों से लिए गए हैं वरन् विभिन्न कोटि के स्त्री-पात्रों, जड़ पात्रों, और स्वतः राम द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए गए कथनों से लिए गए हैं; और हम देखेंगे कि कवि स्वतः भी जब नारी-चरित्र पर वक्तव्य देने के लिए आगे आता है, अथवा अपनी कथा के किसी वक्ता द्वारा उस के संबंध में वक्तव्य दिलाता है, तो वह भी—यदि अधिक नहीं तो—उतना ही क्रूर पाया जाता है।

दशरथ इस प्रकार कहते हैं :

'कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास ॥

(मानस, अयोध्या० २९)

अयोध्यानिवासी इस प्रकार कहते हैं :

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई।
काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जगु कालु न खाइ ॥

(मानस, अयोध्या० ४७)

भरत इस प्रकार कहते हैं :

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।

(मानस, अयोध्या० १६२)

और रावण इस प्रकार कहता है :

नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया।

(मानस, लंका० १६)

कैकेयी स्वतः नारी होते हुए कहती है :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातुमुसुकानि॥

(मानस, अयोध्या० १४)

तपस्विनी अनुसूया भी नारी होते हुए कहती है :

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।

(मानस, अरण्य० ५)

और तपस्विनी शबरी भी नारी होते हुए कहती है :

अधम ते अधम अधम अति नारी।

(मानस, अरण्य० ३५)

समुद्र तो नारी-जाति को ढोल और पशुओ की कोटि में स्थान देता है, और उसे ताड़ना की अधिकारिणी बताता है :

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।

(मानस, सुंदर० ५९)

राम स्वतः लक्ष्मण से कहते हैं :

लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।

एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी।

(मानस, अरण्य० ३८)

और नारद से कहते हैं :

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।

तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपीनारि॥

अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।

ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥

(क्रमशः मानस, अरण्य० ४३,४४)

और पुनः लक्ष्मण से कहते हैं :

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।

राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३७)

मथरा के भावनाट्य के लिए कवि स्वतः 'तिय माया' शब्द का प्रयोग करता है :

दीन वचन कह बहु बिधि रानी। तव कुबरी तिय माया ठानी।

(मानस, अयोध्या० २१)

और इसी प्रकार कैकेयी के प्रणय कोपाभिनय के लिए 'नारि चरित' शब्द का प्रयोग करता है :

जद्यपि नीति निपुन नर नाहू। नारिचरित जलनिधि अवगाहू।

(मानस, अयोध्या० २७)

किंतु अभी तक उद्धृत शब्दावली शूर्पणखा के प्रणय-प्रस्ताव के संबंध में प्रयुक्त शब्दावली के सामने कुछ भी नहीं है। कितना अन्यायपूर्ण और अशोभन है निम्नलिखित विचार :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।

होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।

(मानस, अरण्य० १७)

आशा है कि नारी के प्रति हमारी कवि की अनुदारता का परिचय उपर्युक्त

उद्धरणों से भली भाँति प्राप्त हो गया होगा। इस में संदेह नहीं कि तुलसीदास नारी-भर्त्सना मे अकेले न थे किंतु यह बात उन के पक्ष को किसी प्रकार न्यायोचित नही बना सकती। मुझे सब से अधिक दुःख होता है उन के उपर्युक्त अंतिम वक्तव्य पर जिस का प्रतिस्पर्धी मुझे किसी अन्य संत की रचना में अभी तक नही मिला।

भाव-चित्रण

४०. हमारे महाकवि का कौशल एक और क्षेत्र मे भी असाधारण रूप में प्रस्फुटित हुआ है, वह क्षेत्र है भावों और मनोवेगों का। जितनी सफलता पूर्वक हमारे कवि ने विभिन्न कक्षा, तीव्रता, और वेग के भावों और मनोवेगों का चित्रण किया है वह एक महाकवि के अनुरूप ही है। अतः आने वाले कतिपय पृष्ठों में हम इसी महत्वपूर्ण विषय का अध्ययन करेंगे। इस प्रसंग में हम महाकवि की समस्त रचनाओं मे से सब से अधिक सफल चित्रों को ले कर उन के विश्लेषण का प्रयत्न कर सकते हैं, और सुविधा के लिए उन भाव-चित्रो को उन की सजातीयता के आधार पर विभिन्न समूहों में रख सकते हैं।

४१. 'रति' तथा सजातीय भाव : नायक तथा नायिका के प्रणय का सूत्र-पात वाटिका-विहार प्रकरण में होता है। 'मानस' में नायक के 'गुण-श्रवण' पर नायिका के चित्त मे उस के दर्शनों की 'लालसा' उत्पन्न होती है। इस 'लालसा' को कवि ने 'आकुलता' द्वारा उत्कट बना दिया है :

तासु वचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन 'अकुलाने'।

(मानस, वाल० २२९)

निरे 'औत्सुक्य' से कदाचित् यह एक भिन्न कक्षा का भाव है। इस के पीछे संभवतः 'पूर्वानुराग' की कुछ और स्थितियाँ छिपी हुई हैं।

इस से किंचित कोमल 'औत्सुक्य' नायक में भी नायिका के बजने वाले आभूषणो की ध्वनि से उत्पन्न किया जाता है, यद्यपि भारतीय काव्यों का नायक 'धीर' हुआ करता है, कदाचित् इस लिए 'आकुलता' का 'समावेश' उस के संबंध मे नहीं किया जाता है :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। 'मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही'।

(मानस, वाल० २३०)

इस 'औत्सुक्य' में 'रति' का भाव अप्रस्तुत मे लाई गई ध्वनि द्वारा कितनी विचित्रता के साथ उपस्थित किया गया है यह ध्यान देने योग्य है।

एक प्रकार की 'जड़ता' का भाव इस कल्पना के अनतर ही राम मे सीता के दर्शन द्वारा उपस्थित होता है :

भए बिलोचन चारु 'अचंचल'। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।

(मानस, बाल० २३०)

सीता मे भी इसी प्रकार की 'जड़ता' का भाव राम के प्रथम दर्शन के समय उपस्थित किया जाता है :

थके नयन रघुपति छबि देखें। 'पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें'।

(मानस, बाल० २३२)

और तदनतर :

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।

(मानस, बाल० २३०)

के द्वारा उस 'जड़ता' के मूल मे 'रति' की व्यापकता का निर्देश किया जाता है।

भावों की इस स्थिति के अनतर नायिका मे 'अवहित्था' का संचार दिखाया जाता है :

देखन मिस मृग बिहंग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

(मानस, बाल० २३४)

इस प्रकार की 'अवहित्था' के दर्शन नायिका मे कदाचित् हमे पुनः धनुर्यज्ञ प्रकरण मे होते हैं :

मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई।
गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥

(मानस, बाल० २४८)

धनुष तोड़ने के लिए रगमंच पर नायक के आने के क्षण से ले कर धनुर्भंग तक नायिका के हृदय मे उठने वाले भावों और मनोवेगो को कवि ने धनुर्यज्ञ प्रकरण में वर्णन का प्रधान लक्ष्य बनाया है, और इन 'रति'-जनित भावों और मनोवेगों मे व्याप्त 'अधीरता' का उत्तरोत्तर विकास कवि ने बड़े ही कौशल पूर्वक चित्रित किया है। परीक्षा में नायक की असफलता की शंका और

परिणाम-स्वरूप इष्ट की प्राप्ति मे 'असंभावना' की 'आशका' के कारण नायिका में 'चपलता' के लक्षण दिखाई पड़ते हैं :

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति 'जेहि तेही'।

(मानस, बाल० २५७)

'आकुलता' भी उस की स्पष्ट है :

मन ही मन मनाव 'अकुलानी'। होहु प्रसन्न महेस भवानी।

(मानस, बाल० २५७)

नायक के सौंदर्य की अनुभूति से—क्यो कि सौंदर्य और 'रति' का बहुत-कुछ अन्योन्याश्र सबंध है—नायिका कभी अपने पिता पर खीजती है, और कभी उन के परामर्श दाताओं पर, और परीक्षा की कठोरता पर विचार करते हुए 'अधीरता' का पर्याप्त कारण पाती है :

नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि 'बहुरि मनु छोभा'।
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।
बिधि 'केहि भाँति धरौं उर धीरा'। सिरस सुमन कत बेधिय हीरा।

(मानस, बाल० २५८)

नायिका की यह 'अधीरता' धीरे-धीरे उस को इतना व्यथित कर देती है कि यदि समाज का संकोच न होता तो वह सस्वर रुदन करने लगती, किंतु दूसरे ही क्षण उसे अपनी इस 'व्याकुलता' पर लज्जा आती है और वह सँभल जाती है :

'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी'। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसें परम कृपन कर सोना।
सकुची 'व्याकुलता बड़ि' जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी।

(मानस, बाल० २५९)

इस के अनंतर उस में 'मति' का आगमन होता है और वह इस प्रकार 'निश्चय' करती है :

तन मन बचन मोर पनु साँचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।
तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी।
जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ 'न कछु संदेहू'।

(मानस, बाल० २५९)

किंतु फिर भी 'रति'-जनित यह 'व्याकुलता' उस का पीछा नहीं छोड़ती, क्यों कि नायक जब उस को देखता है तो उस को उसी मानसिक स्थिति में पाता है :

देखी 'बिपुल बिकल' बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही।
तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा।
का बरषा जब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें।
अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।

(मानस, बाल० २६१)

इस स्थिति का अंत धनुर्भंगद्वारा होता है और तब नायिका 'सुख' की स्थिति को प्राप्त होती है :

सीय 'सुखहिं' बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।

(मानस, बाल० २६३)

अभीष्ट वर की प्राप्ति पर 'हर्षातिरेक' के साथ जयमाल पहनाने के लिए नायक के सन्निकर्ष को प्राप्त नायिका अपने गूढ़ 'रति' के कारण जिस प्रकार नायक के अलौकिक सौंदर्य से प्रभावित होती है उस का परिचय कवि पुनः 'जड़ता' के आविर्भाव द्वारा करता है :

तन सकोचु मन 'परम उछाहू'। 'गूढ़ प्रेम' लखि परइ न काहू।
जाइ समीप राम छबि देखी। 'रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी'।

(मानस, बाल० २६४)

विरह-जनित 'उन्माद' का जो चित्रण कवि ने सीता-हरण के अनन्तर राम के आश्रम लौटने पर किया है वह बहुत यथातथ्य हुआ है। फलतः इस में आश्चर्य ही क्या है यदि उस 'उन्माद' के कारण अपनी संकटपूर्ण परिस्थिति में हमारे नायक को प्रकृति कभी उस का क्रूर उपहास करती हुई दिखाई पड़ती है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरपे सकल पाइ जनु राजू।

(मानस, अरण्य० ३०)

अथवा कभी कोई व्यङ्ग्यपूर्ण कथन करती हुई ज्ञात होती है :

नारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए।

(मानस, अरण्य० ३७)

अथवा कभी कोई नीतिपूर्ण उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती है :

संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहिं सिखावन देहीं।
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं।

(मानस, अरण्य० ३८)

हनुमान ने लंका से लौटने पर राम को विरहातुरा सीता का जो 'प्रणय-संदेश' सुनाया है उसे 'दैन्य' और 'विषाद' के भावों ने अत्यत मर्मस्पर्शी बना दिया है :

नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। 'दीनबंधु' 'प्रनतारतिहरना'।
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह प्रयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी।

(मानस, सुंदर० ३१)

कवि की अन्य कृतियों में 'रति' तथा उस के सहकारी भावों का जिन स्थलों पर विशेष रूप से चित्रण हुआ है उन में से एक 'जानकी मंगल' में जानकी द्वारा जयमाल पहनाए जाने का स्थल है। उस स्थान पर 'रति' के आकर्षण और 'व्रीड़ा' की बाधा का चित्रण एक कल्पना-द्वारा सुंदर ढंग पर हुआ है :

सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ॥
लसत ललित कर कमल माल पहिरावत।
काम फंद जनु चंदहिं बनज फँदावत॥

(जा० मं० १२१-२२)

दांपत्य 'रति' का एक अत्यंत उत्कृष्ट और पूर्ण चित्र कवि ने 'गीतावली' में निर्वासित दंपति के चित्रकूट की एक 'झाँकी' मे उपस्थित किया है, भावना की कोमलता उस मे दर्शनीय है :

फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छबि बितान की ।
मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग बिहग भोर
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की ।
मधुकर पिक बरहि मुखर सुंदर गिरि निर्झर झर
जलकन घन छाँह छन प्रभा न भान की ।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिविध बाउ
जनु बिहारबाटिका नृप पंचबान की ।
विरचित तहँ पर्नसाल अति बिचित्र लषन लाल
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी ।
निजकर राजीवनयन पल्लवदल रचित सयन
प्यास परसपर 'पियूष' प्रेम पान की ।
सिय अँग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग
तिलक करनि का कहौं कृपानिधान की ।
माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसिदास
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥

(गीता०, अयोध्या० ४४)

आपत्ति से सरस 'स्नेह' का एक चित्र 'कवितावली' में बड़ा सफल हुआ है :

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ।
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाह को 'नेह' लख्यौ पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े ॥

(कविता०, अयोध्या० १२)

'रामलला नहछू'[1] तथा 'बरवै' की[2] अमर्यादित शृंगारिकता कुछ एक

[1] उदाहरणार्थ : रा० ल० न० ७–८ [2] उदाहरणार्थ : बरवै० ४, १६, १८

भिन्न कोटि की है, विशेष रूप से 'रामलला नहछू' की, जिस के संबंध में विश्वास नहीं होता कि वह हमारे ही कवि की कल्पना से प्रसूत है; इस लिए उन में चित्रित 'रति' तथा सजातीय भावों का विवेचन करने की आवश्यकता यहाँ पर न होगी।

४२. 'हास' तथा सजातीय भाव : हमारे कवि ने नारद-मोह प्रकरण में श्लेष की सहायता से एक मार्मिक 'हास' प्रस्तुत किया है। परिहास "हित" शब्द में निहित है, जिस का प्रयोग नारद एक अर्थ में करते हैं और विष्णु उस से कुछ भिन्न अर्थ में करते हैं। जब नारद कहते हैं :

जेहि बिधि नाथ होइ 'हित' मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥

(मानस, बाल० १३२)

वे "हित" शब्द का प्रयोग 'उद्देश्य-पूर्ति' के अभिप्राय से करते हैं। परंतु उसी शब्द का प्रयोग जब विष्णु अपने उत्तर में करते हैं :

जेहि बिधि होइहि परम 'हित' नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु मृषा न बचन हमार॥

(मानस, बाल० १३२)

वे उस का प्रयोग 'चरम कल्याण' के आशय में करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह दूसरा अभिप्राय ही हास्यास्पद स्थिति का मुख्य कारण है। दुःख यही है कि कवि वहीं नहीं रुक जाता, वह "हित" शब्द के प्रयोग को स्पष्ट करने के लिये अग्रसर होता है :

कुपथ माँग रुजब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी।
एहि बिधि 'हित' तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ।

(मानस, बाल० १३३)

और इस विदग्ध परिहास का सब सौंदर्य दूर कर देता है, क्योंकि नारद मूर्ख या विक्षिप्त न होते तो अब तक उन्हों ने समझ लिया होता कि विष्णु 'हित' शब्द का प्रयोग उन के अर्थ से एक बिल्कुल भिन्न अर्थ में कर रहे हैं।

एक ऐसी ही उक्ति का प्रयोग कवि और करता है जब उसी प्रकरण में शिव के गणों को वह मुनि का उपहास करने के लिये उपस्थित करता है। व्यंग्य "हरि" शब्द के प्रयोग में निहित है जो उस के इस वाक्य में व्यवहृत होता है :

रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि 'हरि' जानि बिसेषी।

(मानस, बाल० १३४)

रुद्रगण "हरि" शब्द का प्रयोग 'बंदर' के अर्थ में करते हैं, पर नारद उसे 'विष्णु' के अर्थ में लेते हैं।

एक अन्य सुंदर 'परिहास' का उदाहरण हमें शिव-विवाह-प्रकरण में मिलता है जब कवि केवल व्यंग्य के द्वारा उसे उपस्थित करता है; यह भी संयोग से विष्णु की विनोद-प्रियता का आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है :

बिष्नु कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज॥
'बर अनुहारि' बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई।

(मानस, बाल० ९२-९३)

"वर अनुहारि" में शिष्टता की पूरी रक्षा की गई है, क्योंकि "वर अनुहारि" का आशय यह तो हो ही सकता है कि "बारात उतनी सुंदर नहीं है जितना दूलह है", साथ ही यह भी हो सकता है "वह इतनी असुंदर नहीं जितना कि दूलह" फलतः यहाँ पर एक कलापूर्ण 'परिहास' का निर्वाह कवि ने किया है।

वन-यात्रा के समय गंगा पार कराते हुए केवट और राम के संवाद में कवि ने जिस 'हास' को स्थान दिया है वह भी उच्च कोटि का है, और कवि ने कलात्मक ढंग से उस का भी निर्वाह किया है :

माँगी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना।
चरन कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई।
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
एहिं प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू।
जौ प्रभु अवसि पार गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू।
पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं।
सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
'बिहसे' करुनाऐन निरखि जानकी लखन तन॥

(मानस, अयोध्या० १००)

हमारे कवि ने हास्य का प्रयोग परशुराम-गर्व-हरण प्रकरण में भी किया है;[1] परंतु जिस हास्य का वहाँ प्रयोग हुआ है वह बहुत ही निम्न कोटि का है और उस की भी अति हो गई है। वहाँ पर कवि ने 'परिहास' का आयोजन परशुराम का अपमान करने के लिए किया है :

सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहि 'अपमाने'।

(मानस, बाल० २७१)

इस लिए कवि की अनुदारता ने कला का आदर्श उपस्थिति होने में स्वतः बाधा पहुँचाई है। पुनः वह परशुराम को एक अत्यंत चिड़चड़े स्वभाव के, कर्कश, वृद्ध ब्राह्मण के रूप में और लक्ष्मण को एक निनात नटखट लड़के के रूप में, जो दूसरे का अपमान और मानहानि करने पर तुला हुआ है, चित्रित किया है। यह समस्त आयोजन औचित्य और शालीनता के प्रतिकूल है। इस लिए कदाचित् वह नैसर्गिक आनद भी प्रदान नहीं कर सकता है जो प्रत्येक सुंदर परिहास शिष्ट लोगों को प्रदान करता है।

अंगद-रावण-संवाद में ध्वनिकाव्य का आश्रय लेकर कवि ने हास्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु रावण-पक्ष में कवि की अनुदारता, अपवादों की क्रूरता और अपमानात्मक सबो-धनों ने कलात्मक प्रभाव की सृष्टि में एक चित्य परिमाण में बाधा पहुँचाई है इस लिए उस के संबध मे भी यहाँ पर विचार करने की आवश्यकता नही है।

कवि के अन्य ग्रंथों में से केवल 'कवितावली' 'हास' का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती है; और वह वन-यात्रा के समय गंगा-पार कराते हुए केवट और राम के संवाद में। 'भक्ति' और 'हास' ऐसे दो साधारणतः परस्पर विरोधी भावों का सामंजस्य कवि ने इन छंदों में कितने सुदर ढंग पर किया है, यथा :

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू।
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढाइहौं जू॥

[1] मानस, बाल० २६८—२८४

पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे
केवट की जाति कछू बेद ना पढ़ाइहौ।
सब परिवार मेरो याही लागि राजा जू .
हौं दीन बित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौ।
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी
प्रभु सों निषाद ह्वै कै बाद ना बढाइहौ।
तुलसी के ईस राम रावरे सों साँची कहौ
बिना पग धोए नाथ नाव ना चढाइहौ॥

(क्रमशः कविता०, अयोध्या० ६, ८)

४३. 'शोक' तथा सजातीय भाव: कवि एक सकरुण चित्र उस समय अंकित करता है जब वह कैकेयी द्वारा उस के दोनों वरदानों के प्रकट किए जाने पर राजा की दशा का वर्णन करता है; सहवर्ती सात्विक अनुभावों 'स्तंभ', 'स्वर-भंग', और 'वैवर्ण्य' के समावेश से यह चित्र और भी पूर्ण बन जाता है:

सुनि मृदु बचन भूप हियँ 'सोकू'। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू।
'गयउ सहमि' 'नहिं कछु कहि आवा'। जनु सचान बन झपटेउ लावा।
'बिबरन भयउ' निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरुतालू।
माथें हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।

(मानस, अयोध्या० २९)

एक ऐसा ही चित्र पुनः कवि द्वारा उस समय प्रस्तुत किया जाता है जब उस वरदान को वापस करने की प्रार्थना पर जिस का संबंध राम के वनवास से था राजा की असफलता का वर्णन करता हैं; यह भी सात्विक अनुभावों, 'प्रलय' और 'स्वर-भंग' के समावेश द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुआ है:

ब्याकुल राउ 'सिथिल सब गाता'। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।
'कंठु सूख' 'मुख आव न बानी'। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी।

(मानस, अयोध्या० ३५)

फिर एक ऐसे ही चित्र का उद्घाटन कवि द्वारा उस समय होता है जब वह राजा की उस दयनीय दशा का चित्रण करता है जिस में राम उन्हें पाते हैं; यह चित्र 'प्रलय', 'संज्वर', और 'मरण' के समावेश से पूर्ण बन गया है:

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
'सहमि परेउ' लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥

सूखहिं अधर 'जरइ सबु अंगू'। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू।
सरुप समीप दीखि कैकेई। मानहु 'मीचु' घरीं गनि लेई।

(मानस, अयोध्या० ३९-४०)

अपने पुत्र द्वारा उस के निर्वासन का समाचार सुन कर कौशल्या के मातृ-हृदय को जो आघात पहुँचता है उस का भी चित्रण सुंदर हुआ है; वह 'स्तंभ', 'प्रलय', 'अश्रु', और 'वेपथु' के समावेश से पूर्ण बन गया है :

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके।
'सहमि सूखि' सुनि सीतल बानी। जिमि जवास परें पावस पानी।
कहि न जाइ कछु हृदय 'बिषादू'। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
'नयन सजल' 'तन थर थर काँपी'। माँजहिं खाइ मीन जनु माँपी।

(मानस, अयोध्या० ५४)

फिर, उस के वे शब्द भी जिन में वह अपने पुत्र को बन जाने की आज्ञा देती है अत्यंत करुण हैं :

जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ।
सब कर आजु सुकृतफल बीता। भयउ कराल कालु बिपरीता।
बहु बिधि 'बिलपि' चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी।
दारुन 'दुसह दाहु' उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा।

(मानस, अयोध्या० ५७)

और भी करुण तो उस का जानकी को रखने का प्रयत्न है :

जौं सिय भवन रहइ कहि अंबा। मोहिं कहँ होइ बहुत अवलंबा।

(मानस, अयोध्या० ६०)

इसी प्रकार करुण हैं उस के वे शब्द जिन के द्वारा वे राम को बिदा देती हैं :

बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई।
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहौं नयन मनोहर जोरी।
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि।
बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ हरषि निरखिहौं गात॥

(मानस, अयोध्या० ६८)

परंतु उस चित्र से अधिक यथातथ्य और करुण कदाचित् ही कोई होगा जो अपने दौत्य में असफल अयोध्या को वापस आते हुए सुमन्त्र के

'शोकोद्वेग' का चित्रण करता है :

'लोचन सजल' 'डीठि भइ थोरी'। 'सुनइ न श्रवन' बिकल मति भोरी।
'सूखहिं अधर' 'लागि मुँह लाटी'। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।
'बिबरन भयउ न जाइ निहारी'। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पंथ सोच जिमि पापी।
बचनु न आव हृदयँ पछिताई। अवध काह मैं देखव जाई।...
'हृदय न बिदरेउ' पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥

(मानस, अयोध्या० १४५–४६)

इस संबध मे हम 'शोक' के अनुवर्ती सात्विक अनुभावों के उस वर्णन को भी देख सकते हैं जो प्रायः वैज्ञानिको द्वारा दिया जाता है। वे कहते हैं कि 'शोक' में चित्त में स्थित विषय समस्त दैहिक शक्तियों का शोषण कर लेता है, शरीर की सुध-बुध नहीं रहती, जैसे वह प्राण-विहीन हो गया हो, वह झुक जाता है, अंग-प्रत्यंग विलम्बित हो जाते हैं, वे शक्तिहीन और ढीले हो जाते हैं. शोकाक्रांत व्यक्ति श्वास कष्टपूर्वक ले पाता है, थोड़ी-थोड़ी देर पर दीर्घ निःश्वास, आता है और ग्रीवा और कंठ आक्षिप्त हो जाते हैं, ओष्ठ फूल जाते हैं और काँपने लगते हैं, और मुखाकृति अत्यंत पीली हो जाती है, और वीच-वीच मे जब व्यथा लौटती है समस्त शरीर में आक्षेप दम घुटने के आवेग के समान व्याप्त हो जाता है। इन लक्षणों को हमारे कवि ने सुमंत्र की व्यथा-व्यंजना मे कैसे सागोपाग रूप से समाविष्ट किया है!

दशरथ की उस दशा का चित्रण भी जिस में वापस आने पर सुमंत्र उन्हें पाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि उस से कुछ कम विशद रूप मे कवि द्वारा इस प्रकार चित्रित किया गया है :

जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। 'अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा'।
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना।
'लेइ उसासु' सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती।
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती।

(मानस, अयोध्या० १४८)

सुमंत्र द्वारा लाए गए संदेश का प्रभाव किंतु बड़ा ही करुण चित्रित हुआ है :

सूत बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर 'दारुन दाहू'।

'तलफत' बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा।...
'प्रान कंठगत भयेउ' भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।
'इंद्री सकल बिकल भइँ भारी'। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी।
कौसल्याँ नृपु दीख 'मलाना'। रबिकुल रबि अँथएउ जियँ जाना।

(मानस, अयोध्या० १५३-१५४)

अपने पुत्र के वनवास और पति की मृत्यु पर कौशल्या की 'पुत्र-विरह-व्यथा' जो भरत से, जब वह अपने मामा के घर से लौट कर आते हैं, मिलते समय फूट पड़ी है, वह अपने ढंग की अकेली ही है। इस में जितना अभिव्यंजन-गांभीर्य है उतना ही भाव-गुरुत्व भी है :

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी 'झइँ आई'।...
मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति 'बारि'॥...
भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। 'सोकु' 'सनेहु' न हृदय समाई।...
मातँ भरतु गोद बैठारे। आँसु पोछि मृदु बचन उचारे।...
राम लषन सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग 'न प्रान पठाए'।
यहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगें। तउ 'न तजा तनु जीव अभागें'।
मोहिं न लाज निज 'नेहु' निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी।
जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना।

(मानस, अयोध्या० १६४-६६)

चित्रकूट के आश्रम में जनक-समाज के प्रवेश-समय की विषाद-निमग्न भाव-दशा को भी कवि ने सुंदर ढंग से उपस्थित किया है, यद्यपि रूपक के विस्तार के कारण प्रभाव की तीव्रता में कदाचित् कुछ कमी आ गई है :

आस्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ 'करुना' सरित लिएँ जाहिं रघुनाथ॥
बोरति ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुबर कर भंगा।
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा।
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा।
बनचर कोल किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे।

आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई।

(मानस, अयोध्या० २७६)

वह 'उन्माद' जिसे कवि ने राम में अपनी प्रियतमा से वियुक्त होने पर चित्रित किया है पुनः एक अत्यंत सकरुण चित्र उपस्थित करता है। 'रति' और सजातीय भावों के प्रसग मे ऊपर हम उस पर विचार कर चुके हैं[1] इस लिए पुनः उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम के विलाप में[2] कुछ भूलें करा कर 'विषाद' की एक तीव्र और स्वाभाविक व्यजना की गई है, किंतु उस के लिए हमारा कवि अंशतः वाल्मीकि का ऋणी है इसलिए यहाँ हम उसे छोड़ सकते हैं।[3]

'गीतावली' मे पुत्र-विरह सबधी कौशल्या शोकोद्गार[4] अपूर्व सफलता के साथ व्यक्त हुए हैं, और इन में से भी उस की समता जिन मे उस के 'उन्माद' का चित्रण है बहुत कम स्थल कर सकेंगे :

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ।
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे।
उठहु तात बलि मातु बदन पर अनुज सखा सब द्वारे।
कबहुँ कहति यों बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ भैया।
बंधु बोलि जेइय जो भावै गई निछावरि मैया।
कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसीदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी॥

(गीता०, अयोध्या० ५२)

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विलाप 'गीतावली' में भी कवि द्वारा पर्याप्त तन्मयता के साथ लिखा गया है :

मो पै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लषन सो भाई।
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।

[1] देखिए ऊपर पृ० ३०५

[2] मानस, लंका० ६१

[3] वा० रा०, युद्ध० (१०१) १४–२२

[4] गीता०, अयोध्या० ५१–५५, वही ८४–८७, लंका० १७–१८

ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौं न प्रान पठाई ।
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई ।
सुमिरि सनेह सुमित्रासुत को दरकि दरार न जाई ।
तातमरन तियहरन गीधबध भुज दाहिनी गँवाई ।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई ॥

(गीता०, लंका० ६)

अंत मे फिर 'गीतावली' मे करुण रस की बड़ी सफल व्यंजना उस समय हुई है जब कवि सीता-निर्वासन का वर्णन करता है;[1] लक्ष्मण से उन के वार्तालाप को, जो उन्हें वन मे छोड़ने के लिए उस के साथ जाते हैं, कवि ने इतना करुणापूर्ण बना दिया है कि कठोर से कठोर हृदय के व्यक्ति के नेत्रों से भी अश्रु निकल पड़ेंगे। किंतु उस पर 'रघुवंश' की छाया स्पष्ट है,[2] इस लिए और अधिक उस के संबंध मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है।

४४. 'क्रोध' तथा सजातीय भाव : क्रोध का एक चित्ताकर्षक चित्र कवि परशुराम में चित्रित करता है जब वे वीर वेष में जनकपुर की राज सभा में उपस्थित होते हैं।[3] लक्ष्मण-परशुराम-संवाद में[4] कवि ने 'क्रोध' की कई कोटियों 'कोप', 'संताप', 'अमर्ष', 'प्रतिहिंसा' आदि, का विकास किया है, परतु चित्रण में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[5] अस्वाभाविकता की मात्रा लक्षित होती है क्यों कि यह बिल्कुल असगत प्रतीत होता है कि परशुराम और लक्ष्मण के समान दो उग्र 'स्वभाव' के व्यक्ति इतने समय तक बिना द्वंद-युद्ध किए केवल शब्दों के युद्ध में ही लगे रहें, इस लिए उस पर अधिक विचार करना ठीक न होगा।

'क्रोध' का दूसरा ध्यान देने योग्य चित्र कवि द्वारा कैकेयी के 'कोप' में उपस्थित हुआ है जब दशरथ उसे उस के दोनों वर प्रदान करने में कुछ पिछड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।[6] वर्णन दो उत्कृष्ट रूपकों द्वारा पूर्ण बनाया गया है, किंतु अलंकार-प्राधान्य से भाव की तीव्रता कुछ मंद हो गई है, इस लिए यहाँ पर उस के संबंध में भी विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

१ गीता०, उत्तर० २८-३२
२ रघुवंश, सर्ग १४
३ मानस, बाल० २६८
४ वही २६९-८३
५ देखिए ऊपर पृ० २८२
६ मानस, अयोध्या० ३१-३४

४५. 'उत्साह' तथा सजातीय भाव : 'अमर्ष' अर्थात् असत के प्रति रोष के उत्कृष्ट उदाहरण 'मानस' में लक्ष्मण के अनेक भाषणों द्वारा प्रस्तुत हुए हैं, विशेष कर के उस भाषण द्वारा जो भरत के चित्रकूट-आगमन का समाचार पाने पर वह देते हैं।[1] दूसरे के उस आचरण के प्रति जिस को कि वह अनुचित समझता है अविकार प्रकट करना एक दुर्बलता है जो उस व्यक्ति को उस अपराध का भागी बना देती है। अतएव 'अमर्ष' एक ऐसा सद्भाव है जो कि समाज की केवल अधर्म से रक्षा ही नहीं करता है वरन् उस के धर्माचरण में भी सहायक होता है :

एतना कहत नीति रस भूला। 'रन रस' बिटपु पुलक मिस फूला।
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी।
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचरा न थोरा।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें।
छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जग जान।
लातहुँ मारें चढति सिर नीच को धूरि समान॥
उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ 'बीर रस' सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ।
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ 'मारउँ रन' राम दोहाई।

(मानस, अयोध्या० २३०)

इसी प्रकार, भरतागमन के समाचार पर निषादराज के व्याख्यान में भी उसी भव्य भाव की व्यंजना हुई है।[2] उस में ऐसा 'शौर्य' प्रकट होता है जिस की उदात्तता के विषय में अत्युक्ति होना कठिन है :

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। 'ठाटहु सकल मरइ के ठाटा'।
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। 'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ'।

[1] मानस, अयोध्या० २२७-३०   [2] वही १८९-९१

'समर मरनु' पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा।
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़ें भाग अस पाइअ 'मीचू'।
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। 'जस धवलिहउँ' भुवन दस चारी।
'तजउँ प्रान' रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें।...
भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहिं।
सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहिं॥
राम प्रताप नाथ बल तोरें। करहिं कटक बिनु भट बिनु घोरें।
'जीवत पाउ न पाछे धरहीं'। रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं।
दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।

(मानस, अयोध्या० १९०-९२)

'उत्साह' का जो भाव वर्षा ऋतु के बीत जाने पर किष्किंधा में राम को उत्तेजित करता है, उस मे सन्निहित पुरुषार्थ की भावना दर्शनीय है:

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं।
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई।

(मानस, किष्किंधा० १८)

पूरा अंगद-रावण संवाद[1] वीररस के वाक्यो से भरा हुआ है। औदार्य या भाषण की शिष्टता के प्रश्न को अलग छोड़ देने पर, वह आत्म-प्रदर्शन और आत्म-प्रतिपादन का सुदर दृष्टात है जो वीरता की मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

युद्ध के दूसरे दिन रणक्षेत्र में प्रवेश करते समय जिन शब्दों मे मेघनाद अपने शत्रु को सबोधित करता है[2] वे वीर दर्प से गर्भित हैं, और उन से भी अधिक हैं रावण के ये क्रोधपूर्ण शब्द जिन के द्वारा वह अपने वीर पुत्र मेघनाद के वध के उपरात युद्ध भूमि मे प्रवेश करते समय राम को ललकारता है:

तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत सन्मुख आवा।
जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं।
रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना।
खर दूषन बिराध तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा।
निसिचर निकर सुभट संघारेहु। कुंभकरन घननादहि मारेहु।
आजु बयरु सबु लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाही।

[1] मानस, लंका० २०-३५ [2] वही ५०

आजु करौ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले।

(मानस, लंका० १०)

रावण की सभा मे अंगद का पादारोपण 'कवितावली' मे 'उत्साह' का अच्छा परिचय देता है :

रोप्यों पाँव पैज कै बिचारि रघुबीर बल
लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु है।
तज्यो धीर धरनि धरनिधर धसकत
धराधर धरि भार सहि न सकतु है।
महाबली बालि को दबत दलकतु भूमि
तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठि घठा परो मंदर को
आयो सोई काम पै करेजो कसकतु है॥

(कविता०, लंका० १६)

'कवितावली' के अंतर्गत हनुमान का युद्ध भी वीरता-प्रदर्शन का एक उत्कृष्ट वर्णन उपस्थित करता है, उदाहरणार्थ :

मत्तभट मुकुट दसकंध साहस सइल
सृंग बिद्दरनि जनु बज्र टाँकी।
दसनि धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ
सेष संकुचित संकित पिनाकी।
चलित महि मेरु उच्छलित सायर सकल
बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी॥

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सौं बाजि मर्दि गजराज करक्खत।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बरि बारिद जिमि गज्जत।
लँगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्धक्रुद्ध कौतुक करत॥

(क्रमशः कविता० लंका० ४४, ४७,

४६. 'भय' तथा सजातीय भाव : कवि कैकेयी को एक महान् अनिष्ट की 'आशंका' से 'कंपित' दिखाता है जब वह मंथरा के द्वारा सुझाये हुए रामराज्य कि भयंकर परिणामों का चित्र अपने मस्तिष्क मे खीचती है। यह भाव-चित्रण यद्यपि संक्षेप मे हुआ है फिर भी कवि ने इसे 'स्वर-भग', 'स्तभ', 'प्रस्वेद', 'वेपथु' और 'वैवर्ण्य' जैसे सात्विक अनुभावो की सहायता से सुंदर बना दिया है :

कैकेयसुता सुनत कटु बानी। 'कहि न सकइ कछु' 'सहमि' 'सुखानी'।
'तन पसेउ' कदली जिमि 'काँपी'। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी।

(मानस, अयोध्या० २०)

वैज्ञानिको द्वारा वर्णित 'भयातिरेक' के सात्विक अनुभावों का परिचय यहाँ कदाचित् रुचिकर होगा। वे कहते है कि इस भाव के आवेश में श्वास स्वल्प पर वेगवती हो जाती है, ओष्ठों मे विक्षेप और कपोलो में प्रकंप होता है, गला फूलता और आक्षिप्त होता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, और तो भी मुख और कपोल विवर्ण रहते हैं, त्वचा से प्रस्वेद निकलता है, रोम खड़े हो जाते हैं, स्नायुमंडल दहल जाता है, मुख सूख जाता है और प्रायः स्वर भंग हो जाता है। यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि हमारे कवि ने अपने वर्णन में इन मे से अनेक लक्षणो को प्रकट किया है।

कवि द्वारा 'कवितावली' के लंका दाह के वर्णन में 'आकस्मिकभय' का दृश्य भी बड़ी ही सफलता पूर्वक चित्रित हुआ है। उदाहरणार्थ :

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनी कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
कानन उजार्‌यौ अब नगर प्रजारी है॥

बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति
पवँरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अर्ध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।

मूंदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढो
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए।
लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखाओ मानो
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

(क्रमशः कविता० सुदर ५, १७)

४७. 'जुगुप्सा' तथा सजातीय भाव : 'जुगुप्सा' का एक प्रकार का भाव अपने मामा के यहाँ से लौटने के पश्चात् भरत द्वारा की हुई अपनी माँ की भर्त्सना में देखा जा सकता है :

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।
भूँप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुनखानी।
जो हसि सो हसि मुह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई।

(मानस, अयोध्या० १६२)

युद्ध-वर्णन में भी एकाध स्थल पर 'जुगुप्सा' का भाव देखा जा सकता है :

धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रहलादपति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं।
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन तें कुलिस कर कुलिस तें तृन कर सही॥

(मानस, लका० ८१)

४८. 'निर्वेद' तथा सजातीय भाव : कवि अयोध्यावासियों में, जब राम को वनवास दिया जाता है, उन के विरह से उत्पन्न उत्कट 'आकुलता' से पुष्ट 'निर्वेद' का चित्रण इस प्रकार करता है :

लागति अवध 'भयावनि भारी'। मानहुँ कालराति अँधियारी।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर 'देखि न जाहीं'।
हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥
राम वियोग 'बिकल' सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥

नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग विपुल सकल नर नारी।
बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही।
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब 'ब्याकुल' 'भागी'।
सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लषन सिय बिनु 'सुखु नाहीं'।

(मानस, अयोध्या० ८३–८४)

एक अत्यंत विशद 'निर्वेद' का दृश्य कवि ने सुमंत्र में उपस्थित किया है जब वे राम को वन पहुँचा कर लौटते हैं :

सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। 'धिग जीवन रघुबीर बिहीना'।
'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू'।
'भए अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना'।
'अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका'।
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहुँ कृपन धन रासि गँवाई।
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई।

बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखें मदपान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी।
रहइ करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदयँ तिमि दारुन दाहू।

(मानस, अयोध्या० १४४-४५)

'निर्वेद' का एक उदाहरण कवि ने दशरथ में अंकित किया है जब वे अपने निरपराध पुत्र राम को युवराज-पद देने के निर्णय की घोषणा करने के पश्चात् स्वतः वनवास देने की बात का स्मरण करते हैं :

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू।
सो सुत बिछुरत 'गए न प्राना'। को पापी बड़ मोहि समाना।

(मानस, अयोध्या० १४९)

'आत्म-भर्त्सना' की एक हलकी भावना भरत में लक्षित होती है जब वे अपनी माँ के कार्यों पर तीव्र 'क्रोध' और 'ग्लानि' के भाव प्रकट कर चुकते हैं।[1] कौशल्या से मिलने के पश्चात् से तो उन के वाक्य 'आत्म-दूषण', 'आत्म-निंदा' तथा 'आत्म-ग्लानि' से भर जाते हैं :

[1] मानस, अयोध्या० १६२

केकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा।
कुल कलंकु जेहिं 'जनमेउ' मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही।
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी।
पितु सुरपुर बन रघुकुल केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू।
'धिग मोहि' भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी।

(मानस अयोध्या० १६४)

इसी प्रकार, अयोध्या की सभा में वशिष्ठ और कौशल्या के, विशेषकर कौशल्या के, उन्हें राज-मुकुट धारण करने के लिए दिए गए उपदेश के उत्तर में दिया गया उन का भाषण 'आत्म-अवमानना', 'आत्म-भर्त्सना' एवं 'पश्चात्ताप' के एक उत्कट भाव से व्यंजित है :

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनवासू।
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा।
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू।
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। 'रहे प्रान सहि जग उपहासू'।
राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे।
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहिं लही बड़ाई।
कारन तें कारज कठिन होइ दोसु नहि मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥
कैकेई भव तनु अनुरागे। 'पाँवर प्रान अघाइँ अभागे'।
जौं प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे।

(मानस, अयोध्या० १७९-८०)

यही सब भाव फिर चित्रकूट में अत्यंत मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुए हैं, वहाँ उन के सभी भाषणों के प्रमुख प्रेरक यही भाव हैं।

पापमय जीवन से 'ग्लानि' के निकट पहुँचते हुए 'पश्चात्ताप' के भाव का विकास कवि ने कैकेयी में दिखाया है जब वह चित्रकूट जाती है और दोनों भाइयों और सीता की मत्सर-हीनता देखकर प्रभावित होती है :

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाचति कैकेई। 'महि न बीचु बिधि मीचु न देई'।
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थलु नरक न लहहीं।

(मानस, अयोध्या० २५२)

'गीतावली' में कवि ने कौशल्या में चित्रकूट से लौट आने के पश्चात् 'निर्वेद' का एक उत्कट विकास किया है :

> हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
> लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्याँ कहा जात बह्यौ।
> पति सुरपुर सिय राम लषन बन मुनिव्रत भरत गह्यौ।
> 'हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यौ'।
> मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यौ।
> तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत क्यों कछु परत कह्यौ॥

(गीता० अयोध्या० ८४)

पुनः उसी रचना में कवि ने लक्ष्मण में निरपराधा सीता को वन पहुँचा कर लौटते हुए 'अनुताप' और 'पश्चात्ताप' का एक अत्यंत सुंदर विकास किया है :

> गौने मौन ही बारहि बार परि परि पाय।
> जात जनु रथ चोर कर लछिमन मगन 'पछिताय'।
> असन बिनु बन बरम बिनु रन बच्यो कठिन कुघाय।
> दुसह साँसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय।
> हेतु हौं सिय हरन को तब अबहुँ भयौं सहाय।
> होत हठि मोहिं दाहिनो दिन दैव दारुन दाय।
> तज्यो तनु संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय।
> ताहि हौं पहुँचाइ कानन चल्यौं अवध सुभाय।
> घोर हृदय कठोर करतब सृज्यो हौं बिधि बायँ।
> दास तुलसी जानि राख्यो कृपानिधि रघुराय॥

(गीता०, उत्तर० ३१)

४९. 'वात्सल्य' तथा सजातीय भाव : जब कवि सीता के अपने पिता के गृह से पति-गृह के लिए प्रस्थान का वर्णन करता है, जनक का घर एक उमड़ते हुए 'वात्सल्य' का सागर हो जाता है। केवल राज-माताएँ, सखियाँ, नगरनिवासी और जनक ही इस प्रयाण से द्रवीभूत नहीं होते किंतु वे पशु-पक्षी भी, जो उस ने विनोद के लिए पाले-पोषे थे, दुःखित दिखलाई पड़ते हैं :

> पुनि धीरजु धरि कुअँरि हकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं।
> पहुँचावहिं फिर मिलहिं बहोरी। बढ़ी परसपर 'प्रीति' न थोरी।

पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। 'बाल बच्छ जनु धेनु लवाई'।
'प्रेम' बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥
सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढाए।
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही।
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती।

(मानस, बाल० ३३७–३८)

जनक का अपनी पुत्री के प्रति 'वात्सल्य' चित्रकूट में जनक-सीता-भेंट में बड़ी सुंदरता से व्यंजित हुआ है।[1] केवल कल्पना-चमत्कार प्रधान हो जाने के कारण भाव-चमत्कार कुछ दब गया है, और चित्रण बहुत सफल नही हुआ है।

अयोध्याकाड के पूर्वार्द्ध में, जो दशरथ की मृत्यु पर समाप्त होता है, इस भव्य प्रेम के अनेक उदाहरण हैं। यहाँ उन स्थलो की ओर संकेत करना अनावश्यक है। किंतु अयोध्याकाड के उत्तरार्द्ध में 'मातृ-स्नेह' का एक उत्कट भाव कौशल्या और भरत की भेंट में, जब वह अपने मामा के गृह से लौटकर आते हैं, व्यंजित हुआ है।[2] 'वात्सल्य' का उत्कर्ष यहाँ भी उमड़ते हुए 'विषाद' के कारण है, और ऊपर हम इस का निरीक्षण कर चुके हैं।[3]

इस मृदु भाव का एक अत्यंत मंजुल दृश्य निर्वासित मंडली की चित्र-कूट की दिनचर्या के वर्णन मे मिल सकता है। भरत एवं अन्य ऐसे स्नेहियों की स्मृति जो अयोध्या मे रह गए थे राम को एक दिन व्यथित करती है, और राम के व्यथित होने पर सहानुभूति से प्रेरति लक्ष्मण और सीता उन से भी अधिक अधीर होते हैं; इस प्रसग मे राम के अपने-आप को सँभालने तथा इन स्नेहियों के चित्त को प्रफुल्लित करने के प्रयास मे इस कोमल भाव की अत्यंत सुंदर व्यंजना हुई है :

सीय लखन जेहि बिधि 'सुखु लहहीं'। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय 'अति सुखु मानी'।
जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब 'बारि बिलोचन' भरहीं।

[1] मानस, अयोध्या० २८६ [2] वही १६४–६९

[3] देखिए ऊपर पृ० ३१८

सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेहु सीलु सेवकाई।
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी।
लखि सिय लखनु 'बिकल' होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परछाहीं।
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपालु भगत उर चंदनु।
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखन अरु सीता।

(मानस, अयोध्या० १४१)

परंतु हमारे कवि की साहित्य मे जो अनुपम देन है, वह है वह 'भ्रातृ-प्रेम' जिस का विकास उस ने भरत और राम में किया है। भरत को इस 'प्रेम' की प्रतिमूर्ति बनाकर, जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं,[1] वह उस को एक अलौकिक आभा से युक्त कर देता है। शुद्ध 'भ्रातृ-प्रेम' की दृष्टि से भी इस से अधिक गहन और अधिक भव्य किसी उदाहरण की कल्पना करना कठिन है। किंतु एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी, राम और भरत के प्रेम के विस्तार की इस अलौकिकता ने लक्ष्मण और राम के प्रेम को प्रच्छन्न रूप से अपेक्षाकृत कम गहन और कम भव्य कर दिया है, यद्यपि वह वस्तुतः उस से कदाचित् ही कम गहन और भव्य था।

कवि की किसी भी कृति में मातृ-हृदय का जो विकास हुआ है वह कदाचित् ही उस तीव्रता या पूर्णता की कोटि का हो जो 'गीतावली' मे हमें मिलता है।

अपने शिशुओं के प्रति 'मातृ-स्नेह' की झलक कुछ गीतों में से जो उन के पुत्रों की शिशुता का वर्णन करते हैं[2] लगभग प्रत्येक में मिल सकती है। यथा :

किलकनि नट विचलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहर तैया।
मनि खंभन प्रतिबिंब झलक छबि छलकि है भरि अँगनैया।

(गीता० बाल० ९)

बछरु छबीलो छगन मगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाई।

(गीता० बाल० १६)

कहत मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।

(गीता० बाल० १७)

[1] देखिए ऊपर पृष्ठ २७९

[2] गीता, बाल० १-३७

वे गीत जो अपने पुत्रों के सुख और मंगल-कामना के लिए माता की 'उत्कंठा' का चित्रण करते हैं, जब वे विश्वामित्र के साथ घर से बाहर जाते हैं,[1] पुनः भाव और कल्पना की कोमलता के साथ लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ :

ऋपि नृप सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी।
सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोप सुरारी।
पठए विनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनु धारी।
'अति सनेह कातिर' माता कहै सुनि सखि बचन दुखारी।
बादि वीर जननी जीवन जग छत्रि जाति गति भारी।
जो कहिहै फिरे राम लखन घर करि मुनि मख रखवारी।
सो तुलसी प्रिय मोहिं लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी॥

(गीता०, बाल० ९७)

बन जाने की आज्ञा के लिए राम की प्रार्थना[2] पर 'गीतावली' में कौशल्या का उत्तर पुनः इसी प्रकार का 'मातृ-स्नेह' प्रकट करता है, जो 'रामचरित मानस' में आदर्शों के कारण बहुत कुछ अप्राप्य कठिन हो गया है।

निर्वासित प्राणियों का राजा से विदा लेते समय का दृश्य तो बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। उस गीत का प्रत्येक शब्द जो इस का वर्णन करता है, 'वात्सल्य स्नेह' और साथ ही एक बड़े तीव्र कोटि के 'शोक' से पूरित है :

मोको बिधु बदन बिलोकन दीजै।
राम लखन मेरी यहै भेट बलि जाउँ जहाँ मोहिं मिलि लीजै।
सुनि पितु वचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हे।
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु मुरछित भयो भूप न जाग्यो।
करम चोर नृप पथिक मारि मानो राम रतन लै भाग्यो।
तुलसी रविकुल रवि रथ चढ़ि चले तकि दिसि दखिन सुहाई।
लोग नलिन भए मलिन अवधसर बिरह विपम हिम आई॥

(गीता०, अयोध्या० १२)

[1] गीता०, बाल,० ९७–९९ [2] वही, अयोध्या० २–४

वे गीत जो कौशल्या के अपने निरपराध और निरीह पुत्र और पुत्र-बधू के वियोग में विरहोद्गारों का वर्णन करते हैं,[1] बड़े ही प्रबल प्रकार के 'पुत्र-प्रेम' की व्यंजना करते हैं। 'शोक' का अध्ययन करते हुए इन में से एक का विस्तृत उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं[2] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

'गीतावली' में भरत के अयोध्या लौट चलने के लिए राम से बार-बार अनुरोध करने पर राम के उत्तर में 'पितृभक्ति' की सुंदर व्यंजना के दर्शन होते हैं; इस उत्तर का प्रत्येक शब्द एक भाव-गरिमा से प्लावित है जो 'राम-चरित मानस' में अज्ञात है :

तात विचारो धौं हौं क्यों आवौं।
तुम्ह सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि बहुत कहा कहि कहि समुझावौं।
निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौं पितु पग पानही करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं।
तुलसिदास जाको सुजस तिहूँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावौं।
प्रभु रुख निरखि निरास भरत भए जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं॥

(गीता०, अयोध्या० ७२)

'गीतावली' में घावों से मरते हुए जटायू के प्रति राम का सम्भाषण 'पितृप्रेम' की विचित्र विपुलता से प्रेरित है :

मेरे जान तात कछु दिन जीजै।
देखिअ आपु सुवन सेवा सुख मोहिं पितु को सुख दीजै।
दिब्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ माँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै।
देखि बदन सुनि बचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
बोल्यो बिहग, बिहँसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै।
मेरे मरिबे सम न चारि फल होहिं तौ क्यों न कहीजै।
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही परी मानो प्रेम सहीजै॥

(गीता०, अरण्य० १५)

१ गीता०, अयोध्या० ५२–७५; ८४–८७; लंका० १७–१९

२ देखिए ऊपर पृ० ३१५

५०. फलतः यह प्रकट हो गया होगा कि हमारे कवि की कृतियाँ मनुष्य के स्वाभाविक भावों और मनोवेगों के सुंदर चित्रों से बड़ी संपन्न हैं। और उस पर भी विचित्रता यह है कि इन चित्रों में कहीं भी किसी प्रकार का प्रयास परिलक्षित नही होता। हमारे साहित्य मे अन्यत्र इतनी विभिन्न परिस्थितियो में इतने विभिन्न कक्षा, तीव्रता और वेग के भावों और मनोवेगो का ऐसा यथातथ्य चित्रण कम मिलता है, और यह हमारे कवि और कलाकार की अद्वितीय महानता का दूसरा औचित्य है।

वस्तु-विन्यास

५१. हमारा कवि मूल कथानक 'अध्यात्म रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' से लेकर उस की रूपरेखा का अनुगमन करते हुए उस से बहुत कम हटता है। फिर भी, जब कभी और जहाँ कही वह हटता है वहाँ वह प्रायः कलात्मकता प्रदर्शित करता है। हम नीचे कतिपय विशिष्ट स्थलो की परीक्षा करेंगे, और देखेंगे कि कवि वहाँ पर किस रूप मे कथा-परिवर्तन करता है और उस से कथानक में क्या विशेषता आ जाती है :

(१) 'प्रसन्नराघव नाटक'[1] का अनुकरण करते हुए हमारे कवि ने राम-सीता-दर्शन विवाह के पहले[2] करवा दिया है। इस से कवि को पूर्वानुराग के चित्रण का अवसर मिल गया है। तो भी यह राम-सीता-मिलन कवि ने एकात में नही करवाया है। प्रसंग भर राम के साथ लक्ष्मण हैं और सीता के साथ उस की सखियाँ।

(२) 'अध्यात्म रामायण' में थोड़ा-सा संकेत[3] पाकर हमारे कवि ने 'प्रसन्नराघव'[4] एव 'हनुमन्नाटक' के आधार पर[5] धनुर्भंग राज-सभा मे करवाया है।[6] इस से उसे उस स्थल पर नाटकीय प्रभाव लाने मे विशेष सहायता मिली है जिस का विस्तृत निरीक्षण हम नीचे करेंगे।

(३) 'प्रसन्न राघव'[7] के आधार पर कवि ने धनुर्भंग के बाद शीघ्र ही

[1] 'प्रसन्नराघव', अक २
[2] मानस, बाल० २२७–२३६
[3] अध्यात्म० बाल० (६) २४
[4] 'प्रसन्नराघव', अक ३
[5] 'हनुमन्नाटक' अक १
[6] मानस, बाल० २४१–२६२
[7] 'प्रसन्नराघव' अक ४

परशुराम को राजसभा में बुलवा कर राम-परशुराम-संवाद के अतिरिक्त एक लक्ष्मण-परशुराम संवाद भी करवाया है।[1] परशुराम को राजसभा में लाने से हमारे कवि को अपने पाठकों के सामने एक अति मनोवैज्ञानिक तथा नाटकीय परिस्थिति उपस्थित करने का अवसर मिला है। परशुराम के आते ही असफल राजाओं के मुख पर कैसे-कैसे भाव क्रमशः व्यक्त होते हैं : अजेय शत्रु को देख भय एवं विस्मय से भरी आतुरता, विजेता प्रतिस्पर्धी से उसे प्रतीकार-तत्पर देख कर एक मात्सर्यपूर्ण प्रसन्नता, और अंत में इस दर्पपूर्ण आगतुक को भी विजित देख कर लज्जा पूर्ण पराजय की स्वीकृति ने उत्तरोत्तर किस प्रकार एक दूसरे को दबा कर उन की भाव-प्रणाली पर अधिकार प्राप्त किया है!

(४) चित्रकूट के मार्ग पर अग्रसर भरत से मोर्चा लेने के लिए निषादराज की वीरता पूर्ण तैयारी[2] तुलसीदास की एक अतीव मौलिक और उपयुक्त उद्भावना है, और इस का निर्वाह भी उन्हों ने अत्यंत स्वाभाविक ढग से किया है।

(५) चित्रकूट मे जनक का आगमन और तदनंतर उन का वहां की सभाओं मे भाग लेना[3] एक अत्यंत सुंदर आयोजना है। हमारा कवि कदाचित् यह नहीं देख सकता था कि निर्वासित जामाता एक विषम परिस्थिति मे पड़ा हुआ किसी अदूर देश में अपने दिन काट रहा हो और श्वसुर अपने जामाता एवं पुत्री को देखने का यत्न तक न करे।

(६) हमारे कवि ने हनुमान की लंका-यात्रा मे हनुमान-विभीषण-मिलन का भी आयोजन किया है।[4] यह भेंट पर्याप्त तन्मयता के साथ वर्णित है, क्यों कि इस में हमारे कवि को विभीषण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता है। कथावस्तु की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से भी यह भेट महत्वपूर्ण है, क्यों कि इस भेंट मे ही विभीषण अपने को राम की शरणागति एवं राम के विश्वास के योग्य प्रमाणित करते हैं।

(७) 'प्रसन्नराघव'[5] का अनुकरण करते हुए हमारे कवि ने छद्मवेषी हनुमान के सम्मुख एक सीता-त्रिजटा-संवाद[6] करवाया है। इस से हनुमान को सीता के हृदय में सुलगती रामप्रेम की आग का अक्षुण्ण परिचय कराने और

[1] मानस, बाल० २७१-२८४
[2] मानस, अयोध्या० १८९-१९३
[3] वही २७१-२८०
[4] वही, सुंदर० ५-८
[5] 'प्रसन्नराघव' अंक ६
[6] मानस, सुंदर० १२

उन्हें इस का साक्षी बनाने मे कवि ने सहायता ली है। अतएव यह कथा-विस्तार भी सुंदर हुआ है।

(८) शांति और सुख के दृश्य अशांति और अंधड़ के दृश्यो के पूर्व आकर इस लिए बहुधा हमारी कलात्मक भावना को आनंद पहुँचाते हैं कि उन के द्वारा हमारे दो परस्पर विरोधी भावों को संघर्ष का अवसर मिल जाता है। कदाचित् इसी विचार से प्रेरित हो कर हमारा कवि महायुद्ध से पूर्व सुबेल पर की झाँकी,[1] चंद्रोदय,[2] तथा रावण के अखाड़े के सुंदर दृश्य[3] चित्रित करता है, और यह चित्रण वह इतनी सफलता के साथ करता है कि 'मानस' मे सर्वाधिक मनोमोहक चित्रों में इन को स्थान मिल जाता है।

(९) हमारा कवि युद्ध में लक्ष्मण को रावण के द्वारा प्रेरित शक्ति-द्वारा नहीं वरन् मेघनाद के द्वारा प्रेरित शक्ति से मूर्छित कराता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रु-पक्ष में वीरता का प्रदर्शन हमारे कवि ने रावण तक सीमित न रख कर बाँटने की चेष्टा की है। और इस कथा-भेद के द्वारा इस उद्देश्य में वह कुछ सफल भी हुआ है।

(१०) रावण के द्वारा अपने विद्वेषी भाई विभीषण की ओर प्रेरित शक्ति को हमारे कवि के अनुसार लक्ष्मण के स्थान पर राम अपनी छाती पर रोकते हैं।[4] इस से 'मानस' के कथानायक का चरित्र पूर्ववर्ती राम-साहित्य के नायक की अपेक्षा अधिक ऊँचा हो गया है और इस से फलतः कवि के काव्य की महत्ता भी बढ़ गई है।

(११) हमारा कवि 'मानस' के उत्तरकांड में अपने मुख्य आधार-ग्रंथों को बिलकुल छोड़ देता है। सीता-निर्वासन की कहानी रामचरित्र के कालिमापूर्ण पक्ष की कहानी है, और संभवतः उक्त आधार ग्रंथों में प्रक्षिप्त भी है; फलतः 'मानस' मे उस को स्थान न दे कर आदर्श-चरित्र के सर्वथा अयोग्य इस घटना से कवि ने बड़ी चतुरता से अपने कथा नायक को बचा लिया है।

५२. हमारे कवि ने इस प्रकार घटनाओं के परिवर्तन तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है, उस ने कथा वस्तु के विकास और वर्णन-विस्तार मे भी असाधारण प्रतिभा एवं कला का प्रदर्शन किया है। प्रतापभानु की कथा

[1] मानस, लंका० ११
[2] वही १२
[3] वही १३
[4] वही ९४

को ले कर मिश्रबंधुओ ने इस बात की व्याख्या की है।[1] प्रतापभानु-चरित मे कथात्मकता प्रमुख है। हम एक ऐसी कथा को ले कर इस का विश्लेषण कर सकते हैं जिस में वर्णनात्मकता प्रमुख हो। यहाँ हम केवल विश्लेषण मात्र करेंगे, विस्तारों की उपयुक्तता के संबंध में विचार करने की चेष्टा नहीं करेंगे, और कदाचित् इतना ही इस समय पर्याप्त होगा। प्रसग धनुर्यज्ञ का है और कोष्ठकों के भीतर दी हुई सख्याएँ बालकाड के उक्त प्रसंग की चौपाइयों की हैं :

कवि विश्वामित्र के साथ राजकुमारो का रंगभूमि में प्रवेश कराता है (२४१)। फिर वह राम-दर्शन से प्रभावित वीर राजाओं, भीरु राजाओं, कुटिल नृपों, 'छल छोनिप बेषा' असुरों, पुरवासियो, स्त्रियों, जनक, जनक के परिवार की रानियों, योगियों, हरिभक्तो और सीता की भावनाओं का उल्लेख करता है (२४१-२४२)। फिर वह इन राज कुमारों का नखशिख-वर्णन करता है (२४२-२४३)। यहाँ पर कवि उन का परिचय जनक से करवाता है जो उन्हें रंगभूमि के चारो ओर ले जाते हैं, और फिर वह एक सुदर विशाल मंच पर मुनि समेत दोनों भाइयों को बैठाता है (२४४)। तदनंतर कवि अविवेकी और अभिमानी एवं 'धरमसील और हरिभगत सयाने' नृपो में राम के विषय में एक वाद-विवाद उपस्थित करता है (२४५-२४६)।

इस आकर्षक उपस्थिति में कवि सीता का प्रवेश करवाता है और सीता के सौन्दर्य का अन्यतम शब्दों मे वर्णन करता है (२४७-४८)। सारे उपस्थित राजा सीता का सौन्दर्य देख मोहित हो जाते हैं, परंतु सीता पर उन की दृष्टि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, और कवि इस स्थल पर सीता को राम के दर्शन के लिए आकुल दिखलाता है (२४८)। फिर कवि सब लोगों को इस भावना में निमग्न कर देता है कि राम सीता के सर्वथा ही योग्य हैं (२४९)।

इस के पश्चात् कवि वदीजनों को बुलवाता है, जो सीता-स्वयंवर संबंधी जनक की प्रतिज्ञा घोषित करते हैं (२४९-५०)। अब वह यह दिखलाता है कि कई राजा सामूहिक प्रयत्न तक में असफल होते हैं (२५०-५१)। फिर वह जनक के मुख से नैराश्यपूर्ण शब्दों का उच्चारण कराता है (२५१-५२), जिस का वीरोचित उत्तर लक्ष्मण देते हैं (२५२-५३), और इस उत्तर का प्रभाव वहाँ पूरी सभा पर दिखलाकर कवि विश्वामित्र से राम को धनुर्भंग

[1] मि० ब० वि० भाग १, भूमिका

के लिए आज्ञा दिलवाता है (२५४)।

कवि राम को मंच पर भेज कर अन्य उपस्थित राजाओं की निराशा एवं दैन्य का, और देवताओं और साधु पुरुषों की प्रसन्नता का, राम-सफलता के लिए सीता की चिंता का, धनुष को हल्का करने के लिए देवताओं तथा उस धनुष से ही उस की प्रार्थना का, दैव में सीता के विश्वास का, सच्चे प्रेम की विजय का, और फिर सीता के प्रेम-प्रण का कवि वर्णन करता है (२५४-५९)।

इस के बाद कवि राम का ध्यान सीता की आकुलता की ओर ले जाता है, जिससे प्रभावित हो राम अपना पूरा ध्यान धनुष पर लगाते हैं (२५९)। वह लक्ष्मण के द्वारा दसों दिशाओं के दिग्गजों, शेषनाग, कच्छप और वाराह को पृथ्वी-धारण-सबंधी अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत करवाता है क्यों कि राम शकर का धनुष तोड़ना चाहते हैं (२६०)।

कवि धनुष टूटने से उत्पन्न हुए घोर रव का वर्णन करता है (२६१)। और फिर अन्य लोगों पर धनुर्भंग का प्रभाव दिखलाते हुए अत्यंत काव्यात्मक शब्दों में सीता द्वारा राम को जयमाल पहिनाने का और पृथ्वी पर और देवलोक में इस विवाह से उत्पन्न हर्षातिरेक का वर्णन करता है, और फिर सीता से राम का चरण-स्पर्श कराता है (२६२-६५)। अब वह कायर राजाओं में परस्पर सीता को राम से छीन लेने का विचार एव मंत्रणा कराता है (२६६-६७), और तदनंतर सीता का अपनी माता के पास जाने, राम का अपने गुरु के पास जाने और उन पराजित राजाओं के कायर शब्दों का उत्तर देने की लक्ष्मण की तैयारी का वर्णन कर कवि परशुराम प्रवेश कराता है (२६७-६८)। यहाँ पर कथानक एक दूसरा विकास करता है इस कारण हम अपने विश्लेषण को यहीं पर छोड़ सकते हैं।

संक्षेप में 'धनुर्भंग' की घटना का यही विस्तार है। तुलसीदास से पूर्व रामाख्यान में इस का वर्णन अपेक्षाकृत अपर्याप्त ढंग से मिलता है। इस में कोई सदेह नहीं कि कवि ने यहाँ पर सहायता 'प्रसन्नराघव' एव 'हनुमन्नाटक' से ली है, परतु वह उस की मौलिकता के आगे कदाचित् नगण्य है।

५३. किंतु हमारे कवि ने अपने कथानक को किस प्रकार विशद एवं सुंदर बनाया है इस बात का कितना भी विवेचन करें तो भी कवि की एक विशेषता बच रहती है जो वर्णन के परे है और जो सारे 'मानस' भर में दिखलाई पड़ती है : यह कथानक के 'सम विभक्तांग' होने की है जो कि प्रायः महाकाव्यों में बहुत

कम दिखलाई पड़ती है। स्पष्टतया हमारे कवि की यह बड़ी भारी विशेषता है।

५४. विषय को छोड़ने के पहले यदि हम वस्तु-विन्यास विषयक कतिपय त्रुटियों की भी विवेचना कर लें तो कदाचित् अधिक न्याय-संगत होगा :

(१) 'मानस' के प्रारभ में कवि शिव-पार्वती सवाद करवाता है; वहाँ पर पार्वती शिव से राम राज्याभिषेक के बाद की कथाएँ और प्रजासहित रघुवंश-मणि के स्वर्गारोहण की कथा कहने को कहती हैं[१], किंतु कथानक में इन दोनों प्रार्थनाओं में एक भी पूरी नही होती और न इस का कोई कारण ही वहाँ दिया जाता है।

(२) 'मानस' के प्रारंभ में ही कवि विभिन्न कल्पों में रामावतार के मूल में विभिन्न कथाएँ बतलाता है। नारद-मोह की कथा के अनुसार शाप विष्णु को दिया गया था जिस से एक कल्प में विष्णु का अवतार[२] हुआ था। जय-विजय की कथा विष्णु का ही दूसरे कल्प में अवतार[३] करवाती है। एक और अवतार[४] में जलंधर-बध विष्णु अवतार का कारण है। मनु-सतरूपावाली कथा में परब्रह्म[५] के अवतार लेने की बात आती है—परब्रह्म विष्णु से भिन्न हैं क्यों कि उन के पास विष्णु वर देने के लिए जाते हैं परंतु वे उन से वर-याचना नहीं करते[६]—और परब्रह्म का अवतार ही 'मानस' की प्रमुख घटना है।[७] किंतु आकाश-वाणी में[८] मनु-सतरूपा वाले वरदान और होने वाले अवतार से कोई संबध नही दिखलाया जाता है। उस में अवतार का संबध नारद-मोह से दिखलाया जाता है, और किसी कश्यप-अदिति की तपस्या से बतलाया जाता है जिस का कोई भी वर्णन 'मानस' मे नहीं होता है।

(३) जब सुमंत राम-सीता से अपनी बिदाई वाली बातें दशरथ को बतलाते हैं तो वे यह भी कहते हैं कि सीता का उस समय गला भर आया जिस से वे बोल न सकीं और राम की आज्ञा से वह नाव जिस पर वे बैठे थे तट से पार जाने के लिए खोल दी गई।[९] किंतु वास्तविकता यह नहीं है। कथानक

[१] मानस, बाल० ११०

[२] वही १२४–३९

[३] वही १२२-२३

[४] वही १२३-२४

[५] वही १४१–५२

[६] वही १४५

[७] वही १४१

[८] वही १८७

[९] वही, अयोध्या० १५२

मे सीता सुमंत की घर लौटने की प्रार्थना पर सुंदर उत्तर देती हैं, जो कि चौपाई के लगभग चालीस चरणों मे है।[1]

(४) जब केवट ऊँचे चढ़कर चित्रकूट देखता है तो कहता है कि उसे लक्ष्मण का लगाया हुआ तुलसी का पौधा और बरगद की छाया मे सीता की बनाई वेदिका दिखलाई पड़ते हैं जहाँ पर राम मुनि-गण-सहित बैठकर "आगम निगम पुरान" की कथा सुनते हैं[2]। सत्य यह है कि राम निषादराज को अपने साथ चित्रकूट नहीं ले जाते। वे उसे चित्रकूट पहुँचने से बहुत पहले ही लौटा देते हैं। निषादराज के मुँह से यह सब तुलसी पेड़ आदि का वर्णन ऐसी दशा मे इसलिए उचित एवं स्वाभाविक नही जान पड़ता।

(५) चित्रकूट पर वशिष्ठ-निषाद-मिलन[3] प्रकरण में ऐसा प्रतीत होता है मानो निषाद वहाँ पर भरत आदि के आगमन के पहले से हो। किंतु कथानक मे यह बात नहीं पाई जाती। वह भरत आदि के साथ शृंगवेरपुर से चित्रकूट तक आता है। शृंगवेरपुर मे वशिष्ठ ही भरत से उस का परिचय करवाते हैं।[4] फलतः द्वितीय वशिष्ठ-निषाद मिलन एक भूल सी मालूम होती है।

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त और इस प्रकार के अन्य दोष बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं, इस से उन का प्रभाव कथानक की सुंदरता पर अधिक नहीं पड़ता है।

नख-शिख

५५. हमारे कवि को अपने नायक की विग्रह-माधुरी का परिचय कराने मे विशेष आनंद आता है। इस से नख-शिख हमारे कवि के अध्ययन मे एक महत्वपूर्ण विषय है। नीचे हम उस के कुछ चुने हुए नख-शिखों का ही विवरण देंगे।

मनु-सतरूपा-प्रकरण मे हमारे कवि ने दिव्य राम का एक नख-शिख दिया है।[5] इस मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है क्यों कि इस स्थल पर उस की भावनाएँ घनीभूत-सी हो उठतीं हैं।

बाल-लीला-प्रकरण में शिशु राम का एक नख-शिख-वर्णन है।[6] दशरथ के आँगन में घूमते हुए बालक राम का यह चित्र है। वर्णन की किंचित्

[1] मानस, अयोध्या० ९७–९८
[2] वही २३७
[3] वही २४३
[4] वही १९३
[5] मानस, बाल० १४६–१४७
[6] वही १९९

पूर्णता ही इस नख-शिख की विशेषता है।

नगर-दर्शन-प्रकरण में किशोर राम का नख-शिख है।[१] यह छोटा और अनलंकृत है। इस मे अन्य कोई विशेषता नहीं है।

वाटिका-विहार-प्रकरण मे किशोर राम का नख-शिख फिर है।[२] निस्संदेह यह कवि का एक उत्कृष्ट प्रयत्न है। इस मे कुछ अपनी विशेषता है। मयूर-पंख और बालों में अधखिले पुष्प वाटिका-विहार की ओर संकेत करते हैं, और हलके श्रम-विंदु नायक के सौकुमार्य के परिचायक है।

धनुर्यज्ञ-प्रकरण मे किशोर राम का एक और नख-शिख है।[३] कवि वाटिका-विहार वाले वर्णन की भाँति इस मे भी एक प्रकार की विचित्रता लाने का प्रयत्न करता है, परंतु इस में उसे उतनी सफलता कदाचित् नहीं मिलती है जितना उस नख-शिख में उसे मिली है।

विवाह-प्रकरण में किशोर राम का नख-शिख एक और है।[४] यहाँ पर राम दूलह के रूप में वर्णित हैं। इस में कोई विशेषता नहीं है।

शेष कथानक में हमें कोई भी उल्लेख योग्य नख-शिख नहीं मिलता। केवल काग-भुशुंडि जब अपनी आत्मकथा[५] कहते हैं तो वे राम का एक नख-शिख-वर्णन करते हैं। यह नख-शिख शिशु राम का है, और तल्लीनता के साथ लिखा गया जान पड़ता है।

'गीतावली' में इस प्रकार के बहुत से बड़े सुंदर नख-शिख मिलते हैं, और उन की एक विशेषता यह है उन में कवि कुछ बड़े सुंदर रूपक बाँधता है। शिशु राम के वर्णन में एक स्थल पर[६] राम पालने में खेल रहे हैं, और वे एक खिलौना देखकर किलकते हैं। दूसरे स्थल[७] पर भी वे पालने मे हैं, पर यहाँ पर खिलौना दिखाया जाने पर वे उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते है, और वे अपने पैर का अँगूठा अपने मुँह तक ले जाते हैं। तीसरे स्थल पर[८] वे फिर इसी तरह से चित्रित किए जाते हैं। और आगे[९] वे घुटनों के बल राजा के

१ मानस, बाल० २१९
२ वही २३३
३ वही २४३
४ वही ३२७
५ वही, उत्तर० ७६-७७
६ गीता०, बाल० १९
७ वही २०
८ वही २१
९ वही २२

आँगन मे खेलते हुए दिखलाए जाते हैं। उस से आगे के दो पदो में[१] भी वे वैसे ही चित्रित हैं। और आगे चलकर एक पद में[२] वे पैरों पर खड़े होने का असफल प्रयत्न करते हुए दिखलाए जाते हैं। उस से अगले पद मे[३] वे अपनी माँ की उँगली पकड़ कर चलते चित्रित होते हैं। फिर अगले मे[४] वे माँ के इशारे पर नाचते हुए देखे जाते हैं। और, इस माला के अंतिम पद मे[५] वे अपने पिता की गोद मे खेलते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन सभी में बालोचित लीला के साथ उन के नख-शिख का भी वर्णन हुआ है। दूलह के रूप में किशोर राम का भी एक नख-शिख 'गीतावली' में है[६] और रूपकों के द्वारा यह पूर्ण एवं सुंदर हो गया है।

'गीतावली' के एक पद मे[७] युवा राम का चित्र है। वे कंचन-मृग के पीछे बाण साधे दौड़ते दिखाए गए हैं। यह एक सुंदर वर्णन है, और कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रर्याप्त परिचय देता है।

किंतु कवि के सारे ग्रथों में से 'गीतावली' मे राजा राम के नख-शिख का वर्णन विशेष है। राम राज्याभिषेक संबंधी पहले गीत को छोड़ कर उत्तर काड के अगले सोलह गीतों में इसी का वर्णन करता है। दूसरे गीत में राम का सोने-जागने का चित्र है। तीसरे-चौथे और पाँचवें मैं सरयू स्नान के बाद का राम का चित्र है। छठे मे सिंहासनस्थ राम का चित्र है। सातवें में उन के साधारण शरीर का वर्णन है। आठवे, नवे, दसवे और ग्यारहवे में उन के मुख के सौन्दर्य का वर्णन है। बारहवे में उन की प्रातःकालीन मुख-छवि का वर्णन किया गया है। तेरहवें छद में उन की भुजाओं का वर्णन है। चौदहवे मे उन की सुदर हथेलियों का, और पंद्रहवे मे उन के सुदर चरणों का वर्णन है। इस पिछले गीत में रूपक और उपमाएँ प्रयाग तीर्थ से ली लई हैं। सोलहवें-सत्रहवें गीतो मे जो कि इस संबंध के अंतिम हैं उन के पूरे शरीर के नख-शिख का वर्णन हैं। 'गीतावली' के ये अधिकतर गीत तनिक लबे हैं। कवि इन में

[१] गीता०, बाल० २३—२४, किंतु ये पद थोड़े परिवर्तन के साथ 'सूर सागर' मे भी मिलते हैं

[२] वही २८, किंतु यह पद 'सूर सागर' मे भी थोड़े परिवर्तन के साथ मिलता है

[३] गीता०, बाल० २९

[४] वही ३०

[५] वही ३१

[६] वही १०६

[७] वही, अरण्य० २

एक विस्तृत क्षेत्र से अपने उपमान चुन कर लाता है और अपनी प्रतिभा का उच्चतम प्रदर्शन करता है।

'कवितावली' में शिशु राम का नख-शिख कवि ने जैसा दिया है[1] वैसा अन्यत्र दुर्लभ है; इन छंदों में नाद-तालानुबंध सुंदर चित्रमयी कल्पनाओं से मिल कर कवि की रचना को बहुत उत्कृष्ट कर देता है।

'विनय पत्रिका' में विष्णु के एक स्वरूप बिंदुमाधव का नख-शिख[2] है, और कवि ने पर्याप्त विशदता के साथ इस का वर्णन किया है। यह 'गीतावली' के राजा राम संबंधी छंदों की कोटि का है।

'कृष्ण-गीतावली' में कृष्ण के नख-शिख संबंधी तीन अत्यंत सुंदर पद आते हैं। एक में[3] दही चुराने के कारण यशोदा के द्वारा डाँटे गए और भयभीत कृष्ण का वर्णन है। इस में एक डरे हुए बालक का बड़ा सुंदर चित्र है। दूसरे में[4] उन की मुख छवि का वर्णन है, जो 'गीतावली' के राजा राम के चित्र से मिलता है। तीसरे में[5] कृष्ण की नींद भरी आँखों का वर्णन है। कवि उन की समता खंजन पक्षियों से करता है, और पूरे पद में, जो १० चरणों का है, वह सविस्तर 'रूपक' के रूप में इसी समता का निर्वाह करता है, किंतु अनावश्यक रूप में इसे और आगे खींचने का प्रयत्न नहीं करता है, यह उस की बड़ी विशेषता है। नख-शिख मध्यकालीन कविता का एक प्रिय विषय रहा है। हमारे कवि ने हमें जो नख-शिख दिए हैं उन की तुलना इस क्षेत्र में मध्ययुग के श्रेष्ठतम उदाहरणों से की जा सकती है इस में संदेह नहीं।

कल्पना-सृष्टि

५६. हमारे कवि में अपने उद्गारों को अभीष्ट कक्षा तक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से कल्पनाओं का सहारा लेने की तीव्र प्रवृत्ति है। इस लिए, आगे के कतिपय पृष्ठों में उस की इस कल्पना-सृष्टि के सुंदरतम स्थलों पर विचार करने का प्रयास किया जाता है। यह देखा गया है कि कल्पनाएँ प्रायः उसे नीचे लिखी किसी न किसी दिशा में सहायता प्रदान करती हैं (१) गुण तथा स्वभाव-चित्रण

[1] कविता०, बाल० ७

[2] विनय० ६२, ६३

[3] कृ० गी० १४

[4] वही २१

[5] वही २२

में, (२) भाव-चित्रण में, (३) कार्य-व्यापार-चित्रण मे, (४) घटना-चित्रण में, (५) वस्तु-चित्रण में, और अंत में (६) ऊँची कल्पना के प्रदर्शन मे। इसी के अनुसार हमारा अध्ययन छः शीर्षकों में विभाजित है। प्रसंगवशात् इस चित्रावली में व्यवहृत हुए 'अलकारो' की ओर भी ध्यान दिया गया है। 'अलंकार', हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए, हमारे कवि के मुख्य विषय नहीं हैं। निस्संदेह हमारे कवि की रचनाओं में वे सभी दिखाए जा सकते हैं, और बहुत पहले से इस दिशा मे प्रयत्न भी किए गए हैं,[1] तथापि इस प्रकार के स्थल बहुत ही कम मिलेंगे जहाँ हमारे कुशल कवि ने उन का प्रयोग मूलतः केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए ही किया हो। अतएव हमारे इस अध्ययन के मुख्य विषय 'अलकार' नहीं होंगे। किंतु तो भी इस बात के देखने का प्रयास किया गया है कि कौन से अलंकार हमारे कवि की कल्पना को एक अभीष्ट रूप प्रदान करने में अधिक सिद्ध हुआ करते हैं, और इसी अभिप्राय से उपर्युक्त शीर्षकों के नीचे ऐसे स्थलो का निरूपण जिन में एक विशेष अलंकार का प्रयोग हुआ है स्थान-स्थान पर करने की अपेक्षा यथासंभव एक ही स्थान पर किया गया है।

५७. (१) गुण तथा स्वभाव-चित्रण में :

गुण तथा स्वभाव संबधी कवि के सर्वाधिक सफल कल्पनापूर्ण चित्रों पर विचार करते समय हमारा ध्यान तीन अलंकारों पर लगभग समान रूप से आकर्षित होता है : वे हैं 'उत्प्रेक्षा', 'दृष्टात' तथा 'उदाहरण'।

कभी-कभी अपने पात्रो की चरित्रगत विशेषताओं का परिचय देने मे हमारे कवि ने उत्कृष्ट काल्पनिक चित्रो का निर्माण 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे किया है। भरत के संबध मे इस प्रकार के कथन उस ने सर्वाधिक किए हैं, और उन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।[2] यहाँ पर निम्नलिखित उदाहरण उस की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए प्रयाप्त होगा :

लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु॥

(मानस, अयोध्या० २३९)

[1] उदाहरणार्थ : रसरूप-कृत 'तुलसी-भूषण' (रचना-काल स० १८११) जो कदाचित् इस प्रकार की सब से पहली रचना है (देखिये हिं० खो० रि० सन् १९०४, नो० ११)

[2] देखिए ऊपर पृ० २७९

'दृष्टांत' का सुंदर प्रयोग वह एक स्थान पर महान् पुरुषों की एक साधारण प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए करता है :

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।

(मानस, अयोध्या० २८४)

और अन्यत्र जब वह अच्छे भ्राताओं की एक विशेषता की ओर सकेत करता है :

होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनि के घाए।

(मानस, अयोध्या० ३०६)

और पुनः अन्यत्र जब वह नीच मनुष्यों के हठी स्वभाव की ओर संकेत करता है :

काटेहिं पै कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहिं पै नव नीच॥

(मानस, सुदर० ५८)

और पुनः अन्यत्र जब वह अपने एक पात्र के कुटिल स्वभावगत एक दुर्गुण की ओर संकेत करता है :

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिलु समान॥

(मानस अयोध्या० ४३)

'उदाहरण' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग वह उस समय करता है जब अन्यत्र वह अर्थ-गाभीर्य के गुण की ओर सकेत करते हुए कहता है :

ज्यों मुखु मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।

(मानस, अयोध्या० २०४)

अथवा जब वह नीच चरित्रों की प्रत्यक्ष आवभगत के पीछे छिपी हुई भीषणता की ओर संकेत करता है :

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी।

(मानस, अरण्य० २४)

कवि जब अपने नायक एव स्वामी का रगभूमि में पदार्पण कराते समय दर्शकों के भावानुरूप उसके अनेक रूपों में वर्णन करता है 'उल्लेख'

के रूप मे वह एक सुखद कल्पना का आश्रय लेता है।[1] पर इस मे एक प्रकार की न्यूनता इस कारण आ जाती है कि अधिकाश में यह 'भागवत्' पर आधारित है।

कवि 'व्याघात' के रूप मे एक सुंदर कल्पना की अभिव्यक्ति 'संतो' तथा 'असतों' के विभेद की व्याख्या करते हुये करता है :

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं।

(मानस, बाल० ५)

'अर्थान्तरन्यास' के रूप में निम्नलिखित काल्पनिक चित्र नारी की रहस्यपूर्ण प्रवृत्ति के प्रति कवि की धारणा की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है :

निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई।

(मानस, अयोध्या० ४७)

'प्रश्नोत्तर' तथा 'विरोधाभास' के रूप में इसी प्रकार नारी की कुटिलता के प्रति अपनी धारणा का प्रकाशन कवि निम्नलिखित प्रकार से करता है :

काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ।

(मानस, अयोध्या० ४७)

'उदाहरण-माला' के रूप में 'विनय-पत्रिका' के एक पद मे कवि मन के हठ का वर्णन करते समय अत्यंत सुंदर-कल्पना का प्रयोग करता है :

मेरो मन हरि ! हठ न तजै।
निसि दिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।
लोलुप भ्रम गृह पसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै।
हौं हार्‌यो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनय० ८९)

[1] मानस, बाल० १४१–४३

५८. (२) भाव-चित्रण में :

जब हम भावों तथा मनोवेगों के क्षेत्र में कवि की सर्वाधिक सफल कल्पनाओं पर विचार करते हैं तो 'उत्प्रेक्षा' प्रधान लक्षित होती है, यद्यपि अन्य अलंकार भी, विशेष रूप से 'रूपक', उस के सहायक के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

हमारे कवि ने 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कल्पित चित्रों की सहायता से एक अपार 'आनंद' को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है जब वह कहता है :

सुत हियँ लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।

(मानस, बाल० ३०८)

पावा परम तत्व जनु जोगीं। अमृत लहेउ जनु संतत रोगीं।
जनम रंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।
मूक बदन जनु सारद छाई। मानहुँ सूर समर जय पाई।

(मानस, बाल० ३५०)

वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में तीन काल्पनिक चित्रों की सहायता से 'हर्षातिरेक' के तीन विभिन्न रूपों का कुशलता से चित्रण करता है जब वह कहता है :

सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी।
जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।
सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।

(मानस, बाल० २६३)

उस की सुष्ठु कल्पना का 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में पुनः व्यक्तीकरण होता है जब वह एक विषम 'वेदना' प्रकट करने के लिये इन पंक्तियों में अग्रसर होता है :

दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू।

(मानस, अयोध्या० २७)

उसी भाँति 'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में निम्नांकित पंक्तियों में एक व्यंजना होती है जब कवि 'रोष' का भाव व्यक्त करने को प्रस्तुत होता है :

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी।
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरीं सान बनाई।

लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा।
(मानस, अयोध्या० ३१)

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा।
ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।
(मानस, अयोध्या० ३४)

'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक व्यंजना पुनः हमारे सामने आती है जब कवि जनक के ससैन्य चित्रकूटागमन मे 'शोक' का एक चित्र अकित करने का प्रयास करता है कवि के भाव-चित्रण पर विचार करते हुए 'शोक' के इस कल्पनापूर्ण चित्र पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं[1] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

हमारा कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' के सहारे 'साग रूपक' के रूप मे एक चित्र तब अकित करता है जब वह एक तीव्र 'स्नेह' का भाव नीचे लिखी पंक्तियो मे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है :

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू।
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। तापर राम पेम सिसु सोहा।
चिरजीवी मुनि ग्यान विकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु।
(मानस, अयोध्या० २८६)

'वस्तूत्प्रेक्षा-माला' तथा 'उदाहरण-माला' के रूप में कवि ने एक कठिन 'व्यथा' का एक हृदय स्पर्शी-चित्र रामादि को बन पहुँचा कर सुमंत्र की वापसी में किंतु ऊपर भाव-चित्रण सबधी कवि की प्रतिभा पर विचार करते हुए हम उस पर विचार कर चुके हैं[2] इस लिए पुनरुक्ति अनावश्यक होगी।

'ममता' और 'दुरासक्ति' का एक अत्यत व्यजनापूर्ण चित्र 'उदाहरण' के रूप मे व्यक्त करता है, जब वह कहता है :

सुनासीर मन महुँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा।
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं।

[1] देखिए ऊपर पृ० ३१४ [2] देखिए ऊपर पृ० ३१२–१३

सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥

(मानस, बाल० १२५)

'द्वेष' का अत्यंत सुंदर चित्र 'उदाहरण' के रूप में वह तब चित्रित करता है जब वह कहता है :

करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती।
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।

(मानस, अयोध्या० १३)

'स्मृति' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' से पुष्ट 'कैतवापन्हुति' के रूप में 'गीतावली' में एक सुंदर और सरस काल्पनिक अभिव्यक्ति हुई है जब कवि अधोलिखित पंक्तियों में 'शोक' प्रकट करने का यत्न करता है :

सुनि पितु बचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हे॥

(गीता० अयोध्या० १२)

५९. (३) कार्य-व्यापार-चित्रण में :

कार्य-व्यापार के चित्रण-क्षेत्र में सर्वाधिक सफल काल्पनिक प्रयोगों पर विचार करते समय हमारा ध्यान प्रधानतः में जिस अलंकार पर आकृष्ट होता है वह 'उत्प्रेक्षा' है।

'हेतूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुखद कल्पना का प्रयोग कवि ने नायिका द्वारा नायक के गले में जयमाल डाले जाने का वर्णन करते हुए किया है :

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई।
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला।

(मानस, बाल० २६४)

'फलोत्प्रेक्षा'-गर्भित 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कवि आतुर पदों का चित्रण करते समय भी इसी प्रकार के काल्पनिक प्रयोग करता है :

चले जहाँ दशरथु जनवासे। मनहु सरोवर तकेउ पिआसे॥

(मानस, बाल० ३०७)

राम दरस बस सब नरनारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी।

(मानस, अयोध्या० १८८)

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं।

जनु धेनु बालक बच्छु तजि गृहँ चरन बन परबस गईं ।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं ।

(मानस, उत्तर० ६)

कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' की सहायता से अपने एक पात्र के भीषण मौन मे त्रास सूचित करने के लिए एक सुदर कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करता है :

कपट सयानि न कहति कछु जागत मनहुँ मसानु ।

(मानस, अयोध्या० ३६)

'वस्तूत्प्रेक्षा' के एक अन्य चित्र द्वारा वह अपने एक पात्र के बैठने मे दीनता की व्यजना इस प्रकार करता है :

आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे । चहत सकुच गृहँ जनु भजि पैठे ।

(मानस, अयोध्या० २०६)

और 'वस्तूत्प्रेक्षा' के एक प्रयोग द्वारा वह अपने एक पात्रके उठने की क्रिया मे वीरता का संकेत इस प्रकार करता है :

उठि कर जोरि रजायसु माँगा । मनहु बीररस सोवत जागा ।

(मानस, अयोध्या० २३०)

'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के रूप मे एक उत्कृष्ट काल्पनिक प्रयोग द्वारा कवि वैवाहिक प्रागण मे अपने नायक तथा नायिका के प्रतिबिम्ब के अगणित मणियों मे प्रकट होने एवं अदृश्य होने का चित्रण इस प्रकार करता है :

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं । जगमगात मनि खंभन माहीं ।
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा । देखत राम बिआहु अनूपा ।
दरस लालसा सकुच न थोरी । प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ।

(मानस, बाल० ३२५)

'उदाहरण' के रूप मे सुंदर कल्पनाओं की सहायता पुनः वह उस समय लेता है जब निश्चित भावी अमंगल की आशका से उत्पन्न भय की व्यजना वह नीचे लिखी पक्तियों मे करता है :

मंगल सकल सोहाहिं न कैसें । सहगामिनिहि बिभूषण जैसें ।

(मानस, अयोध्या० ३७)

लागहिं सुमुख बचन सुभ कैसे । मगहँ गयादिक तीरथ जैसे ।

(मानस, अयोध्या० ४३)

'उदाहरण' के ऐसे ही दो चित्रों का प्रयोग कवि अपने कुछ पात्रों में पारस्परिक समवेदना का संकेत करते हुए करता है :

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक कैसें।
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।

(मानस, अयोध्या० १४२)

और एक अन्य चित्र का जब वह कथा के एक पात्र द्वारा राम के चरणों में भक्ति होने के अनंतर शरीर में अनासक्ति की व्यंजना करता है :

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(मानस, किष्किंधा० १०)

'जानकी मंगल' में भी एक सुंदर कल्पना अवलोकनीय है, जब नायिका की प्रेममयी किंतु लज्जापूर्ण दृष्टि का चित्रण कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' द्वारा करता है :

सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ॥

(जा० मं० १२१)

'गीतावली' मे एक स्थान पर कवि जन-समूह को राजकुमारों के दर्शनार्थ रंगभूमि की ओर दौड़ते हुए चित्रित करते हुए 'हेतूत्प्रेक्षा' द्वारा एक सुंदर काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करता है :

नगर लोग सुधि पाइ मुदित सबही सब काज बिसारे।
मनहुँ मघा जल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे।

(गीता०, बाल० ६६)

'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों में हमारा कवि कितना सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट करता है जब वह आकाश मार्ग से पहाड़ के साथ हनुमान की उड़ान मे द्रुतगति को वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' द्वारा सूचित करता है :

तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।

(कविता०, लंका० ५४)

कार्य-व्यापारों का चित्रण करते समय हमें कभी-कभी ऐसे प्रसंग मिलते हैं जब कवि अपनी ऊँची सहानुभूतिपूर्ण कल्पना द्वारा पशु-पक्षी वृंद प्रकृति के निर्जीव पदार्थों में भी किसी अभिप्राय या आशय की ध्वनि कराता है।

इस प्रकार का एक सुंदर उदाहरण 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे हमें उस समय मिलता है जब कवि नायिका के नूपुरों की झनकार का, जो उस के चरण-नखों द्वारा पृथ्वी पर कुछ चिह्न बनाते समय उत्पन्न होती है, वर्णन करता है :

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी।
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं।

(मानस, अयोध्या० ५८)

इसी प्रकार का एक दूसरा प्रभावशाली उदाहरण अन्यत्र हमें वहाँ मिलता है जहाँ कवि अपने एकाकी नायक मे 'विरहोन्माद' का चित्रण करते हुए वन के पशु-पक्षियों के स्वाभाविक कार्य-व्यापार में 'वस्तूत्प्रेक्षा' और 'फलोत्प्रेक्षा' द्वारा क्रूर उपहास और नीति के उपदेश संबंधी व्यजनाएँ निकालता है। किंतु ऊपर हम भाव-चित्रण संबंधी कवि की प्रतिभा पर विचार करते हुए इन कल्पना-पूर्ण चित्रों का उल्लेख कर चुके हैं[1] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

६०. (४) घटना-चित्रण में :

घटना-चित्रण-क्षेत्र मे कवि के सर्वाधिक सफल काल्पनिक प्रयोगों पर विचार करते समय हमारा ध्यान सब से अधिक 'रूपक' की ओर आकृष्ट होता है।

'परपरित रूपक' के रूप मे एक सुंदर कल्पना का प्रयोग कवि उस समय करता है जब वह धनुर्यज्ञ-प्रकरण में रंगमच की ओर नायक के अग्रसर होने की घटना का चित्रण करता है :

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरपे लोचन भृंग॥

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। वचन नखत अवली न प्रकासी।
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने।
भए बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहि सुमन जनावहिं सेवा।

(मानस, बाल० २५४-२५५)

अथवा जब वह धनुर्भंग की घटना का वर्णन करता है :

सब कर संसय अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू।
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई।

[1] देखिए ऊपर पृ० ३०६

सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा।
संभुचाप बड़ बोहितु पाई। चढे जाइ सब संगु बनाई।
राम बाहुबल सिंधु अपारू। चहत पारु नहिं कोउ कड़हारू।
संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहुबलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढा जो प्रथमहिं मोहबस॥

(मानस, बाल० २६०-२६१)

अथवा जब वह नायक के निर्वासन की घटना का निरीक्षण करता है:

नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी।
बिधि कैकई किरातनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही।
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी।

(मानस, अयोध्या० ८४)

अथवा जब वह अपने एक पात्र के सदसद्-विवेक का परिचय कराता है:

सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जग जोनी।
भरत बिबेक बराहँ बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला।

(मानस, अयोध्या० २९७)

स्वयंवर के दिन के सूर्योदय का वर्णन वह एक काल्पनिक चित्र की सहायता से 'उदाहरण', 'परंपरितरूपक', तथा 'कैतवापह्नुति' के रूप में करता है:

अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन॥
नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी।
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना।
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटें धनुष सुखारे।
उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा।
रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया।

(मानस, बाल० २३८-३९)

और, असहाया नायिका की जीवन-चर्या के वर्णन के लिए वह एक चित्र की सहायता ले कर 'काव्यलिंग' तथा 'परंपरित रूपक' द्वारा हमारे सामने आता है:

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरै न पाप देह बिरहागी।

(मानस, सुंदर० ३०-३१)

'ललित', 'विचित्र', तथा 'परंपरित रूपक' के रूप में एक प्रभावोत्पादक कल्पना हमें एक घटना की उस आलोचना में प्राप्त होती है जो वह जन-समाज द्वारा कराता है :

एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ।
निज कर नयन काढि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा।
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी।
पालव बैठि पेडु एहिं काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा।

(मानस, अयोध्या० ४७)

नायक को जयमाल पहनाते समय 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक काल्पनिक चित्र का प्रयोग कवि 'गीतावली' में इस प्रकार करता है :

सतानंद सिष सुनि पाँय परि पहिराई
माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है।
मानस तें निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मरालपाँति बैठी बनि गई है।

(गीता०, बाल० ९४)

'दोहावली' में उस आत्मा के संबंध में जो परमार्थ-ज्ञान के पश्चात् भी विषय की वस्तुओं को नहीं छोड़ता 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना वह इस प्रकार प्रस्तुत करता है :

परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि।
निकसि चिता तें अधजरति मानहुँ सती परानि॥

(दोहा० २५३)

६१. (५) वस्तु-चित्रण में :

जब हम कवि के वस्तु-चित्रण संबंधी सर्वाधिक सफल कल्पनापूर्ण चित्रों की ओर ध्यान देते हैं तो अन्य अलंकारों से पुष्ट 'उत्प्रेक्षा' प्रमुख रूप से हमारे सम्मुख आती है।

'हेतूत्प्रेक्षा' से युक्त 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कल्पना का एक अत्यंत सुंदर उदाहरण हमें उस समय प्राप्त होता है जब वह एक बनैले सुअर के दाँतों

का वर्णन करने के लिये अग्रसर होता है :

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं।

(मानस, बाल० १५६)

दूसरी सुखद कल्पना हमें 'फलोत्प्रेक्षा' से युक्त तथा 'साग रूपक' और 'भ्रांतिमान' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में तब मिलती है जब कवि धूप-धूम से आच्छादित अवधनगर का वर्णन करने के लिये प्रस्तुत होता है :

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती।
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी।
अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी।
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।
भवन बेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समयँ जनु सानी।
कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना।

(मानस, बाल० १९५)

जब कवि सोते हुए सुकुमार राजकुमारों के सौंदर्य का वर्णन करता है तो वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करता है :

नीदउँ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना।

(मानस, बाल० ३५८)

कुपित रानी के वेष-वर्णन में 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में भावी अमंगल की व्यंजना करने के लिये कवि एक बड़े ही मौलिक चित्र का प्रयोग करता है :

कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन अहिवातु सूच जनु भाबी।

(मानस, अयोध्या० २५)

'वस्तूत्प्रेक्षा' का इसी तरह का एक अन्य प्रयोग उस समय भी देखा जा सकता है जब वह अपने उसी पात्र के विषय में कहता है :

सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरीं गनि लेई।

(मानस, अयोध्या० ४०)

वह 'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुंदर काल्पनिक चित्र का प्रयोग तब करता है जब वह राम से विहीन अवध नगर का वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल-राति अँधियारी।

घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।
(मानस, अयोध्या० ८३)

वह पुनः 'सांग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुंदर काल्पनिक चित्र का प्रयोग तब करता है जब वह एक पर्वतीय सरिता के तट पर के एक रमणीय स्थल का वर्णन करता है :

लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी।
(मानस, अयोध्या० १३३)

महायुद्ध का वर्णन करते समय वह पुनः 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में दो अच्छे काल्पनिक चित्रों का प्रयोग करता है जब वह कहता है:

सबल जुगल दल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा।
प्राविट सरद पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे।
(मानस, लंका० ४६)

रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो ऊपर धूरि उड़ाइ।
जनु अँगार रासिन्ह पर मृतक धूम रह्यो छाइ॥
(मानस, लंका० ५३)

'वस्तूत्प्रेक्षा' रूप में एक कल्पना की सहायता से वह विजेता नायक के सौंदर्य का एक मनोमोहक चित्र तब अंकित करता है जब वह कहता है :

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजही।
जनु नील गिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रामुनीं तमाल पर बैठी बिपुल सुख आपने॥
(मानस, लंका० १०३)

एक उत्साहपूर्ण स्वागत-वर्णन में 'वस्तूत्प्रेक्षा' की सहायता से 'सांग रूपक' के रूप में एक सुंदर कल्पना-चित्र का व्यक्तीकरण कवि तब करता है जब वह कहता है :

धूप धूम नभु मेचक भयऊ। सावन घन घमंडु जनु ठयऊ।
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं।

मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे।
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह परभामिनि। चारु चपल जनु दमकहि दामिनि।
दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा।
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी।

(मानस, बाल० ३४७)

एक रम्य वनस्थली का वर्णन करते हुए भी कवि इसी प्रकार का एक प्रयत्न करता है जब वह कहता है :

बन प्रदेस मुनि बास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे।
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाजु न जाइ बखाना।
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं।
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन।
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा।

(मानस, अयोध्या० २३६)

और पुनः वह इसी प्रकार का एक प्रयास करता है जब वह वन से राजधानी को लौटते हुए राजकुमारों के स्वागत का वर्णन करता है :

राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।
बढ़्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥

(मानस, उत्तर० ३)

कवि 'भ्रांत्यापह्नुति' और 'निश्चय' के रूप में एक चारु कल्पना का प्रयोग तब करता है जब वह लंका-पर्वतशिखर पर की एक सुंदर मल्लभूमि का वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

देखु बिभीषण दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा।
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा।
कहइ बिभीषण सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिद माला।
लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा।
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अतिकारी।
मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका।
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा।

(मानस, लंका० १३)

'संभावना' के रूप मे कवि एक सुंदर कल्पना का प्रयोग उस समय करता है जब वह एक स्थान पर अपनी नायिका का सौंदर्य-वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

जो छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू।
एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥

(मानस, बाल० २४७)

एक दूसरी उत्कृष्ट कल्पना 'वितर्क', 'संदेह', 'सामान्य' और 'विशेषकोन्मीलित' के रूप मे दोनों राजकुमारो की आकृति-प्रकृति की तुलना में वह व्यवहृत करता है :

कहहिं सपेम एक एक पाही। रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं।
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली।
बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगें अनी चली चतुरंगा।
नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा।

(मानस, अयोध्या० २२०)

पपासर का वर्णन कवि को 'वस्तूत्प्रेक्षा' और 'उदाहरण' के रूप मे कुछ उत्कृष्ट कल्पनाओं के प्रयोग के लिए एक अवसर प्रदान करता है :

पुनि प्रभु गए सरोवर तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा।
संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।
जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा।
पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म॥
सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुखसंजुत जाहिं॥

(मानस, अरण्य० ३९)

'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे 'जानकी मगल' मे एक सुंदर कल्पना को तब स्थान मिलता है जब कवि एक ऋषि को दो सुकुमार राजकुमारों के साथ गमन करते हुए चित्रित करता है :

दुहुँ दिसि राजकुमार बिराजत मुनिवर।

नील पीत पाथोज बीच जनु दिनकर ॥

(जा० म० ७०)

अथवा, जब वह उन्हें उन के बालों का स्पर्श करते हुए चित्रित करता है :

काकपच्छ ऋषि परसत पानि सरोजनि ।
लाल कमल जनु लालत बाल मनोजनि ॥

(जा० म० ७१)

अथवा फिर, जब वह नायिका को नायक के गले में जयमाल डालते हुए चित्रित करता है :

लसत ललित कर कमल माल पहिरावत ।
काम-फंद जनु चंदहिं बनज फँदावत ॥

(जा० म० १२२)

अथवा, फिर भी जब वह वर की 'प्रदक्षिणा' करने को प्रस्तुत नारी वेश-धारिणी देवागनाओं का वर्णन करता है :

मंगल आरति साजि बरहिं परिछन चलीं ।
जनु बिगसीं रबि उदय कनक पंकज कलीं ॥

(जा० मं० १४८)

इसी प्रकार के एक कल्पना-चित्र को 'गीतावली' में 'फलोत्प्रेक्षा' के रूप में स्थान मिलता है जब कवि अपने शिशु नायक की अलकावली में बँधे हुए मोतियों के गुच्छे का वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

गभुआरी अलकावली लसै लटकन ललित ललाट ।
जनु उडुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट ॥

(गीता०, बाल० १९)

और जब वह अपने नायक की बाल-लीला के दृश्यों का वर्णन करने लगता है तो 'वस्तूत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के रूप में अनेक सुंदर कल्पना-चित्र उस के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं :

सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पदपल्लव लाए ।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचु पाए ।
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत ।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु भय बिनय करत अति आरत ॥

(गीता०, बाल० २०)

चलत पद प्रतिबिंब राजत अजिर सुखमा पुंज।
प्रेमबस प्रति चरन महि मानो देति आसन कंज ॥

(गीता०, बाल० ३८)

इसी प्रकार सूर्योदय के समय आकाश का वर्णन करते समय 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में वह एक सुंदर कल्पना-चित्र उपस्थित करता है :

अरुन मय गगन राजत रुचिर तारे।
मनहुँ रविबाल मृगराज तमनिकर करि
दलित अति ललित मनिगन बिथारे।

(गीता०, बाल० ३४)

चित्रकूट की चित्रोपम सुषमा, जो वर्षा के आगमन से और भी बढ़ जाती है, एक सुंदर काव्य-रचना के लिए कवि को उमंग प्रदान करती है, और वहाँ भी 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में ही कवि की कल्पना का व्यक्तीकरण होता है :

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमँगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।
सिखर परसि घन घटहि मिलत बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग।

(गीता०, अयोध्या० ५०)

जब कवि अपने नायक का नख-शिख-वर्णन 'गीतावली' के उत्तरकांड के प्रारंभ के कुछ गीतों मे करता है, अप्रस्तुत के लिए वह विशेष करके 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कल्पनाओं का आश्रय लेता है।[1]

'बरवै' में वह एक सुंदर कल्पना का प्रयोग तब करता है जब अपनी नायिका के केशो के मोतियों का 'पूर्वरूप' और 'तद्रूप' के रूप में वर्णन करता है :

केस मुकुत सखि मरकतमनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

(बरवै०, बाल० १)

[1] उदाहरणार्थ : गीता०, उत्तर० ७

अथवा, जब वह उस के अंग पर की एक माला का वर्णन करता है, और गौण रूप से 'विशेष' के रूप में उस के शरीर के सौंदर्य का वर्णन करता है :

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौ चंपक होत॥

(बरवै०, बाल० ६)

अथवा पुनः जब वह 'मीलित' के रूप में उस के अग के रंग का एक चपक की माला की सहायता से वर्णन करता है :

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभलाइ॥

(बरवै०, बाल० ५)

'विनय पत्रिका' में 'साग रूपक' से पुष्ट 'फलोत्प्रेक्षा' के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना के दर्शन होते हैं जब एक गीत में कवि वसंत-सुषमा का गान करता है,[1] और दूसरी के तब होते हैं जब विभिन्न प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में एक दूसरे गीत मे 'विन्दु माधव' का 'नख-शिख'[2]-वर्णन वह करता है।

'कवितावली' मे 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में वह एक सुंदर चित्र वह तब चित्रित करता है जब वह रानियों का नायक को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखना वर्णन करता है :

तुलसी मुदित मन जनक नगर जन
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं।
मनहुँ चकोरी चारु बैठीं निज निज नीड़
चंद की किरन पीवैं पलकैं न लावती।

(कविता०, बाल० १३)

अथवा जब वह वन-पथ पर अपने नायक की ओर देखती हुई ग्राम-वधुओं का वर्णन करता है :

तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अलीं।
अनुराग तडाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज कलीं।

(कविता०, अयोध्या० २२)

अथवा फिर, जब वह विजयी नायक के सुंदर रूप का वर्णन करता है :

[1] विनय० १४ [2] वही ६२

सोभित छीटि छुटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसाल मे फैलि चली वर बीर बहूटी।

(कविता० लङ्का० ५१)

६२. (६) उच्च कल्पना-चित्रण मे :

जब हम कवि के मुख्य रूप से उच्च कल्पना-प्रदर्शन के प्रयत्नों पर, ध्यान देते हैं तो 'प्रतीप' प्रधान रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

इस प्रकार की एक कल्पना का प्रयोग कवि तब करता है जब 'चतुर्थ प्रतीप' के रूप मे वह अपने नायक के सौंदर्य का परिचय कराना चाहता है :

सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं।
बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी।
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही।

(मानस, बाल० २२०)

नायिका के मुख के सौंदर्य का गान करते समय वह पुनः 'चतुर्थ प्रतीप' के रूप में कल्पना करता है :

प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा।
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।
जनम सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक॥
घटइ बढइ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे।

(मानस, बाल० २३७-२३८)

तथापि पुनः जब वह नायिका के सौंदर्य का वर्णन करता है 'चतुर्थ प्रतीप' के रूप मे वह कल्पना करता है :

जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही।

(मानस, बाल० २४७)

इसी प्रकार की कल्पना का प्रयोग 'कैतवापह्नुति' के रूप में वह करता है जब वह शत्रु के मुकुटों की प्राप्ति पर विवेचन करते हुए करता है :

सुनु सर्बज्ञ प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी।
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जिय जानि नाथ पहिं आए।

(मानस, लंका० ३८)

'हेत्वापह्नुति' और 'काव्यलिंग' के रूप में समुद्र की क्षारता पर विचार करते समय वह पुनः एक प्रशस्त कल्पना का प्रयोग करता है :

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी।
तव रिपुनारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा।

(मानस, लंका० १)

इसी प्रकार की एक उत्कृष्ट कल्पना 'बरवै' में भी व्यक्त हुई है जब कवि 'व्यतिरेक' के रूप में नायिका के मुख-सौंदर्य पर विचार करता है :

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ॥

(बरवै०, बाल० ३)

६३. उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कवि की कृतियाँ सुंदर चित्रो से भरी हुई हैं, यह आकर्षक चित्र उस की उर्वरा कल्पना शक्ति के परिचायक हैं, यह चित्र प्रायः उसे गुण-स्वभाव-चित्रण, भाव-मनोविकार-चित्रण, कार्य-व्यापार-चित्रण, घटना-चित्रण, और वस्तु-चित्रण मे कवि को बड़ी सहायता प्रदान करते हैं, कवि इन चित्रों का बहुत ही कम प्रयोग केवल अपनी कल्पना-प्रदर्शन के लिए करता है, इन सब विषयो में से वस्तु-चित्रण ही इन चित्रो के प्रयोग के लिए कवि का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है; कवि के अत्यंत सफल अलंकार 'उत्प्रेक्षा', 'रूपक' और 'उदाहरण' हैं, हमारे कवि में इन सब के समन्वय की असाधारण क्षमता है, दूसरे अनेक अलंकारों के रूप में भी उसके द्वारा अंकित उत्कृष्ट काल्पनिक चित्रों की कमी नहीं है और उन का भी जब समन्वय हुआ है वह अत्यत कलापूर्ण हुआ है। फिर भी एक बात बिना विवेचन और विश्लेषण के केवल इस लिए रह जाती है कि उस का विवेचन और विश्लेषण असंभव है, वह यह है कि इन कल्पना-चित्रों और अलंकारों को अपनी रचनाओं मे लाने के लिए कवि को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है, और यह विशेषता उसे एक महान् कवि और कलाकार का आसन निस्संदेह प्रदान करती है।

उक्ति-वैचित्र्य

६४. अपने किसी विश्वास की दृढ़ता अथवा अपनी कथा के किसी पात्र अथवा किसी विषय के प्रति तीव्र सहानुभूति अथवा तीव्र विद्वेष के कारण उमंग में आकर कवि एक युक्ति पर दूसरी युक्ति, एक उक्ति पर दूसरी उक्ति, अथवा एक कल्पना-चित्र पर दूसरा कल्पना-चित्र, समान और बहुत सी बातों में पूर्वकथित के अनुरूप प्रस्तुत करके अपनी व्यजना को एक अद्भुत अंश तक प्रभावशाली बना देता है। उस की इस प्रवृत्ति पर अभी तक समालोचकों का ध्यान यथेष्ट रूप से नहीं गया है। अतः नीचे की कुछ पंक्तियों में हम कुशल कवि की इस विशेषता पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

६५. 'रामचरित मानस' की भूमिका में जब कवि राम-कथा और राम-चरित की महत्ता का गान करता है[१], वह चौपाइयों के अड़तालीस चरणों में अड़तालीस और सहयोगी तीन दोहों में तीन कल्पना-चित्रों का प्रयोग करता है। समस्त प्रकरण में यह उक्तियाँ एक के पश्चात् एक क्रमपूर्वक और समान अंतर से आती हैं, और विशेषता यह है कि राम-कथा संबंधिनी उक्तियाँ स्त्री-लिंग की हैं और राम-चरित संबंधिनी पुल्लिग की। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी :

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि।
रामकथा कलि पन्नग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई।
सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि। भयभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि।

(मानस, बाल० ३१)

राम चरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिअ सुभग सिंगारू।
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के।
सद्गुरु ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के।
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के।

(मानस, बाल० ३२)

मानव-देह पाकर भी जो हरि-भक्ति नहीं करते उन के विरुद्ध कवि की

[१] मानस, बाल० ३१-३२

तीव्र भावना पुनः इसी प्रकार व्यक्त होती है। प्रसंग की इन छः चौपाइयों में शिव उन के अंग-प्रत्यंग की निरर्थकता बता कर उनकी भर्त्सना करते हैं :

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिं भवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा।
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती।

(मानस, बाल० ११३)

अन्यत्र धनुर्भंग के अनंतर सीता को छीन लेने के लिए क्रूर राजाओं के कायर विचार का प्रतिवाद साधु राजाओं द्वारा सात काल्पनिक चित्रों की सहायता से यथाक्रम चौपाइयों के सात चरणों में इस प्रकार कराया जाता है :

बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहहि नाग अरि भागू।
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब संपदा चहै सिव द्रोही।
लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई।
हरिपद बिमुख परम गति चाहा। तिमि तुम्हार लालच नर नाहा।

(मानस, बाल० २६७)

पुनः जब कवि अपनी कल्पना की उड़ान में अश्वारूढ़ राम का दूलह के रूप में वर्णन करता है, वह छः उत्कृष्ट भाव-चित्रों की कल्पना करता है जिन को वह यथाक्रम समान अंतर पर छः अर्द्धालियों में इस प्रकार व्यक्त करता है :

संकरु राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे।
हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठइ नयन जानि पछिताने।
सुर सेनप उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ लोचन लाहू।
रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना।
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सा कोउ नाहीं।

(मानस, बाल० ३१७)

पुत्रों के मिथिला से विवाहित लौटने पर जब वह माताओं के अपार हर्ष का वर्णन करता है, वह उसे केवल तीन अर्द्धालियों के छोटे से क्षेत्र में, छः कल्पना-चित्रों द्वारा व्यक्त करता है :

पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृतु लहेउ जनु संतत रोगी।
जनम रंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।
मूक बदन जस सारद छाई। मानहुँ सूर समर जय छाई।
इहि सुख तें सतकोटि गुन पावहि मातु अनंदु।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु॥

(मानस, बाल० ३५०)

फिर जब भुशुंडि के द्वारा वह राम-भक्ति को ही परमपद का एक मात्र मार्ग बताकर अपना दृढ विश्वास प्रकट करना चाहता है, वह केवल पाँच अर्द्धालियों और एक दोहे के द्वारा नौ भौतिक असंभावनाएँ गिनाकर अन्य मार्गों की असमर्थता बताने में उन की समता का आश्रय लेता है :

कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिपाना।
अंधकारु बरु रबिहि नसावइ। राम बिमुख न जीव सुख पावइ।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुखु पाव न कोई।
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥

(मानस, उत्तर० १२२)

भुशुंडि के उपाख्यान के अंत की कुछ पंक्तियों में कवि इस युक्ति का बड़ा ही सरस प्रयोग करता है। केवल चार अर्द्धालियों में ही वह चौदह गुणों का उल्लेख करता है, और कहता है कि राम के चरणों में भक्ति होने पर यह सब स्वतः आ जाते हैं :

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता।
नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक, तेहिं जाना।
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।

(मानस, उत्तर० १२७)

और पुनः, बाद की ही चार अर्द्धालियों और एक दोहे में वह इस जीवन की आठ वांछनीय वस्तुओं को गिनाता है, और अंत में रामभक्ति को सर्वाधिक श्रेयस्कर बताता है :

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी।
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी।
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।
सो कुल उमा धन्य सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

(मानस, उत्तर० १२७)

जब भुशुंडि गरुड़ से राम के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं इसी तरह की प्रवृत्ति फिर देखी जा सकती है।[1] दस अर्द्धालियों और दो दोहों मे ही वह उस ऐश्वर्य की तुलना लगभग चौबीस छोटे बड़े देवताओ में से प्रत्येक की करोड़ों गुनी शक्ति से करता है और तब आगे के छंद में यह परिणाम निकालता है कि इतनी शक्ति बढ़ाने पर भी राम की तुलना में वे इसी प्रकार होंगे जैसे कोटिशत खद्योतो की समता सूर्य से की जावे। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी :

रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा।
मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम दुराधरष भगवंत॥...
निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

(मानस, उत्तर० ९१-९२)

राजा से राम को वन भेजने का वर लेने के कैकेयी के कार्य पर टिप्पणी कराते हुए पुनः कवि अपनी इस प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है। चार अर्द्धालियों के द्वारा कवि उस के कार्य की समता उन्मादग्रस्त मनुष्यों के पाँच

[1] मानस, उत्तर० ९१-९२

कार्यों से बड़ी सुंदरता के साथ करता है :

एहि पापिनिहिं सूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ।
निज कर नयन काढि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा।
कुटिल कठोरि कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनुकुल आगी।
पालव बैठि पेड़ येहि काटा। सुख महँ सोक ठाटु धरि ठाटा।

(मानस, अयोध्या० ४७)

राम को वन पहुँचाकर कर लौटते समय सुमन्त्र की विक्षिप्त दशा के चित्रण में फिर इस युक्ति का अवलंबन किया जाता है : चार अर्द्धालियाँ और एक दोहे में कवि चार अत्यत मर्मस्पर्शी चित्रों का समावेश करता है :

मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धन रासि गँवाई।
बिरिद बाँधि बर बीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई।
बिप्र बिबेकी बेद बिद संमति साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति।
जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी।
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू।

(मानस, अयोध्या० १४४)

परंतु कवि की इस प्रवृत्ति का कदाचित् सब से सुंदर उदाहरण भरद्वाज द्वारा राम के स्वागत-वाक्यों में मिलता है; इस स्थान पर केवल भाव-सादृश्य ही नहीं है परतु शब्द भी एक कलात्मक क्रम से दुहराए गए हैं :

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू।
सुफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी।

(मानस, अयोध्या० १०७)

६६. कभी-कभी परिणाम इतना सुंदर नहीं होता जैसा उपर्युक्त उदाहरणों में हम ने देखा है, और इस युक्ति का अनवसर, अथवा अनुपयुक्त माध्यम से, अथवा कुछ अधिक मात्रा में प्रयोग कलात्मक प्रभाव को नष्ट कर देता है।

अनुपयुक्त माध्यम द्वारा इस के प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय दिखाई पड़ता है जब शूर्पणखा लक्ष्मण द्वारा विरूप किए जाने पर रावण को नीति-धर्म के निम्नलिखित वाक्य सुनाती है :

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पें बिनु सत कर्मा।

बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ।
संग तें जती कुमंत्र तें राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी।

(मानस, अरण्य० २१)

यह शब्दावली विशेष कर के 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा' शूर्पणखा ऐसे पात्र के मुख में और रावण ऐसे सुरारि को संबोधन में शोभा नही देती।

अनवसर इस युक्ति के प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय मिलता है जब कवि वैसे अत्यत उच्च सात विचारों को 'सकोप' राम के मुख में उस क्षण रखता है जब वे समुद्र पर बाण संधान करने का निश्चय करते हैं। प्रसंग की कुछ पंक्तियों के साथ वे इस प्रकार हैं :

बिनय न मानत जलधि जड गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपिन सन सुंदर नीती।
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी।
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा।

(मानस, सुदर० ५७-५८)

इसी प्रकार भुशुंडि का लोमस के क्रोधाभिभूत होने के सवध में लगातार बीस नैतिक अप्रस्तुतों के प्रसंग मे सोचना उपर्युक्त युक्ति का उचित से कुछ अधिक मात्रा में प्रयोग प्रतीत होता है :

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायाबस परिछिन्न जड जीव कि ईस समान॥
कबहुँ कि दुख सबकर हित ताकें। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें।
परद्रोही कि होहि निस्संका। कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें।
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परतियगामी।
भव कि परहिं परमातम बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक।
राजु कि रहै नीति बिनु जानें। अघ कि रहहि हरिचरित बखानें।
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।
लाभु कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना।

हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिय न रामहिं नर तनु पाई।
अघ कि पिसुनता सम किछु आना। धर्म कि दया सरिस हरि जाना।
एहि विधि अमित भाँति मन गुनेऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ।

(मानस, उत्तर० ११२)

राम को मनुष्य मात्र कहने पर क्रुद्ध अंगद का रावण से एक दर्जन ऐसे प्रश्न पूछना जिन का उत्तर नकारात्मक ही मिलने की संभावना थी, यद्यपि बिल्कुल अस्वाभाविक तो नहीं, उसी वस्तु का आधिक्य सा अवश्य लगता है :

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।
बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन।
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।

(मानस, लंका० २६)

६७. इस प्रसग मे हम कवि की इसी प्रकार की एक और प्रवृत्ति पर विचार कर सकते हैं : कभी-कभी कवि अपने पाठको की सौंदर्य-बुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न विपरीत भावनाओं के एकत्र प्रदर्शन द्वारा करता है : वह एक घटना का किसी प्रसंग में वर्णन करता है, और फिर भाव अथवा स्वार्थ-वैचित्र्य के अनुसार उस के प्रभावों का अनेक प्रकार से विकास दिखाता है।

इस प्रकार का एक प्रयत्न कवि मदन-दहन के अवसर पर करता है जब वह घटना को नाना प्रकार के भावो, त्रास, हर्ष, भय, निराशा और सुख को उदय करती हुई दिखाता है :

तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा।
हाहाकार भयउ जग भारी। डरपे सुर भए असुर सुखारी।
समुझि काम सुखु सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी।

(मानस, बाल० ८७)

जनकपुर मे राम जब रंगभूमि मे प्रवेश करते हैं तब कवि उन को देख कर उत्पन्न विभिन्न प्रकार की भावनाओं के वर्णन मे इस प्रकार का आकर्षक प्रयत्न करता है।[1] न्यूनता इतनी ही है कि इस के अधिकाश के लिए कवि को 'भागवत' का सहारा लेना पड़ा है।[2]

[1] मानस, बाल० २४१-४२   [2] भागवत, दशम स्कंध (४३) १७

जनक के उत्तर में लक्ष्मण द्वारा दिए गए भाषण के प्रभाव का वर्णन पुनः इस युक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करता है ; जब एक दिशा में वह एक शंका उत्पन्न करता है, दूसरे में उस का हर्षपूर्वक स्वागत होता है, एक तीसरी दिशा में वह लज्जा का भाव उत्पन्न करता है, और एक अन्य चौथी दिशा में वह बड़ी ही प्रसन्नता देने वाला होता है :

लखन सकोप बचन जे बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले।
सकल लोक सब भूप डेराने। सिय हियँ हरषु जनक सकुचाने।
गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।
(मानस, बाल० २५४)

धनुर्भंग के लिए राम के अग्रसर होने और फिर धनुष के टूटने पर उपस्थित जन-समूहों के स्वार्थ-वैभिन्य जनित विभिन्न भाव[१] कवि को इस प्रयोग के लिए एक अवसर पुनः प्रदान करते हैं। 'परंपरित रूपक' के सहयोग से यह प्रयास और भी आकर्षक बन गया है। किंतु इन दोनों स्थलों का हम ऊपर एक अन्य प्रसंग में उल्लेख कर चुके हैं[२] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

लगभग इसी प्रकार का एक प्रयत्न बाद को, जब कवि राम-राज्य के प्रभाव का वर्णन करता है, किया गया है :

जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका।
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा सिरानी।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।
धरम तड़ाग ग्यान बिज्ञाना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना।
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका।
एहि प्रताप रबि जाकें उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढहिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥
(मानस, उत्तर० ३१)

किंतु इस दृष्टि से कदाचित् सब से अधिक ध्यान देने योग्य पंक्तियाँ वे

[१] वही २५४-५५ तथा २६०-६१ [२] देखिए ऊपर पृ० ३४७, ३४८

हैं जिन में कवि धनुर्भंग के पश्चात् विभिन्न स्वार्थों के दर्शकों में विभिन्न प्रकार की चित्त-वृत्तियो का वर्णन करता है :

> सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी।
> जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।
> श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसें दिवस दीप छबि छूटे।
> सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।
> रामहि लखनु बिलोकत कैसें। ससिहि चकोरकिसोरकु जैसें।

(मानस, बाल० २६३)

'गीतावली' में भी इसी युक्ति के सहारे इस प्रसंग का वर्णन कवि ने बड़ी सुंदरता से किया है। सात विभिन्न भावों का प्रदर्शन सात विभिन्न संबंधों में हुआ है, और वह भी पद के केवल चार चरणों में हुआ है :

> गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहि उठाय लियो।
> नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो।
> आकरष्यो सिय मन समेत हरि हरष्यो जनक हियो।
> भंज्यो भृगुपति गर्व सहित तिहुँ लोक बिमोह कियो।

(गीता० बाल० ८८)

६८. उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के अध्ययन में एक बात समान रूप से मिली होगी : कुशल कवि उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय चाहे अपने विश्वास की दृढ़ता, तीव्र सहानुभूति अथवा तीव्र विद्वेष के कारण लेता है, चाहे अपने पाठकों की सौंदर्य-बुद्धि को प्रभावित करने के लिए, दोनों ही दशाओं में उस की विचार एवं व्यंजन-विशदता अपने चरम उत्कर्ष को जा पहुँचती है; फलतः उस की यह विशेषता भी उस के एक सफल कलाकार होने का सुंदर प्रमाण है।

शैली

६९. किसी लेखक की शैली का अध्ययन साधारण दो प्रकार से किया जा सकता है : या तो केवल उस के व्यक्तित्व के प्रकाशन के रूप में, या उस व्यक्तित्व के क्रमिक विकास की इतिवृत्ति के रूप में, प्रथम उस के स्थिर पक्ष का अध्ययन है, और दूसरा उस के गत्यात्मक पक्ष का। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि दूसरा एक अपेक्षाकृत विस्तृत अध्ययन है, क्यों कि इस के अंतर्गत प्रथम प्रकार का

अध्ययन भी आ जाता है, और कदाचित् दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण भी है। खेद का विषय है कि हमारे कवि की शैली का अध्ययन अभी तक उपर्युक्त दो में से एक प्रकार से भी भली भाँति नहीं हुआ है। यहाँ कवि की शैली का अध्ययन उस की कृतियों के उस काल-क्रम के अनुसार करेंगे जिस में कुछ ही पहले हम ने उन्हें रक्खा है।[1]

७०. कवि की प्रारंभिक रचनाएँ स्वभावतः उस की अप्रौढ शैली की द्योतक हैं। 'राम लला नहछू' में व्यंजना-शक्ति की ऐसी चिंत्य दुर्बलता और शब्द-चयन में ऐसी असफलता लक्षित होती है जो एक सुकवि के लिए सर्वथा असामान्य जान पड़ती है। उदाहरण के लिए कृति की हम निम्न लिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

> जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
> सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइ हो।
> अतिसय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
> तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो॥
> नख काटत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहि हो।
> पदुम पराग मनि मानहुँ कोमल गातहि हो।
> जावक रचि क अँगुरियन्ह मृदुल सुठारी हो।
> प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो॥
>
> (रा० ल० न० १४-१५)

'अतिसय' एक गुणवाचक क्रिया विशेषण अव्यय है, जिस का अर्थ होता है 'अत्यंत',[2] परंतु यह उपर्युक्त उद्धरण में 'पुहुप क माल' के लिए कदाचित् एक संख्यावाचक विशेषण के समान प्रयुक्त हुआ है। 'जातहि' का अर्थ है 'जाते ही', परतु उपर्युक्त उद्धरण मे इस का यह अर्थ प्रतीत नहीं होता ; कवि कदाचित् इस शब्द का प्रयोग वहाँ 'जाता' के अर्थ में करता है, जिस का अर्थ नकारात्मक 'नहिं' की सहायता से 'संभव नहीं है' होता है। इसी प्रकार कदाचित् वह 'पदुम पराग मनि' का प्रयोग 'पदुमराग मनि' के स्थान पर करता है, जो स्पष्ट ही अशुद्ध है। अंत में, उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए 'तौ' शब्द का प्रयोग चिंत्य है। 'तौ' शब्द निश्चयबोधक होता है किंतु उद्धरण में इस की

१ देखिए ऊपर पृ० २५३-५४

२ उदाहरणार्थ : देखिए मानस, बाल० १८४

कोई आवश्यकता नही है, अतः वह प्रसग में निरर्थक है ।

७१. 'वैराग्य संदीपिनी' की शैली भी बहुत कुछ 'रामलला नहछू' के समान ही है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ उक्त कृति से ले सकते हैं :

अमल अदाग शांतिपद सारा। सकल कलेसन करत प्रहारा।
तुलसी उर धारै जो कोई। रहै अनंद सिंधु महँ सोई।
बिबिध पाप संभव जो तापा। मिटहिं दोष दुख दुसह कलापा।
परम सांति सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई।

(वै० सं० ४५–४६)

यदि देखा जावे तो ज्ञात होगा कि उद्धरण मे 'अदाग' 'दाग रहित' शब्द का प्रयोग केवल उस 'अमल' शब्द की अनावश्यक पुनरावृत्ति मात्र लगता है जो उस के कुछ ही पहिले प्रयुक्त हुआ है। इस के अतिरिक्त यह एक अत्यत भद्दे शब्द-निर्माण का उदाहरण है, जो संस्कृत उपसर्ग 'अ' को फ़ारसी शब्द 'दाग़' में जोड़ने से बना है। 'धारइ' 'धारण करता है' क्रिया का कर्म 'सातिपद' है, परंतु वास्तव में 'शातिपद' हृदय मे धारण करने की कोई वस्तु नही है, 'शाति' अवश्य धारण की जाती है। 'सारा' भी एक निरर्थक विशेषण ज्ञात होता है। फिर 'प्रहारा' क्रिया का प्रयोग भी चिंत्य है : उस का कर्म सभवतः 'कलेसन' है, पर 'कलेसन' का अर्थ 'कलेशो को' ही हो सकता है, 'कलेशो पर' नहीं जो 'प्रहारा' के लिए आवश्यक होगा। फलतः भाव की अनुपयुक्तता और असंगति का प्रश्न यदि छोड़ दिया जावे तो भी शैली मे असमर्थता से इन्कार करना कठिन होगा।

७२. 'रामाज्ञा-प्रश्न' की शैली उपर्युक्त रचनाओं की शैली से कुछ भिन्न है। यहीं पहले-पहल हमे उस सरल शैली के दर्शन होते हैं जो कथा-वर्णन के लिए आवश्यक प्रवाहयुक्त भी होती है। 'मानस' की शैली के अंकुर इस मे आसानी से देखे जा सकते हैं। तो भी इस मे उस प्रौढ़ता और चारुता का अभाव है जो हमें आने वाली कृतियो की शैली मे मिलेगी : दोहों के चौथे चरणों मे प्रायः भरती के शब्द होते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी :

रघुबर आयसु अमरपति अमिय सींचि कपि भालु।
सकल जिआए सगुन सुभ सुमिरहु राम कृपालु॥

सादर आनी जानकी हनूमान प्रभु पास।
प्रीति परसपर समउ सुभ सगुन सुमंगल बास॥

(रामाज्ञा० पष्टसर्ग १ -२)

७३. 'जानकी मंगल' की शैली 'मानस' की शैली के अत्यंत निकट है; वस्तुतः वह वही है जो 'मानस' की है; 'मानस' की शैली की सरलता, विशदता, और लालित्य सभी कुछ 'जानकी मंगल' की शैली में भी है, अतर कुछ है तो दोनों की प्रौढ़ता और दोनों के शब्द-भंडार में है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ कृति से ले सकते हैं:

गए सुभाय राम जब चाप समीपहि।
सोच सहित परिवार बिदेह महीपहि॥
कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ।
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥

(जा० मं० १११-१२)

उपर्युक्त उद्धरण मे हम देख सकते हैं कि 'सोच' 'चिंता' संज्ञा 'सोचइ' 'चिंतत होती है' क्रिया रूप में, और इसी प्रकार 'सकुच' 'लज्जा' संज्ञा 'सकोचइ' 'लज्जित करती है' क्रिया रूप में दुहराई गई है। फिर भी 'जानकी मंगल' में कवि अपने कवि स्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है जैसा वह स्वतः कहता है:

बरनि सकै अतुलित छबि अस कवि को हइ।

(जा० म० १२०)

इस लिए आश्चर्य न होना चाहिए यदि हमें 'जानकी मंगल' की शैली में उस साहित्यिकता के दर्शन होते हैं जो प्रारंभ की दो रचनाओं में नहीं मिलती।

७४. तुलसीदास की अनुपमेय शैली का सौंदर्य उस का आर्जव, उस की सुबोधिता, उस की सरलता, उस की चारुता, उस की रमणीयता, उस का लालित्य और उस का प्रवाह है, और यह गुण 'रामचरित मानस' में चरम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। उस महान् कृति की शैली की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या के अतिरिक्त कदाचित् हम यहाँ अधिक कुछ नहीं कर सकेंगे। 'रामचरित मानस' की शैली सरल तथा आडंबर-विहीन है। कवि उसे किसी ऐसी वस्तु से सजाने का प्रयास नहीं करता जो पाठक के ध्यान को काव्य की वस्तु से हटा दे। और वह स्वाभाविक तथा स्वतः प्रवर्तित है: शब्द बिना किसी सतर्क प्रयास के कवि

के मस्तिष्क से अपने आप आते हुए से प्रतीत होते हैं। उस में एक अद्भुत प्रवाह है : कवि के विचारों की परंपरा को, जिस को वह एक के पश्चात् दूसरे को पाठक के सम्मुख रखता है, समझने में बहुधा कोई कठिनाई नहीं होती है। उस की वाक्य-रचना इतनी सीधी है कि उस को समझने के लिए किसी प्रकार के अन्वय की आवश्यकता नहीं पड़ती। तो भी शैली सुललित तथा सुचारु है : प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर आवश्यक प्रतीत होता है, शब्द छोटे हैं और समास-निर्माण की ओर कोई प्रयास नहीं हैं, ध्वनि-संकलन ऐसा है जो श्रोता के कानों को कभी कर्कश नहीं प्रतीत होता। प्रधान रूप से 'मानस' की शैली की विशेषताएँ ये हैं। उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

७५. 'सतसई' की शैली नियम का अपवाद सी प्रतीत होती है। कृति की कथित रचना-तिथि, जैसा कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है,[1] 'रामचरित मानस' के दस वर्ष पश्चात् की है, जो इस बात की द्योतक है कि हमें कृति में 'रामचरित मानस' की अपेक्षा कम प्रौढ़ शैली पाने की आशा न करनी चाहिए। परंतु यह परिणाम वस्तुस्थिति से प्रमाणित नही ठहरता। यदि हम इस सग्रह से ऐसे पद्यो को निकाल देते हैं जो कवि के दूसरे संग्रह दोहावली मे भी पाए जाते हैं,[2] तो शेष दोहे 'रामचरित मानस' की अपेक्षा अप्रौढ़ शैली मे लिखे गए जान पड़ते हैं। यह एक दूसरे अर्थ में भी अपवाद है, यह तुलसीदास की उस सरल सुचारु और प्रवाहयुक्त शैली से बहुत दूर है जो उन की समस्त प्रामाणिक कृतियों मे हमें मिलती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दोहों को ले सकते हैं जो प्रारंभ के ही हैं :

नमो नमो नारायण परमातम परधाम।
जेहि सुमिरत सिधि होत है तुलसी जन मन काम॥
परम पुरुष परधाम वर जापर अपर न आन।
तुलसी सो समुझत सुनत राम सोइ निरवान॥
सकल सुखद गुन जासु सो राम कामना हीन।
सकल कामप्रद सर्व हित तुलसी कहहि प्रवीन॥

[1] देखिए ऊपर पृ० २५३

[2] देखिए परिशिष्ट ट

जाके रोमै रोम प्रति अमित अमित ब्रह्मंड।
सो देखत तुलसी प्रगट अमल सुअचल अखंड।

(सत० प्रथम सर्ग १,३, ४, ५)

उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए शब्दों पर यदि ध्यान दिया जावे तो ज्ञात होगा कि उन में कुछ ऐसे शब्दों और ऐसे रूपों का प्रयोग हुआ है जो हमें कवि की रचनाओं में अन्यत्र नहीं मिलते। उदाहरण के लिए 'नमो नमो' को लीजिए ; 'नम' के 'नमत', 'नमाम', 'नमामि' रूपों का प्रयोग तो तुलसी-ग्रंथावली में मिलता है किंतु 'नमोनमो' का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। इसी प्रकार 'सिधि' 'सिद्धि' का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है किंतु केवल संज्ञा रूप में, कहीं भी उस का प्रयोग किसी कर्म के साथ सकर्मक क्रियापद रूप में नहीं मिलता। फिर 'रोमै रोम' प्रयोग भी चिंत्य है; 'रोम', 'रोम-रोम', 'रोमावलि', 'रोमराजि' आदि प्रयोग तो मिलते हैं, 'रोमै-रोम' प्रयोग तुलसी-ग्रंथावली में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। किंतु केवल प्रयोगों के संबंध में ही भेद नहीं है, शैली में असमर्थ दोष भी पाया जाता है : जैसे 'जापर अपर न आन' में 'अपर' और 'आन' पर्यायवाची है फलतः 'अपर' और 'आन' में से एक निश्चयपूर्वक भरती का शब्द है। केवल प्रयोग-वैचित्र्य की बात होती तो विशेष कठिनाई नहीं थी किंतु इस पिछले प्रकार की त्रुटियों का मिलना जो 'मानस' के १० वर्ष बाद की रचना मे न होनी चाहिए थी इस संदेह को पुष्ट करता है कि 'सतसई' अपने प्रस्तुत रूप में हमारे कवि की रचना नहीं है। वह सरलता, वह पद-लालित्य, और वह आदर्श प्रवाह जो हमें कवि की निश्चयपूर्ण रचनाओं में मिलते हैं इन दोहों में नहीं हैं यह आसानी से देखा जा सकता है।

७६. दूसरी ओर 'पार्वती मंगल' की शैली, जैसी कि आशा करनी चाहिए थी, मूल रूप में वैसी ही है जैसी 'रामचरित मानस' की है। यह फिर उसी आर्जव, चारुता, एवं प्रवाह से युक्त है जो हमें 'जानकी मंगल' की शैली में मिलते हैं किंतु उक्त कृति की अपेक्षा संभवतः वह अधिक प्रौढ़ है। 'मानस' की शैली की प्रधान विशेषताएँ बहुत कुछ अंशो में 'पार्वती मगल' की शैली में भी पाई जाती हैं, अतः हमे इस कृति की शैली के अधिक विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी :

जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीति रीति न बात की।
सिव साधु निंदकु मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी।

सुनि बचन सोधि सनेहु तुलसी साँच अविचल पावनो।
भए प्रगट करुनासिंधु संकर भाल चंद्र सुहावनो॥

(पा० मं० ७१)

७७. 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' तुलसीदास के कवि-जीवन के एक विस्तृत काल-क्षेत्र से संबंध रखती हैं,[1] इस लिए इन के गीतों के भिन्न-भिन्न समूहों की शैलियों में कुछ अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। किंतु इन समूहों का आकार-प्रकार और काल-क्रम भली भाँति निश्चय हुए विना हम इस सूक्ष्म अंतर की समीक्षा मे नहीं जा सकते, इस लिए हम यहाँ अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि इन गीतों की शैली गीतात्मक भावाभिव्यक्ति के लिए माध्यम के रूप में कहाँ तक सफल हुई है यह देखने का प्रयत्न करे।

आतरिक प्रेरणा, आवेग, प्रसाधन की उपेक्षा और आत्माभिव्यंजन की प्रमुखता प्रत्येक उत्कृष्ट गीति-काव्य की शैली के लक्षण हैं। किंतु जब गीति-काव्य शुद्ध गीति-काव्य नही रहता, और विशेष कर के जब वह किसी कथा का आश्रय ले कर चलता है, तो उत्कृष्ट गीति के यह लक्षण हमे उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं जिन स्थलों पर गीतिकार की चित्त-वृत्ति पूर्ण रूप से रमती है। इस लिए 'विनय पत्रिका' मे तो—स्तोत्रों को छोड़ कर—गीति-काव्य की शैली की उपर्युक्त विशेषताएँ प्रायः सर्वत्र मिलती हैं किंतु 'गीतावली' मे यह विशेषताएँ सर्वत्र नही मिलतीं। अन्यथा कवि की शैली की मूल विशेषताएँ अर्थात् आर्जव, लालित्य और प्रवाह दोनों ही पद-संग्रहों में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित गीतों को ले सकते हैं :

आजु को भोर और सो माई।
सुनौं न द्वार बेद बंदी धुनि गुनि गन गिरा सोहाई।
निज निज सुंदर पति सदननि तें रूप सील छवि छाईं।
लेन असीस सीय आगे करि मोपै सुतवधू न आईं।
बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुबर कहौं री सुमित्रा माता।
तुलसी मनहुँ महासुख मेरो देखि न सकेउ विधाता॥

(गीता०, अयोध्या० ५१)

[1] देखिए ऊपर पृ० २३३–४४

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।
पायो चारु नाम चिंतामनि उर कर तें न खसैहौं।
स्याम रूप रुचिरुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।'
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन निजबस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं॥

(विनय० १७५)

७८. 'कृष्ण-गीतावली' के गीतों की शैली में 'गीतावली' तथा विनयपत्रिका' की अपेक्षा अधिक एकरूपता प्रतीत होती है। एक श्रेष्ठ गीतात्मक शैली की उपर्युक्त विशेषताएँ यथेष्ट मात्रा में इस संग्रह में भी पाई जाती हैं और वे संपूर्ण काव्य मे समान रूप से विभक्त हैं। कवि की शैली की आर्जव, लालित्य तथा प्रवाह की सामान्य विशेषताएँ भी उस की दूसरी कृतियों की भाँति इस कृति में विद्यमान हैं। किंतु, 'कृष्ण गीतावली' की शैली मे एक विचित्रता है जो कि उस की अपनी है : वह यह है कि उस के गीतों में उन शब्दों के प्रयोग के कारण एक स्थानीय वातावरण लाने का प्रयत्न किया गया है जो केवल ब्रज-प्रदेश में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'थाकु'[1] (अभाव), 'ठाली'[2] (बेकार), 'सिगरी'[3] (संपूर्ण), भटू[4] (प्रिय), 'लगरी'[5] (झगड़ालू) इत्यादि। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित गीत ले सकते हैं :

कबहुँ न जात पराये धामहिं।
खेलत ही देखौ निज आँगन सदा सहित बलरामहिं।
मेरे थाकु कहाँ गोरस को नवनिधि मंदिर यामहिं।
ठाली ग्वालि ओरहने के मिस आइ बकहि बेकामहिं।
हौं बलि जाउँ जाहु कितहूँ जनि मातु सिखावहि स्यामहिं।
बिनु कारन हठि दोष लगावति तात गए गृह तामहिं।
हरि मुख निरखि परुष बानी सुनि अधिक अधिक अभिरामहिं।
तुलसिदास प्रभु देख्योइ चाहति श्रीउर ललित ललामहिं॥

(कृ० गी० ५)

[1] कृ० गी० १३
[2] वही
[3] वही २
[4] वही
[5] वही १२

७९. शैली की दृष्टि से 'बरवै' को दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है : एक बालकांड से लंकाकांड तक, और दूसरा उत्तरकांड। प्रथम भाग की शैली केवल सरल और प्रवाहयुक्त ही नहीं है बल्कि ललित भी है, परंतु दूसरे भाग की सरल और प्रवाहयुक्त तो है अपेक्षाकृत ललित नहीं है। प्रथम भाग की शैली अत्यंत रमणीय है : छोटे पर उपयुक्त शब्दों का चयन और सामान्यतः केवल बारह शब्दों में खंड-चित्रांकन का प्रयास प्रशंसनीय है। द्वितीय अंश की शैली में इस प्रकार की विशेषता नहीं है। दोनों प्रकार के अंशों के उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित छंदों को ले सकते हैं :

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥

(बरवा०, बाल० १-२)

चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥
पय नहाइ फल खाहु परिहरिय आस।
सीय रामपद सुमिरहु तुलसीदास॥

(बरवा०, बाल० ४३-४४)

८०. 'दोहावली में कुछ दोहे कवि की दूसरी रचनाओं से लिए गए हैं,[१] और कुछ उस के अपने हैं। यदि हम ऐसे दोहों को जो कवि की दूसरी प्रामाणिक कृतियों में भी पाए जाते हैं, अलग कर देते हैं और अपना ध्यान 'दोहावली' के अपने दोहों पर ही केन्द्रित करते हैं तो हम बड़ी आसानी से उन्हें कवि की शैली के तीनों मौलिक गुणों अर्थात् सरलता, प्रवाह और लालित्य अथवा केवल दो गुणों सरलता और प्रवाह से युक्त होने के अनुसार दो भागों में विभक्त कर सकते हैं जैसा कि ऊपर हम ने 'बरवै' के संबंध में किया है। किंतु यह प्रतीत होगा कि अधिकांश उत्तरोक्त प्रकार के हैं, और इन में काव्य की दृष्टि से बहुत कम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। यदि दोनों प्रकार के दोहों

[१] देखिए परिशिष्ट ङ

को तुलनात्मक दृष्टि से ध्यानपूर्वक पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि प्रथम में छंद-रचना कला की भावना से प्रेरित होकर की गई है[1] जब कि दूसरे में यह भावना या तो है ही नहीं और या तो नितात गौण है। दोनों प्रकार के दोहों के उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित को ले सकते हैं :

हिय फाटहु फूटउ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम॥
रामहिं सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥

(दोहा० ४१-४२)

तुलसी संगति पोच की सुजनहिं होति मदानि।
ज्यों हरि रूप सुताहि तें कीन जुहारी आनि॥
कलि कुचालि सुभ मति हरनि सरलै दंडै चक्र।
तुलसी यह निश्चय भई बाढ़ि लेत नव बक्र॥

(दोहा० ५३६-५३७)

ऐसा दोहा जिस का संबंध निश्चित तिथियों के साथ है केवल निम्नलिखित है, जिस का समय, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[2] सं० १६५६ और १६७६ के बीच किसी समय होगा :

अपनी बीसी आपही पुरिहि लगाए हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ॥

(दोहा० २४०)

८१. 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' के समान 'कवितावली' भी तुलसीदास के कवि-जीवन के एक विस्तृत-काल से, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, संबंध रखती है, और एक अत्यत मिश्रित प्रकार की रचना है।

[1] उदाहरणार्थ : दोहा० (७), (२०), (२४), ४१, ४२, (६१), २४४, २५३, २६८, (२७७-२९६), २९७, २९८, (२९९), ३००, (३०१-३०४), ३०५, (३०६), ३०७, (३०८), (३०९), ३१०-३१४, (३१५), ३१६, (३१७), ३१८-३२०, ३३०, ३३१ (३७७), (५७२), कोष्ठकों में ऐसे दोहों के अंक हैं जो सत० मे भी पाए जाते हैं

[2] देखिए ऊपर पृ० २४७

अतः यह स्वाभाविक ही है कि इस संग्रह-ग्रंथ के विभिन्न अंशों की शैलियों में हमें पर्याप्त अतर दिखाई पड़े। किंतु यहाँ हम एसे अंतर के निरीक्षण का प्रयास नहीं कर सकते। कदाचित् हम यहाँ इतना ही कर सकते हैं कि उस की शैली के प्रधान अंगों का निर्देश कर दें।

शैली की दृष्टि से 'वरवै' की ही भाँति 'कवितावली' और 'वाहुक' को दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है: एक बालकाड से लकाकाड तक, और दूसरा उत्तरकाड तथा 'बाहुक'। प्रथम भाग की शैली न केवल सरल और प्रवाह युक्त है वरन् ललित भी है, परंतु दूसरे भाग की शैली सरल और प्रवाहयुक्त तो है, ललित अपेक्षाकृत नहीं है। वस्तुतः प्रथम भाग की शैली अत्यत रमणीय है। छोटे पर उपर्युक्त शब्दों के चयन के साथ-साथ वाक्य-निर्माण की एक विशेषता दर्शनीय है: प्रायः हम देखते हैं कि छंद के चार चरणों मे से प्रत्येक एक वाक्य का निर्माण करता है और ये वाक्य परस्पर समान रूप से संतुलित प्रतीत होते हैं। दूसरे भाग में भी यद्यपि ये विशेषताएँ मिलती हैं पर अपेक्षाकृत वहुत कम मात्रा में मिलती हैं। पहले प्रकार के छंदों के उदाहरण मे हम निम्नलिखित को ले सकते हैं:

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिकसे।
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि मैं समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे॥

(कविता० बाल० १)

और, दूसरे प्रकार के छंदों के उदाहरण मे हम निम्नलिखित को ले सकते हैं:

बालि से बीर बिदारि सुकंठ थप्यो हरषे सुर बाजने बाजे।
पल मैं दल्यो दासरथी दसकंधर लंक बिभीषन राज बिराजे।
राम सुभाव सुने तुलसी हुलसे अलसी हमसे गल गाजे।
कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब नेवाज नेवाजे॥

(कविता० उत्तर० १)

यदि दोनों छंदों को ध्यान पूर्वक पढ़ा जावे तो ऐसा ज्ञात होगा कि प्रथम में कवि ने छंद-रचना कला की भावना से प्रेरित होकर की है, जब कि दूसरे में या तो ऐसी कोई भावना दिखाई नहीं पड़ती, और या तो वह बहुत गौण रूप में दिखाई पड़ती है। किंतु, 'कवितावली' मे ऐसे छंद अनेक हैं जिन का संबंध,

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[1] निश्चित तिथियों के साथ स्थापित किया जा सकता है। इन में से एक उदाहरण के लिए लिया जा सकता है, जिस का समय सं० १६६९ और १६७१ के बीच किसी समय होगा[2] :

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गए भूमिचोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार राम दयाधाम
रावरी ई गति बल बिभव बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा बिराजमान बिरुदहि
महाराज आजु जो न देत दादि दीन की॥

(कविता०, उत्तर० १७७)

८२. कवि की शैली का सिंहावलोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि कवि की शैली के मौलिक गुण हैं उस का आर्जव, उस की सरलता, उस की सुबोधता, उस की निर्व्याजता, उस की अल्पालंकार-प्रियता, उस की चारुता, उस की रमणीयता और उस का प्रवाह। ऐसा प्रतीत होगा कि शैली की ये विशेषताएँ अपेक्षाकृत उस के जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं। ये वास्तव मे कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को, उस के सादे जीवन और उच्च विचार के आदर्श को, उस की स्वभावगत सरलता एवं आडंबर-विहीनता के उस के प्रेम को, उस के ध्येय की एकाग्रता को, और इन सब से भी अधिक अपने विषय में उस की पूर्ण आत्म-विस्मृति और उस के साथ उस की पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा अधिक व्यक्त करती है, और निस्संदेह शैली-विषयक ये विशेषताएँ उसे प्रतिभाशाली कलाकारों में स्थान देती हैं।

८३. संक्षेप में कवि की कला का यही परिचय है। उपर्युक्त समस्त शीर्षकों के अध्ययन में हमें ज्ञात हुआ होगा कि उस की कृतियों का नितांत मौलिक अंश भी चरित्र-चित्रण, भाव-चित्रण, वस्तु-विन्यास, नख-शिख, कल्पना-सृष्टि, उक्ति-वैचित्र्य तथा शैली आदि विविध विषयों में कलात्मक परिणामों का ऐसा

[1] देखिए ऊपर पृ० २४९ [2] वही

बाहुल्य प्रस्तुत करता है जो असाधारण है, और फिर भी विशेषता यह है कि उन मे उस की ओर से सतर्क प्रयास का प्रायः अभाव और अपने व्यक्तित्व की अक्षुण्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र प्रतिभासित होते हैं। फलतः मैं समझता हूँ कि हमारे कवि की ये विशेषताएँ उसे ससार के नैसर्गिक प्रतिभासपन्न महान् कलाकारो में स्थान देने के लिए पर्याप्त कारण उपस्थित करती हैं।

६

आध्यात्मिक विचार

१. तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन मे सम्यक् उपयोग अभी तक केवल 'रांचरित मानस' का किया गया है, और कवि के शेष ग्रंथों की उपेक्षा की गई है। यद्यपि यह सत्य है कि इस विषय में 'मानस' जितना संपन्न है उतना उस की अन्य कृतियाँ नहीं हैं, फिर भी कदाचित् उस की एक त्रुटि को, और अपेक्षाकृत कुछ अन्य कृतियों की एक विशेषता को, सर्वथा विस्मृत कर देना ठीक न होगा : कभी-कभी यह हो सकता है कि 'मानस' मे "महाकवि ने कोई बात स्वतः या अपने पात्रों के द्वारा केवल इस कारण कह या कहला दी है कि वह एक 'श्रुतिसम्मत' या 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' कथा कहने बैठा था। कम से कम एक बात से हम लोग हमें आशा है अस्वीकृति नहीं प्रकट कर सकते : 'मानस' में उसे वह अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं था जो उसे अपने कुछ अन्य ग्रंथों में था। इस लिए यह नितात असंभव नहीं कि इस सबध में उस की उन अन्य कृतियों की उपेक्षा से हमें केवल अर्धसत्यो का लाभ हुआ हो।"[1] फलतः हमें 'मानस' के अतिरिक्त कवि की ऐसी कृतियों का भी इस संबंध में अध्ययन करना आवश्यक है जिन में कवि को अपेक्षाकृत अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य था। कवि के समस्त ग्रंथों में से केवल 'वैराग्य संदीपिनी', 'सतसई' 'विनय पत्रिका', 'दोहावली', तथा 'बरवा' और 'कवितावली' के उत्तरकाड ही ऐसे दूसरे प्रकार के आधार हो सकते हैं। किंतु 'वैराग्य संदीपिनी' और 'सतसई' की प्रामाणिकता के विषय में सदेह है, और वह अन्यत्र प्रकट किया जा चुका है।[2] 'दोहावली', तथा 'बरवा' और 'कवितावली' के उत्तरकाडों का न तो यथेष्ट रूप से संपादन हुआ है[3] और न उन से कवि के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए विशेष सामग्री ही मिलती है, इस लिए 'मानस' के अतिरिक्त

१ देखिए ऊपर पृ० ३२–३३ २ वही १००–१०२
३ वही २०५–२०८

'विनय पत्रिका' का ही अध्ययन इस संबंध मे विशेष रूप से किया जा सकता है। प्रस्तुत विवेचन में मै ने इसी लिए 'मानस' का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए 'विनय पत्रिका' का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है। और भी, दोनों अध्ययन मैं ने अलग-अलग प्रस्तुत किए हैं, क्यों कि एक तो दोनों ग्रंथों मे विषय और विषय-निर्वाह संबंधी दृष्टिकोण मे अतर है, और दूसरे दोनों के रचना-काल में भी एक विशेष प्रकार का अंतर है। 'मानस' कवि के जीवनांत के लगभग ५० वर्ष पूर्व की कृति है, जब कि 'विनय पत्रिका' में 'मानस' के कुछ वर्ष पूर्व से लेकर कवि के जीवनात के अपेक्षाकृति बहुत निकट तक की रचनाओ का सग्रह है, वह अपने दीर्घ रचना-काल में जितना ही कवि के कविता-काल के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रारंभिक और मध्यकालीन कविता-काल में पड़ती है लगभग उतना ही उत्तरार्द्ध अर्थात् उत्तर और कदाचित् अंतिम रचना-काल मे भी पड़ती है।[1]

२. इस अध्ययन के बाद भी एक प्रश्न रह जाता है : कवि के आध्यात्मिक सिद्धातों पर प्रभाव किस मत का है और वह भी किस अश तक है। यह प्रश्न कदाचित् सब से पीछे उठना चाहिए था—कम से कम उस समय जब कि उस के विचारो का पूर्ण निश्चय कर लिया जाता—किंतु हुआ अधिकतर यह है कि अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धातों को लेकर कवि के आध्यात्मिक सिद्धातों को बिना एक स्वतंत्र ढग से समझे इस झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है कि गोस्वामी जी अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी, और इस संबंध मे उन्हें एक न एक मत का सिद्ध करने के लिए खींच-तान भी की गई है। और यदि उन के सिद्धात-निरूपण के बाद यह प्रश्न उठाया गया तो कहा गया कि "स्वतंत्र रूप से उन्हो ने कोई नई बात कहने का दावा नहीं किया, और जो कुछ कहा श्रुतिसम्मत ही कहा। उन की नवीनता यदि कुछ थी तो केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग मे थी। परंतु इतना होते हुए भी उन्हों ने जो सिद्धात 'रामचरित मानस' द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिए हैं उन पर उन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई है। इस लिए यदि हम उन सिद्धातों के समूह को 'तुलसी मत' कह दे तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।"[2] किंतु मेरा ध्यान है कि तुलसीदास ने उपयुक्त

[1] देखिए ऊपर पृ० २४०–४३

[2] डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र : तुलसी दर्शन पृ० ३०७

विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग का भी कोई असामान्य प्रयास अपने मत के विषय में नहीं किया है। 'अध्यात्म रामायण' के मेरे अध्ययन से मुझे विश्वास हो गया है कि जो कुछ उन्हें 'अध्यात्म रामायण' में सिद्धात रूप मे मिला प्रायः उसी का उन्हों ने एक तर्क-सगत विकास किया। फलतः 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' के आधार पर तुलसीदास के आध्यात्मिक सिद्धात-निर्धारण के अनंतर मैं ने इसी अध्याय में 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धात-निर्धारण का भी प्रयत्न किया है, और तदनतर इस विषय पर विचार किया है कि 'तुलसी मत' कहाँ तक उस का एक तर्क-संगत विकास है और कहाँ तक उस में नवीनता है। विश्वास है कि इस प्रकार का वैज्ञानिक अनुसंधान यदि तुलसीदास को प्रत्येक क्षेत्र में मौलिकता प्रदान करने में कदाचित् किसी अंश तक बाधक भी सिद्ध हो पर वास्तविक तुलसीदास को समझने में हमारा सहायक होगा, और हमारे अध्ययन का उद्देश्य भी यही होना चाहिए, कदाचित् इस संबंध में कोई मतभेद न होगा।

रामचरित मानस

३. (१) राम परम आत्मा हैं। विश्व के प्राणिमात्र मे यही 'जीव' हो कर व्याप्त हैं (ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सीता 'मूलप्रकृति' होकर समस्त अनात्म सत्ता में व्याप्त हैं) :

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
(मानस, बाल० ७)

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।
(मानस,बाल० ८)

निर्गुण ब्रह्म यही हैं :

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।
(मानस, बाल० १३)

इन्हीं का ध्यान बड़े बड़े मुनि, योगी, और सिद्ध भी किया करते हैं :

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।

सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

(मानस, बाल० ५१)

और यही परमेश्वर और परात्पर नाथ हैं :

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावरनाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

(मानस, बाल० ११६)

विश्व की समस्त चेतना के मूल स्रोत यही हैं :

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।

(मानस, बाल० ११७)

यही वेदोक्त ब्रह्म हैं :

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिन काना। कर बिनु करम करइ बिधिनाना।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान॥

(मानस, बाल० ११८)

इन्हीं राम को पुत्र रूप मे प्राप्त करने के लिए मनु-सतरूपा ने तपस्या की थी :

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे।
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।
ऐसेहु प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।

(मानस, बाल १४४)

मनु-सतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न हो कर यही ब्रह्म राम-रूप मे प्रकट हुए थे, और इन्हीं ने उन का पुत्र बनना स्वीकार किया था। इन का वह स्वरूप भी धनुर्धर राम का था :

करि कर सरिस सुभग भुज दंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा।

और फिर यही दशरथ-कौशल्या के पुत्र रूप में अवतरित हुए :

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।

(मानस, बाल० १९८)

और अनेक प्रकार की लीलाएँ उन को सुख देने के लिए कीं :

ब्यापक अकल अनहि अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप।

(मानस, बाल० २०५)

जनक इन्हें भली भाँति पहचान कर विदा इस प्रकार देते हैं :

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुन रासी।
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई।
नयन बिषय मोकहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईस अनुकूल॥

(मानस, बाल० ३४१)

निषाद को उपदेश देते हुए लक्ष्मण भी बहुत कुछ उपर्युक्त शब्दों में ही इन राम का परिचय देते हैं :

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा।
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नेति नहि निरूपहिं बेदा।
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहि जग जाल॥

(मानस, अयोध्या० ९३)

वाल्मीकि भी राम से उन के सबंध के अभिज्ञान का उल्लेख इसी प्रकार करते हैं :

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अलख अपार नेति नेति नित निगम कह॥

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। करहु कहहु जस प्राकृत राजा।

(मानस, अयोध्या० १२६-२७)

बदरों के निराश होने पर जामवंत भी उस के संबंध में इसी प्रकार कहते हैं :

तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।

(मानस, किष्किंधा० २६)

परामर्श लेने पर विभीषण भी रावण से यही कहते हैं :

तात राम नहि नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता।
गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुप तनुधारी।

(मानस, सुंदर० ३९)

रावण-वध के अनंतर देवगण भी स्तुति में कहते हैं :

तुम्ह सम रूप ब्रह्म अविनासी। सदा एक रस सहज उदासी।
अकल अगुन अघ अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय।

(मानस, लंका० ११०)

और अंत में, भुशुंडि भी गरुड़ को उपर्युक्त शब्दों में राम का परिचय देते हैं :

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा।
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।...

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

(मानस, उत्तर० ७२)

(२) राम जिस प्रकार जगत की समस्त चेतना के मूलस्रोत होने के नाते 'ज्ञान-स्वरूप' हैं, उसी प्रकार माया के स्वामी होने के नाते 'गुणधाम' 'सगुण' ब्रह्म भी हैं :

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।

(मानस, बाल० ११७)

जनक इसी लिए उन्हें 'निर्गुण' बतलाते हुए 'गुनरासी' कहते हैं :

चिदानंदु निरगुन गुनरासी।

(मानस, बाल० ३४१)

सुतीक्ष्ण भी इसी प्रकार उन्हें 'निर्गुण सगुण' कहते हैं :

निर्गुण सगुण विषम सम रूपं।

(मानस, अरण्य० ११)

और सारूप्य प्राप्ति के अनंतर जटायु भी राम को 'निर्गुण' कहते हुए 'सगुण' तथा 'गुण प्रेरक' कहता है :

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही।

(मानस, अरण्य० ३२)

इसी प्रकार निराश बंदरों को राम का बोध कराते समय जामवंत भी राम को 'निर्गुण' के साथ-साथ 'सगुण' कहते हैं :

तात राम कहुँ नर जनि जानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज मानहु।
हम सेवक सब अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

(मानस, किष्किंधा० २६)

उत्तरकांड में राज्याभिषेक के अनंतर राम की स्तुति करते हुए वेद भी इन्हीं शब्दों में उन को संबोधन करते हैं :

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने। ..
जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं;
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥

(मानस, उत्तर० १३)

और सनकादि भी कहते हैं :

जय निर्गुन जय जय गुनसागर।

(मानस, उत्तर० ३४)

वस्तुतः 'निर्गुण' और 'सगुण' में कोई भी अंतर नहीं है ; 'निर्गुण' ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण 'सगुण' हो जाता है :

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिय उपल बिलग नहिं जैसें।

(मानस, बाल० ११६)

(३) राम ने अपनी 'माया' के द्वारा ही मनुष्य शरीर धारण किया :

माया मानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ।

(मानस, किष्किंधा० १)

(४) इस 'सगुण' ब्रह्म का चरित्र साधारणतः इस प्रकार का हुआ करता है कि उस का रहस्य पूरा पूरा ज्ञात नहीं होता :

राम के चरित सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।

(मानस, लंका० ७४)

इस 'सगुण' रूप की अपेक्षा 'निर्गुण' रूप का समझना सरल है, और उस के समझने में भूल होने की उतनी आशंका भी नही होती है जितनी इस 'सगुण' रूप के समझने में :

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(मानस, उत्तर० ७३)

राम की इस सगुण लीला को समझ कर उस से आनंद लेने वाले इने-गिने बुद्धिमान ही हुआ करते हैं। बुद्धिहीन लोग उसे देख कर मोह-मुग्ध हो जाते हैं :

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।

(मानस, अयोध्या० १२७)

जो राम स्वतः विज्ञान-स्वरूप हैं वह मोहमुग्ध नहीं हो सकते :

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा।
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।

(मानस, बाल० ११६)

राम विषयक मोह की यह धारणा हमारे ही भ्रम और अज्ञान के कारण होती है :

निजभ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी।
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहिके भाएँ।
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।

(मानस, बाल० ११७)

राम विषयक्र यह मोहाभास हमारी ही मति की मलिनता के कारण होता है; इस में हमारा ही दृष्टि-दोष होता है :

जे मति मलिन विषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी।
नयन दोष जाकहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह कोई।
जब जेहिं दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा।
नौकारूढ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी।
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा।
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जवनिका बहु बिधि लागी।
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं।

काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ परे तम कूप॥

(मानस, उत्तर० ७३)

राम तो सगुण लीलाएँ केवल एक नट की भावना ले कर करते हैं, और वे सदैव ही अपनी उस सृष्टि से परे रहते हैं। जो रूप वे धारण करते हैं उस से वस्तुतः वह वही हो नहीं जाते। उन की लीला के इस रहस्य को अज्ञानी लोग नहीं समझ पाते। इसी लिए भगवान की सगुण लीला उन को विमोह में डाल देती है :

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी।

(मानस, उत्तर० ७२)

(५) राम विष्णु के अवतार हैं। उन्हीं ने अपने भक्त उन द्वारपालों को मुक्त करने के लिए अवतार लिया जो तीसरे जन्म में विप्र-शाप से कुंभकर्ण और रावण हुए थे :

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ।

बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।
भये निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन प्रकट सुर बिजई जग जान॥
मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना।
एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी।

(मानस, बाल० १२२-२३)

जलधर की स्त्री के शाप के कारण भी, जब वह रावण हो कर उत्पन्न हुआ, उन्हों ने रामावतार धारण किया :

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥
तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ।

(मानस, बाल० १२३-२४)

नारद के शाप देने पर भी विष्णु ने ही राम हो कर अवतार ग्रहण किया। 'नारद-मोह' प्रकरण[1] इसी लिए लिखा गया है। सीता-हरण के अनंतर नारद जब राम से मिलते हैं तो अपने उस मोह वाले प्रसंग की बातें चलाते हुए पूछते भी हैं :

राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया।
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।

(मानस, अरण्य० ४३)

और राम भी उस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन की शंका का समाधान करते हैं।[2]

चित्रकूट के वैभव का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि जिस पर्वत पर (चित्रकूट में) राम निवास करते हैं उस की सुंदरता का क्या कहना है क्यो कि राम विष्णु हैं और क्षीरसागर छोड़ कर आए हुए हैं :

सो बनु सैल सुभायँ सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू।

[1] मानस, बाल० १२४-३९

[2] मानस, अरण्य० ४३-४४

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु राम रहे आई।

(मानस, अयोध्या० १३९)

अत्रि 'इंदिरा पति' कह कर उन का स्तवन करते हैं :

नमामि इंदिरापतिं सुखाकरं सतां गतिं।

(मानस, अरण्य० ४)

सुतीक्ष्ण को राम अपने चतुर्भुज रूप में ही पहले दर्शन देते हैं :

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप दिखावा।

(मानस, अरण्य० १०)

यह राम रमानिवास हैं :

एवमस्तु कहि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा।

(मानस, अरण्य० १२)

अभिषेक के अवसर पर इन विष्णु के अवतार राम तथा लक्ष्मी की अवतार सीता को देख कर माताएँ हर्षित होती हैं और अपने को धन्य मानती हैं :

राम बाम दिसि सोभित रमा रूप गुन खानि।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि॥

(मानस, उत्तर० ११)

अभिषिक्त राम का जो स्तवन शिव करते हैं वह उन को विष्णु मान कर करते हैं :

जय राम रमा रमनं समनं।..
अवधेस सुरेस रमेस बिभो।...
प्रनमामि निरंतर श्री रमनं।...
बार बार बर माँगउँ हरपि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४)

अयोध्या की संपदा और वैभव का वर्णन करते हुए कहा जाता कि जहाँ पर लक्ष्मी के पति स्वतः राजा हैं उस पुर की संपदा का गान सम्यक् रूप से किस प्रकार किया जा सकता है :

जहँ भूप रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइए।

(मानस, उत्तर० २८)

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।

(मानस, उत्तर० २९)

अंत में, काग भुशुंडि भी राम से वरदान-प्राप्ति का उल्लेख करते हुए 'रमा-निवास' शब्द द्वारा उन को अभिहित करते हैं :

सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास॥

(मानस, उत्तर० ८३)

(६) विष्णु परमात्मा हैं; वे ब्रह्म हैं। शिव जब अन्य देवताओं के वैकुंठ तथा क्षीरसागर जा कर हरि से पृथ्वी का भार उतारने के लिए प्रार्थना करने की सम्मति के उत्तर मे कहते हैं :

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।

(मानस, बाल० १८५)

और ब्रह्मा उन की इस सम्मति से प्रभावित होकर वही के वहीं उन हरि का स्तवन करने लगते हैं, इस स्तवन मे वे उन हरि को

जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।

कहते हुए भी उन्हें

गो द्विज हितकारी, जय असुरारी, सिंधुसुता प्रिय कंता।

(मानस, बाल० १८६)

कहते हैं, और प्रार्थित हरि इस स्तुति से प्रसन्न हो कर आकाशवाणी द्वारा कहते हैं :

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा।
तिन्हकें गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई।

(मानस, बाल० १८७)

विष्णु के अवतार के जिन कारणों का उल्लेख ऊपर हुआ है उन में से दो का स्पष्ट उल्लेख यहाँ पर हो जाता है।

कौशल्या उन के अवतार ग्रहण करने पर उन के चतुर्भुज रूप का स्तवन करती हुई उन्हें उन समस्त ब्रह्मांडो का धारण करने वाला कहती है जो माया द्वारा निर्मित होते हैं :

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।

(मानस, बाल० १९२)

इसी प्रकार, ब्रह्मा रावण-वध के अनंतर राम-सीता का जो स्तवन करते हैं उस में उन्हें

छबिधाम नमामि रमा सहितं।...
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं।...

कहते हुए ब्रह्म के साथ इस प्रकार उन का तादात्म्य स्थापित करते हैं :

अज व्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा।
गुन ग्यान निधान अमान अजं। नित राम नमामि विभुं विरजं।

(मानस, लंका० १११)

और कथा के अंतिम दृश्य में सनकादिक भी राम का स्तवन करते हुए 'निर्गुण', 'सगुण', तथा 'इंदिरारमण' कहते हैं :

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय।
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर।
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर।
ग्यान निधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद।
तग्य कृतग्य अग्यता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन।
सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय।

(मानस, उत्तर० ३४)

किंतु, अन्यत्र तुलसीदास राम को विष्णु से श्रेष्ठ बतलाते हैं। ब्रह्मा तथा शिव की भाँति वह भी राम के चरणों की वंदना, और उन की सेवा करते हैं। राम के ब्रह्मत्व पर शंका होने पर सती यही दृश्य देखती हैं :

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध रूप देखे सब देवा।

(मानस, बाल० ५४)

मनु-सतरूपा इन्हीं राम के उपासक हैं। विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव कोई भी उन्हें वर-याचना के लिए तैयार नहीं कर पाते :

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।
माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए।

(मानस, बाल० १४५)

और इन राम के प्रकट होने पर मनु उन की अभ्यर्थना यह कहते हुए करते हैं कि उन के चरण विष्णु, ब्रह्मा, तथा शिव द्वारा पूजित हैं :

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू।
(मानस, बाल० १४६)

इन राम के अंश मात्र से अनेक विष्णु उत्पन्न होते हैं। इन्ही राम को मनु-सतरूपा पुत्र रूप में प्राप्त करना चाहते थे :

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।
(मानस, बाल० १४४)

विष्णु राम से भिन्न हैं। राम का विवाह देखने वह भी जनक नगर पहुँचते हैं और उन को दूलह वेष में देख कर उन पर मोहित हो जाते हैं :

हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
(मानस, बाल० ३१७)

विष्णु अन्य देवताओं के साथ ब्राह्मण के वेष में उन के विवाह में सम्मिलित भी होते हैं :

बिधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ।
कपट बिप्र बर बेषु बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए।
(मानस, बाल ३२१)

राम ब्रह्मा, शिव, तथा विष्णु को भी नचाने वाले, अर्थात् अपनी माया से उन्हें ·करने वाले हैं, और वे भी राम की 'लीलाओं' का रहस्य—क्योंकि जो कुछ भी वह करते हैं वह सब उन की 'लीला' ही है—नहीं जानते। वाल्मीकि का स्तवन इसी प्रकार करते हैं :

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननहारा।
(मानस, अयोध्या० १२७)

के सच्चे भक्त विष्णुत्व प्राप्त कर के भी उस से उन्मत्त नहीं होते। भरत ही भक्त हैं। स्वतः राम उन के संबंध में कहते हैं :

भरतहि होहि न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ॥
(मानस, अयोध्या० २३१)

भरत की मति फेरने के लिए जब देवता शारदा की शरण में

जाते हैं तो वह कहती है कि औरों का क्या प्रश्न, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु तक की माया भी भरत की मति को भ्रम में नहीं डाल सकती :

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी।
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।

(मानस, अयोध्या० २९५)

विष्णु भी ब्रह्मा तथा शिव की भाँति राम के आज्ञानुवर्ती हैं। वशिष्ठ अयोध्या की सभा में ऐसा ही कहते हैं :

बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला।
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई।
करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही के।

(मानस, अयोध्या० २५४)

राम का ही बल प्राप्त कर विष्णु संसार का पालन, ब्रह्मा उस का सृजन, तथा शिव उस का संहार करते हैं। हनुमान लंका में पकड़े जाने पर इन्हीं राम का दूत कह कर अपना परिचय देते हैं :

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।...
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकर हरि आनेहु प्रिय नारि॥

(मानस, सुंदर० २१)

हज़ारों विष्णु भी—हज़ारों शिव तथा ब्रह्मा की भाँति—राम के शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते। हनुमान रावण को इस प्रकार कह कर राम के विरोध से विरत करना चाहते हैं :

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। राम बिमुख त्राता नहिं कोपी।
संकर सहस बिष्नु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही।

(मानस, सुंदर० [illegible]

रावण के दूत शुक के हाथ लक्ष्मण रावण के पास जो पत्रिका भेजते हैं उस[illegible] भी आशय इसी प्रकार का है :

बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस॥

(मानस, सुंदर० [illegible]

अगणित लोकों में उन का पालन करने वाले विष्णु भी अगणित हैं, और [illegible]

एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अकेले राम ही वह सत्ता हैं जो सर्वत्र अभिन्न रूप से दर्शनीय हैं। कागभुशुंडि अगणित ब्रह्मांडो के परिभ्रमण में इस तथ्य का दर्शन करते हैं :

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।
भिन्न भिन्न मै दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

(मानस, उत्तर० ८०–८१)

शक्ति और सामर्थ्य में विष्णु और राम की कोई तुलना नहीं हो सकती; राम न केवल करोड़ विष्णुओं के समान सृष्टि के पालन मे समर्थ हैं वरन् सौ करोड़ ब्रह्मा के समान सृष्टि की रचना और सौ करोड़ रुद्र के समान उस के संहार में भी समर्थ हैं। यह बात कागभुशुंडि गरुड़ से इस प्रकार कहते हैं :

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।
बिष्नु कोटि सम पालन कर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्त्ता।

(मानस, उत्तर० ९२)

शिव के सबंध मे आने पर राम और विष्णु का यह अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है। शकर की आदर्श भक्ति और साधना देखकर राम स्वतः प्रकट होते हैं, और विधुर शकर को पार्वती के साथ विवाह करने पर तैयार कर लेते है। राम के इस आदेश का उत्तर देते हुए शिव कहते हैं :

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं।
मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी।
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी।

(मानस, बाल० ७७)

देवता लोग कामदेव को इस कार्य के लिए नियुक्त करते हैं कि वह शिव के हृदय मे क्षोभ उत्पन्न करे और तदनतर वे शिव-पार्वती का विवाह कराने का उद्योग करें। काम अपने प्रयत्नों मे असफल होता है। तब वे विष्णु और ब्रह्मा को लिवा कर शिव की सेवा मे उपस्थित होते हैं :

सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपा निकेता।

(मानस, बाल० ८८)

और अलग-अलग उन की स्तुति करते हैं। उन की स्तुति से प्रसन्न हो कर शिव उन से—और उन में विष्णु भी हैं—पूछते हैं :

कहहु अमर आए केहि हेतू।

(मानस, बाल० ८८)

यहाँ विष्णु का कोई विशेष स्थान नहीं है। सभी देवताओं की ओर से ब्रह्मा उत्तर में निवेदन करते हैं :

कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति बस बिनवउँ स्वामी।
सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु॥...
कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा।
सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कहँ सहज सुभाऊ।
पारबतीं तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा।
सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभु बानी। ऐसेइ होउ कहा सुखु मानी।

(मानस, बाल० ८८-८९)

सभी देवताओं की ओर से ब्रह्मा का शिव को 'नाथ', 'प्रभु', आदि संबोधनों से संबोधित करना तथा इस प्रकार की चाटुकारिता की बातें करना और उन से विनय करना शिव का उन की अपेक्षा ऊँचा होना सिद्ध करता है। एक ओर इन देवताओं की—जिन में विष्णु भी हैं—'विनय' है और दूसरी ओर प्रभु राम 'आज्ञा'। फलतः राम विष्णु से कितने बड़े हैं यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(७) राम की माया ही उन की भौंहों के इशारे पर सृष्टि की रचना और उस का संहार करती है; शिव पार्वती से कहते हैं :

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा।

(मानस, लंका० ३५)

राम ही अखिल विश्व के 'कारण'—अर्थात् निमित्त कारण—हैं। विश्वामित्र के साथ मख-रक्षा के लिए अग्रसर होते हुए राम के संबंध में यही कहा जाता है :

पुरुषसिंघ दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥

(मानस, बाल० २०८)

(८) इन्हीं राम ने पहले भी अनेक अवतार धारण किए थे। पहले के कल्पों में वाराह, नृसिंह, तथा वामन अवतार इन्हीं हरि के हुए थे :

जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी।
द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ।

बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगत बिदित सुरपति मद मोचन।
विजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता।
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा।
भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥
मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना।
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी।
कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौशल्या बिख्याता।
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा।

(मानस, बाल० १२२)

मत्स्य, कच्छप, और परशुराम के रूप में भी यही परमात्मा राम अवतीर्ण हुए थे। रावण-वध के अनंतर उन के स्वरूप का निरूपण करते हुए देवगण उन से इसी प्रकार कहते हैं :

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी।

(मानस, लंका० ११०)

(९) राम के अवतार किस लिए हुआ करते हैं इस संबंध में अंतिम कथन असंभव है। इस संबंध में शिव पार्वती से कहते हैं :

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई।
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी।
तदपि संत मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना।
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोहीं। समुझि परइ जस कारन मोही।

(मानस, बाल० १२१)

फिर भी, एक उद्देश्य तो दुष्कर्मियों का नाश और उन से सत्कर्मियों, की रक्षा करना, और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना हुआ करता है, जैसा स्वतः शिव कहते हैं :

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।

(मानस, बाल० १२१)

अथवा जैसा निषाद को उपदेश करते हुए लक्ष्मण कहते हैं :

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

(मानस, अयोध्या० ९३)

अथवा जैसा वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।

(मानस, अयोध्या० १२७)

दूसरा उद्देश्य राम का अवतार धारण करने में यह रहा करता है कि उन की इस अवतारी लीला का गान कर उन के भक्त भवसागर के पार हो जावें ; उपर्युक्त कथन के अनंतर शिव कहते हैं :

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।

(मानस, बाल० १२२)

कागभुशुंडि अन्यत्र गरुड़ से इसी उद्देश्य का समर्थन करते हैं :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

(मानस, उत्तर० ७२)

और स्वतः कवि अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए रामावतार के इसी उद्देश्य का समर्थन करता है :

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।
बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी।

(मानस, बाल० १३)

एक तीसरा उद्देश्य अपने भक्तों की भक्ति, उन के प्रेम और उन की साधना को सफल करना हुआ करता है। इस उद्देश्य से भी, शिव कहते हैं, निर्गुण ब्रह्म को सगुण होना पड़ता है :

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

और स्वतः राम भी विभीषण का स्वागत करते हुए इसी सिद्धान्त का प्रति-

पादन करते हैं :

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाही। हरष सोक भय नहिं मन माही।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे।
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरे।

(मानस, सुंदर० ४८)

(१०) राम का यह अवतार चार अंशो में हुआ। मनु-सतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर स्वतः राम-रूप में प्रकट होकर उन्हो ने कहा था :

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी।
तहँ करि भोग बिसाल तात गए कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥
इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुख दाता।

(मानस, बाल० १५१-५२)

देवताओं की प्रार्थना पर हरि ने भी उन्हे आकाश-वाणी द्वारा यही वचन दिया था :

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा।

(मानस, बाल० १८७)

और उन्हो ने इन वचनो की पूर्ति स्पष्ट ही राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के रूप में अवतार ग्रहण कर के की।

(११) लक्ष्मण शेष हैं :

बंदौं लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता।
सेष सहस्रसीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।

(मानस, बाल० १७)

नामकरण करते हुए वशिष्ठ उन्हें "सकल जगत आधार" कहते हैं :

लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

(मानस, बाल० १९७)

लक्ष्मण (शेष) पृथ्वी को धारण करने वाले हैं। वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

जो सहससीसु अहीसु महिधरु लषनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।

(मानस, अयोध्या० १२६)

इन लक्ष्मण (शेष) का मूल निवास-स्थान पय-पयोधि है :

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।

(मानस, अयोध्या० १३९)

इस लिए 'अनंत' शब्द भी प्रायः लक्ष्मण के पर्याय के रूप में व्यवहृत हुआ है :

जगदाधर अनंत किमि उठै चले खिसियाइ।

(मानस, लंका० ५४)

रघुपति चरन नाइ सिरु चलेउ तुरंत अनंत।

(मानस, लंका० ७५)

प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचण्डा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा।

(मानस, लंका० ७६)

सुनु सुत सद्गुन सकल तव हृदयँ बसहुँ हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहु समेत अनंत॥

(मानस, लंका १०७)

और एक स्थल पर 'अनत' तथा 'शेष' दोनों का प्रयोग लक्ष्मण के पर्याय रूप में हुआ है :

क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता।
नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा।

(मानस, लंका० ५४)

(२१) लक्ष्मण (शेष) अखिल विश्व के 'करण' हैं—इन्हीं को लेकर समस्त विश्व का निर्माण हुआ है—विश्वामित्र के साथ साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश के लिए अग्रसर होते हुए राम-लक्ष्मण का परिचय तुलसीदास इसी प्रकार देते हैं :

पुरुषसिंघ दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन॥

(मानस, बाल० २०८)

और—कदाचित् 'करण' होने के नाते ही—उस के 'कारण' अर्थात् उपादान कारण भी हैं :

सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।

(मानस, बाल० १७)

और वे चराचर के स्वामी हैं :

जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नर राज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।

(मानस, अयोध्या० १२६)

और "त्रिभुवन धनी" हैं :

ब्रह्मांड भवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज कनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जाननहि त्रिभुवनधनी।

(मानस, लंका० ८३)

(१३) लक्ष्मण (शेष) राम के ही एक स्वरूप हैं। राम ही 'अनंत' हैं, और पृथ्वी को धारण करने वाले हैं। सनकादिक ने राम का स्तवन करते हुए उन्हें 'अनंत' और 'भूधर' कहा है, एक होते हुए वही अनेक रूप वाले भी हैं :

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय।
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर।
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर।

(मानस, उत्तर० ३४)

(१४) लक्ष्मण भी राम की भाँति अपरिवर्तनशील हैं। राम के ब्रह्मत्व के संबंध में शंका करने पर सती जो अद्भुत दृश्य देखती हैं उस में शिव, विधि और विष्णु नाना रूपों में दिखाई पड़ते हैं, किंतु लक्ष्मण राम-सीता के साथ अपने वास्तविक रूप में ही बने रहते हैं (और इस प्रकार वह भी विष्णु से श्रेष्ठ हैं) :

देखे सिव विधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा।
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा।
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता।

(मानस, बाल० ५४–५५)

किंतु, अन्यत्र कागभुशुंडि गरुड़ से जो इस प्रकार के एक अन्य अनुभव का उल्लेख करते हैं, उस में प्रत्येक लोक में वे कहते हैं कि उन के विभिन्न ब्रह्मा,

विष्णु, और शिव दिखाई पड़ते हैं, राम अपरिवर्तित रहते हैं, "भरतादिक भ्राता"—जिस में लक्ष्मण को भी मानना चाहिए—परिवर्तनशील पाए जाते हैं :

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसि त्राता।...
अवधपुरी प्रति भुवन निहारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखेउँ बाल बिनोद उदारा।
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

(उत्तर० ८१)

(१५) भरत विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं। उन का नामकरण करते हुए वशिष्ठ कहते हैं :

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।

(मानस, बाल० १९७)

(१६) शत्रुघ्न शत्रुसूदन हैं। उन का नामकरण करते समय वशिष्ठ कहते हैं;

जाके सुमिरन तें रिपुनासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।

(मानस, बाल० १९७)

(१७) बानरादि देवता हैं। पृथ्वी का भार उतारने के लिए आश्वासन पाकर ब्रह्मा देवताओं को वानर शरीर धारण करने का आदेश करते हैं, और वे सभी वानर शरीर धारण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं :

निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ॥
गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुँ बिश्रामा।
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा।
बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।
गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। हरि मारग चितहिं मतिधीरा।

(मानस, बाल० १८८)

बनरादि देवांश हैं। महायुद्ध की समाप्ति होने पर राम का आदेश प्राप्त कर इंद्र ने जो सुधावृष्टि की उस से बानरादि जीवित हो जाते हैं। उस का कारण

यह है कि वह वानरादि देवांश हैं :

सुधा बृष्टि भइ दुहु दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।
सुर अंसिक कपि सब अरु रीछा। जिए सकल रघुपति की इच्छा।

(मानस, लंका० ११४)

(१८) यह वानरादि सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। और जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर अवतार धारण करता है तब उस के सगुण रूप के यह उपासक मोक्ष-सुख का परित्याग कर उस की 'लीला' का आनंद लेने के लिए उस के साथ ही अवतीर्ण होते हैं। सीता की खोज में निराश अंगद से जामवंत इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं :

तात राम कहुँ नर जनि जानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।
हम सब सेवक अति बड भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छाँ अवतरइ प्रभु सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

(मानस, किंकिधा० २६)

(१९) सीता वह 'आदि शक्ति' हैं जिस से विश्व की उत्पत्ति होती है। मनु-सतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न होकर राम ने इसी 'आदि शक्ति' के साथ उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया था :

आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला। बाम भाग सोभति अनुकूला।...
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।

(मानस, बाल० १४८)

और कहा था :

आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।

(मानस, बाल० १५२)

यही ब्रह्म की वह 'माया' और 'मूल प्रकृति' हैं जिस से जगत का उद्भव, उस की स्थिति, और उस का संहार हुआ करते हैं :

उद्भव स्थिति संहारकारिणीं . सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् . ।

(मानस, बाल० १)

श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।

(मानस, अयोध्या० १२६)

(२०) सीता आदि नारायण राम की 'योगमाया' है। वे राम से इसी प्रकार अभिन्न हैं-जिस प्रकार 'गिरा' से उस का 'अर्थ' अथवा 'जल' से उस की 'वीचि' अभिन्न हुआ करते हैं। इसी लिए तुलसीदास सीता और राम की एक साथ वंदना करते हैं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(मानस, बाल० १८)

वही अविनाशी परमात्मा की परम शक्ति हैं। देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आकाशवाणी द्वारा वे कहते हैं :

नारद बचन सत्य करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

(मानस, बाल० १८७)

अभिषेकोत्सव में पधारे हुए वेद राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।

(मानस, उत्तर० १३)

(२१) इस लोक में राम (परम आत्मा) और सीता (मूल प्रकृति) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लिए समस्त संसार को राम और सीता में व्याप्त समझ कर तुलसीदास सीता-राम की एक साथ वंदना करते हैं :

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

(मानस, बाल० ८)

(२२) सीता लक्ष्मी हैं। कहा जाता है कि जनक-नगर की संपदा का बखान शारदा और शेष भी इसी लिए नहीं कर सकते कि वहाँ लक्ष्मी माया नारी (सीता) रूप में निवास करती है :

बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेषु।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥

(मानस, बाल० २८९)

और, इन सीता (लक्ष्मी) का मूल निवास स्थान क्षीर सागर बताया जाता है :

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।

(मानस, अयोध्या० १३९)

कभी-कभी 'रमा' नाम का प्रयोग भी 'सीता' के पर्याय रूप में होता है :

अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।

(मानस, लंका० १०७)

राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।

(मानस, उत्तर० ११)

इसके अतिरिक्त, ऊपर जिन स्थलों पर राम को 'रमानिवास', 'इंदिरापति', 'रमारमन', 'इंदिरारमन', 'रमेश', 'श्रीरमन', 'श्रीरंग', तथा 'रमानाथ' कहा गया है और विष्णु के साथ उन का तादात्म्य किया गया है, उन सभी स्थलों पर सीता ही लक्ष्मी हैं, क्योंकि उपर्युक्त नामों का प्रयोग 'राम' के पर्याय रूप में हुआ है।

किंतु अन्यत्र तुलसीदास सीता को लक्ष्मी से भिन्न बताते हैं। तुलसीदास के अनुसार सीता-राम-विवाह में वे भी विवाह के साथ सम्मिलित होती हैं, और विष्णु के साथ ही वह भी दूलह राम को देखकर मुग्ध हो जाती हैं :

हरि हित सहित रामु जब जोरे। रमा समेत रमापति मोरे।

(मानस, बाल० ३१७)

और तदनंतर रनिवासकी अन्य स्त्रियों के साथ मिल जाती हैं :

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी।
कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनवासहि जाई।

(मानस, बाल० ३१८)

किंतु, अन्यत्र तुलसीदास सीता को लक्ष्मी से श्रेष्ठ बताते हैं, और कहते हैं कि राम की भाँति वे भी अपरिवर्तनशील हैं। राम के ब्रह्मत्व पर शंका करने पर सती जिस प्रकार राम को उन विविध रूपों में परिवर्तित होने वाले देवताओं के बीच अपरिवर्तित पाती हैं उसी प्रकार सीता को भी, और जिस प्रकार उन्हें विष्णु अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इंदिरा भी अनेक रूपों में दिखाई पड़ती हैं :

सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भईं सभीता।

(मानस, बाल० ५४-५५)

उन के अंश मात्र से अगणित लक्ष्मी, उमा, और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं।

मनु-सतरूपा को उन की तपस्या का फल देने के लिए राम के साथ प्रकट होने वाली सीता के संबंध में शिव कहते हैं :

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।

(मानस, बाल० १४८)

यह सीता लक्ष्मी, उमा, तथा ब्रह्माणी द्वारा वंदित भी हैं।

उमा रमा ब्रह्मानि वंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता।

(मानस, उत्तर० २४)

(२३) विष्णु जिस प्रकार 'परमात्मा' हैं उसी प्रकार लक्ष्मी 'परम शक्ति' भी हैं, इसी लिए जब रावणादि के अत्याचार से व्यथित पृथ्वी को ले कर समस्त देवता विष्णु को लक्ष्मीपति कहते हुए :

गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधु सुता प्रियकंता।

(मानस, बाल० १८६)

उन का तादात्म्य परमात्मा से करते हैं :

जय जय अविनासी घट घट बासी व्यापक परमानंदा।

(मानस, बाल० १८६)

विष्णु भी उत्तर में 'परम शक्ति' समेत अवतार लेने की आकाशवाणी करते हैं :

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

(मानस, बाल० १८७)

(२४) माया त्रिगुणात्मिका है, और गुणों की सहायता से ही वह विश्व की रचना करती है :

एक रचइ जग गुन बस जाकें।

(मानस, अरण्य० १५)

(२५) माया ही समस्त सृष्टि की रचना, स्थिति, और संहार करने वाली है। समस्त संसार को उत्पन्न करने वाली 'आदि शक्ति' वही है यह अनेक स्थलों पर कहा गया है :

लव निमेष महुं भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।

(मानस, बाल० २२५)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।

(मानस, अरण्य० १५)

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।

(मानस, सुंदर० २१)

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह नाथ सहज जड़ करनी।
तव प्रेरित मायाँ उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए।

(मानस, सुंदर० ५९)

और ऊपर इस 'आदि शक्ति' का तादात्म्य सीता से किया गया है। और सीता का तादात्म्य, ब्रह्म की उस माया (मूल प्रकृति) से भी किया गया है जो उद्भव, स्थिति, और संहार कारिणी है। फलतः यह स्पष्ट है कि सृष्टि का पालन, और संहार भी इसी माया द्वारा होता है।

(२६) अखिल विश्व, ब्रह्मादि देवासुर भी, इस राम की माया के वशवर्ती हैं :

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा।

(मानस, बाल० १)

इसने चराचर सभी जीवों को वश मे कर रक्खा है :

जीव चराचर बस कै राखै।

(मानस, बाल० २००)

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।

(मानस अरण्य० १५)

(२७) माया स्वतः निर्बल है। यह राम का बल प्राप्त कर के ही ब्रह्माड की रचना करती है :

एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।

(मानस, अरण्य० १५)

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।

(मानस, सुंदर० २१)

माया स्वतः जड़ है। वह राम का आश्रय पाकर ही सत्य भासती है :

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।

(मानस, बाल० ११७-१८)

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

(मानस, बाल० १)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥

(मानस, बाल० ११७)

राम ही इस जड़ माया को भी चैतन्य (गतिशील) कर देते हैं :

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥

(मानस, उत्तर० ११९)

(२८) माया राम की चेरी है, राम उस के स्वामी हैं, और इसी नाते राम को 'मायाधीश', 'मायापति' आदि कहा जाता है :

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोऽपि।

(मानस, उत्तर० ७१)

मायाधीस ज्ञान गुन धामू।

(मानस, बाल० ११७)

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया।

(मानस, अयोध्या० २१८)

अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।

(मानस, उत्तर० ६२)

यह माया राम से डरा करती है। कौशल्या को राम जो अपना अद्भुत और अखंड रूप दिखाते हैं उस में कौशल्या माया को राम से अत्यंत भयभीत पाती है :

जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावै ताही।

(मानस, बाल० २०२)

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।

(मानस, बाल० २००)

संसार को विमोहित करने वाली यह माया राम के इंगित पर नाचा करती है :

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा।

(मानस, उत्तर० ७२)

और इस कारण भक्ति से डरा करती है कि भक्ति राम को प्रिय है और वह राम की नर्तकी मात्र है :

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अहि माया।

(मानस, उत्तर० ११६)

(२९) हमारी इन्द्रियाँ, और उन इन्द्रियों के समस्त विषय माया से उत्पन्न हैं :

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।

(मानस, अरण्य० ३०७)

राम की प्रेरणा से माया पंच-स्थूल भूतों को उत्पन्न करती है। और इसी स्थूल भूत-समूह से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत् उत्पन्न होता है :

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड करनी।
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए।

(मानस, उत्तर० ५९)

(३०) 'विराट्' राम का स्थूल शरीर है : मदोदरी रावण से राम का विश्वरूप इसी प्रकार स्पष्ट करती है :

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।
उदर उदधि अध गो जातना। जगमय प्रभु की बहु कलपना।
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥

(मानस, लंका० १५)

(३१) संसार की सभी वस्तुएँ माया जनित होने के कारण मृषा हैं। केवल राम के सत्त्व से प्रतिभासित हो कर ही वह सत्य सी प्रतीत होती हैं :

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः।

(मानस, बाल० १)

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।
रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।
ज्यौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।
(मानस, बाल० ११७-१८)

जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथु नाहीं।
सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ।
जागें हानि लाभु न कछु अस प्रपंच जियँ जोइ॥
मोहनिसाँ सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
(मानस, अयोध्या० ९३)

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।
(मानस, अरण्य० ३९)

(३२) माया, ईश्वर, तथा अपने यथार्थ स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं रहता वही 'जीव' है।

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
(मानस, अरण्य० १५)

द्वन्द्वात्मक हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, अहंकार तथा अभिमान ही जीव के धर्म हैं:

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना।
(मानस, बाल० ११६)

(३३) जीव पंचभौतिक शरीर से भिन्न है; वह नित्य है; वह जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ता। बालि के शव को देख कर विलाप करती हुई तारा को राम इसी प्रकार समझाते हैं:

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।
(मानस, किष्किंधा० ११)

(३४) ईश्वर और जीव मे वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जो भेद दोनों में ज्ञात होता है वह मिथ्या है और वह केवल मायाजनित है। माया ने ही दोनों मे यह भेद कर रक्खा है। दोनों में अंतर ज्ञान-अज्ञान का है। यदि जीव को अखड एकरस ज्ञान की प्राप्ति हो जावे तव ईश्वर और जीव में भेद कैसा ?

ग्यान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सराचर।
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया।

(मानस, उत्तर० ७९)

यह भेद हमारा भ्रम मात्र है, जो आत्मानुभूति से नष्ट हो जाता है :

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तव भव मूल भेद भ्रम नासा।

(मानस, उत्तर० ११८)

और इसी लिए आत्मानुभूति प्राप्त 'संत' और 'अनंत' मे कोई अंतर नहीं माना जाता :

जानेसु संत अनंत समाना।

(मानस, उत्तर १०९)

(३५) माया ने जीव को मोहित कर रक्खा है—मोह (अज्ञान) मे डाल रक्खा है :

नाथ जीव तव माया मोहा।

(मानस, किष्किधा० ३)

और, राम की इस विषम माया के द्वारा वहॅकाया जाकर काल, कर्म, और गुणों मे लगा हुआ जीव भव-चक्र मे पड़ गया है :

तव बिषम माया वस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।

(मानस, उत्तर० १३)

(३६) इन कर्मों के अनुरूप ही उस की गतियाँ होती है :

निज कृत करम भोग सबु भ्राता।

(मानस, अयोध्या० ९२)

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।

(मानस, अयोध्या० २१९)

(३७) राम की माया दो रूपों मे भासती है : एक 'विद्या' और

दूसरी 'अविद्या', जिस के पुनः दो भेद हैं :

तेहि करि भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।

(मानस, अरण्य० १५)

(अनात्म में आत्म-भावना ही 'अविद्या' है, और अनात्म से आत्म-भावना का बाध ही 'विद्या' है।) 'अविद्या' संसृति का हेतु है, और 'विद्या' जीव को ससृति से मुक्त करने वाली है। प्रवृत्ति-मार्ग वाले 'अविद्या' के वशीभूत होते हैं। और निवृत्ति मार्ग वाले 'विद्या' मय होते हैं। कागभुशुंडि अपने ऊपर राम की माया का प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं :

सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृति नाहीं।
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना।...
हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर।

(मानस, उत्तर० ७८.९)

(३८) 'अविद्या' माया के दो भेद होते हैं : 'आवरण' जो सपूर्ण ज्ञान को आवृत्त कर रखती है, और जिस के कारण जीव भव-चक्र मे पड़ा रहता है, तथा 'विक्षेप' जो विश्व की कल्पना करती है। लक्ष्मण को राम 'अविद्या' माया के यह दो भेद इस प्रकार समझाते हैं :

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।

(मानस अरण्य० १५)

(३९) जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर भ्रम और तज्जनित भव (संसृति) दोनो नष्ट हो जाते हैं :

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा।

(मानस, उत्तर० ११८)

(४०) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है :

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।

(मानस, अयोध्या० १२७)

(४१) (अनात्म में आत्म का बाध करना, और अपने को नित्य शुद्ध-बुद्ध 'चिदात्मा' समझना 'बोधज्ञान' कहलाता है।) संसार एक मोह की रात्रि के समान है। उस रात्रि में सभी सोए हुए होते हैं। जागने वाले केवल वे

होते हैं जो इस 'चिदात्मा' का बोध प्राप्त करने में उद्युक्त और अनात्म विश्व से वियुक्त होते हैं :

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।

(मानस, अयोध्या० ९३)

जीव को जगा हुआ ('बोधज्ञान' के पथ में अग्रसर) तभी समझना चाहिए जब उसे समस्त इंद्रियों के विषयों से और उन की वासनाओं से विरक्ति हो जावे :

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।

(मानस, अयोध्या० ९३)

(४२) भव-चक्र और उस से उत्पन्न समस्त कष्टों से मुक्ति पाने का केवल एक ही मार्ग है, और वह यह है कि माया का त्याग किया जावे और 'परलोक' (परमार्थ) के साधन में दत्तचित हुआ जावे :

तजि माया सेइअ परलोका। मिटहि सकल भवसंभव सोका।

(मानस, किष्किधा० २३)

शरीरों में सब से अधिक दुर्लभ मानव शरीर है। इस के समान दूसरा शरीर नहीं है क्यों कि इसी के द्वारा जीव को जैसी भी गति उस को अभीष्ट हो वह प्राप्त कर सकता है :

नर तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।

(मानस, उत्तर० १२१)

इस मानव शरीर को प्राप्त कर मनुष्य का केवल एक ही लक्ष्य होना चाहिए—वह परमार्थ-साधन करे। इस साधन-धाम और मोक्ष के प्रवेशद्वार को प्राप्त कर के भी जिस ने 'परलोक' (परमार्थ का साधन नहीं किया उस को अंत में दुःख ही उठाना पड़ेगा :

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।
नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई।
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(मानस०, उत्तर० ४३-४४)

(४३) अविद्या का बंधन कर्म के साधनों से टूटता नहीं बल्कि और भी दृढ़ होता है। कर्म-सन्यास द्वारा ही उस से छुटकारा मिलता है। इस लिए बुद्धिमान और अनुभवी लोग शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को छोड़ कर राम की भक्ति करते हैं :

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
कालरूप तिन्हकहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृत दुख जाने।
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहिं सुरनर मुनि नायक।
(मानस, उत्तर० ४१)

कर्म के संस्करो का जो मल चित्त पर लगा हुआ है वह कर्म (प्रवृति-मार्ग) से नहीं छूटता, उस के लिए प्रेम-भक्ति का जल चाहिए :

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोएँ।
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।
(मानस, उत्तर० ४९)

हरिभक्ति की प्राप्ति पर राम के भक्त वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का भी पालन नहीं करते :

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥
(मानस, किष्किंधा० १७)

(४४) भक्ति जीव को माया के पाश से मुक्त कर देती है :

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।

देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।

(मानस, बाल० २०२)

भक्ति ही परत्र सुख का मार्ग है :

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।

(मानस, उत्तर० ४५)

(४५) वह भक्ति स्वतः एक साध्य है :

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।

(मानस, अयोध्या० ९३)

विमुक्त लोग भी भक्ति-लाभ की आकाङ्क्षा करते हैं :

सुनहिं विमुक्त बिरत अरु विषयी। लहहिं भगति गति संपति नई।

(मानस, उत्तर० १५)

यह भक्ति स्वतत्र और निरपेक्ष है :

सो सुतंत्र अवलंब न आना।

(मानस, अरण्य० १६)

ज्ञान और विज्ञान इस के अधीन हैं :

तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।

(मानस, अरण्य० १६)

भक्ति ज्ञानादिक साधनों का सुंदर फल है :

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा।
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन।
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर।

(मानस, उत्तर० ४९)

भक्ति समस्त साधनों का फल है :

बिरति बिवेक जोग बिग्याना। जप तप मख समदम ब्रत दाना।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।

(मानस, उत्तर० ९५)

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।

भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।

(मानस उत्तर० १२६)

इन समस्त साधनो की अपेक्षा विचारशील लोग राम से उन की निष्काम भक्ति की याचना करते हैं। राम को अपने आश्रम से विदा देते हुए अत्रि की मानसिक दशा का परिचय तुलसीदास इस प्रकार देते हैं:

तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिए।
मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावहीं।
रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दासतुलसी गावहीं॥

(मानस, अरण्य० ६)

सरभग तो अपनी समस्त साधना का फल राम को प्रदान कर सायुज्य मुक्ति भी नहीं स्वीकार करते:

जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।

(मानस, अरण्य० ८)

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा।
ताते मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ।

(मानस, अरण्य० ९)

रामभक्त रामभक्ति के आगे मुक्ति को त्याग देते हैं:

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने।

(मानस, उत्तर० ११९)

कागभुशुंडि के स्तवन पर प्रसन्न हो कर राम उन्हें समस्त सिद्धियाँ देते हुए इस प्रकार उत्साहित करते हैं:

कागभुसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥

ग्यान बिवेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।
आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माँहीं।

(मानस, उत्तर० ८३-८४)

किंतु, स्वामी की इस उदार वाक्यावली को सुन कर कागभुशुडि चिंता में पड़ जाते हैं:

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ।
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे।
भजन हीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा।

(मानस, उत्तर० ८४)

और फलतः वे राम से भक्ति की ही याचना करते हैं :

जौ प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मोपर करहु कृपा अरु नेहू।
मनभावत बर माँगउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी।
अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

(मानस, उत्तर० ८४)

राम-भक्ति विज्ञान से भी दुर्लभ है, क्योंकि विज्ञान एक निश्चित क्रम से साधन-सिद्ध है, पर भक्ति इस प्रकार साधन-सिद्ध नहीं है। काग की भक्ति-लाभ-कथा विषयक जिज्ञासा के साथ पार्वती शिव से कहती हैं :

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ इक होइ धर्म ब्रतधारी।
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय विमुख विराग रत होई।
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ।
तिन सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।
धर्मसील विरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुरलभ सुर राया। राम भगति रत गत मद माया।
सो हरि भगति काग किमि पाई। विस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई।

(मानस, उत्तर० ५४)

और शिव पार्वती के इस कथन का प्रतिवाद न कर के, पार्वती को कागभुशुंडि की हरिभक्ति-प्राप्ति की कथा सुनाते हैं।

राम ने काग को जो "निज सिद्धात" सुनाया है उस से भी इस कथन का समर्थन होता है। दोनों में भाव-साम्य, शब्द-साम्य, तथा क्रम-साम्य दर्शनीय है। वे कहते हैं :

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी।
निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहिं भाए।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते प्रिय अति बिग्यानी।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।

(मानस, उत्तर० ८६)

(४६) भव-जनित क्लेश को नष्ट करने में ज्ञान और भक्ति दोनो समर्थ हैं :

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।

(मानस, उत्तर० ११५)

फिर भी ज्ञान का साधन-पथ दुर्गम है, और उस का प्रमुख कारण यह है कि उस में मन को कोई आश्रय नहीं मिलता है :

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।

(मानस, उत्तर० ४५)

इस विचार का कवि ने बड़ा विस्तार किया है। कागभुशुंडि ने गरुड़ से 'ज्ञान-दीपक' का जो वर्णन किया है[1] उस के अंत में परिणाम भी यही निकाला गया है :

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।

(मानस, उत्तर० ११९)

और उस का कहना है कि इन सब कठिनाइयों को झेलने पर भी जो वस्तु प्राप्त हो रहती है वह राम-भक्त को अनायास ही प्राप्त हो जाती है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।

(मानस, उत्तर० ११९)

'ज्ञान-दीपक' की तुलना में उस ने 'भक्ति-मणि' का रूपक उपस्थित किया है,[2]

[1] मानस, उत्तर० ११७–१९

[2] वहीं १२०

और राम-भक्ति को चिन्तामणि बताते हुए उस की प्राप्ति को सुगम बताया है; उस का कहना है कि अभागे मनुष्य स्वतः उस की प्राप्ति का द्वार बंद कर लेते हैं :

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत भाग्य देहिं भटमेरे।

(मानस, उत्तर० १२०)

इस रूपक मे कवि ने दोनों की शक्तियों में भी अंतर बताया है। उस का कथन है कि यह ज्ञान का दीपक विषय की वायु का झोंका लगने पर बुझ सकता है—और इंद्रियाँ इन विषयों का स्वागत करने को सदा ही तत्पर रहती हैं—इस लिए बहुधा होता यह है कि समस्त कठिनाइयों के बाद भी प्रज्वलित होने पर यह दीपक बुझ जाया करता है, और परिणाम यह होता है कि जीव अपने अंतःकरण के अंधकार मे पड़ी हुई माया की गाँठ को छुड़ा नहीं पाता। दूसरी ओर भक्ति का चिन्तामणि दिन रात स्वभावतः प्रकाशित रहता है, और उस पर विषय के वायु का झकोरा कोई भी असर नही कर पाता :

एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥...
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरवारा।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तौ यह जीव कृतारथ होई।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ बैठ सुर करि थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिपय बतासा।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिपय भोग पर प्रीति सदाई।
बिपय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।
तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस॥

(मानस, उत्तर० ११८-१९)

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर।
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुःख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।

(मानस, उत्तर० १२०)

ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान आदि साधन गोस्वामी जी के अनुसार पुरुष हैं—क्यो कि वे स्वावलंबी और इसलिए पुरुषार्थ-प्रधान होते हैं, और भक्ति नारी है—क्यों कि वह सर्वथा परावलंबिनी और इसी लिए दैन्य और कार्पण्य-प्रधान होती है; और माया भी स्त्री है—वह भी परावलंबनी है क्योंकि स्वतः जड़ है और अपने विस्तार के लिए उसे भी भगवान का आश्रय चाहिए: और पुरुष नारी पर मुग्ध हो सकता है और नारी उस को मोहित करती है, किंतु नारी नारी पर न मुग्ध हो सकती है और न नारी नारी को मोहित कर सकती है, इस लिए ज्ञान, वैराग्य आदि पुरुषार्थ-प्रधान साधन माया-विमुग्ध हो सकते हैं, पर भक्ति पर माया कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। पुरुषार्थ-प्रधान साधनों में अहंभाव किसी न किसी मात्रा में होना ही चाहिए, भक्ति में उस अहंकार का सर्वथा अभाव तथा एक मात्र भगवान की कृपा का अवलंबन होता है; इस लिए दूसरे साधनों में माया-विमुग्ध होने का भय रहता है, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर वह भय नहीं होता :

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड जाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहिं जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट॥
इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाखउँ।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिबर्ग जानहिं सब कोऊ।

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।

(मानस, उत्तर० ११५)

भक्ति की इस साधना में जीव को भगवत्कृपा का भी सहारा मिल जाता है, कारण यह है कि यद्यपि माया और भक्ति दोनों ही भगवान की आश्रित हैं फिर भी बहुरूपिणी माया नर्तकी मात्र है, उस के समस्त व्यापार भगवान को रिझाने के लिए ही हुआ करते हैं, और भक्ति पर भगवान की अनुकूलता रहती है, इस लिए माया भक्ति को डरा करती है और भक्त पर अपनी प्रभुता नहीं चला पाती; यही कारण है कि विज्ञानसंपन्न मुनि भी भक्ति की याचना किया करते हैं :

पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी।

(मानस, उत्तर० ११६)

फलतः इस संसार में सब से चतुर वे ही हैं जो इस मणि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं :

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सु जतन कराहीं।

(मानस, उत्तर० १२०)

इस के विरुद्ध जो ज्ञानाभिमानी साधक भक्ति का निरादर करते हैं वे कैवल्यादिक सुर-दुर्लभ पदों को प्राप्त कर के भी गिरते हुए देखे जाते हैं :

जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।

(मानस, उत्तर० १३)

(४७) इस लिए गोस्वामी जी का मत है कि

रामचंद्र के भजन बिनु जो पद चह निर्वान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

(मानस, उत्तर० ७८)

गोस्वामी जी का निश्चत विश्वास यह है कि राम के विमुख रहने पर चाहे कितने भी यत्न किए जावें भव से मुक्ति असंभव है :

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भवबंधन छोरी।

(मानस, बाल० २००)

राम के चरण ही भवसागर को पार करने वालों के लिए एक मात्र नाव हैं :

यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।

(मानस, बाल० १)

जो राम के चरणों में अनुराग नहीं रखते वे अगाध भवसागर में पड़े ही रहते हैं :

भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते।

(मानस, उत्तर० १४)

जीवन का क्लेश बिना राम-भक्ति के उसी प्रकार नही मिट सकता जिस प्रकार बिना सूर्य के रात्रि का नाश असंभव है :

राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहि बिनु हरिभजन खगेसा। मिटइ न जीवन केर कलेसा।

(मानस, उत्तर० ७८-७९)

समस्त साधनों के परिणाम-स्वरूप राम-भक्ति के बिना वास्तविक क्षेम किसी को भी नहीं प्राप्त हो सकता :

सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोइ न पावइ छेमा।

(मानस, उत्तर० ९५)

कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना।
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(मानस, उत्तर० १२२)

क्यो कि जब तक जीव राम-भक्ति को नहीं अपनाता तब तक न उस के मानसिक शत्रुओं का नाश होता है और न उसे कभी भी सुख प्राप्त होता है :

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ नहिं बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम॥
तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा।
ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी।
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं।

(मानस, सुंदर० ४६-४७)

मोक्ष भी भक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं टिकता जिस प्रकार जल बिना भूमि के नहीं टिकता :

जिमि बिनु थल जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।

(मानस, उत्तर० ११९)

और, इस कलिकाल में तो सद्गति का केवल एक ही साधन है : वह है राम-भक्ति। योग, यज्ञ, पूजादि साधन अन्य युगों के लिए उपयुक्त अवश्य थे, कलियुग के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं :

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी।
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव करहीं।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार रामगुन गाना।
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहिं।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।
कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(मानस, उत्तर० ११०)

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा।
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुनग्रामहि।

जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना।
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहिं नहिं पाई।

(मानस, उत्तर० १३०)

मनुष्य देह की सार्थकता भी गोस्वामी जी भक्ति-साधन में ही मानते हैं :

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख सम लेखा।
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती।

(मानस, बाल० ११३)

इस लिए इस मानव शरीर को—जो कि समस्त साधनों का साधन है—पाकर भी जो हरि-भक्ति नहीं करते, और विषयों में आसक्ति रखते है, वे अपने जीवन को उसी प्रकार गँवाते हैं जिस प्रकार कोई काँच के बदले में स्पर्शमणि गँवाता है :

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंद मंदतर।
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं।

(मानस, उत्तर० १२१)

राम स्वतः इसी लिए सब साधनों के परित्याग के साथ अपनी भक्ति का आदेश करते हैं :

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी।
निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।

(मानस, उत्तर० ८६)

(४८) जीव को मोहित करने वाली माया राम की दासी है इस लिए राम की कृपा के विना उस के बंधनों से कोई मुक्त नहीं हो सकता :

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।

(मानस, किष्किंधा० ३)

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।

(मानस, किष्किंधा० २१)

प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी।

ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान ।
ताहि मोह माया नर पाँवर करहिं गुमान ॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन ।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥

(मानस, उत्तर० ६२)

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पन रोपि ॥
जो माया सब जगहि नचावा । जासु चरित लखि काहुँ न पावा ।
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ।

(मानस, उत्तर० ७१-७२)

नट कृत निपट कपट खगराया । नट सेवकहिं न ब्यापइ माया ।
हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं ।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं ॥

(मानस, उत्तर० १०४)

काम-क्रोधादि का शमन भी केवल राम-कृपा से संभव है, साधन से वह संभव नहीं :

नारि नयन सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ।
यह गुन साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।

(मानस, किष्किधा० २१)

राम के प्रसन्न होने पर मोक्ष आदि समस्त सुख तथा ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदि समस्त मुनि-दुर्लभ गुण स्वतः प्राप्त हो जाते हैं :

जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें । अस बिस्वास तजहु जनि भोरें ।

(मानस, अरण्य० ४२)

प्रसन्न होने पर राम कागभुशुंडि को यह सब बिना माँगे ही देते हैं :

कागभुसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि ।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि ॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना । मुनि दुरलभ गुन जे जग जाना ।
आजु देउँ सब संसय नाहीं । माँगु जो तोहि भाव मन माहीं ।

(मानस, उत्तर० ८४)

और पुनः भक्ति का बरदान देते हुए कहते हैं :

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा।
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।
माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहिं।

(मानस, उत्तर० ८५)

समस्त क्लेशहारिणी राम की भक्ति भी बिना राम की कृपा के प्राप्त नहीं हो सकती :

निज अनुभव मैं कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।

(मानस, उत्तर० ८९)

भक्ति रूपी चिन्तामणि बिना राम-कृपा के प्राप्त नहीं होती :

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।

(मानस, उत्तर० १२०)

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई।

(मानस, उत्तर० १२६)

(४९) किंतु, रामकृपा की प्राप्ति कुछ कठिन नहीं है : यदि निर्मल हृदय से राम का भजन किया जावे तो राम अवश्य कृपा करते हैं :

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।

(मानस, बाल० २००)

राम केवल एक वस्तु से प्रसन्न होते हैं—वह उन का प्रेम और प्रेम ही उन को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त है :

रामहिं केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा।

(मानस, अयोध्या० १३७)

स्वतः राम शबरी से कहते हैं कि वह केवल एक भक्ति का नाता मानते हैं :

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।

(मानस, अरण्य० ३६)

भक्तों पर राम की कृपा निरंतर रहती है :

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती।

(मानस, लंका० ३)

जो उन का दास हो जाता है और उन से प्रेम करता है उस के अवगुणों पर वे कभी ध्यान नहीं देते :

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ।

(मानस, उत्तर० १)

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति में अच्छाई यह है कि उस का अवलंबन ग्रहण करने से राम शीघ्र प्रसन्न होते है :

धर्म तें बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।

(मानस, अरण्य० १६)

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥

(मानस, लंका० ११७)

इस तथ्य को राम कागभुशुंडि से अपने "सिद्धान्त" के रूप मे बहुत सुंदर ढंग से व्यक्त करते हैं :

निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।
मम माया संभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहिं भाए।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह मह प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँ ते अति प्रिय बिग्यानी।
तिन्हतें पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहिं पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोरि सोई।
भगतिवत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी।

(मानस, उत्तर० ८६)

राम सर्वदा अपने सेवक की रक्षा करते हैं :

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया।

(मानस, अयोध्या० २१८)

अपने प्रति किए हुए अपराध पर राम रुष्ट नहीं होते किंतु उन के

भक्त के प्रति यदि कोई अपराध करता है तो उसे राम की क्रोधाग्नि में भस्म होना ही पड़ता है :

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ।
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहि दुरबासा।
मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोक समाजु॥

(मानस, अयोध्या० २१९)

सम बुद्धि वाले होते हुए भी राम भक्त की रुचि की रक्षा करते ही हैं :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू।
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी।

(मानस, अयोध्या० २१९)

भक्तो की इसी रुचि की रक्षा के लिए राम को अवतार धारण करना पड़ता है:

अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत पेम बस।

(मानस, अयोध्या० २१९)

वे अपने भक्तों की सेवा में ही अपनी सेवा और उस से वैर में अपना ही वैर मानते हैं :

मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई।

(मानस, अयोध्या० २१९)

स्वतः राम कहते है कि "यद्यपि मुझे समदर्शी कहा जाता है फिर भी मुझे सेवक विशेष कर के वह जिसे किसी और का कोई भरोसा नहीं होता—प्यारा होता है।"

समदरसी मोहिं कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।

(मानस, किष्किंधा० ३)

उन का कथन है कि "सेवक तो सभी को प्रिय होता है किंतु, मुझे तो और भी अधिक प्रिय होता है :"

सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती।

(मानस, उत्तर० १६)

उस का कारण यह है कि जो सेवक अपने स्वामी के भरोसे उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार बालक अपनी माता के भरोसे रहता है, उस का पालन करना ही पड़ता है :

सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहै असोच बनै प्रभु मोसे।

(मानस, किष्किंधा० ३)

अनन्य सेवक के प्रति इस वात्सल्य को स्वतः राम दो स्थलों पर अत्यंत सुंदर ढंग से उपस्थित करते हैं : एक स्थान पर नारद से, और दूसरे स्थान पर अयोध्या-निवासियों से। नारद से वे इस प्रकार कहते हैं :

सुनु मुनि तोहिं कहउँ सह रोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता।
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।
यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं।

(मानस, अरण्य० ४४)

अयोध्या-निवासियों को वह यही सदेश इस प्रकार देते हैं :

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।
कोउ सर्वग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना।
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबरि दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहिं मन बच अरु काया।

पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहिं सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहिं परिहरि आस भरोस सब॥

(मानस, उत्तर० ८७)

भक्त-शिशु के प्रति इस वात्सल्य से ही प्रेरित हो कर राम अपने सेवक के उस अभिमान का भी निवारण करते हैं जो उस की साधना में बाधक होता है। नारद के इसी अभिमान का निवारण करने के प्रयत्न में उन्हें अपने उस भक्त-शिशु का शाप भी अंगीकार करना पड़ा :

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी।
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई।
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।

(मानस, बाल० १२९)

गरुड़ जब अपनी शंका के निवारण के लिए शिव के पास जाते हैं तो शिव उन्हें कागभुशुंडि के पास भेजते हुए रोग का निदान कर लेते हैं, और पार्वती से कहते हैं :

तातें उमा न मैं समुझावा। रघुपति कृपाँ मरमु मैं पावा।
होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपा निधाना।

(मानस, उत्तर० ६२)

कागभुशुंडि स्वतः अपने मोह का उल्लेख गरुड़ से करते हुए कहते हैं :

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ।
संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना।
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी।
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं।
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

(मानस, उत्तर० ७४)

राम की शरण में जाते हुए किसी को अपने घोर से घोर पापों के कारण भी डरने की आवश्यकता नहीं है। शरण में जाने पर वह सभी को ग्रहण कर लेते हैं :

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।

(मानस, सुंदर० ३९)

अपने इस शरणागत-रक्षण-धर्म का अत्यंत सुंदर और विशद निरूपण राम स्वतः विभीषण की शरणागति के अवसर पर करते हैं। सुग्रीव की तत्संबंधी चेतावनी का निराकरण करते हुए वह कहते हैं :

सखा नीति तुम्ह नीक बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी। ..
सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजौं नहि ताहू।

(मानस, सुंदर० ४३-४४)

उन का कथन है कि जीव जब संसार से व्याकुल हो कर उन की ओर अग्रसर होता है उसी समय उस के समस्त पापों का अंत हो जाता है। जीव का रामोन्मुख होना ही उस के संपूर्ण अघों का निराकरण कर है, कारण यह है कि समस्त पाप मन की ही विकृति से होते हैं, और उन का संस्कार भी मन ही पर पड़ता है, इस लिए उस समय तक जीव रामोन्मुख होता ही नहीं जब तक कि उस का हृदय निष्कलुष और निर्मल नहीं हो जाता :

सनमुख होइ जीव मोहिं जबही। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोरि तेहि भाव न काऊ।
जो पैं दुष्टहृदय सो होई। मेरे सनमुख आव कि सोई।

(मानस, सुंदर० ४४)

विभीषण से राम अपने इस प्रणत-रक्षण-धर्म को और भी स्पष्ट करते हैं :

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे।
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें।

(मानस, सुंदर० ४८)

भगवान का यह प्रणत-रक्षण-धर्म ही भागवतों का एक मात्र अवलंब है।

इस प्रकार शरणागत की रक्षा भगवान सभी अवसरों पर करते हैं।

विभीषण पर महायुद्ध में रावण जब शक्ति का प्रयोग करता है तो राम स्वतः विभीषण के आगे आकर उस शक्ति का प्रहार सहन करते हैं :

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा।
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।
लागि सक्ति मुरुछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।

(मानस, लंका० ९४)

(५०) राम-भक्त को अविद्या व्याप्त नहीं होतीं, उसे विद्या ही व्याप्त होती है। इस लिए उस का नाश नहीं होता और वह भक्ति-पथ में निरतर अग्रसर होता चलता है :

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर।

(मानस, उत्तर० ७९)

राम-भक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से कथा-श्रवण से होता है :

रघुपति भगति प्रेम परिमिति सी।

(मानस, बाल० ३१)

जननि जनक सिय राम प्रेम के।

(मानस, बाल० ३२)

कागभुशुंडि गरुड़ से रामभक्ति रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं :

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे।
पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।

(मानस, उत्तर० १२०)

और शिव कथा को समाप्त करते हुए पार्वती से कहते हैं :

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा।
प्रनत कल्पतरु करुनापुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा।
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई।

उन का कथन है कि वेदों ने जो अनेक साधन बताए हैं, उन सब का फल हरि-भक्ति ही है, और वह हरि-भक्ति कथा-श्रवण से अनायास ही प्राप्त हो जाती है :

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपाँ काहूँ एक पाई।
मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

(मानस, उत्तर० १२६)

इसी लिए समस्त राम-भक्तों को यह इतना अधिक प्रिय हुआ करती है जितना संसार की कोई भी वस्तु नहीं :

राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हकें कछु नाहीं।

(मानस, उत्तर० १३०)

यह रामकथा भक्ति के अतिरिक्त वैराग्य और ज्ञान को भी दृढ़ता प्रदान करने वाली है, और इस लिए मोह-नदी के लिए सुंदर नौका के समान है :

बिरति बिबेक भगति दृढ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी।

(मानस, उत्तर० १५)

संसृति-रोग के शमनार्थ इसी लिए यह संजीवनी के समान है :

रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी।
संसृति रोग सजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी।

(मानस, उत्तर० १२९)

रामकथा समस्त सुखों को प्रदान करने वाली और भव का नाश करने वाली है। कथा की फलश्रुति कहते हुए स्वतः कवि कहता है :

यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा।
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जनप्रिय एहा।

(मानस, उत्तर० १३०)

और फिर अंत में इस प्रकार कहते हुए ग्रंथ को समाप्त करता है :

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति जे।
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

(मानस, उत्तर० समाप्ति)

इस लिए, कवि का कथन है कि बिना हरिकथा के वस्तुतः मोह का नाश

होता ही नहीं :

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।

(मानस, उत्तर० ६१)

इसी लिए कथा-श्रवण में अतृप्त अनुराग राम-भक्ति की सर्वप्रथम भूमिका मानी गई है; रामभक्ति की चौदह भूमिकाएँ बतलाते हुए वाल्मीकि सर्वप्रथम स्थान कथा-श्रवणानुराग को देते हैं :

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहुँ गृह रूरे।

(मानस, अयोध्या० १२८)

लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए भागवत धर्म में अनुराग उत्पन्न होने के अनंतर उस को दृढ़ता देने के लिए राम 'श्रवणादिक' का ही समर्थन करते हैं :

श्रवणादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।

(मानस, अरण्य० १६)

और शबरी से नवधा-भक्ति का निरूपण करते हुए भक्ति के नव भेदों में पहला स्थान सत्संग को देते हुए राम कथानुराग को दूसरा ही स्थान देते हैं :

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।

(मानस, अरण्य० ३५)

इस कथा में श्रद्धा हरि कृपा से ही होती है :

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई।

(मानस, उत्तर० १२९

(५१) राम की यह कथा संत-समाज में ही प्राप्त होती है। 'साधु समाज-प्रयाग' का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उस में वह हरि तथा हर की कथा मिलती है जो समस्त विश्व का मंगल करने वाली होती है :

हरि हर कथा बिराजत बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।

(मानस, बाल० २)

और पुनः रामकथा की प्रशंसा करते हुए बार-बार उस का संबंध वह संतों से बताता है :

सुजन सजीवन मूरि सुहाई।...

संत समाज पयोधि रमा सी।...
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।...
राम चरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥

(मानस, बाल० ३१२)

इस लिए राम कथा जिन्हें प्रिय होती है वे संतों का इतना ही आदर करते हैं जितना भगवान का। राज्यारोहण के अनतर शिव राम का स्तवन करते हुए यही कहते हैं :

अवलंब भवंत कथा जिन्हकें। प्रिय संत अनंत सदा तिन्ह कें।

(मानस, उत्तर० १४)

इस सिद्धात का एक सुदर स्पष्टीकरण गोस्वामी जी ने गरुड़ को कागभुशुंडि के सत्संग के लिए शिव द्वारा प्रेरित कराते हुए किया है :

तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।
नित हरि कथा होत जहँ भाई। पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह भाई।
जाइहि सुनत सकल संदेहा। राम चरन होइहि अति नेहा।
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(मानस, उत्तर० १६)

इस लिए जिस प्रकार भक्ति के लिए वह हरि कृपा को प्रारभिक साधन के रूप में बताते हैं उसी प्रकार संतों की अनुकूलता को भी। लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए उस के साधनों की व्याख्या करने के पूर्व ही राम इस तथ्य की ओर निर्देश करते हैं :

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।

(मानस, अरण्य १६

तुलसीदास संतों का स्थान शिव तथा विष्णु से नीचा नहीं मानना चाहते हैं, और एक स्थान पर शिव-निंदा का प्रकरण आने पर अनवसर भी संत-निंदा को वे उतना ही गर्हित कहते हैं जितना शिव अथवा विष्णु की निंदा को। शिव में वे वस्तुतः संत का आदर्श उपस्थित करते हैं : कदाचित् इस लिए

भी वे शंभु-निंदा का प्रकरण आने पर वे संत-निंदा का उल्लेख भी करते हैं :

संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई।

(मानस, बाल० ६४)

एक स्थान पर तो उन्हों ने संतो का स्थान अनंत के समान कहा है :

जानेसु संत अनंत समाना।

(मानस, उत्तर० १०९)

और एक अन्य स्थान पर संत को अनंत के साथ ही स्थान भी दिया है :

प्रिय संत अनंत सदा तिन्हकें।

(मानस, उत्तर० १४)

और कभी-कभी, तो उन्हें राम से भी अधिक कहा है :

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।

(मानस, उत्तर० १२०)

फलतः इस में आश्चर्य ही क्या यदि शारदा तथा श्रुतियाँ भी उन के गुणों का गान नहीं कर सकती :

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं श्रुति सारद तेते।

(मानस, अरण्य० ४६)

और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भी 'साधु महिमा' कहते हुए सकुचाते हैं :

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।

(मानस, बाल० ३)

कदाचित् यही कारण है कि 'मानस' में मंगलाचरण, सुर-वंदना, और गुरु-वंदना, के बाद ही कवि ने संतों की वंदना की है और उन का परिचय दिया है।[1]

तुलसीदास संत-भक्ति को राम-भक्ति के लक्षणों में एक प्रमुख स्थान देते हैं। लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए तो राम उस का ऐसा उल्लेख करते ही हैं :

संत चरन पंकज अति प्रेमा।

(मानस, अरण्य० १६)

शबरी से 'नवधा भक्ति' का निरूपण करते हुए संत-संग' को अपनी भक्ति का

[1] मानस, बाल० ३–५

प्रथम रूप बतलाते हैं :

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ।

(मानस, अरण्य० ३५)

और पुनः अयोध्या निवासियों से भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए संत-संग को अपने भक्ति का एक प्रमुख लक्षण बताते हैं :

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा ।

(मानस, उत्तर० ४६)

(५२) संतों के लक्षण कवि ने स्थान-स्थान पर बताए हैं। पर उन का सर्व-प्रधान लक्षण यह है कि वे निरंतर दूसरों का हित-साधन करते हैं। साथ ही सतजन सुखदाताओं तथा दुःखदाताओं दोनों में समान बुद्धि रखते हैं, और दोनों का हित करते हैं :

बदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥

(मानस, बाल० ३)

लोक-मगल की कामना उन में प्रमुख रूप से पाई जाती है :

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेह ।

(मानस, बाल० ३)

और वे निःस्वार्थ भाव से दूसरों का हित करते हैं :

हेतु रहित परहित रत सीला ।

(मानस, अरण्य० ४६)

विश्व-मैत्री की भावना उन में हुआ ही करती है :'

श्रद्धा छमा मयत्री दाया ।

(मानस, अरण्य० ४६)

सीतलता सरलता मयत्री ।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन के साथ जो कोई अपकार करते हैं उन का भी वे उपकार ही करते हैं :

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करहिं भलाई ।

(मानस, सुंदर० ४१)

निरादर तथा आदर दोनों में ही वह सुखी रहते हैं, और निंदा तथा स्तुति में वह समान भावना रखते हैं :

सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही।

(मानस, उत्तर० १४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।

(मानस, उत्तर० ३८)

संत तो उस चंदन के वृक्ष के समान होते हैं जो अपना समूल नाश करने वाले को भी अपनी स्वाभाविक शीतलता और सुगंधि प्रदान करता है :

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंधि बसाई।

(मानस, उत्तर० ३७)

संत दूसरों के ही दुःख से दुखी और दूसरों के ही सुख से सुखी हुआ करते हैं :

पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन का प्रेम मानवमात्र तक नहीं सीमित रहता बल्कि वे जीवमात्र से निर्वैर हुआ करते हैं :

सम अभूत रिपु·······

(मानस, उत्तर० ३८)

दूसरों का वचन, मन तथा कर्म से—सभी प्रकार से—उपकार करना संतों का सहज स्वभाव हुआ करता है। वे दूसरों के लिए, दूसरो को सुख पहुँचाने के लिए, स्वतः कष्ट उठाया करते हैं :

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।

संत सहहिं दुख परहित लागी।

(मानस, उत्तर० १२१)

वे भोजपत्र के वृक्षों के समान हैं जो दूसरो को लाभ पहुँचाने के लिए नित्य ही यातनाएँ सहा करते हैं :

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला।

(मानस, उत्तर० १२१)

अधिकतर कवि संत-हृदय की तुलना नवनीत से किया करते हैं किंतु हमारे कवि का कथन है कि वस्तुतः यह तुलना ठीक नहीं है, क्यों कि नवनीत तो कभी-कभी स्वतः भी द्रवित हो जाया करता है किंतु संतजन अपने दुःख से कभी नहीं द्रवित होते, वे सदैव दूसरों के ही दुःख से द्रवित होते हैं :

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहइ न जाना।

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।

(मानस, उत्तर० १२५)

संतों के अन्य लक्षणों मे सर्वप्रधान है उन का राम-भक्त होना :

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।

राम भक्ति जहँ सुर सरि धारा।

(मानस, बाल० २)

राम के चरणों को छोड़कर उन्हें और कुछ भी—यहाँ तक कि अपना शरीर भी प्रिय नहीं होता :

तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेहु।

(मानस, अरण्य० ४६)

वे सर्वदा ही राम की लीलाओं का गान किया करते हैं और उसे सुना करते हैं :

गावहि सुनहिं सदा मम लीला।

(मानस, अरण्य० ४७)

वे मन, कर्म, और वचन, से राम के भक्त हुआ करते हैं :

मम क्रम वच मम भगत अमाया।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन्हे राम के चरणों मे ममत्व हुआ करता है :

... . ममता मम पद कंज।

(मानस, उत्तर० ३८)

वे निष्काम भाव से राम के नाम मे रत रहने वाले हुआ करते हैं :

बिगत काम मम नामपरायण।

(मानस, उत्तर० ३८)

इसी लिए राम-भक्तो के भी लक्षण वे ही बताए गए हैं जो संतो के; राम-भक्तों को तो संत होना ही चाहिए :

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।

(मानस, अयोध्या० १३०)

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ नेम।

(मानस, उत्तर० ४८)

वैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।

(मानस, उत्तर० ४६)

राम भगत परहित निरत परदुख दुखी दयालु।

(मानस, अयोध्या० २१९)

जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी।
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।

(मानस, अयोध्या० १३०)

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, अयोध्या० १०१)

इन संतों के शेष लक्षण राम-भक्त के लक्षणों में आ जाते हैं इस लिए उन के संबंध में किसी प्रकार के विस्तार की आवश्यकता यहाँ पर नहीं है। प्रमुख रूप से संतो की इन्हीं के दो विशेषताओं के कारण उन का सत्संग करने के लिए स्थान-स्थान पर आदेश किया जाता है।

खलों का परिचय कराते हुए इसी प्रकार संतों के इन दो लक्षणों के विलोम प्रमुख रूप से सामने रक्खे जाते हैं :

बहुरि बंदि खल गन सति भाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन्हकेरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें।
हरि हर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से।
जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिनके मन माखी।
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।
उदय केत सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके।
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानु पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति॥

(मानस, बाल० ४)

सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिअ न काऊ।
तिन्हकर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।...
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा।

(मानस, उत्तर० ३९-४०)

और इसी प्रसंग में धर्म के संबंध में अपना वक्तव्य देते हुए राम कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भवभीरा।
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।
त्यागहि कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक।
संत असंतन्ह के गुन भाषे। तेन परहिं भव जिन्ह लखि राखे।

(मानस, उत्तर० ४१)

मत-असंत सबंधी प्रथम भेद पर कागभुशुंडि भी बल देते हैं—बल्कि उसे ही वे वहाँ दोनों में एकमात्र भेद के रूप में बताते हैं :

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला।
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढाइ बिपति सहि मरई।
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिमउपल बिलाही।
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्धि अधम ग्रह केतू।
संत उदय संतत हितकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी।

(मानस, उत्तर० १२१)

स्वतः कवि ने भी पहले अंतर पर इस प्रकार का बल दिया है :

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं।

(मानस, बाल० ५)

सतों-असंतो के सबंध में इतने विस्तृत परिचय की आवश्यकता कवि ने इस लिए समझी है कि जिस प्रकार सतों का सग प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए उसी प्रकार असतों के सग से बचने के लिए भी प्रत्येक साधक को सतर्क रहना चाहिए। और यह बात बिना दोनों के गुणदोष ज्ञान के हो नहीं सकती, इस लिए वे कहते हैं :

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।
तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।..

जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

(मानस, बाल० ६)

जिस प्रकार खलों का त्याग इस साधना में आवश्यक है उसी प्रकार नारी का भी। वस्तुतः किसी अज्ञात कारण से कवि ने आवश्यकता से अधिक, और कभी-कभी अपने प्रसंग से कुछ बाहर निकल कर भी, नारी-भर्त्सना की है। ऊपर हम इस संबंध में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, इस लिए यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक होगी।[1]

(५३) भक्ति संतों के अनुकूल होने पर ही प्राप्त होती है :

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला।

(मानस, अरण्य० १६)

बिना संतो की सहायता के भक्ति किसी को नहीं प्राप्त हुई है: वस्तुतः संतों ने ही ब्रह्म-पयोनिधि का मंथन कर उस कथा रूपी सुधा को निकाला है जिस की ही मधुरता भक्ति है :

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा।
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहिं॥

(मानस, उत्तर० १२०)

भक्ति बिना सत्संग के नहीं हो सकती, और सत्संग का प्राप्त होना ही संसृति का अंत है :

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।

(मानस, उत्तर० ४५)

बड़े भाग पाइअ सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भवभंगा।

(मानस, उत्तर० ३३)

इस लिए सत्संग ही समस्त सुख का मूल है और वही समस्त साधनों का सुंदर फल है:

[1] देखिए ऊपर पृ० २९९

सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।

(मानस, बाल० ३)

इस सत्संग से जो सुख प्राप्त होता है अन्य सुखों की तो उस के साथ कोई तुलना ही नहीं हो सकती; वह तो स्वर्ग और अपवर्ग (निर्वाण) के सुख से भी बड़ा है :

संत मिलन सम सुख जग नाहीं।

(मानस, उत्तर० १२१)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(मानस, सुंदर० ४)

इसी लिए शिव भी राम की भक्ति के साथ उन से उस सत्संग की याचना करते हैं जो उस का अनिवार्य साधन है :

बार बार बर मॉगउँ हरषि देहु श्री रंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४)

स्वतः शिव को ही यह रामकथा कागभुशुंडि के सत्संग से प्राप्त हुई है इस लिए वे क्यों न इस प्रकार के वर की याचना करें।

यह सत्संग भी राम कृपा के विना प्राप्त नहीं होता :

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।

(मानस, बाल० ३)

हरि-कृपा के विना संत कभी नहीं मिलते। हनुमान-दर्शन पर विभीषण यही कहते हैं :

अब मोहिं भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।

(मानस, सुंदर० ७)

कागभुशुंडि भी गरुड़ से यही कहते हैं :

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा।
संत बिसुद्ध मिलहिं पै तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।

(मानस, उत्तर० ६९)

और पार्वती से शिव भी इसी बात का समर्थन करते हैं :

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहि बेद पुरान॥

(मानस, उत्तर० १२५)

संतों की प्राप्ति का एक उपाय और भी है, "पुण्य-पुंज" से भी वे प्राप्त हो सकते हैं—किंतु "पुण्य-पुंज" से तो हरिकृपा हो भी जाती होगी :

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।

(५४) इस साधन-पथ में गुरुकृपा भी बड़ी सहायक हुआ करती है। उन के चरण-नख का प्रकाश मोहतम का नाश करता है, और उस राम-चरित्र का सम्यक् परिचय कराता है जो अन्यथा अधिकाश रहस्यपूर्ण हुआ करता है :

श्री गुर पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बडे भाग उर आवइ जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुखभव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।
जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥

(मानस, बाल० १)

इसी कारण गुरु की समता सूर्य से करते हुए कवि उन के उपदेश रूपी किरणों को मोहाधकार का नाश करने वाला बताता है :

बंदउँ गुरु पदकंज कृपासिंधु नररूप हर।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥

(मानस, बाल० १)

और इसी लिए गुरु के चरणों की धूलि को वह भव-नाशक कहता है :

अमिअ मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।

(मानस, बाल० १)

इन गुरु की सहायता से समस्त संशय-भ्रमसमुदाय उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार शरद ऋतु के आने पर बरसाती कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाते हैं :

भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ।
सदगुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥

(मानस, किष्किधा० १७)

कवि का तो कथन है, गुरु की सहायता के बिना किसी भी व्यक्ति के लिए—चाहे वह ब्रह्मा या शंकर के ही समान क्यों न हो—भवसागर को पार करना असंभव है :

गुरु विनु भवनिधि तरइ न कोई। जौ विरंचि संकर सम होई।

(मानस, उत्तर० ९३)

इसी लिए राम-भक्ति की चौदह भूमिकाओं में से एक में गुरु-भक्ति को स्थान देते हुए वाल्मीकि गुरु को आराध्य से भी बढ़कर समझने का उल्लेख करते हैं :

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।

(मानस, अयोध्या० १२९)

और राम स्वतः शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए कथानुराग और सत्संग के बाद ही इस को भक्ति के तीसरे स्वरूप के रूप में स्थान देते हैं :

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

(मानस, अरण्य० ३५)

(५५) नाम-स्मरण राम-भक्ति के प्रादुर्भाव के लिए एक अत्यंत उपयोगी और सुलभ साधन है। 'मानस' के प्रारभ में ही[1] नाम का विषय लेकर कवि ने जितनी युक्ति और सहृदयता पूर्वक उस का निर्वाह किया है उस से यह तो ज्ञात होता ही है कि महाकवि नीरस से नीरस विषय को कितना सरस बना कर उपस्थित कर सकता है, साथ ही नाम के प्रति उस का असीम और अनुपम अनुराग भी दिखाई पड़ता है। पूरा प्रकरण ऐसा है कि कदाचित् उस का प्रत्येक अंश यहाँ पर दिया जा सकता है। अनेक दृष्टिकोणों से विचार कर कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'राम' नाम न केवल निर्गुण ब्रह्म से बड़ा है बल्कि सगुण ब्रह्म राम से भी बड़ा है—और यहाँ पर कदाचित् वह अपनी एक रहस्य-मयी विचार-धारा का किंचित् परिचय देता है। नाम-स्मरण को वह भक्ति का एक अनिवार्य अंग उसी प्रकार बताता है जिस प्रकार सावन और भादों मास वर्षा ऋतु के लिए हुआ करते हैं :

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥

(मानस, बाल० १९)

तुलसीदास के लिए तो 'राम' नाम के दोनों अक्षर राम लक्ष्मण के समान प्रिय हैं :

[1] मानस, बाल० १९–२८

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के।

(मानस, बाल० २०)

और, उन की भक्ति रूपी सुंदरी के लिए वे कर्णाभूषणों के समान हैं :

भगति सुतिय कल करन बिभूषन।

(मानस, बाल० २०)

नाम-स्मरण से रूप-ज्ञान के बिना भी स्नेह का प्रादुर्भाव हो जाता है इस लिए नाम-स्मरण वास्तविक भक्ति का एक सुलभ साधन है :

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें।

(मानस, बाल० २१)

राम-भक्त चार प्रकार के हुआ करते हैं : ज्ञानी, जिज्ञासु अर्थार्थी और आर्त। इन चारों प्रकार के भक्तों के लिए नाम एक प्रमुख आधार हुआ करता है :

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जाना चहहि गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहि लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेष पिआरा।
सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

(मानस, बाल० २२)

नाम की महिमा तो ऐसी है कि राम भी उस का गान नहीं कर सकते :

कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई।

(मानस, बाल० २६)

कलिकाल मे नाम-स्मरण समस्त आध्यात्मिक साधनों से अधिक प्रभावशाली है :

नहि कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।

(मानस, बाल० २७)

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

(मानस, उत्तर० १०२)

शिव काशी में मुक्ति के लिए इसी 'राम' मंत्र का उपदेश दिया करते हैं:

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।

(मानस, बाल० १९)

इसी नाम के बल पर काशी में मृत्यु प्राप्त करते हुए व्यक्ति को वे अनंत शांति और सुख प्रदान करते हैं:

कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।

(मानस, बाल० ११९)

इस नाम के स्मरण से भवसागर को पापी भी तर जाता है:

पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भव सागर तरहीं।

(मानस, किष्किंधा० २९)

औरों की तो बात ही क्या, वे तो इस का आश्रय लेकर अनायास ही उस को पार कर जाते हैं:

सुनहु भानुकुल केतु जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहिं॥

(मानस, लंका० १)

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समराम हे।

(मानस, उत्तर० १३)

इस नाम ने गणिका अजामिल, व्याध, गीध गजादि सभी को तार दिया यह कहते हुए तो गोस्वामी जी थकते ही नहीं। ग्रंथ की समाप्ति ही वह इसी नाम के नाते राम को नमस्कार करते हुए करते हैं:

पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।

(मानस, उत्तर० १३०)

और अपनी रचना में वह केवल एक यही गुण बतलाते हैं—अर्थात् केवल

इसी नाते वह रचना में प्रवृत्त होते हैं :

भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक ॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा ।
मंगलभवन अमंगलहारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।

(मानस, बाल० ९-१०)

और इसी के अनुसार वे काव्य-रचना संबंधी अपना सिद्धांत निरूपित करते हैं :

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोहन सोऊ ।
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही । मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ।

(मानस, बाल० १०)

भगवान के समस्त नामों में से 'राम' हमारे कवि को सर्वाधिक प्रिय है, इसी कारण वह नारद से तद्विषयक एक वर की याचना भी करवाता है :

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ।
राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥

(मानस, अरण्य० ४२)

इस लिए कवि के अनुसार अन्य धर्माचरणों के साथ ही 'राम' मंत्र-जाप राम-भक्ति की एक आवश्यक भूमिका है । वाल्मीकि इस को राम-भक्ति की चौदह भूमिकाओं में पाँचवाँ स्थान देते हुए कहते हैं :

मंत्र राजु नित जपहिं तुम्हारा । पूजहि तुम्हहिं सहित परिवारा ।
सबु कर माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ ।
तिन्हकें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ ॥

(मानस, अयोध्या० १२९)

राम स्वतः नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए उसे पाँचवाँ स्थान देते हैं :

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ।

(मानस, अरण्य० ३६)

और पुनः वे भक्तिपथ का निरूपण करते हुए अपने "नाम रत" को भक्तों में

इसी नाते वह रचना में प्रवृत्त होते हैं :

भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।

(मानस, बाल० ९-१०)

और इसी के अनुसार वे काव्य-रचना सबधी अपना सिद्धांत निरूपित करते हैं :

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोहन सोऊ।
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही।

(मानस, बाल० १०)

भगवान के समस्त नामो में से 'राम' हमारे कवि को सर्वाधिक प्रिय है, इसी कारण वह नारद से तद्विषयक एक वर की याचना भी करवाता है :

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥

(मानस, अरण्य० ४२)

इस लिए कवि के अनुसार अन्य धर्माचरणो के साथ ही 'राम' मंत्र-जाप राम-भक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि इस को राम-भक्ति की चौदह भूमिकाओं मे पाँचवाँ स्थान देते हुए कहते हैं :

मंत्र राजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।
सबु कर माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हकें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥

(मानस, अयोध्या० १२९)

राम स्वतः नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए उसे पाँचवाँ स्थान देते हैं :

मंत्र जाप मम दृढ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।

(मानस, अरण्य० ३६)

और पुनः वे भक्तिपथ का निरूपण करते हुए अपने "नाम रत" को भक्तों में

इस प्रकार स्थान देते हैं :

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद कोह।
ताकर सुख सोइजानइ परानंद संदोह॥

(मानस, उत्तर० ४६)

(५६) स्वरूपासक्ति अर्थात् राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार करने की प्रवल आकाक्षा भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है : रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं मे दूसरा स्थान वाल्मीकि इसी को देते हैं :

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।
निदरहि सरित सिधु सर बारी। रूप बिंदु जल होहि सुखारी।
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।

(मानस, अयोध्या० १२८)

(५७) यश-कीर्तनासक्ति भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है; उपर्युक्त चौदह भूमिकाओ मे तीसरा स्थान वाल्मीकि इसी को देते हैं :

जसु तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ बसहु राम हियँ तासु॥

(मानस, अयोध्या० १२८)

लक्ष्मण से भक्तियोग का निरूपण करते हुए इस गुणगान को राम अपनी भक्ति के लक्षणों में पाँचवाँ स्थान देते हैं :

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।

(मानस, अरण्य० १६)

शवरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम अपने "गुनगन गान" को भक्ति के स्वरूपो में चौथा स्थान देते हैं :

चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान।

(मानस, अरण्य० ३५)

अवध-निवासियो से भक्तिपथ का निरूपण करते हुए राम पुनः "अपने गुनग्राम रत" को भक्तों मे स्थान देते हैं :

मम गुन ग्राम नाम रत......

(मानस, उत्तर० ४६)

अपने अंतःकरण के तम की शांति के लिए तुलसीदास ने भी इसी उपाय का अवलंबन किया :

मत्वातद्रघुनाथ नाम निरतं स्वान्तस्तमःशान्तये ।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।

(मानस, उत्तर० समाप्ति)

भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरें मन प्रबोध जेहि होई ।
निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करउँ कथा भव सरिता तरनी ।

(मानस, बाल० ३१)

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ।

(मानस, बाल० ९)

अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य तुलसीदास ने इसी को बनाया, और उन्हो ने अनेक छंदों मे और अनेक काव्य-परिपाटियों मे इस कथा का गान किया।

(५८) पूजासक्ति अर्थात् रामार्चन मे अनुराग रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि इस को रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं में से चौथी मे स्थान देते हैं :

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ।
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ।...
कर नित करहिं राम पद पूजा । राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा ।...
राम बसहु तिन्हके मन माहीं ।

(मानस, अयोध्या० १२९)

(५९) रामतीर्थों की यात्रा रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं मे से चौथी मे इसे भी स्थान देते हुए वाल्मीकि कहते हैं :

चरन रामतीरथ चलि जाहीं । राम बसहु तिन्हके मन माहीं ।

(मानस, अयोध्या० १२९)

राम-तीर्थों का सेवन भव शांति के लिए भी एक प्रयासहीन साधन बताया जाता है ; स्वतः राम ने स्वसामीप्य तथा स्वसालोक्य की प्राप्ति के लिए सरयू-स्नान तथा अयोध्या-निवास को सब से सुगम उपाय बताया है :

सुनु कपीस अंगद लंकेसा । पावन पुरी रुचिर यह देसा ।
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद पुरान बिदित जगु जाना ।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि सरजू बह पावनि ।
जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा । मम समीप नर पावहिं बासा ।

अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।

(मानस, उत्तर० ४)

स्वकृत सेतु को भी इसी प्रकार राम महत्व देते हैं:

मम कृत सेतु जो दरसनु करिहीं। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही।

(मानस, लंका० ३)

(६०) ब्राह्मण-सेवा को भी तुलसीदास भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं मे स्थान देते हैं। वाल्मीकि रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं मे से इसे चौथी और पाँचवीं भूमिकाओं मे स्थान देते हैं:

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।

(मानस, अयोध्या० १२९)

बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना।

(मानस, अयोध्या० १२९)

स्वतः राम कवध से "निज धर्म" का निरूपण करते हुए ब्राह्मण-सेवा को असाधारण महत्व देते हैं:

सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही।
मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥
सापत ताडत परुप कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।

(मानस, अरण्य० ३३-३४)

और अन्यत्र अपने प्राणप्रिय भक्तों की अन्य विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी बताते हैं कि उन मे द्विजपद-प्रेम होना चाहिए:

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

(मानस, सुंदर० ४८)

शिव ने भी कागभुशुंडि को भगवत्-कृपा प्राप्ति के लिए द्विज-सेवा का उपदेश किया है:

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई।
अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना।

(मानस, उत्तर० १०९)

द्विज-द्रोही राम-कथा भी सुनने का पात्र नहीं है :

द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ । सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ ।

(मानस, उत्तर० १२८)

(६१) माया (अनात्म विषयों) से मन का निर्लिप्त रखना रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में इसे छठा स्थान देते हैं :

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ।
जिन्ह कें कपट दंभ नहि माया । तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया ।

(मानस, अयोध्या० १३०)

लक्ष्मण से भक्तियोग का विवेचन करते हुए राम भी इस भावना को अपनी भक्ति के लक्षणों में छठा स्थान देते हैं और कहते हैं :

काम आदि मद दंभ न जाकें । तात निरंतर बस मैं ताकें ।

(मानस, अरण्य० १६)

और पुनः शवरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए भक्ति का छठा भेद राम इसी को बताते हैं :

छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ।

(मानस, अरण्य० ३७)

भक्तिपक्ष का निरूपण करते हुए राम अपने अंतिम संदेश में भक्त का लक्षण इस प्रकार देते हैं :

अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ।

(मानस, उत्तर० ४६)

और "गत ममता मद मोह" को परानंद का अधिकारी बताते हैं :

... . गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥

(मानस, उत्तर० ४६)

राम सुग्रीव से भी विभीषण की शरणागति के अवसर पर मन की निर्मलता अपनी प्राप्ति के लिए अनिवार्य बताते हैं :

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।

(मानस, सुंदर० ४४)

(६२) लोक-निरपेक्ष भाव युक्त अनन्य बुद्धि रामभक्ति की एक अन्य

आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि ने रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में इसे सातवाँ स्थान दिया है :

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी।
तुम्हहिं छाँडि गति दूसरि नाही। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।

(मानस, अयोध्या० १३०)

शवरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस भावना को नवम स्थान देते हैं :

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरप न दीना।

(मानस, अरण्य० ३६)

भक्तिपथ का निरूपण करते हुए अपने अंतिम संदेश के रूप में राम पुनः इस प्रकार कहते हैं :

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोप सदाई।
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कवन बिस्वासा।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।

(मानस, उत्तर० ४६)

(६३) वासनाहीन तथा व्यापक प्रेम रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इसे आठवाँ स्थान देते हैं :

जननी सम जानहिं पर नारी। धनु परख बिपतें बिप भारी।
जे हरपहि पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी।
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।

(मानस, अयोध्या० १३०)

(६४) सर्वस्व-भाव, अर्थात् समस्त प्रेम-सूत्रों को एकत्र कर उन्हें राम में स्थापित करना रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इसे नवाँ स्थान देते हैं :

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(मानस, अयोध्या० १३०)

लक्ष्मण से भक्तियोग का निरूपण करते हुए राम इस भावना को चौथा

स्थान देते हैं :

गुर पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा ।

(मानस, अरण्य० १६)

विभीषण को शरण में लेते हुए अपने प्रेमपात्र की व्याख्या भी राम इसी प्रकार करते हैं :

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक नहिं भय मन माहीं ।
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदय बसइ धन जैसें ।

(मानस, सुंदर० ४८)

(६५) लोक-संग्रह-वृत्ति भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। राम-भक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं मे इसे वाल्मीकि दसवाँ स्थान देते हैं :

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

शवरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस भावना को आठवाँ स्थान देते हैं :

आठवँ जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा ।

(मानस, अरण्य० ३६)

अन्यत्र भी राम भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए इसे भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं मे बताते हैं :

जथा लाभ संतोष सदाई ।

(मानस, उत्तर० ४६)

राम अपने प्राणप्रिय भक्तों की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए नीति-तत्परता का भी उल्लेख करते हैं :

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥

(मानस, सुंदर० ४८)

राम की भक्ति के लिए संसार-त्याग आवश्यक नहीं : लोक मे ही उस का निर्वाह उस की चरम सीमा तक हो सकता है, शर्त इतनी ही है कि

साधक के प्रेम का क्षेत्र संकुचित न हो, और वह प्राणिमात्र मे अपने उपास्य का दर्शन करता हुआ उस की सेवा मे तत्पर हो। हनुमान से राम कहते हैं :

सो अनन्य जाकें अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किधा० ३)

अपने 'सखाओं' को दीक्षा देते हुए वह इसी तथ्य को इस प्रकार और भी स्पष्ट करते हैं :

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम॥

(मानस, उत्तर० १६)

निषादराज को भी विदा करते हुए वह इसी प्रकार कहते हैं :

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू।

(मानस, उत्तर० २०)

और 'धर्म' की व्याख्या करते हुए अन्यत्र परहित-साधन को ही धर्म का चरम स्वरूप बताते हैं, और परपीड़न को भव-यातना का निश्चित कारण बताते हैं :

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते सहहिं महा भव भीरा।

(मानस, उत्तर० ४१)

यही कारण है कि संतों का लक्षण बताते हुए तुलसीदास ने परोपकार-वृत्ति को उन का एक सर्वप्रमुख लक्षण बताया है। तुलसीदास की लोक-मंगल की भावना का यह एक सुंदर प्रमाण है। राम की अनन्य भक्ति जब लोक के बीच प्रस्फुटित होती है तो तुलसीदास के अनुसार यह अवश्यंभावी है कि उस का विकास परहित-साधन की ओर हो :

परम धर्म श्रुति बिदित अहिसा।

(मानस, उत्तर० १२१)

(६६) स्वदोपानुभूति तथा भागवत-भक्ति भी रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि इसे रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं मे से ग्यारहवीं भूमिका मे स्थान देते हैं :

गुन तुम्हार समुझइ निजदोषा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

राम के भक्तों के गुणों और उन के चरित्रो का मनन करने से भी राम भक्ति प्राप्त होती है । विशेष करके भरत का चरित्र इस सबध मे उल्लेखनीय है । स्वतः तुलसीदास कहते हैं :

कहत सुनत सति भाउ भरत को । सीय राम पद होइ न न रत को ।
सुमिरत भरतहिं प्रेमु राम को । जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को ।

(मानस, अयोध्या० ३०४)

और

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीयराम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति ॥

(मानस, अयोध्या० ३२६)

(६७) वैराग्य-वृत्ति अर्थात् सासारिक संबंधों से ममत्व का परित्याग भी रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है । वाल्मीकि ने रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं में इसे बारहवाँ स्थान दिया है :

जाति पाँति धनु धरम बड़ाई । प्रिय परिवार सदनु सुखदाई ।
सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई । तेहि के हृदय बसहु रघुराई ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए राम स्वर्ग अपवर्ग को विषयों की श्रेणी मे स्थान देते हैं और उस की उपेक्षा का उपदेश करते हैं :

तृन सब बिषय स्वर्ग अपबर्गा ।

(मानस, उत्तर० ४६)

(६८) तन्मयता रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है । रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इस को तेरहवाँ स्थान देते हैं :

सरगु नरकु अपबरगु समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ।
करम बचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि के उर डेरा ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

शवरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस सर्वात्म भावना को सातवाँ स्थान देते हैं :

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मो तें अधिक संत कर लेखा।

(मानस, अरण्य० ३६)

(६९) शुद्ध प्रेमासक्ति रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है; वाल्मीकि इसे चौदहवाँ (अंतिम) स्थान देते हैं :

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस, अयोध्या० १३१)

लक्ष्मण को भक्तियोग का उपदेश करते हुए रामभक्ति के लक्षणों में इस भावना का भी उल्लेख करते हैं :

बचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(मानस, अरण्य० १६)

(७०) भक्ति के साधन तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं : कर्म-मूलक, ज्ञान-मूलक तथा भक्ति-मूलक। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए ब्राह्मणों में प्रीति रखने से मन विषयों से विरक्त होता है, विरक्ति से भागवत धर्म में अनुराग होता है, उसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन नामक नौ साधन और पुष्ट करते हैं, तब पुष्ट भक्ति के लक्षण प्रकट होते हैं :

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी।
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती।
एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।

(मानस, अरण्य० १६)

अन्यत्र पुनः रामभक्ति की प्राप्ति की ओर इस प्रकार संकेत किया जाता है :

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रत धारी।
धर्मसील कोटिन्ह महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ।
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।

सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया।

(मानस, उत्तर० ५४)

इस को कर्म-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

तुलसीदास ने रामभक्ति के लिए पुनः 'विवेक मार्ग' का अनुमोदन किया है :

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।

(मानस, अयोध्या० ९३)

इसे ज्ञान-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

गुरु के आदेशों का विश्वासपूर्वक पालन करते हुए विषय की आशा (मृगतृष्णा) का नाश होता है, उस स्थिति मे यदि रघुपति-भक्ति रूपी औषधि का श्रद्धापूर्वक सेवन किया जावे तब मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मानसिक नीरोगता प्राप्त होने पर विराग और सुमति की वृद्धि होती है और विषयों की आशा (मृगतृष्णा) सर्वथा जाती रहती है। उस स्थिति में यदि विमल ज्ञान (विज्ञान) की सहायता ली जाती है तो अविरल हरिभक्ति प्राप्त हो जाती है—वह हरि-भक्ति जो समस्त हृदय को आप्लावित कर देती है :

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा।
सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषै की आसा।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिंत कोटि जतन नहिं जाहीं।
जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई।
बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।

(मानस, उत्तर० १२२)

इस अंतिम मार्ग को भक्ति-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

(७१) शिवभक्ति रामभक्ति के लिए एक स्वतंत्र भूमिका है। राम शिव-लिंग की स्थापना के समय स्वतः कहते हैं :

संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।

(मानस, लंका० २)

राम और शिव में से एक की भक्ति और दूसरे से द्रोह तुलसीदास के राम को कदापि सह्य नहीं हैं :

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥

(मानस, लंका २)

रामेश्वर का दर्शन ही राम के साथ सालोक्य के लिए पर्याप्त है :

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं । ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ।

(मानस, लंका० ३)

और उसी प्रकार गंगाजल से शिव का अभिषेक सायुज्य के लिए :

जे गंगा जलु आनि चढ़ाइहि । सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि ।

निष्काम भाव से तथा निष्कपट हृदय से शिव की सेवा करने वाले तो राम-भक्ति के अधिकारी होते हैं—जो समस्त प्रकार की मुक्ति से श्रेष्ठ मानी गई है :

होइ अकाम जो छलु तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि संकर देइहि ।

(मानस, लंका० ३)

अयोध्या-निवासियों से भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए राम अपने इस गुप्त मत का प्रकटीकरण इस प्रकार करते हैं :

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥

(मानस, उत्तर० ४५)

शिव को विश्वास और पार्वती को श्रद्धा का रूप कहते हुए तुलसीदास कहते हैं कि इन की सहायता के बिना सिद्ध जन भी अपने अंतःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते :

भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ।

(मानस, बाल० आरंभ)

और सुख तो शंकर-द्रोही को कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता। स्वतः राम कहते हैं :

चातक रटत तृषा अति ओही । जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही ।

(मानस, किष्किधा० १७)

शिव को तुलसीदास राम का सेवक, स्वामी और सखा बतलाते हैं, और अपना असीम हितकारी कहते हैं :

सेवक स्वामि सखा सिय पी के । हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के ।

(मानस, बाल० १५)

शिव को तुलसीदास विष्णु के ही साथ स्थान देते हैं :

संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिअ तासु जीभ जु बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई।

(मानस, बाल० ६४)

शिव और विष्णु का परस्पर अविरोध गोस्वामी जी को इष्ट था। दक्ष के यज्ञ की कथाओं में जो अन्यत्र मिलती हैं यज्ञ में ब्रह्मा तथा विष्णु[१] जाते हैं केवल शिव नहीं जाते; 'मानस' में त्रिदेव में से कोई भी नही जाता :

बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई।

(मानस, बाल० ६१)

यदि 'मानस' में भी ब्रह्मा तथा विष्णु वहाँ गए होते तो वहाँ इन्हें शिव का अपमान देखना ही पड़ता, जैसा अन्यत्र हुआ है। कदाचित् शैवों और वैष्णवों को किसी प्रकार वह मिलाना भी चाहते हैं जो स्पष्ट ज्ञात होता है।

शिव की तो तुलसीदास उसी प्रकार और लगभग उन्ही शब्दो मे स्तुति भी करते हैं जिस प्रकार और जिन शब्दों मे वह राम की करते हैं :

नमामीशमीशान निर्वाण रूपं विभुं ब्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं।
अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहं।
निराकारमोंकार मूलं तुरीयं गिरा ज्ञान गोतीतमीशं, गिरीशं।
करालं महाकाल कालं कृपालं गुणागार संसार पारं नतोऽहं।

(मानस, उत्तर० १०८)

(७२) वैष्णवजन राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार कर के भी संसृति-सागर को तरते हैं। राम का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर संसार उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार जगने पर स्वप्न का ससार नष्ट हो जाता है :

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई।

(मानस, बाल० ११२)

और राम को प्राप्त कर लेने पर जीव उसी प्रकार अचल हो जाता है—उसे आवागमन से मुक्ति मिल जाती है—जिस प्रकार सरिता सागर में पहुँच कर

[१] उदाहरणार्थ : श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कंध (७)

अचल हो जाती है :

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।

(मानस, किष्किधा० १४)

किंतु राम के पारमार्थिक स्वरूप का यह बोध उन की कृपा से उन के भक्तों को ही होता है :

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगतउर चंदन।

(मानस, अयोध्या० १२७)

(७३) राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार उन के ध्यान द्वारा होता है। वाल्मीकि राम के निवासयोग्य स्थान बताते हुए उन से याचना करते हैं :

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।

(मानस, अयोध्या० १२८)

(७४) राम का निर्गुण स्वरूप मन का अविषय होने के कारण भक्ति के उपयुक्त नहीं है, इस लिए विद्वान् लोग राम के अवतारी रूप का ही ध्यान कर के संसृति सागर को पार करते हैं। राम का स्तवन करते हुए अगस्त्य कहते हैं :

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ।

(मानस, अरण्य० १३)

वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधक है माया। माया के व्यवधान के कारण उस का साक्षात्कार हम उसी प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार घने कमल के पत्तों के ऊपर फैल जाने पर तालाब-जल नहीं दिखाई पड़ता :

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म॥

(मानस, अरण्य० ३९)

इसी लिए वेद भी अज, अद्वैत, अनुभवगम्य, और मन के अविषय निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या और उस को जानने की चेष्टा छोड़ कर उस के सगुण (अव-

तारी) लीला का ही गान करते हैं, और इसी लिए वे राम से केवल उन की भक्ति की याचना करते हैं :

> जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
> ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।
> करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं।
> मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

(मानस, उत्तर० १३)

राम की भक्ति भी उस समय तक वस्तुतः अपूर्ण है जब तक राम के इस पारमार्थिक स्वरूप का ध्यान अबाध रूप से हृदय में नहीं बना रहता। इसी लिए सुतीक्ष्ण राम से इस प्रकार का वर पा कर भी कि :

> अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना।

कहते हैं :

> प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहिं जो भावा।
> अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
> मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

(मानस, अरण्य० ११)

राम के इस पारमार्थिक स्वरूप का ध्यान इतना अमोघ है कि किसी भी भाव से इस के निरंतर स्मरण से जीव को परमगति प्राप्त हो जाती है। निशिचर गण राम का स्मरण वैर भाव से करते हैं, फिर भी केवल इस स्मरण के कारण ही राम उन्हें परमगति देते हैं :

> उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।
> देहिं परम गति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी।

(मानस, लंका० ४५)

राम का निरंतर स्मरण करते-करते राक्षस रामाकार हो जाते हैं और इसी लिए मुक्त हो जाते हैं और उन के समस्त भव-बंधन छूट जाते हैं :

> सुधावृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।
> रामाकार भए तिन्हके मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन।

(मानस, लंका० ११४)

(७५) राम के सगुण (अवतारी) रूपों में से किन्हीं के ध्यान का विषय उन का बालरूप होता है, जैसे शंकर और कागभुशुंडि के लिए;

शंकर कहते हैं :

बंदउँ बालरूप सोइ रामू।

(मानस, बाल० ११०)

कागभुशुंडि कहते हैं :

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं।
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ।
जन्म महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई।
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा।

(मानस, उत्तर० ७५)

और कोई उन के भूपरूप के उपासक होते हैं। सुतीक्ष्ण उन के भूपरूप के उपासक हैं। राम जब अपना भूपरूप अन्तर्हित कर लेते हैं और उन के हृदय में चतुर्भुजरूप का आविर्भाव करते हैं तो वे आकुल हो उठते हैं :

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिकर जैसें।

(मानस, अरण्य० १०)

और उन से उन के काननचारी रूप के ही ध्यान की याचना करते हैं :

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदयँ निरंतर बासी।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसहुँ मनसि मन काननचारी।

(मानस, अरण्य० ११)

(७६) योगाभ्यास के द्वारा वह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो मोक्ष का कारण होता है :

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।

(मानस, अरण्य० १६)

योग से चित्त की शुद्धि होती है। किंतु राम के भक्त राग, लोभ, मान, मद से रहित और संपत्ति विपत्ति में समत्व बुद्धि रखने वाले होते हैं इस लिए वह योग का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती :

नहि राग न लोभ न मान मदा। तिन्ह कें सम बैभव वा बिपदा।
एहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा।

(मानस, उत्तर० १४)

(७७) ब्रह्मा भी राम के भक्त हैं—शिव तो राम के भक्त हैं ही— वे

रावण-वध के अनंतर आकर राम का स्तवन करते हैं,[१] और विष्णु भी राम के भक्त कहे गए हैं।[२]

(७८) ब्रह्मादि भी अन्य जीवों की भाँति बाह्य पदार्थों में सत्य बुद्धि रखते हैं ; राम से स्तुति करते हुए ब्रह्मा कहते हैं :

अब दीनदयाल दया करिऐ। मति मोरि बिभेदकरी हरिऐ।
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिऐ। दुख सो सुख मानि सुखी चरिऐ।

(मानस, लंका० १११)

शिव भी इस दुख-सुख के द्वन्द, राग-द्वेष के द्वन्द्व के नाश के लिए राम से याचना करते हैं :

रघुनंद निकंदय द्वन्द घनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं।

(मानस, उत्तर० १४)

माया से वे भी मोहित हुआ करते हैं :

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥

(मानस, उत्तर० ६२)

विष्णु के संबंध में भी यही बात कही जाती है। जब तुलसीदास यह कहते हैं कि राम के चित्स्वरूप को ब्रह्मा और शिव भी नहीं जानते उस समय वह विष्णु को भी उन्हीं के समकक्ष रखते हैं और अनधिकारियों में उन की भी गणना करते हैं :

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननि हारा।...
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।

(मानस, अयोध्या० १२७)

(७९) मुक्ति के तीन भेद प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं : सायुज्य, सालोक्य और सारूप्य।

शबरी योगाग्नि में देह-त्याग कर सायुज्य प्राप्त करती है :

तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।

(मानस, अरण्य० ३६)

[१] मानस, लंका० १११ [२] देखिए ऊपर पृ० ३९२

कुंभकर्ण भी इसी सायुज्य को प्राप्त करता है :

तासु तेज प्रभु बदन समाना।

(मानस, लंका० ७१)

और रावण भी इसी परम गति को प्राप्त करता है :

तासु तेज समान प्रभु आनन।

(मानस, लंका० १०३)

वालि को सालोक्य प्राप्त होता है :

राम बालि निज धाम पठावा।

(मानस, किष्किंधा० १२)

विभीषण को भी राम इसी का बर देते हैं, और संतों को साधारणतः यही प्राप्त होता है :

करेउ कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहि ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं ॥

(मानस, लंका० ११६)

अंत काल रघुपतिपुर जाहीं।

(मानस, उत्तर० १५)

बिनुश्रम राम धाम सिधावहीं।

(मानस, उत्तर० १३०)

जटायु को सारूप्य की प्राप्ति होती है :

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी।

(मानस, अरण्य० ३३)

पर साथ ही उसे सालोक्य की प्राप्ति होती है; राम उसे वर यही देते हैं और वह अंत में 'हरिधाम' को जाता भी है :

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।

(मानस, अरण्य० ३२)

अविरल भक्ति माँगि वर गीध गयउ हरि धाम।

(मानस, अरण्य० ३३)

और जब पीछे उस की सद्गति का उल्लेख किया जाता है तो कहा जाता है कि वह 'हरिपुर' गया :

हरिपुर गयउ परम बड़ भागी।

(मानस, किष्किधा० ७७)

राम के भक्त अभेदयुक्त मोक्ष का निरादर कर के राम से उन की भेद-भक्ति की याचना करते हैं। इसी लिए वे हरिलीन न हो कर वैकुठ की यात्रा करते हैं। सरभग ने अपना योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत इत्यादि जो कुछ किया था वह सब राम को दे कर उन की भक्ति का वरदान प्राप्त करते हैं और इसी लिए योगाग्नि मे शरीर को छोड़ कर वे हरिलीन नहीं होते :

जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।
सीता अनुज समेत प्रभु नील नीरधर स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥
अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा।
तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ।

(मानस, अरण्य० ९)

दशरथ भी भेद-भक्ति में दत्तचित्त हैं, इस लिए राम उन्हें जब दृढ़ ज्ञान देते हैं वे उस दृढ़ ज्ञान को प्राप्त कर भी मोक्ष नहीं लेते, वे हर्षित होकर 'सुरधाम' जाते हैं :

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना।
तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो।
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दशरथ हरषि गएउ सुरधामा।

(मानस, उत्तर० ११२)

इस भेद-भक्ति को कागभुशुंडि आगे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।
जो सब के रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।
मुधाभेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।
हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढइ बिहंग बर।

(मानस, उत्तर० ७९)

ईश्वर जीव का यह भेद 'मुधा' है जैसा ऊपर कहा गया है, और ज्ञान के प्राप्त होने पर यह 'भेद भ्रम' नष्ट हो जाता है :

आतम अनुभव सो सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा।

(मानस, उत्तर० ११८)

फिर भी राम के भक्त राम की भक्ति भेद-भावना से ही करते हैं।

संक्षेप मे यही 'राम चरित मानस' मे उपस्थित किए हुए कवि के आध्यात्मिक विचार हैं।

विनय पत्रिका

४. (१) राम सच्चिदानद ब्रह्म हैं, और उन्हों ने ही लीलावतार धारण किया है :

नित्य निर्मोह निर्गुन निरंजन निजानंद निर्वाण निर्वाणदाता।
निर्भरानंद नि.कंप निःसीम निर्मुक्त निरुपाधि निर्मम विधाता।

(विनय० ५६)

(२) जिस प्रकार वे निर्गुण ब्रह्म हैं, उसी प्रकार के सगुण ब्रह्म भी हैं :

अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नर भूप रूपं।

(विनय० ५०)

परमकारन कंजनाभ जलदाभतनु सगुन निर्गुन सकल-दृश्य-द्रष्टा।

(विनय० ५३)

गुणगेह नरदेह धारण कर के तो वे अवश्य ही सगुण हो गए :

जयति सच्चिदानंद व्यापक यद्ब्रह्म विग्रह व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचवस विमल गुणगेह नर देह धारी।

(विनय० ४३)

(३) राम विष्णु हैं, और क्षीरसागर उन का निवास-स्थान है :

वसनकिंजल्कधर चक्र सारंग पर कंज कौमोदकी अति विसाला।

(विनय० ४९)

परमकारन कंजनाभ जलदाभतनु

(विनय० ५३)

सत्यसंकल्प अतिकल्प कल्पांतकृत कल्पनातीत अहितल्पवासी।

(विनय० ५४)

सील समताभवन बिषमता मति समन राम रमारमन रावनारी।

(विनय० ५५)

उरग नायक सयन तरुन पंकज नयन छीरसागर अयन सर्ववासी।

(विनय० ५५)

विन्दुमाधव का वर्णन करते हुए जहाँ तुलसीदास कहते हैं :

चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि यथा राजहंसम्।

(विनय० ६१)

सकल सौभाग्य संयुक्त त्रैलोक्यश्री दच्छदिशि रुचिर बारीशकन्या।

(विनय० ६१)

दच्छभाग अनुराग सहित इंदिरा अधिक ललिताई।

(विनय० ६२)

भुजँग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।

(विनय० ६८)

गदा कंज दर चारु चक्रधर नागसुंड सम भुज चारी।

(विनय० ६३)

रूपसील गुन खानि दच्छदिसि सिंधुसुता रत पदसेवा।

(विनय० ६३)

वहाँ वे उन्हें राम कह कर भी उन का स्तवन करते हैं :

असित भवव्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारियानम्।

(विनय० ६१)

(४) विष्णु परमात्मा हैं, वे ही सृष्टि की रचना, उस का पालन और संहार भी करते हैं; विन्दुमाधव को तुलसीदास कहते हैं :

विश्वधृत विश्वहित अजित गोतीत शिव बिश्वपालनहरण बिश्वकर्ता।

(विनय० ६१)

किंतु अन्यत्र वे कहते हैं कि राम विष्णु से श्रेष्ठ हैं, उन्हीं से हरि (विष्णु) को हरिता (विष्णुत्व) प्राप्त होती है :

हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई।

(विनय० १३५)

(५) परात्मा राम ही सृष्टि की उत्पति, स्थिति, तथा लय के कारण हैं:

सर्वरक्षक सर्वभक्ष्काध्यक्ष कूटस्थ गूढार्चि भक्तानुकूलं।

(विनय० ५३)

विश्वपोषन भरन विश्वकारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।

(विनय० ५५)

और ऊपर जब विष्णु के साथ राम का तादात्म्य किया गया तो राम भी उनकी भाँति सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण हुए।

(६) वामनादि अवतार इन्हीं राम के हुए थे :

वामनाव्यक्त पावन परावर बिभो

(विनय० ४९)

वृष्णिकुल कुमुद राकेस राधारमन कंस बंसाटवी धूमकेतू।

(विनय० ५२)

शुद्धबोधैक घनज्ञान गुनधाम अज बुद्ध अवतार वन्दे कृपालं।

(विनय० ५२)

विष्णुयश पुत्र कल्कीदिवाकर उदित दासतुलसी हरन विपति भार।

(विनय० ५२)

छलन बलि कपट बटुरूप वामन ब्रह्म भुवन पर्यन्त पद तीनि करणम्।

(विनय० ५२)

दितिसुत त्रास त्रसित निसि दिन प्रहलाद प्रतिज्ञा राखी।

(विनय० ९३)

(७) अवतार लेने के कारण अनेक हुआ करते हैं। कभी वे देवताओं की रक्षा के लिए अवतार धारण करते हैं, कभी अपने भक्तों के लिए :

बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचवश बिमल गुणगेह नरदेह धारी।

(विनय० ४३)

भक्तहित हरन संसारभारं।

(विनय० ४६)

भूमि भर भारहर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूपधर भक्त हेतू।

(विनय० ५२)

जब जब जगजाल व्याकुल करम काल
सब खल भूप भए भूतल भरन।
तब तब तनु धरि भूमि भार दूरि करि

थापे मुनि सुर साधु आस्त्रम बरन।

(विनय० २४८)

(८) लक्ष्मण 'भूधर' शेष (के अवतार) हैं। लक्ष्मण का स्तवन करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

धरनी धरनहार भंजन भुवनभार अवतार साहसी सहसफन के।

(विनय० ३७)

जयति लच्छमणानंत भगवंत भूधर भुजगराज भुवनेश भूभारहारी।

(विनय० ३८)

(९) जिस प्रकार तुलसीदास लक्ष्मण को 'भूधर' कहते हैं उसी प्रकार राम को भी वे 'भूधर' कहते हैं :

भूधरं सुंदरं श्रीवरं मदन मद मथनं सौंदर्यं सीमातिरम्यं।

(विनय० ५३)

(१०) भरत विश्व का पालन करने वाले हैं :

पादुका नृप सचिव पुहुमि पालक परम धीर गंभीर बर धीर भारी।

(विनय० ३९)

(११) शत्रुघ्न शत्रु-सूदन है :

जयतिजय सत्रु करि केसरी सत्रुहन सत्रुता तुहिनकर किरन केतू।

(विनय० ४०)

(१२) वानरादि देवताओं के अवतार हैं यह ध्वनि कदाचित् इस तथ्य से ली जा सकती है कि हनुमान को शिव का अवतार कहा गया है। हनुमान का स्तवन करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

जयति रनधीर रघुबीर हित देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता।

(विनय० २५)

जयति मर्कटाधीस मृगराज बिक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली।

(विनय० २६)

जयति मंगलागार संसारभारापहर बानराकार बिग्रह पुरारी।

(विनय० २७)

जयति रुद्राग्रणी बिश्वबिद्याग्रणी बिश्वबिख्यात भट चक्रवर्ती।...

सामगायक भक्त कामदायक बामदेव श्रीराम प्रिय प्रेमबंधो।

(विनय० २८)

रामपदपद्म मकरंद मधुकर पाहि दासतुलसी सरन सूलपानी।

(विनय० २९)

(१३) सीता जगत-जननी हैं :

जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ।

तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ।

(विनय० ४१)

(१४) माया राम के आधीन है, और राम की प्रेरणा से ही जीव को मोहरज्जु से बाँधती है :

तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।

(विनय० १०२)

दोष-निलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत स्रुति टेरे।

जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे।

(विनय० १८७)

माधव अस तुम्हारि यह माया।

करि उपाय पचि मरिय तरिअ नहिं जब लगि करहु न दाया।

(विनय० ११६)

(१५) निर्गुण राम को उन की लीला से उन की माया जब ढँक लेती है तो उस की सज्ञा 'मूल प्रकृति' होती है। राम के क्षुभित होने पर इस 'मूल प्रकृति' से 'महत्तत्व' उत्पन्न होता है। फिर राम की ही प्रेरणा से 'महत्तत्व' से 'अहकार' प्रकट होता है। 'अहकार' से शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध नामक पंच तन्मात्राएँ,आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक पंच स्थूल भूत, दश इद्रियाँ, उन इद्रियों के अधिष्ठाता देवता, बुद्धि, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। 'विनय पत्रिका' में इस सिद्धात का निरूपण करते हुए तुलसीदास इसी लिये इस समस्त सृष्टि को 'त्वद्रूप' (रामरूप) कहते हैं :

प्रकृति महतत्व सब्दादि गुन देवता ब्योम मरुदग्नि अमलांबु उर्वी।

बुद्धि मन इंद्रिय प्रान चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी।

सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।

भुवन भवदंस कामारि वंदित पदद्वन्द मन्दाकिनी जनक जिष्णो।

(विनय० ५४)

(१६) राम स्वतः ही सृष्टि भी हैं—स्रष्टा तो वे हैं ही। सृष्टि से उन का संबंध 'पट-तन्तु' 'घट-मृत्तिका' 'सर्प-स्रग' 'दारु-करि' 'कनक-कटकांगदादि' न्याय से भी है। वे ही अखिल विश्व के 'कारण' भी हैं और 'करण' भी हैं :

सिद्धि साधक साध्य वाच्य वाचकरूप मंत्र जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा।

(विनय० ५३)

आदिमध्यान्त भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यंति ये ब्रह्मवादी।
यथा पटतंतु घटमृत्तिका सर्पस्रग दारु करि कनक कटकांगदादी।

(विनय० ५४)

विश्व पोषन भरन विश्व कारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।

(विनय० ५६)

(१७) जगत्—अथवा जो कुछ भी इंद्रियों का विषय है—वह उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार 'नभ-वाटिका' अथवा 'धुवाँ का धौरहर'; वह उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार 'रात्रि का स्वप्न' अथवा 'मृगवारि' :

जग नभवाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे।

(विनय० ६६)

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।...
सोवत सपने सहै संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगवारि खायो जेवरी को साँप रे।
कहैं वहे बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।
तुलसी जागे तें जाइ ताप तिहूँ ताय रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥

(विनय० ७३)

(१८) यह विश्व जब तक सर्वथा आँखों के सामने से हट नहीं जाता—मिट नहीं जाता—और जब तक इस के सत्य और असत्य का प्रश्न बना रहता है तब तक किसी को भी यह न समझना चाहिए कि उस को आत्म-परिचय प्राप्त हो गया :

केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे।
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

(विनय० १११)

इस भ्रम का नाश संसार और उस से उत्पन्न संस्कारों का परित्याग किए विना नही हो सकता :

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहि जाइ गोसाईं।
बिनु बांधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं।
सपने ब्याधि बिबिध बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई।
बैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई।
स्रुति गुरु साधु सुमृति संमत यह दृश्य सदा दुखकारी।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।
बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै॥

(विनय० १२०)

जब तक यह मायात्मक जगत् तथा उस के विषयों के प्रति आत्म-बुद्धि नष्ट नहीं हो जाते तब तक भवसागर से पार कोई कैसे हो सकता है ?

मैं हरि साधन करै न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस दोष कहा दिरमानी।
सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे।
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अबिचारे।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहि मरै न मारे।
निज भ्रम तें रबिकर सभव सागर अतिभय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै।

तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई॥

(विनय० १२२)

तुलसीदास तो इस निस्सार संसार से यही प्रार्थना करते हैं कि वह उन से दूर ही दूर रहे :

मैं तोहिं अब जान्यौं संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार।
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किए बिचार।
ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायौं पार।
महामोह मृगजल सरिता महँ बोर्‍यो हौं बारहि बार।
सुनु खल छल बल कोटि किए बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार।
तासों करहु चातुरी जो नहिँ जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार।
निज हित सुनु सठ हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन तजि भजहि जहाँ मद मार॥

(विनय० १८८)

(१९) जीव और परमात्मा में भेद इतना अवश्य है कि परमात्मा मायापति है और जीव उस माया से अभिभूत हो जाया करता है :

हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति हौं बस माया।

(विनय० १७६)

पर द्वैतबुद्धि—आत्मा और परमात्मा में भेद की भावना—हमारे मन का विकार मात्र है :

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।

(विनय० १२४)

और रामभक्ति प्राप्त करने के लिए इस द्वैत भावना का त्याग आवश्यक है :

सेवत साधु द्वैतभय भागे। श्री रघुबीर चरन लय लागे।

(विनय० १३६)

राम की इस माया से मुक्त संतों में और राम मे कोई भी—किसी प्रकार का भी—अंतर नहीं होता :

संत-भगवंत अंतर निरंतर नही किमपि मतिमलिन कह दासतुलसी।

(विनय० ७५)

(२०) हमारा मन स्वभावतः विषयों के पीछे लगा रहता है, और राग-द्वेषादि की कल्पना किया करता है, और हम स्वतः अपने मन से विवश हैं, [यहाँ तक कि हम ने मन को अपना लिंग (ज्ञान का साधन) मान रक्खा है] इस लिए रागद्वेषादि के योग से वह जिन नाना प्रकार के कर्मों मे लिप्त होता है उन कर्मों के संस्कारवश हम निरतर जन्म-मरण के चक्र मे पड़कर यातनाएँ भुगतते हैं :

जब लगि नहि निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।

(विनय० १२३)

मन पछितैहै अवसर बीते। ..
अब नाथहि अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।

(विनय० १९८)

इस मन की शिकायत तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' के अनेक पदों में बड़ी ही तल्लीनता के साथ की है :

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई।

(विनय० ८१)

बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।

(विनय० १०२)

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।

(विनय० १५८)

यों मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो।
ज्यों छल छाँडि सुभाव निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो।

(विनय० १७०)

विषयों के साथ इस मन की ऐसी ममता है कि वह उन्हें छोड़ कर परमार्थ साधन में कभी नहीं लगता :

कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो।
जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यो।
जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो।
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सोँ हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥

(विनय० ८८)

यह तो इतना दुराग्रही है कि उस अधोगति से मैं इसे रोकते-रोकते हार गया :

मेरो मन हरि हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै।
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनय० ८९)

यह बड़ा मूढ भी है, अपनी निरतर हानि से भी इसे चेत नहीं होता :

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की।
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गच काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की।

तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पन की ॥

(विनय० ९०)

ससार की कल्पना आधार एक मात्र हमारा यह मन ही है, और फलतः संसृति का भी एक मात्र आधार यही है, यदि यह निर्विकार हो सकता तब हमे जन्म-मरण का यह दुःख क्यों उठाना पड़ता ?

जौ निज मन परिहरै बिकारा ।
तो कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ।
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई ।
त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई ।
असन बसन बसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे ।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ।
बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुक बिनहिँ बनाए ।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाए ।
रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चिद बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥

(विनय० १२४)

यह मन ऐसा स्वार्थी और ऐसा निष्ठुर है कि जान-बूझ कर भी कर्मों में ही लिप्त रहता है और इस प्रकार मुझे उस सहज सुख का अनुभव नही करने देता जो अन्यथा निकट होता है :

मोहि मूढ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ।
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहवस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो ।
करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो ।
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिँ गोयो ।
डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो ॥

(विनय० २४५)

(२१) अनात्म मे आत्म भावना—और आत्म मे अनात्म भावना—ही संसृति का हेतु है । मायावश अपने सहज स्वरूप को भूल जाने के कारण ही

जीव स्वतः अपने निर्मल निरंजन, निर्विकार, और उदार सुख को खो बैठा है, और अपने को कर्म के चक्र में डाल कर परवश हो रहा है। 'विनय पत्रिका' में यह तथ्य इस प्रकार रक्खा जाता है :

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।
पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भवसूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यौ।
बहु जोनि जन्म जरा बिपिति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्री राम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचारि लखि पायो कहीं॥
आनंद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो।
निःकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो॥
तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही। अपने करनि गाँठि गहि दीन्ही।
तातें परबस पर्यो अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे।

(विनय० १३६)

(२२) अनात्म से आत्म का बाध होने पर ही जीव को पुनः अपने सहज स्वरूप से अनुराग होता है, और अपने सहज स्वरूप से उस के अनुराग का अर्थ ही यही है कि वह जगत (अनात्म) से अपने (आत्म) को भिन्न और निर्मल, निरामय तथा एकरस समझता है। इस सिद्धात को गोस्वामी जी 'विनय-पत्रिका' में इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

देहजनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
संतोप सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए।
निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न व्यापई।
त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥

(विनय० १३६)

(२३) राम भक्ति के समाश्रय से उस संशय का अंत हो जाता है जो

सद्गति का मूल हुआ करता है। रामप्रेम तीनों तापों को स्वतः दूर करता है। और राम ऐसे कृपालु हैं कि वे भक्त के भवजाल का नाश कर देते हैं :

ये तु भवदंघ्रि पल्लव समाश्रित सदा भक्तिरत विगतसंसय मुरारी।

(विनय० ५७)

देखत रघुवर प्रताप बीते संताप पाप
ताप त्रिबिध प्रेम आप दूरि ही करे।
तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीवजन बिहालु
भंज्यो भवजालु परम मंगलाचरे।

(विनय० ७४)

जो पै रामचरन रति होती।
तौ कत त्रिबिध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोती।

(विनय० १६८)

तुलसिदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु जद्यपि है निकट सुरसरि तीर।

(विनय० १९६)

(२४) ज्ञानादि का साधन तथा उन के द्वारा भव-नाश अत्यंत कठिन है :

जोग मख बिवेक बिरति बेद बिहित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम।

(विनय० १३१)

जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत।
बाँधिबे को भवगयंद रेनु की रजु बटत।

(विनय० १२९)

जो पै जानकी नाथ न जाने।
तौ सब करम धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने।
जो सुर सिद्ध मुनीस जोगबिद बेद पुरान बखाने।
पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने।

(विनय० २३६)

(२५) रामभक्ति भी दुर्लभ और कठिन है :

भगति दुरलभ परम संभु सुक मुनि मधुप
प्यास पदकंजमकरंदमधु पान की।

(विनय० २०१)

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।

किंतु अपेक्षाकृत भक्ति का साधन सुगम है, और वैसा ही सुगम है उस से भव-नाश :

जौ बिनु जोग जज्ञ ब्रत संजम गयो चहहि भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरिपद कमल बिसारहि।
(विनय० ८५)

तोसो हौं फिरि फिरि हित सत्य बचन कहत।
सुनि मन गुनि समुझि क्यों न सुगम सुमग गहत।...
तुलसी तकु तासु सरन जाते सब लहत॥
(विनय० १३३)

(२६) राम से विमुख रहते हुए कितने भी यत्न कोई करे उसे भव-बंधन से मुक्त नहीं मिल सकती :

संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई।
(विनय० ८१)

तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।
(विनय० ८६)

सुनु मन मूढ सिखावन मेरो।
हरिपद बिमुख लह्यो न काहु सुख सठ यह समुझि सबेरो।..
छूटै न बिपति भजे बिनु रघुपति स्त्रुति संदेह निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँडि करि होहि राम कर चेरो।
(विनय० ८७)

निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो।
(विनय० ८८)

उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौं।
(विनय० १०३)

तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।
(विनय० १२०)

ऐसेहि जन्म समूह सिराने।
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने।
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने॥

(विनय० २३५)

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो।...
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो।

(विनय० २७६)

निम्नलिखित समस्त पद इस संबंध में पठनीय है:

याहि तेँ मैं हरि ज्ञान गँवायो।
परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहर फिरत बिकल भयो धायो।
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहि पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल परम सुगंधि कहाँ धौ आयो।
ज्यो सर विमल बारि परिपूरन ऊपर कछु सिवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजि हौ सठ चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो॥
ब्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो।
तुम सम ज्ञाननिधान मोहि सम मूढ़ न आन पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो॥

(विनय० २४४)

फिर कलिकाल में तो रामभक्ति का ही एक मात्र अवलंब है—क्यो कि अन्य साधन उस में निर्बल हो रहे हैं:

एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे।
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि रे।

(विनय० ६६)

जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं।

(विनय० १२८)

जो पै जानकि नाथ सौं नातो नेह न नीच।
स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच।
धरम बरन आस्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान।
करतब बिनु बेष देखिए ज्यौं सरीर बिनु प्रान।

(विनय० १९२)

एक समस्त पद इस प्रसग मे भी पठनीय है :

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम फलनि फरोसो।
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परो सो।
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो।
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥

(विनय० १७३)

फलतः मनुष्य-देह की सार्थकता केवल रामभक्ति मे है :

कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।
अति दुर्लभ तनु पाइ कपटि तजि भजे न राम मन बचन काय।

(विनय० ८३)

तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ।
भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ।
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद कमल माथ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ॥

(विनय० ८४)

पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।

(विनय० १३१)

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं।
(विनय० १७५)

जो अनुराग न राम सनेही सों।
तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों।
(विनय० १९४)

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते।
(विनय० १९८)

लाभ कहा मानुष तन पाए।
गई न निज पर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाए।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताए।
(विनय० २०१)

(२७) जीव को मोहित करनेवाली माया राम की दासी है इस लिए उस के बंधनों से छुटकारा पाने के लिए राम की कृपा का आश्रय आवश्यक है :

संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै।
(विनय० ८१)

तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।
(विनय० ११३)

तुलसिदास प्रभु मोह शृङ्खला छुटिहि तुम्हारे छोरे।
(विनय० ११४)

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।
(विनय० ११५)

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।
(विनय० १२०)

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया।
(विनय० १२३)

नाहिनै नाथ अवलंब मोहिं आन की ।
करम मन बचन पन सत्य करुणानिधे ।
एक गति राम भवदीय पदत्रान की ।

(विनय० २०९)

माधव असि तुम्हारि यह माया ।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ।
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिँ आवै ।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै ।
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं ।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥

(विनय० ११६)

जेहि निसि सकल जीव सूतहिँ तव कृपापात्र जन जागै ।

(विनय० ११९)

एक पद इस प्रसग मे विशेष उल्लेखयोग्य है क्यो कि उस से 'भगवद् कृपा' संबधी कवि की पूरी भावधारा का पता चलता है :

देव दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील निधान सुजान सिरोमनि सरनागत प्रिय प्रनतपालु ।
को समर्थ सर्वज्ञ सकल प्रभु सिव सनेह मानस मरालु ।
को साहिब किए मीत प्रीति खग निसिचर कपि भील भालु ।
नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोष गुन करम कालु ।
तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजै निहालु ॥

(विनय० १५४)

राम प्रसन्न होने पर ज्ञानादि अपने भक्त को स्वतः देते हैं :

रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम ।

(विनय० १३१)

राम की भक्ति भी राम-कृपा के बिना प्राप्त नहीं होती :

सर्वभूतहित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ नेम एक रस ।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ।

(विनय० २०४)

जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ

समुझि सयाने नाथ पगनि परत ।

(विनय० २५१)

(२८) किंतु, राम-कृपा की प्राप्ति कुछ कठिन नहीं है । यदि निर्मल हृदय से राम का भजन किया जावे तो वे अवश्य कृपा करते हैं :

काय न कलेस लेस लेत मानि मन की ।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की ।

(विनय० ७१)

दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है ।
छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किए ही है ।

(विनय० १३५)

राम तो स्वतः-स्नेही, और स्वभाव से ही करुणाशील हैं :

मुनि मन अगम सुगम माइ बाप सो ।
कृपासिंधु सहज सखा सनेही आप सों ।

(विनय० ७१)

जब कब निज करुना सुभावतें द्रवहु तो निस्तरिए ।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं कत पचि पचि मरिए ।

(विनय० १८६)

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह ।
तातें भव भाजन भयो सुनु अजहुँ सिखावन एह ।

(विनय० १८९)

हरि सम आपदाहरन ।
नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह दुख सागर तरन ।

(विनय० २१३)

राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिन दानि ।
भजहि एेसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ।

(विनय० २१५)

तुम तजि हौं कासों कहौं और को हितु मेरे ।
दीनबंधु सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरे ।

(विनय० २७३)

राम तो अपनी ही भलाई से भक्त का भला करते हैं :

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तौ साईं द्रोही पै सेवक हितु साईं।

(विनय० ७२)

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग जुग जानकिनाथ को जग जागत साको।

(विनय० १५२)

वे तो प्रणत-पाल हैं :

जग सुपिता सुमातु सुगुरु सुहित सुमीत
सब को दाहिनो दीनबंधु काहू को न बाम।
आरतहरन सरनद अतुलित दानि
प्रनतपाल कृपालु पतित पावन नाम।

(विनय० ७७)

आपनो कबहुँ करि जानि हौ।
राम गरीबनिवाज राजमनि बिरद लाज उर आनि हौ।
सीलसिंधु सुंदर सब लायक समरथ सदगुन खानि हौ।
पाल्यो है पालत पालहुगे प्रभु प्रनत प्रेम पहिचानि हौ।
बेद पुरान कहत जग जानत दीनदयालु दिन दानि हौ।
कहि आवत बलि जाउँ मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हौ।
आरत दीन अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हौ।
है परिनाम भलो तुलसी को सरनागत भय भानिहौ॥

(विनय० २२३)

रघुपति बिपति दवन।
परम कृपालु प्रनत प्रतिपालक पतितपवन।

(विनय० २१२)

पाहि पाहि राम पाहि रामभद्र रामचंद्र सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबंधु दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दरप हरन।

(विनय० २४८)

जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ देव दुखित दीन को।
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बलविहीन को।
गनिहि गुनिहिं साहिब लहै सेवा समीचीन को।

अधन अगुन आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनाथ नवीन को।

(विनय० २७४)

पतित पावनता तो उन्हीं की विशेषता है :

तुलसीदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै।

(विनय० ९२)

जौ चित चढ़ै नाम महिमा निज गुन गन पावन पन के।

तौ तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के।

(विनय० ९६)

जौ जग बिदित पतित पावन अति बाँकुर बिरद न बहते।

तौ बहुकल्प कुटिल तुलसी से सपनेहुँ सुगति न लहते।

(विनय० ९७)

कोल खस भिल्ल जमनादि खल राम कहि
नीच ह्वै ऊँच पद्र को न पायो।
दीन दुख दमन श्री रमन करुनाभवन
पतितपावन बिरद बेद गायो।

(विनय० १०६)

मैं हरि पतितपावन सुने।

मैं पतित तुम पतित पावन दोऊ बानक बने।

(विनय० १६०)

नाहिनै नाथ अवलंब मोहि आन की।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे एक गति राम भवदीय पदत्रान की।
कोह मद मोह ममतायतन जानि मन बात नहिं जाति कहि ज्ञान बिज्ञान की।
काम सकल्प उर निरखि बहु बासनहिं आस नहिं एकहू आँक निरवान की।
बेद बोधित करम धरम बिनु अगम गति जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की।
सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन द्रवहिं हठजोग दिए भोग बलि प्रान की।
भगति दुरलभ परम संभु सुक मुनि मधुप प्यास पदकंज मकरंद मधु पान की।
पतितपावन सुनत नाम विश्रासकृत भ्रमत पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमान की।
नरक अधिकार मन घोर संसार तम कूपकहिं भूप मोहिं सक्ति आपान की।
दास तुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन सुमिरि गुह गीध गज ज्ञाति हनुमान की॥

(विनय० २०९)

और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरे।
पतितपावन प्रनतपाल असरनसरन बाँकुरे बिरद बिरुदैत केहि केरे।

(विनय० २१०)

कबहुं रघुबंस मनि सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल नर तरे
तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे।

(विनय० २११)

ऐसी कौन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरन पर प्रीति।

(विनय० २१४)

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तो हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ।
काहि ममता दीन पर को पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम।

(विनय० २१७)

तब तुम मोहूँ से सठनि को हठि गति देते।
कैसेहुं नाम लेहि कोउ पामर सुनि सादर आगे ह्वै लेते।

(विनय० २४१)

और उन का जैसा शील तो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य है : उन की उदारता, उन की दानशीलता, उन की अकारण उपकार-निरति तथा उन का स्नेह-निर्वाह आदि उन के ऐसे गुण हैं जो साधक को स्वतः उन की भक्ति के लिए आकृष्ट करते हैं। तुलसीदास तो उन के शील का उल्लेख करते हुए थकते ही नहीं :

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।...
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो।

(विनय० ७८)

मन माधव को नेकु निहारहि।...
सोभासील ज्ञान गुन मंदिर सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत अखिल अघ गंजन भंजन बिषय बिकारहि।

(विनय० ८५)

सेवा बिनु गुन बिहीन दीनता सुनाए।
जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए।

(विनय० ८०)

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीती।

(विनय० ९८)

सुनत सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।

(विनय० १००)

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे।

(विनय० १०१)

सेइए सुसाहिब राम सो।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो।

(विनय० १५७)

ऐसो को उदार जग माही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।

(विनय० १६२)

एकै दानि सिरोमनि साँचो।
जोइ जाच्यो सोइ जाचकताबस फिरि बहु नाच न नाच्यो।
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए।
कोसलपाल कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाए।

(विनय० १६३)

रघुबर रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।

(विनय० १६५)

यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई॥

(विनय० १६५)

ऐसे राम दीनहितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी।

(विनय० १६६)

कहाँ जाउँ कासों कहौं को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुहीं गति सब अंगहीन की।
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार को अधार गुनगन तेरे हैं।

(विनय० १७९)

करि बीत्यो अब करतु है करिबे हित मीत अपार।
कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार।

(विनय० १९०)

आरत अधम अनाथहित को रघुबीर समान।

(विनय० १९१)

तुलसीदास भरोस परम करुना कोस
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर।

(विनय० १९९)

भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिँन।

(विनय० २०७)

हरि तजि और भजिए काहि।
नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि।

(विनय० २१६)

और देवन की कहा कहौं स्वारथहि के मीत।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत।
को न सेवत देत संपति लोकहू यह रीति।
दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति॥

(विनय० २१६)

दीनता दारिद दलै को कृपा बारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज।

(विनय० २१९)

अकारन को हितु और को है।

बिरद गरीबनिवाज कौन को भौंह जासु जन जोहै।

(विनय० २३०)

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों।
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गँवावों।

(विनय० २३२)

सेइ साधु गुरु सुनि पुरान स्रुति बूझ्यो राग बाजी तांति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो ज्यों दरपन मुख कांति।

(विनय० २३३)

यहै जानि चरनन्हि चित लायो।
नाहिंन नाथ अकारन को हितु तुम समान पुरान स्रुति गायो।

(विनय० २४३)

इस प्रसग मे भी निम्नलिखित समस्त पद उल्लेखनीय है :

नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो श्री रघुपति सम बिपति निवारन।
काको सहज सुभाउ सेवक बस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन।
जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु भगत चिंतामनि बिरद पुनीत पतितजन तारन।
सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न।
साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन।
जाको जस गावत कवि कोबिद जिन्ह के लोभ मोह मद मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु कोसलपति मुनिबधू उधारन॥

(विनय० २०६)

राम तो केवल प्रेम के भूखे हैं, और वे कुछ नहीं चाहते, इसी लिए अपनी भक्ति से वे तुरत प्रसन्न हो जाते हैं :

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनिहूँ सो तनु तोहिं दियो।...
दूरि सो न हितू हेरि हिए ही है।
छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किए ही है।

(विनय० १३५)

एही दरबार है गरब तें सरब हानि लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सो न दूबरो विभीषन सो बूझि परी रावरे की प्रेम पराधीनता।

(विनय० २६२)

यहाँ को सयानप अयानप सहस सम सूधौ सतभाय कहे मिटति मलीनता।
गीध सिला सबरी की सुधि सब दिन किए होइगी न साईं सों सनेह हितहीनता।

(विनय० २६२)

प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की।

(विनय० ७१)

जौं जप जाप जोग ब्रत बरजित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज गोप गेह बसि रहते।

(विनय० ९७)

बलि पूजा चाहत नहीं चाहै एकै प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति।
देइ सकल सुख दुख दहै आरतजन बंधु।
गुन गहि अघ अवगुन हरै अस करुनासिंधु।

(विनय० १०७)

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।

(विनय० १६४)

श्री रघुबीर की यह बानि।
नीचहूँ सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।

(विनय० २१५)

मानत भलेहि भलो भगतनि ते कछुक रीति पारथहिं जनाई।
तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जल की चिकनाई।

(विनय० २४७)

भक्तों का मान रखने के लिए ही वह अवतार भी धारण करते हैं :

एक मुख क्यों कहौं करुनासिंधु के गुन गाथ।
भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ।

(विनय० २१५)

राम शरणागत को साधु बना देते हैं और उसे भव से मुक्त कर

देते हैं :

बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु ।
पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ।

(विनय० १९३)

राम गरीबनिवाज के बडी बाँहबोल की लाज ।

(विनय० १९३)

सजल नयन गद्‌गद गिरा गहबर मन पुलक सरीर ।
गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भवभीर ।

(विनय० १९३)

बाँधो हौं करम जड गरभ गूढ निगड सुनत दुसह हौ तो साँसति सहत हौं ।
आरत अनाथ नाथ कौसलपाल कृपाल लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं ।
बूझ्यो ज्योंहीं कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हौ रावरो जू मेरो कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं ।
मींजों गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौ ।

(विनय० ७६)

जाने बिनु राम रीति पचि पचि जग मरत ।
परिहरि छल सरन गए तुलसिउ से तरत ।

(विनय० १३४)

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहि आपनो ।
राय दसरथ के तू उथपन थापनो ।
साहिब सरनपाल सबल न दूसरो ।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ।

(विनय० १८०)

(२६) राम द्वारा दिए हुए प्रकाश के बिना उस संशय से छुटकारा नहीं मिलता है जिस के कारण जीव द्वैतरूप तमकूप में पड़ता है :

सुनु अदभ्र करुना वारिज लोचन मोचन भयभारी ।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ।

(विनय० ९१३)

और इसी प्रकार उस मोहजनित संस्कार से भी उसे मुक्ति नहीं मिलती जो भव का कारण हुआ करता है :

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई ।

जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई।
नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराए।
तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

(विनय० ८२)

वस्तुतः रामभक्ति के बिना उस 'विवेक' की प्राप्ति नहीं होती जिस से उसे भवचक्र से मुक्ति मिले :

कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो।
जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ ममता बस जानत हूँ नहिं जान्यो।
जनम अनेक किए नाना बिधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न विमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो।
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहि जनम सिरान्यो॥

(विनय० ८८)

(३०) रामभक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से राम के चरित्र श्रवण, मनन तथा कीर्तन से होता है इस लिए 'विनय पत्रिका' में भक्ति के इस पक्ष पर बहुत बल दिया गया है। राम के शील का जो चित्रण ऊपर निर्दिष्ट अनेक पदों में किया गया है उन में राम के अवतारी चरित्र का आधार ही अधिकतर ग्रहण किया गया है, और कभी-कभी समाप्ति में यह कहा गया है कि राम के इस शील-स्वभाव का परिचय प्राप्त करने से उन की भक्ति तो स्वतः आ जाती है :

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।

(विनय० १००)

समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।

तुलसिदास अनयास राम पद पाइहैं प्रेम पसाउ।

(विनय० १००)

स्वामी को सुभाउ कह्यो सो जब उर आनि है।
सोच सकल मिटिहैं श्रीराम भलो मानिहै।...

(विनय० १३५)

जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम रामहिं धरि हिये।
बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए।

(विनय० १३५)

अकनि अजामिल की कथा सानंद न भाको।
नाम लेत कलिकाल हूँ हरिपुरहिं न गाको।

(विनय० १५२)

तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई।
तौ तोहि जनमि जाय जननी जड तनु तरुनता गँवाई।

(विनय० १६४)

बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सौं तिहि को उपदेसहि ज्ञान।

(विनय० १९३)

राग रोग इरषा बिमोह बस रुची न साधु समीति।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के भइ न राम पद प्रीति।

(विनय० २३४)

बाद विवाद स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि।

(विनय० २३७)

(३१) रामभक्ति के प्रादुर्भाव के लिए सत्संग भी आवश्यक है। वह न केवल 'भव भग कारन" और मोक्ष-दायक है :

सतसंग निज अंग श्रीरंग भव भंग कारन सरन सोकहारी। .
संतसंसर्ग त्र्यवर्गपर परमपद प्राप निःप्राप्य गतित्वयि प्रसन्ने।

(विनय० ५७)

रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव त्रास नसावै।

(विनय० १२१)

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।

(विनय० १३६)

वरन् बिना सत्संग के भक्ति भी नहीं हो सकती :

बिनु सत्संग भगति नहिं होई।

(विनय० १३६)

संचत साधु द्वैत भय भागै।
श्री रघुबीर चरन चित लागै।

(विनय० १३६)

संतजन तो अनंत के समान ही हैं दोनों में परस्पर किसी प्रकार का अंतर नहीं है :

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दासतुलसी।

(विनय० ५७)

(३२) संतों के लक्षणों में सर्वप्रमुख है उन की परोपकार वृत्ति, और राम-भक्ति। इस संबंध में 'विनय पत्रिका' के दो पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, एक तो स्तोत्र है जिस में श्री राम से सतसंग की याचना की गई है, और दूसरा एक पद है जिस में कवि ने 'संत सुभाउ' का आदर्श उपस्थित किया है। इन दोनों पदों का प्रत्येक शब्द ध्यान देने योग्य है। स्तोत्र इस प्रकार है :

देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भवभंग कारन सरन सोकहारी।
ये तु भवदंघ्रि पल्लव समाश्रित सदा भक्तिरत विगतसंसय मुरारी।
असुर सुर नाग नर यक्ष गंधर्व खग रजनिचर सिद्ध ये चापि अन्ये।
संतसंसर्ग त्र्यवर्गपर परमपद प्राप निःप्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने।
वृत्र बलि बाण प्रह्लाद मय व्याध गज गृद्ध द्विजबंधु निज धर्म त्यागी।
साधुपद सलिल निर्धूत कल्मष सकल स्वपच यवनादि कैवल्य भागी।
शांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्द ब्रह्मैक परब्रह्म ज्ञानी।
दक्ष समदृक स्वदृक बिगत अति स्वपर मति परमरति तव बिरति चक्रपानी।
विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी।
यत्र तिष्ठंति तत्रैव अज शर्व हरि सहित गच्छंति क्षीराब्धिवासी।
वेद पय सिंधु सुविचार मंदर महा अखिल मुनि वृन्द निर्मथन कर्ता।
सार सतसंगमुद्धृत्य इति निश्चितं वदति श्रीकृष्ण वैदर्भिभर्ता।
सोक संदेह भय हर्षतम तर्षगण साधु सद्युक्ति बिच्छेदकारी।

यथा रघुनाथ सायक निसाचर चमू निचय निर्दलन पटु बेग भारी।
यत्रकुत्रापि मम जन्म निज कर्मबश भ्रमत जगयोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्।
प्रबल भवजनित त्रैव्याधि भेषज भक्ति भक्त भैषज्यमद्वैत दरसी।
संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी॥

(विनय० ५७)

और, पद इस प्रकार है :

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन करि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥

(विनय० १७२)

स्वतः तुलसीदास को इन संतों से ही रामभक्ति के लिए प्रेरणा मिली थी इस तथ्य को उन्हो ने अपनी एक जीवन-कथा मे बड़े ही भावपूर्ण ढंग से उपस्थित किया है :

द्वार द्वार दीनता कही काढि रद परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलनछम कियो न संभाषन काहूँ।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ।
दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहु सिहाहूँ।

(विनय० २७५)

(३३) संतो की कृपा होने पर राम भी बिना प्रयास ही मिल जाते हैं :

संसय समन दमन दुख सुख निधान हरि एक।

साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक।..
भव सागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन।

(विनय० २०३)

(३४) तुलसीदास का कथन है कि जिस प्रकार भगत्कृपा तथा भागवत-कृपा उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है जिस से भवसागर से पार हुआ जाता है उसी प्रकार गुरु-कृपा भी आवश्यक है :

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।

(विनय० ११५)

तुलसीदास तो अपने गुरु के विशेष कृतज्ञ हैं, क्यों कि उन्हीं से उन को राम-भक्ति का राजमार्ग प्राप्त होता है :

बहुमत सुनि बहुपंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥

(विनय० १७३)

(३५) नाम-जप को 'विनय पत्रिका' में भी रामभक्ति के प्रादुर्भाव तथा मोक्ष साधन के लिए अत्यंत उपयोगी बताया गया है, और इस पर अत्यधिक बल देते हुए इस के आधीन अनेक साधनों को बताया गया है :

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु मूढ मन बारबारं।
सकल सौभाग्य सुखखानि जिय जानि सठ मानि बिस्वास बद बेदसारं।...
शोक संदेह पाथोद पटलानिलं पाप पर्वत कठिन कुलिस रूपं।
संत जन कामधुक धेनु बिश्रामप्रद नाम कलिकलुष भंजन अनूपं।
धर्म कल्पद्रुमाराम हरिधाम पथि संबलं मूलमिदमेव एकं।
भक्ति वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधन अनेकं।
तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं।
श्वपच खल भिल्ल यवनादि हरिलोकगत नाम बल बिपुलमतिमलिन परसी।

त्यागि सब आस संत्रास भवपास असि निसित हरि नाम जपु दासतुलसी ।

(विनय० ४६)

उस चातकवृत्ति को जिस को अन्यत्र रामभक्ति के प्रसंग में तुलसीदास सार्थक करना चाहते हैं 'विनय पत्रिका' में 'राम-नाम भक्ति' के प्रसंग में अत्यंत तल्लीनता के साथ व्यवहृत करते हैं :

राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा ।
रामनाम नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा ।
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा ।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा ।
गरजि तरजि पाषान बरसि पवि प्रीति परखि जिय जानै ।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचानै ।
राम नाम गति राम नाम मति रामनाम अनुरागी ।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनिमत बड़भागी ।
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहे ।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें ॥

(विनय० ६५)

कलिकाल में अन्य साधन निर्बल हो रहे हैं, पर नाम एक ऐसा साधन है जो अक्षुण्ण है, और जिस से समस्त परमार्थ-साधन किया जा सकता है :

राम जपु राम जपु राम जपु बाव रे । घोर भव नीरनिधि नाम निजु नाव रे ।
एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे । ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि रे ।

(विनय० ६६)

कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे । राम सुमिरन सब विधि ही को राज रे ।
राम नाम प्रेम परमारथ को सार रे । राम नाम तुलसी को जीवन अधार रे ।

(विनय० ६७)

राम राम राम राम राम राम जपत ।
मंगल मुद उदित होत कलिमल छल छपत ।

(विनय० १३०)

बिस्वास एक राम नाम को ।
करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।

ज्ञान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को।

(विनय० १५५)

कलि नाम कामतरु राम को।

(विनय० १५६)

रामनाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि।
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीको सुगति साधन भई उदर भरनि।
मति राम नाम ही सों, रति राम नाम ही सों गति राम नाम ही की बिपति हरनि।
राम नाम सों प्रतीति राखे कबहुंक तुलसी ढरैगे राम आपनी ढरनि।

(विनय० १८४)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो।
करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो।
संकर साखि जो राखि कहौ कछु तौ जरि जीह जरो।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहिं समुझि परो॥

(विनय० २२६)

राम नाम से प्रेम होने पर वैराग्य और योग स्वतः जाग पड़ते हैं :

राग राम-नाम सों बिराग जोग जागिहै।

(विनय० ७०)

बिना नाम जप के त्रिताप से भी मुक्ति असंभव है :

राम राम राम जीव जौलौं तू न जपि है।
तौ लौ तू कहूँ, जाय तिहूँ ताप तपि है।
तुलसी तिलोक तिहूँ काल तोसे दीन को।
राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को।

(विनय० ६८)

अन्य साधन वस्तुतः भव-गयंद को बाँधने के लिए 'रेणुरज्जु' के समान हैं, नाम ही एकमात्र सबल साधन है :

जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत।

बाँधिवे को भवगयंद रेनुकी रजु बटत।
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत।

(विनय० २९)

राम-नाम के समान पतितपावन कोई दूसरा नहीं है :

सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को।
सेतु भवसागर को हेतु सुखसार को।
पतितपावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो।

(विनय० ६९)

राम-नाम का भी विरद 'गरीबनिवाज' का है :

बिरद गरीबनिवाज राम को।
गावत बेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाव नाम को।
ध्रुव प्रहलाद विभीषन कपि जदुपति पांडव सुदाम को।
लोक सुजस परलोक सुगति इनमें को हो राम काम को।
गनिका कोल किरात आदि कबि इनते अधिक बाम को।
बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को।
छली मलीन हीन सब ही अँग तुलसी सो छीन छाम को।
नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चालत चाम को॥

(विनय० ९)

राम भी अपने इस नाम की लाज कर के प्रणत की रक्षा करते हैं :

सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर।

(विनय० १४४)

नाम-जप सभी प्रकार का हित-साधन हो सकता है :

प्रिय राम नाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो।

(विनय० २२८)

और राम-नाम विमोहांधकार के लिए तो सूर्य के समान है :

रामनाम है बिमोह तिमिर तरनि।

(विनय० २४७)

और तुलसीदास के लिए वही सब कुछ है :

राम रावरो नाम मेरो मातु पितु है।

सुजन सनेही गुरु साहब सखा सुहृद रामनाम प्रेमपन अविचल बितु है।

(विनय० २५४)

राम-नाम का कवि की जीवन-गाथा में एक विशेष योगदान है, और इस तथ्य की ओर उस ने बड़ी कृतज्ञता पूर्वक निर्देश किया है :

नाम राम रावरोई हित मेरे।

स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे।

जननी जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिउ सृज्यो अवडेरे।

मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे।

फिर्‍यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।

नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे।

साधत साधु लोक परलोकहि सुनि गुनि जतन घनेरे।

तुलसी के अवलंब नाम को एक गाँठि कई फेरे।

(विनय० २२७)

(३६) स्वरूपासक्ति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

अब लौं नसानी अब न नसैहौं। .....

स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसै हौं।

(विनय० १०५)

जानकी जीवन की बलि जैहौं।...

रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं।

(विनय० १०४)

एक पद में तो तुलसीदास राम से अपने चरण का दर्शन देने की याचना करते हैं और एक दूसरे पद में उन से उन के कर-स्पर्श की याचना करते हैं। यह दोनो ही पद अतीव सुंदर हैं और तल्लीनता के साथ लिखे गए जान पड़ते हैं :

कबहिं देखाइहौ हरि चरन।

समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन।

सरद भव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज बरन।

लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन।

गंग जनक अनंग अरि प्रिय कपट बटु बलि छरन।

बिप्र तिय नृग बधिक के दुख दोष दारुन दरन।
सिद्ध सुर मुनि बृंद बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन।
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥

(विनय० २१८)

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।
जेहि कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक संसय मेट्यो।
जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।
जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ पिंडोदक दै धाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दासहित कपिकुलपति सुग्रीव कियो।
आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सरचाप असुर हति अभयदान देवन दीन्हों।
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।

(विनय० १३८)

एक अन्य पद में चरण-कमलों के दर्शन के साथ-साथ उन से उन के प्रकाश की भी याचना करते हैं :

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।
प्रनत पाल प्रन तोर मोर प्रन जिअउँ कमल पद देखे।...
सुनु अग्भ्र करुना बारिज लोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।

(विनय० ११३)

(३७) यश-कीर्तनात्मक भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

जानकी जीवन की बलि जैहों।..
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहों।

(विनय० १०४)

(३८) राम-तीर्थसेवन भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। गंगा को राम (विष्णु) के चरणों से उत्पन्न मानते हुए तुलसीदास न केवल

इस प्रकार उन की महत्ता बताते हैं :

विज्ञान ज्ञानप्रदे

(विनय० १८)

मोह मद मदन पाथोज हिम जामिनी।

(विनय० १८)

भजनि भवभार भक्ति कल्प थालिका।

(विनय० १७)

महिमा की अवधि करसि बहु विधि हरि हरनि।

(विनय० २०)

और उन से 'मति' की याचना करते हुए :

तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंस बीर
बिचरत मति देहि मोह महिष कालिका।

(विनय० १७)

कहते हैं कि यदि गंगा न होती तो किस प्रकार तुलसीदास भवसागर को पार कर पाते :

घोर भव अपार सिंधु तुलसी कैसे तरति।

(विनय० १९)

वरन् गंगा से रामभक्ति की भी याचना करते हैं :

देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रास हरणि भव भामिनी।

(विनय० १८)

चित्रकूट की भी महिमा उन्हों ने इसी प्रकार कही है और उसे रामभक्ति का दाता कहा है :

रस एक रहित गुन कर्म काल।

(विनय० २३)

सैलसृंग भवभंग हेतु लखु दलन-कपट पाखंड दंभ दलु।
जहँ जनमे जग जनक जगत पति विधि हरिहर परि हरि प्रपंच छलु।

(विनय० २४)

तुलसी जो राम पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम।

(विनय० २३)

(३९) ब्राह्मण-सेवा रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है :

विप्रद्रोह को तो गोस्वामी जी अघों में स्थान देते हैं :

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावौं।
सकल धर्म बिपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं।...
विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब सों बैर बढावौं।
ताहू पर निज मति विलास सब संतन माँझ गनावौं।

(विनय० १४२)

(४०) लोक से निरपेक्षता की भावना और उपास्य के प्रति अनन्याश्रय-बुद्धि भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासना को
बासव विरंचि सुर नर मुनि गन की।...
सोचे परे पाऊँ पान पंचन में पन प्रमान
तुलसी चातक आस राम स्यामघन की।

(विनय० ७५)

जानकी जीवन की बलि जैहौं। .
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नैहौं।

(विनय० १०४)

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकीजीवन जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं।

(विनय० २२९)

(४१) राम में सर्वस्व भाव भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

यहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि इक ठाईं।

(विनय० १०३)

नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।

(विनय० १०४)

कबहुँ कृपा करि रघुवीर मोहूँ चितै हो।...
तुलसिदास कासों कहै तुमहीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हौ।

(विनय० २७०)

तैं उदार मैं कृपिन पतित मैं तैं पुनीत स्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहि मोहिं अब न तजे बनि आवै।
जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी।

(विनय० ११३)

एक पद में तो यह सर्वस्वभाव अत्यधिक तल्लीनता के साथ कवि ने व्यक्त किया है :

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो।
ब्रह्म तू हौं जीव तुही ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो।
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै।

(विनय० ७९)

जितने भी गोस्वामी जी के सबधी हैं सब से उन की यही याचना है कि वे रामचरण रति दें :

मातु पिता गुरु गनपति सारद। सिवा समेत संभु सुक नारद।
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु राम पद नेह निबाहू।

(विनय० ३६)

और जो भी उन की इस साधना में बाधक होना चाहते हैं उन का परित्याग वह उसी क्षण करना चाहते हैं: वे तो उन के संबंधी नहीं "कोटि बैरी सम" हैं :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।

जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो।

(विनय० १७४)

(४२) भागवत-भक्ति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। देवताओं से जो उन का संबंध है उस को भी इसी प्रसंग मे देखना अच्छा होगा। सभी से वह रामभक्ति की याचना करते हैं, और इसी नाते वे "परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो" हैं अन्यथा वे सब के सब कैसे हैं इस का स्पष्ट कथन वे राम के शील की तुलना में बहुधा करते हैं।[1] गणेश से वे राम भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं :

माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहि राम सिय मानस मोरे।

(विनय० १)

सूर्य से इसी प्रकार वे भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं :

तुलसी राम भगति बर मांगै।

(विनय० २)

शिव से इसी प्रकार रामभक्ति की याचना करते हुए वे कहते हैं :

देहु कामरिपु राम चरन रति।

(विनय० ३)

बिमल भगति रघुपति की पावै।

(विनय० ६)

तुलसिदास हरि चरन कमल हर देहु भगति अविनासी।

(विनय० ९)

देहि कामारि श्रीराम पद पंकजे भक्तिमनवरत गत भेद माया।

(विनय० १०)

करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम। जेहि हृदय बसहिँ सुख रासि राम।

(विनय० १८)

और पार्वती से भी वह इसी प्रकार की याचना करते हैं :

देहि मा मोहि प्रण प्रेम यह नेम निज राम घनश्याम तुलसी पपीहा।

(विनय० १५)

रघुपतिपद परम प्रेम तुलसी चह अचल नेम

[1] देखिए ऊपर पृ० ४८९-९०

देहि ह्वै प्रसन्न पाहि प्रणतपालिका ।

(विनय० १६)

(४३) स्वदोषानुभूति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। कवि की यह स्वदोषानुभूति 'विनयपत्रिका' में पग-पग पर आगे आती है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो यह दोषबुद्धि और कुछ नहीं है भक्ति की अनेक ऊपर उल्लिखित तथा कतिपय अन्य आवश्यक भूमिकाओं की अवहेलना मात्र है। इस संबंध में चार पद ऐसे हैं कि वे भावों की बड़ी तीव्रता के साथ कहे गए हैं, उन्हीं का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा। निम्नलिखित पद क्रमशः वासनाविहीन व्यापक प्रेम, नामानुराग, दंभ-लोभादि से निर्विकारता तथा स्वरूपासक्ति के अभाव संबंधी है :

रामचंद्र रघुनायक तुम सों हौं बिनती केहि भाँति करौं।
अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं।
परदुख दुखी सुखी परसुख तें संतसील नहिं हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख सुनि संपति बिनु आगि जरौं।
भक्ति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरौं।
सिव सर्बस सुखधाम नाम तव बेंचि नरकप्रद उदर भरौं।
जानत हूँ निज पाप जलधि जिय जल सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुनगिरि सम रज ते निदरौं।
नाना बेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं।
एकौ पल न कबहुँ अडोल चित हित दै पद सरोज सुमिरौं।
जो आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं॥

(विनय० १४०)

निम्नलिखित पद क्रमशः मन की निर्विकारता अर्थात् माया (अनात्म विषयों) से मन को निर्लिप्त रखने और ब्राह्मण-सेवा से संबंध रखता है :

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं।
सकल धर्म बिपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं।
जानत हूँ हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं।
अंजन केस सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं।
स्रवनन को फल कथा तिहारी यह समुझौं समुझावौं।

तिन्ह स्रवनन पर दोष निरंतर सुनि सुनि भरि भरि तावौं।
जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावौं।
तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यों रटि रटि जनम नसावौं।
करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं।
हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं।
जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन सो बिनु काज गवावौं।
हाटक घट भरि धरयो सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं।
मन क्रम बचन लाइ कीन्हे अघ ते करि जतन दुरावौं।
पर प्रेरित इरषावस कबहुँक कियो कछु सुभ सो जनावौं।
बिप्रद्रोह जनु बाँट परयो हठि सब सो बैर बढावौं।
ताहू पर निज मतिबिलास सब संतन माँझ गनावौं।
निगम सेष सारद निहोरि जो अपने दोष कहावौं।
तौ न सिराहिं कल्प सत लगि प्रभु कहा एक मुख गावौं।
जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को सो बल मनहिं दिखावौं।
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहु तुमहिं रिझावौं।
नाथ कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जिय जानि सिरावौं॥

(विनय० १४२)

निम्न लिखित पद क्रमशः मन निर्विकारता और लोक में निरपेक्षा के साथ अनन्याश्रय-बुद्धि से सबध रखता है :

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरिभगति परिहरि तोरि।
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत मूढता असि मोरि।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किये सुभ सुनाए सकल लोक निहोरि।
करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि।

एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहिं छोरि॥

(विनय० १५८)

और निम्नलिखित पद लोक से निरपेक्षा के साथ अनन्याश्रय-बुद्धि नामानुराग तथा मन की निर्विकारता से सवंध रखता है:

नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावौं।
त्रिबिध अनगनित अवलोकि अघ आपने
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं।
बिरचि हरि भगति को बेष बर टाटिका
कपट दल हरित पल्लवनि छावौं।
नाम लगि लाइ लासा ललित बचन कहि
ब्याध ज्यों विषय बिहँगनि बझावौं।
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि
साधु गनती मैं पहिलेहिं गनावौं।
परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ्यो
अज्ञ सर्बज्ञ जनमनि जनावौं।
साँच किधौं झूठ मोको कहत कोउ कोउ
राम रावरो हौंहुँ तुम्हरो कहावौं।
बिरद की लाज करि दास तुलसिहि देव
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं॥

(विनय० २०८)

अपने इन अघों के अपरिमित विस्तार के आधार पर ही तुलसीदास अपने उद्धार के लिए एक विनोदपूर्ण तर्क उपस्थित करते हैं:

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहै।
जौ जमराज काज सब परिहरि यही ख्याल उर अनिहै।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों मेरी भूरि भलाई भनिहै।
हँसि करिहैं परतीत भगत की भगत सिरोमनि मनिहै।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायहि पर बनिहैं॥

(विनय० ९५)

फलतः यह स्वदोषानुभूति मुख्यतः मन की तथा इन्द्रियों की—और मन भी केवल एक इन्द्रिय माना जाता है—स्वाभाविक विषय-लोलुपता के आधार पर अतिशयोक्ति का समाश्रय लेते हुए अपने ऊपर आरोपित की हुई है, और इस में तुलसीदास कदाचित् अपने स्वामी का अनुकरण मात्र करते हैं :

कामिन्ह के दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढाई।

(मानस, अरण्य० ३९)

(४४) रामभक्ति की भूमिकाओं की समष्टि तुलसीदास ने प्रायः की है, और इस प्रकार के समष्टिप्राय पदों में, जिन में से निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं, हम रामभक्ति की उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य आवश्यक भूमिकाओं को भी जैसे लोक-संग्रह वृत्ति, वैराग्य वृत्ति, तन्मयता, तथा शुद्ध प्रेमासक्ति को यथेष्ट प्राधान्य मिला हुआ देख सकते हैं :

जौ मन लाग राम चरन अस।
देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किए जस।
द्वंदरहित, गतमान ज्ञानरत विषयबिरत खटाइ नाना कस।
सुख निधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस।
सर्बभूत हित निर्ब्यलीक चित भगति प्रेम दृढ नेम एकरस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीस दस॥

(विनय० २०४)

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो।
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥

(विनय० १७२)

जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय बिकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु।

सम संतोष विचार बिमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु।
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपासमुद्र हरि अग जग रूप भूप सीता बरु।
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥

(विनय० २०५)

तुम अपनायो जानिहौ जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज
नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै।
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि
चातक ज्यौं एक टेक ते न टरि है।
हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ सुख दुख सबै सम चित हित
अनहित कलि कुचालि परिहरिहै।
प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास, प्रेम
लखि आनंद उमगि उर भरिहै॥

(विनय० २६८)

तौ तू मन पछितैहै मींजि हाथ।
भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ।
सुख साधन हरि बिमुख वृथा जैसे श्रमफल घृत हित मथे पाथ।
यह बिचारि तजि कुपथ कुसंगति चलु सुपंथ मिलि भले साथ।
देखु राम सेवक सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु बान पानि प्रभु लसे मुनि पट कटिक से भाथ।
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाइ राम पदकमल माथ।
जनि डरपहि तो से अनेक खल अपनाये जानकीनाथ॥

(विनय० ८४)

कितनी सुंदरता के साथ भावाश्रित, कर्माश्रित, तथा ज्ञानाश्रित रामभक्ति की

उपर्युक्त लगभग समस्त भूमिकाएँ इन गीतों में समाविष्ट हुई हैं !

(४५) रामभक्ति के लिए शिव-भक्ति एक स्वतंत्र भूमिका है, बिना शिव-कृपा के राम-भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती :

बिनु तव कृपा राम पद पंकज सपनेहु भगति न होई ।

(विनय० ९)

करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम । जेहि हृदय बसहि सुखरासि राम ।

(विनय० १४)

यह शिव राम के भक्त हैं :

अहि भूषन दूषनरिपु सेवक

(विनय० ९)

जाके चरन सरोज सेइ सिधि पाई संकर हू ।

(विनय० ८६)

मोह का नाश और मोक्ष की प्राप्ति भी शिव कृपा से ही हो सकते हैं :

मोह निहार दिवाकर संकर

(विनय० ९)

देव मोह तम तरणि

(विनय० १०)

मोहतम भूरि भानु ।

(विनय० १२)

अज्ञान पाथोधि घटसंभवं

(विनय० १२)

बिनु संभु कृपा नहिं भव बिबेक ।

(विनय० १३)

तव पद बिमुख न पार पाव कोउ कलप कोटि चलि जाहीं ।

(विनय० ९)

ब्रह्मेन्द्र चन्द्रार्क वरुणाग्नि वसु मरुत यम
अर्चि भवदंघ्रि सर्वाधिकारी ।

(विनय० १०)

प्रणत तुलसीदास त्रासहारी ।

(विनय० ११)

दास तुलसी शरण सानुकूलं।

(विनय० १२)

कह तुलसिदास मम त्रास समन।

(विनय० १३)

ससार शिव के अश से उत्पन्न है, वे ब्रह्म हैं, शिव राम ही हैं और विष्णु तथा ब्रह्मा द्वारा पूजित हैं :

बिस्व भवदंससंभव पुरारी।

(विनय० ११)

अकल निरुपाधि निर्गुण निरंजन ब्रह्म कर्मपथमेकमज निर्विकारं।

(विनय० ११)

निर्मलं निर्गुणं निर्विकारं।

(विनय० १२)

राम रूपी रुद्र

(विनय० ११)

विष्णु विधिवंद्य चरणारविन्दं।

(विनय० १२)

निर्गुन गुननायक निराकार।

(विनय० १३)

(४६)हनुमान रुद्र के अवतार है यह हम ऊपर एक अन्य प्रसग में देख चुके हैं।[1] तुलसीदास 'विनय पत्रिका' में इस बात पर यथेष्ट बल देते हैं। हनुमान भी राम के भक्त, और रामभक्तों के अनुगामी हैं :

जानकीनाथ चरनानुरागी।

(विनय० २९)

रामभक्तानुवर्त्ती।

(विनय० २७)

हनुमान भी धर्मार्थ-काम-मोक्ष को देने वाले हैं :

जयति धर्मार्थकामापवर्गद विभो

(विनय० २९)

[1] देखिए ऊपर पृ० ४७०

और भव को नष्ट करने वाले हैं :

मोह मद कोह कामादि खल संकुल घोर संसार निसि किरनमाली ।

(विनय० २६)

और हनुमान के प्रसन्न होने पर राम-शिवादि सभी प्रसन्न हो जाते हैं :

तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरु जानकी ।

(विनय० ३०)

(४७) तुलसीदास राम के अवतारी नित्य रूप का ही ध्यान करते हैं। ऊपर रामभक्ति की आवश्यक भूमिकाओं पर विचार करते हुए हम स्वरूपासक्ति के सबंध में कवि की भावनाओं का अध्ययन कर ही चुके हैं,[1] उस के अतिरिक्त अन्यत्र भी हमें इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि कवि राम के अवतारी नित्य रूप का उपासक है। सीता से तो तुलसीदास यह निवेदन ही करते हैं कि अवसर देख कर वे तुलसीदास के ऊपर कृपादृष्टि के लिए राम से कहें,[2] पुनः राम की सेवा मे उपस्थित होकर[3] वे अपनी 'विनय पत्रिका' उन के दरबार मे पेश करते हैं,[4] जिस की दाद के लिए वे पवनसुवन, रिपुदमन, भरत लाल और लक्ष्मण से विनय करते हैं,[5] और फिर इन की सम्मति प्राप्त कर राम वह 'विनय पत्रिका' स्वीकृत करते हैं।[6] फलतः तुलसीदास के राम निरे अवतारी राम नहीं हैं बल्कि उन की एक नित्य लीला है, और तुलसीदास इन्हीं राम की पूजा करते हैं।

(४८) शिव और ब्रह्मा पुनः विष्णुरूप राम के भक्त हैं :

सकल सुखकंद आनंदघन पुण्यकृत विन्दुमाधव विपति द्वंद हारी।
यस्यांघ्रि पाथोज अज शंभु सनकादि सुक सेव्य मुनिवृंद अति निलयकारी।

(विनय० ६१)

और वे लक्ष्मी-रूपिणी सीता की कृपादृष्टि चाहते हैं :

रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधुसुता रत पद सेवा।
जाकी कृपाकटाच्छ चहत सिव विधि मुनि मनुज दनुज देवा।

(विनय० ६३)

[1] देखिए ऊपर पृष्ठ ५०२
[2] विनय० ४१, ४२
[3] वही २७६
[4] वही २७७
[5] वही २७८
[6] वही २७०

(४९) मोक्ष के लिए क्रियामार्ग द्वारा राम की साङ्गपूजा का भी आश्रय लिया जा सकता है—राम की आरती की जो प्रसंसा तुलसीदास ने की है उस से यह ध्वनि ली जा सकती है :

हरति सब आरती आरती राम की।
दहति दुख क्रोध निर्मूलिनी काम की।
सुभग सौरभ धूप दीप बर मालिका।
उड़त अघ बिहग करताल कर तालिका।
भक्त हृद्भवन अज्ञान तम हारिनी।
बिमल बिज्ञानमय तेज बिस्तारिनी।
मोह मद कोह कलि कंज हिम जामिनी।
मुक्ति की दूतिका देह दुति दामिनी।
प्रनत जन कुमुद बन इंदु कर जालिका।
तुलसि अभिमान महिसेष बहु कालिका॥

(विनय० ४८)

किन्तु उन का समान अनुराग एक आध्यात्मिक आरती पर भी प्रकट है :

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहिं मन।
हरन दुख द्वन्द गोविंद आनंद घन।

अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोधगत क्रोध मद मोह तम प्रौढ़ अभिमान चितबृत्ति छीजै।
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम तांबूल गत सूल संसय सकल बिपुल भव बासना बीज हारी।
असुभ सुभ कर्म घृत पूर्ण दस बर्तिका त्याग पावक सतोगुन प्रकासं।
भगति बैराग्य बिज्ञान दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासं।
बिमल हृदि भवन कृति सांति पर्यंक सुभ सयन बिश्राम श्री राम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया।
एहि आरती निरत सनकादि श्रुति सेष सिव देव ऋषि अखिल मुनि तत्वदरसी।
करै सोइ तरै परिहरै कामादि खल बदति इमि अमल मति दासतुलसी॥

(विनय० ४७)

संक्षेप में 'विनय पत्रिका' में सुरक्षित तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार ये हैं।

अध्यात्म रामायण

५. (१) राम परब्रह्म हैं, वे अव्यय नारायण हैं। वे निर्गुण, निराश्रय, नित्य आनदस्वरूप, निर्विकल्प, ज्ञानस्वरूप और अनादि हैं।[1]

(२) राम अपनी माया के द्वारा ही सृष्टि की रचना तथा अन्य कार्य करते हैं, और वे निर्गुण से सगुण हो जाते हैं।[2]

(३) राम अपनी माया के द्वारा ही अवतार धारण करते हैं।[3]

(४) राम अपनी माया के द्वारा ही मनुष्य प्रतीत होते हैं।[4]

(५) राम अपनी अवतारी सृष्टि से परे हैं, उस का आरोप उन में न होना चाहिए। राम में कर्मों का आरोप अज्ञानी ही करते हैं।[5]

(६) राम विष्णु हैं। क्षीर सागर उन का स्थान है।[6]

(७) विष्णु परात्मा हैं; आदि नारायण हैं। विष्णु ही अपनी त्रिगुणात्मिका माया का आश्रय कर के इस जगत की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं, और फिर भी उस में लिप्त नहीं होते।[7]

(८) परात्मा राम ही माया के द्वारा रज, सत्व, और तम गुणों से युक्त होकर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र रूप

[1] अध्यात्म०, बाल० (१) १; (१) २, (१) ३२-३३; (३) ६६, (४) १३, (५) ४९; (६) ५२, अयोध्या० (८) ३१; (९) ५७, किष्किंधा० (७) १६; सुंदर० (१) ४८, (५) ६३, युद्ध० (२) १५; (३) २०, (८) ६८ (४) ४०, (७) ५८, (३) २८-२९, (३) ७४, (१३) १७, (१५) ५७,

[2] वही, बाल० (१) १८, (२) १५, (१) ४१–४३ अयोध्या० (२) २५, अरण्य० (३) ३१; युद्ध० (१५) ५२;

[3] वही, युद्ध० (१५) ५३,

[4] वही, अयोध्या० (२) २७,

[5] वही, बाल० (१) ३५–४३,

[6] वही, बाल० (२) १५; (२) २८; (३) १५–१८, अयोध्या० (२) २३, (६) ३७; (७) ९४; (९) ५७; अरण्य० (२) १५-१६, युद्ध० (१३) १०, (१३) १२ (१४) २३; (७) ६२-६४

[7] वही, बाल० (२) १४-१५; अयोध्या० (२) २३, (६) ३७, (५) १५–२१; (५) २३; (७) ९४; (९) ४३-४४; (९) ५७, (५) ११· युद्ध० (१३) १०

धारण करते हैं, और मुग्ध-चित्तों को इन विविध रूपों मे भासते हैं।[1]

(९) मत्स्यादि अवतार परात्मा राम ही के हुए हैं।[2]

(१०) अवतार लेने के कारण अनेक हुआ करते हैं :[3]

(क) वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए,

(ख) अज्ञान से वशीभूत जीवों को उस से छुटकारा दिलाने के लिए,

(ग) महाभागवतों के भक्तियोग का विधान करने के लिए,

(घ) कथा-श्रवण की सिद्धि के लिए, और

(ङ) भक्तों का पथ प्रदर्शन करने के लिए अवतार धारण किया करते हैं और लीलाएँ किया करते है।

(११) विष्णु ने दशरथ के घर चार अंशों मे अवतार धारण किया।[4]

(१२) लक्ष्मण शेष हैं, और अखिल भुवन-आधार हैं।[5]

(१३) सृष्टि में माया से उत्पन्न जितनी शक्तियाँ है लक्ष्मण (शेष) उन सब के आधार हैं।[6]

(१४) लक्ष्मण (शेष) राम के वहिर्प्राण और कर्त्ता-भोक्ता हैं।[7]

(१५) लक्ष्मण (शेष) विष्णु के शरीर हैं।[8]

(१६) लक्ष्मण (शेष) 'विराट् पुरुष' हैं।[9]

(१७) लक्ष्मण (शेष) लोकाधार विष्णु हैं।[10]

[1] अध्यात्म०, बाल० (५) ५०; अयोध्या० (५) १३-१४; अरण्य० (७) ३०; (३) २९; युद्ध० (१५) ५२; (१५) ५७

[2] वही, अयोध्या० (५) १५-२१, युद्ध० (१०) ४७-५४; (१३) १६-१७

[3] वही, बाल० (१) १, (३) ३० अरण्य० (२) १५ किष्किंधा० (६) ७४; किष्किंधा० (५) २१ किष्किंधा० (६) ६४ युद्ध० (१५) ५३;

[4] वही, बाल० (२) २७, (६) ६३-६४

[5] वही, बाल० (४) १७; अयोध्या० (५) १२; (९) ४४; अरण्य० (२) १५-१७, किष्किंधा० (७) १८; युद्ध० (१४) २३, (८) ६७, (८) ६८

[6] वही, युद्ध० (६) ९

[7] वही, अयोध्या० (२) ३८

[8] वही, युद्ध (६) ९

[9] वही, युद्ध० (६) ११

[10] वही युद्ध० (६) ९; (६) ११

(१८) लक्ष्मण (शेष) परमेश्वर हैं। राम ही शेष रूप हो कर नीचे से समस्त लोकों को धारण करते हैं।[1]

(१९) लक्ष्मण शेष के अंश हैं।[2]

(२०) लक्ष्मण साक्षात् नारायण (विष्णु) के अंश हैं।[3]

(२१) भरत नारायण विष्णु के शंख हैं।[4]

(२२) शत्रुघ्न नारायण विष्णु के चक्र हैं।[5]

(२३) वानरादि नारायण विष्णु के पार्षद देवता हैं।[6]

(२४) सीता जगत् की कारणरूपा साक्षात् जगद्रूपिणी चिच्छक्ति हैं, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाली हैं।[7]

(२५) सीता आदिनारायण की योगमाया हैं।[8]

(२६) सीता अविनाशी परमात्मा की परम शक्ति हैं।[9]

(२७) इस लोक में जो कुछ पुरुष वाचक हैं वह राम हैं, और जो कुछ स्त्री वाचक हैं वह सीता हैं। इस लोक में राम-सीता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[10]

(२८) सीता लक्ष्मी हैं।[11]

(२९) मूल प्रकृति, योगमाया, शक्ति तथा लक्ष्मी एक ही हैं।[12]

(३०) माया, अविद्या, संसृति और बंधन भी इसी शक्ति के नाम हैं।[13]

[1] अध्यात्म०, युद्ध० (६) १६; (१५) ५४

[2] वही, युद्ध० (६) ९

[3] वही, युद्ध० (६) १७

[4] वही, बाल० (४) १८; अरण्य० (२) १५-१६

[5] वही, बाल० (४) १८; अरण्य० (२) १५-१६

[6] वही, बाल० (६) २७; किष्किंधा० (७) १९

[7] वही, युद्ध० (४) ४०; बाल० (१) ३४, अयोध्या० (५) २३ किष्किंधा० (७) १७

[8] वही, बाल० (२) २८; (४) १८, अयोध्या० (५) ११; (९) ४३-४४; सुंदर० (१) ४८

[9] वही, बाल० (७) २७

[10] वही, अयोध्या० (१) १८-१९

[11] वही, अयोध्या० (५) ११; (२) २३; (६) ३७; अरण्य० (७) १५-१६; युद्ध० (७) १६; (४) ४०; (७) ५८; (१४) ३३

[12] वही, अयोध्या० (५) ११; अरण्य० (३) २२

[13] वही, अरण्य० (३) २२

(३१) माया त्रिगुणात्मिका है।[१]

(३२) माया से ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते हैं।[२]

(३३) ब्रह्मा आदि प्रजाएँ इसी माया से उत्पन्न हैं।[३]

(३४) यह माया राम का सन्निधि प्राप्त कर सृष्टि करती है।[४]

(३५) यह माया निर्गुण राम का आश्रय पा कर ही भासमान होती है, उन्हीं में रहती है, और उन की शक्ति कही जाती है।[५]

(३६) यह (महा) माया राम के अधीन है। नाना आकार धारण करने के कारण यह एक बहुरूपिणी नर्तकी मात्र है और उन से डरती रहती है।[६]

(३७) निर्गुण राम को उन की लीला से जब यह शक्ति ढँक लेती है तो इसे 'अव्याकृत' कहा जाता है और उन्हें 'वैराज'।[७]

(३८) कोई इस 'अव्याकृत' को 'मूल प्रकृति' भी कहते हैं, और इसे ही 'अविद्या', 'संसृति', 'बंधन' आदि भी कहते हैं।[८]

(३९) राम के द्वारा क्षुभित होने पर इस शक्ति से 'महत्तत्व' उत्पन्न होता है।[९]

(४०) राम की ही प्रेरणा से 'महत्तत्व' से 'अहंकार' प्रकट होता है।[१०]

(४१) 'अहंकार' तीन प्रकार का होता है 'सात्विक', 'राजस', तथा 'तामस'।[११]

(४२) 'तामस' अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।[१२]

(४३) इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि,

[१] अध्यात्म०, अयोध्या० (१) ११

[२] वही, बाल० (१) ३४; अयोध्या० (५) २३

[३] वही, अयोध्या० (१) ११

[४] वही, बाल० (१) ३४; अयोध्या (१) ११; युद्ध० (१४) २८

[५] वही, बाल० (१) २; अयोध्या० (१) ११; अरण्य० (३) २०

[६] वही, अयो० (२) ३२; (९) ५९, (९) ९२

[७] वही, अरण्य० (३) २१; अयोध्या० (१) २०; युद्ध० (३) ७४

[८] वही, अरण्य० (३) २२

[९] वही, अरण्य० (३) २३; अयोध्या० (१) २०

[१०] वही, अरण्य० (३) २३

[११] वही, अरण्य० (३) २४

[१२] वही, अरण्य० (३) २५

जल और पृथिवी ये पाँच स्थूल भूत होते हैं।[1]

(४४) 'राजस' अहंकार से दश इंद्रियाँ होती हैं।[2]

(४५) 'सात्विक' अहंकार से इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा मन उत्पन्न होते हैं।[3]

(४६) दश इंद्रियों, उन के अधिष्ठाता देवताओं, तथा मन की समष्टि से सर्वात्मक सूत्ररूप लिंग शरीर होता है।[4]

(४७) स्थूल भूत-समूह से 'विराट्' उत्पन्न होता है।[5]

(४८) इस 'विराट्' से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत उत्पन्न होता है।[6]

(४९) 'विराट्' विष्णु का स्थूल शरीर है।[7]

(५०) 'सूत्र' विष्णु का सूक्ष्म शरीर है।[8]

(५१) सूर्य, चंद्र, वायु, औषध और वृष्टि हो कर राम नाना प्रकार से लोकों का पालन करते हैं।[9]

(५२) वे जठराग्नि होकर अन्न को पचाते और जगत का पालन करते हैं।[10]

(५३) राम अपने अंश से समस्त लोकों की रचना करते हैं।[11]

(५४) जीव की कारण उपाधि अविद्या है।[12]

(५५) बुद्धि अविद्या का कार्य है।[13]

(५६) बुद्धि में ज्ञानशक्ति नहीं है।[14]

(५७) बुद्धि के सत्व, रज, तम से ही क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ होती हैं।[15]

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (३) २५
[2] वही, अरण्य० (३) २६
[3] वही
[4] वही, अरण्य० (३) २६; (४) २८; अयोध्या० (१) २१
[5] वही, अरण्य० (३) २७; (९) ३४
[6] वही, अरण्य० (३) २७
[7] वही, युद्ध० (१४) ३०
[8] वही, युद्ध० (१४) ३०
[9] वही, युद्ध० (१५) ५४
[10] वही, युद्ध० (१५) ५५
[11] वही, युद्ध० (१५) ५४
[12] वही, अयोध्या० (१) २२
[13] वही, बाल० (१) ४८
[14] वही
[15] वही, अरण्य० (३) ३०

(५८) जो कुछ भी इद्रियो का विषय है वह स्वप्न और मनोरथो के समान असत्य है।[1]

(५९) रज्जु मे सर्प के समान, सीपी मे चाँदी के समान, तथा सूर्य की किरणो में जल के समान, परमात्मा और आत्मा में विश्व (सृष्टि) की कल्पना माया (अज्ञान) द्वारा ही होती है।[2]

(६०) विश्व के प्रति हमारा राग-द्वेष केवल इसी अनादि 'अविद्या' तथा उस के कार्य 'अहंकार' के कारण होता है।[3]

(६१) महाकाश, जलावच्छिन्न आकाश तथा प्रतिबिम्बाकाश की तरह चैतन्य के भी तीन भेद हैं : पूर्ण चैतन्य, बुद्ध्यवच्छिन्न चैतन्य, तथा आभास चैतन्य।[4]

(६२) आभास चैतन्य युक्त बुद्धि में ही कर्त्तृत्व है।[5]

(६३) आभास चैतन्य युक्त बुद्धि ही जीव है।[6]

(६४) आभास चैतन्य युक्त बुद्धि के ही कर्त्तृत्व और जीवत्व को अज्ञानी लोग भ्रांतिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार, साक्षी आत्मा में आरोपित करते हैं।[7]

(६५) आत्मा में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व न होने के कारण वह संसृति में नहीं पड़ता। उस में संसृति का आरोप मिथ्या है।[8]

(६६) स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण नाम की चेतन की तीन उपाधियाँ हैं। (वस्तुतः यह तीन भेदशरीर के हैं, जिन से आत्मा का तादात्म्य करना ही उन का उपाधि-स्वरूप में ग्रहण करना है।) इन उपाधियों से युक्त चेतन जीव कहलाता है। लिंगदेहाभिमानी चेतन मात्र ही जगत् मे तन्मय हुआ जीव नाम से विख्यात है।[9]

(६७) इन उपाधियो से रहित होने पर वह परमेश्वर कहलाता है।[10]

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (४) २६; किष्किंधा० (३) २०

[2] वही, अरण्य० (४) २५; युद्ध० (३) २३; (८) ४२-४३; किष्किंधा० (३) २०

[3] वही, किष्किंधा० (३) २०

[4] वही, बाल० (१) ४६

[5] वही, बाल० (१) ४७

[6] वही

[7] वही

[8] वही, बाल० (६) ८६; किष्किंधा० (३) १९

[9] वही, अयोध्या० (१) २३

[10] वही

(६८) आत्मा ही परात्मा है।[1]

(६९) पाँच स्थूल भूत, पंच तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, दश इंद्रियाँ, चिदाभास, मन और मूल प्रकृति इन सब की समष्टि क्षेत्र (शरीर) कहलाती है। जीव इन सब से भिन्न है।[2]

(७०) जीव तथा परमात्मा पर्याय हैं। इन मे भेदबुद्धि न करनी चाहिए।[3]

(७१) आत्मा अनात्म मन को अपना लिंग (पहचान का साधन) बना कर उस से प्राप्त होने वाले विषयों का सेवन करता हुआ उस के द्वारा राग-द्वेषादि गुणों में बँधा रहता है।[4]

(७२) राग द्वेषादि के योग से वह नाना प्रकार के (शुक्ल यथा जप ध्यानादि, लोहित यथा हिंसामय यज्ञादि, तथा कृष्ण यथा मद्यपानादि) कर्म करता है। उन कर्मों के अनुसार ही उस की गतियाँ होती हैं, फलतः वह कर्मों के वशीभूत होकर आवागमन के चक्र मे पड़ा रहता है।[5]

(७३) राम की माया दो रूपों मे भासती है: विद्या और अविद्या।[6]

(७४) अनात्म मे आत्म-भावना ही अविद्या है।[7]

(७५) अनात्म से आत्म-भावना का बाध ही विद्या है।[8]

(७६) अविद्या संसृति का हेतु है।[9]

(७७) विद्या संसृति से मुक्त करने वाली है।[10]

(७८) प्रवृत्ति मार्ग वाले अविद्या के वशीभूत होते हैं।[11]

(७९) निवृत्ति मार्ग वाले विद्यामय होते हैं।[12]

[1] अध्यात्म०, अयोध्या० (७) १०७, अरण्य० (४) ३०

[2] वही, अरण्य० (४) ३०

[3] वही, अरण्य० (४) ३१

[4] वही, किष्किंधा० (३) २३–२५

[5] वही, अयोध्या० (६) ४-५; किष्किंधा० (३) २३–२५

[6] वही अरण्य० (३) ३२

[7] वही, अयोध्या० (४) ३३

[8] वही

[9] वही, अयोध्या० (४) ३४, अरण्य० (३) ३३; किष्किंधा० (३) १८; सुन्दर० (४) १८; युद्ध० (३) २२; (४) ४७

[10] वही, अयोध्या० (४) ३४, अरण्य० (३) ३३

[11] वही, अरण्य० (३) ३३

[12] वही, अरण्य० (३) ३३

(८०) माया (अविद्या माया ?) के दो रूप हैं 'आवरण तथा विक्षेप', और तदनुसार उस के दो कार्य हैं :[१]

(१) आवरण शक्ति संपूर्ण ज्ञान को आवृत कर के रखती है।

(२) विक्षेप शक्ति ही विश्व की कल्पना करती है।[१]

(८१) जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या और तज्जनित दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह अपने कार्य तथा समस्त साधनों के सत्य परमात्मा में लीन हो जाती है।[२]

(८२) अविद्या की इस लयावस्था को ही मोक्ष कहते हैं।[३]

(८३) जीव और ब्रह्म की इस एकता को समझ लेने पर मनुष्य सारूप्य-मोक्ष का पात्र हो जाता है।[४]

(८४) अनात्म में आत्म का बाध, और अपने को नित्य शुद्ध बुद्ध चिदात्मा समझना बोधज्ञान कहलाता है।[५]

(८५) इस ज्ञान का साक्षात् अनुभव ही विज्ञान कहलाता है।[६]

(८६) इस लिए मनुष्य को ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।[७]

(८७) अविद्या का बंधन कर्ममार्ग के साधनों से टूटता नहीं, बल्कि और दृढ़ होता है।[८]

(८८) भक्ति द्वारा वह विज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोग नामक राजभवन के शिखर के लिए रामभक्ति सीढ़ी रूप है।[९]

(८९) भक्ति से विमुख मनुष्यों के लिए मोक्ष अत्यत दुर्लभ है, भक्ति वाले ही मुक्ति के पात्र हैं।[१०]

(९०) विद्या का प्रादुर्भाव मनुष्य के अंतःकरण में बिना रामभक्ति

[१] वही, अरण्य० (४) २२–२४

[२] वही, बाल० (१) ५०, अयोध्या० (१) ७६; अरण्य० (४) ४३, (१०) २९; किष्किंधा० (३) ३१; सुंदर० (४) १९

[३] वही, अरण्य० (४) ४४

[४] वही, बाल० (१) ५१

[५] वही, अरण्य० (४) ३८; (४) ४१

[६] वही, अरण्य० (४) ३९

[७] वही, अयोध्या० (१) ७८

[८] वही किष्किंधा० (१) ८०

[९] वही, बाल० (१) ११, (६) ७९, अयोध्या० (१) २९, अरण्य० (३) ४०, युद्ध० (३) ३१; (३) ३६, (७) ६७

[१०] वही, अरण्य० (१) ४५; (४) ४५-४६; (३) ३५; युद्ध० (७) ६७

के नहीं होता ।[1]

(९१) राम भक्ति का प्रादुर्भाव प्रमुख रूप से कथा-श्रवण से होता है ।[2]

(९२) कथा-श्रवण में श्रद्धा (राम भक्त) साधुसग से होती है–साधुओं के लक्षणों में से एक राम भक्ति भी है ।[3]

(९३) साधुसग मोक्ष का मुख्य साधन होता है । जिस में यह साधन होता है उस में रामभक्ति के अन्य साधन क्रमशः स्वतः आ जाते हैं ।[4]

(९४) 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से बोधज्ञान प्राप्त होने में यथेष्ट सहायता मिलती है ।[5]

(९५) 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो का अर्थज्ञान गुरुकृपा से होता है ।[6]

(९६) नाम-जप भी रामभक्ति के प्रादुर्भाव और मोक्ष-साधन—के लिए अत्यंत उपयोगी हुआ करता है ।[7]

(९७) प्रेमलक्षणा रामभक्ति के आविर्भाव के लिए नौ साधन (नवधा भक्ति) विशेष रूप से मान्य हैं । राम ने स्वतः कहा है कि "मेरी भक्ति का पहला साधन सतसंग है ।[8]

(९८) मेरी कथा का गान करना दूसरा साधन है ।[9]

(९९) मेरे गुणों की चर्चा करना तीसरा साधन है ।[10]

(१००) मेरे वचनों (गीतादि) की व्याख्या करना चौथा साधन है ।[11]

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (३) ३४
[2] वही, अरण्य० (३) ४०, किष्किधा० (३) २९
[3] वही, अरण्य० (३) ३९; किष्किधा० (३) २८-२९
[4] वही, अरण्य० (३) ३६; (१०) ३०-३१
[5] वही, बाल० (१) ४९, किष्किधा० (३) ३१
[6] वही, किष्किधा० (३) ३१
[7] वही, अयोध्या० (६) ६३–६८, अरण्य० (२) २९: (२) ३१; अरण्य० (३) ८. (१०) ३; (४) ४९; किष्किधा० (१) ८४; सुंदर० (१) ५, (४) ९९, युद्ध० (१५) ६२; (१६) ४९
[8] वही, अरण्य० (१०) २२–२७
[9] वही
[10] वही
[11] वही

(१०१) अपने गुरुदेव की निष्कपट होकर भगवद्बुद्धि से सेवा करना पाँचवाँ साधन है।[1]

(१०२) पुण्य शीलता (पवित्र स्वभाव), यम-नियमादि का पालन, मेरी पूजा में अनवरत निष्ठा छठा साधन है।[2]

(१०३) मेरे मंत्र (राममंत्र) की सागोपाग उपासना करना सातवाँ साधन हैं :[3]

(१०४) समस्त प्राणियों में मेरी भावना करना, वाह्य पदार्थों में अनासक्ति रखना, और शम-दमादि सम्पन्न होना आठवाँ साधन है।[4]

(१०५) तत्व-विचार नवाँ साधन है।[5]

(१०६) मोक्ष-प्राप्ति का एक और साधन शिवपूजा है। (स्वतः राम ने सेतुबंध के आरंभ मे रामेश्वर महादेव की स्थापना कर कहा है, "सेतुबध में स्नान और रामेश्वर के दर्शन कर के जो मनुष्य काशी से गंगाजल लावेंगे और उस से रामेश्वर का अभिषेक करेंगे वे निस्संदेह ब्रह्म को प्राप्त होंगे।")[6]

(१०७) शिव राम के भक्त हैं। (और उन्हो ने ही 'अध्यात्म रामायण' की कथा भी कही है।)[7]

(१०८) वैष्णव जन राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार कर के भी संसृति-सागर को तरते हैं।[8]

(१०९) राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार उन के ध्यान द्वारा होता है।[9]

(११०) राम का निर्गुण स्वरूप मन का अविषय होने के कारण भक्ति के उपयुक्त नही है।[10]

(१११) विद्वान् लोग इस लिए राम के अवतारी रूप का ही ध्यान

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (१०) २२–२७
[2] वही
[3] वही
[4] वही
[5] वही
[6] वही, युद्ध० (४) ३-४
[7] वही, बाल० (५) ४३; (५) ४७, ४८, अरण्य० (२) २७, युद्ध० (१५) ६२, (१६) ४९ (१३) १६, (१३) ३१
[8] वही, अरण्य० (१०) २९; युद्ध० (३) ३०
[9] वही, युद्ध० (३) ३६
[10] वही, युद्ध० (८) ४४

कर के संसृति-सागर को पार करते हैं।[१]

(११२) योगाभ्यास के द्वारा चित्त की शुद्धि की जा सकती है।[२]

(११३) ब्रह्मा भी राम के भक्त हैं। 'शिव तो' हैं ही।[३]

(११४) ब्रह्मादि भी अन्य जीवों की भाँति वाह्य पदार्थों में सत्य बुद्धि (माया) के कारण राम के चित्त स्वरूप को नहीं जान पाते[४]।

(११५) भरत विश्व का पोषण करने वाले हैं।[५]

(११६) शत्रुघ्न शत्रु-शमन हैं।[६]

(११७) मुक्ति के तीन रूप प्रमुख हैं: सायुज्य, सारूप्य, तथा सालोक्य।[७]

[परंतु इन तीनों में कोई मौलिक अंतर नहीं माना गया है। जटायु, उदाहरणार्थ, सारूप्य का वरदान प्राप्त करता है, विष्णु का रूप वह धारण करता है और तदनंतर उस को विष्णु लोक जाने का आदेश होता है, और वह परम धाम को जाता है। और जब आगे उस की सद्गति का उल्लेख होता है तो कहा जाता है कि उस ने राम में सायुज्य प्राप्त किया।]

(११८) मोक्ष के लिए क्रिया-मार्ग द्वारा राम की साग पूजा का भी आश्रय लिया जा सकता है, और इस प्रकार की एक पूजा का सविस्तर विधान किया गया है।[८]

[किंतु इस प्रकार का विस्तृत क्रिया-विधान वेदांत-निर्भर[९] 'अध्यात्म रामायण' के अनुकूल नहीं जान पड़ता है।]

संक्षेप में 'अध्यात्म रामायण' के आध्यात्मिक विचार ये हैं।

[१] अध्यात्म०, युद्ध० (८) ४५

[२] वही, युद्ध० (१३) ११-१२, (१३) १४, (१३) २७

[३] वही, बाल० (५) ४३; (५) ४८; अरण्य० (२) २७, युद्ध० (१३) १०-१७

[४] वही, युद्ध० (१५) ६१

[५] वही, बाल० (३) ४१

[६] वही

[७] वही, अरण्य० (७) ३९; युद्ध० (११) ८१; (११) ८६; (१६) १५ युद्ध० (३) ४१; (१६) १९ किष्किंधा० (३) ६९ [किंतु, देखिए अरण्य० (८) ४०; (८) ५४, ५६; किष्किंधा (७) ४१]

[८] वही, किष्किंधा० (४) ६-४०

[९] वही, बाल, (१) ५४

उपसंहार

६. 'मानस', 'विनय पत्रिका' तथा 'अध्यात्म रामायण' के उपर्युक्त सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर तीनों के संबंध में तथ्य हमें इस प्रकार ज्ञात होता है। राम के परमात्मत्व, निर्गुण ब्रह्मत्व[१] तथा सगुण ब्रह्मत्व[२] के संबंध में 'मानस' 'विनय पत्रिका' तथा 'अध्यात्म रामायण' में परस्पर पूर्ण साम्य है। राम अपनी माया का आश्रय ले कर ही अवतार धारण करते हैं[३] यह सिद्धांत 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में मिलता है, 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलता। मायाश्रित राम के सगुण रूप तथा सगुण लीला को देखकर भ्रम में पड़ने की संभावना तथा उस भ्रम से प्रेरित हो कर राम में कर्मों का आरोप किए जाने का विचार[४] जिस प्रकार 'मानस' में मिलता है उसी प्रकार वह 'अध्यात्म रामायण' में भी मिलता है, 'विनय पत्रिका' में यह विचार भी नहीं मिलता। राम के विष्णुत्व के संबंध में[५] तीनों में पूर्ण साम्य है। विष्णु के ब्रह्मत्व के संबंध में[६] यद्यपि एक सीमा तक साम्य है किंतु उस के आगे 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' 'अध्यात्म रामायण' से मतभेद प्रदर्शित करते हैं : 'अध्यात्म रामायण' में जब कि विष्णु ही सब कुछ हैं, 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में विष्णु राम की तुलना में कुछ भी नहीं हैं। अपनी माया के द्वारा ही राम सृष्टि की रचना तथा उस का संहारादि करते हैं[७] इस संबंध में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में परस्पर कोई अंतर नहीं है; 'विनय पत्रिका' में इनसे इतना अंतर अवश्य है कि उस में माया के माध्यम का कोई उल्लेख नहीं होता है। वाराहादि अनेक अवतार इन्हीं राम के हुए थे[८] इस संबंध में तीनों एक मत

[१] उपर्युक्त मानस (१), विनय० (१), अध्यात्म० (१)

[२] वही, मानस (१), विनय० (२), अध्यात्म० (२)

[३] वही, मानस (३), अध्यात्म० (३)

[४] वही, मानस (४), अध्यात्म० (४), (५)

[५] वही, मानस (५), विनय० (३), अध्यात्म० (६)

[६] वही, मानस (६), विनय० (४), अध्यात्म० (७)

[७] वही, मानस (७), विनय० (५), अध्यात्म० (८)

[८] वही, मानस (८), विनय० (६), अध्यात्म० (९)

हैं। अवतार-धारण के कारणों के विषय में[1] यद्यपि 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे वैसा विस्तार नही है जैसा 'अध्यात्म रामायण' मे है पर यह चेष्टा तुलसीदास, जैसा वे 'मानस' मे इस तथ्य की ओर सकेत करते हुए कहते हैं, इस लिए नहीं करते कि उस का पर्याप्त निरूपण नहीं हो सकता।

चतुर्व्यूहत्व[2] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' मे पूर्ण साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस सबंध का कोई उल्लेख नहीं होता। लक्ष्मण के शेषत्व[3] के सबध मे तीनों मे पूर्ण साम्य है—'अध्यात्म रामायण' मे उल्लिखित लक्ष्मण के शेषांशत्व को भी हम उन के शेषत्व के अंतर्गत ले सकते हैं। लक्ष्मण मे विश्व के करण-कारणत्व का प्रतिपादन[4] 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में तो मिलता है 'विनय पत्रिका' मे नहीं मिलता, साथ ही उस का जितना विकास हमे 'अध्यात्म रामायण' मे मिलता है उतना 'मानस' मे नहीं मिलता यद्यपि उस का सार-सिद्धात हमे उस मे अवश्य मिल जाता है। राम मे शेषत्व[5] के विषय मे तीनो परस्पर एकमत हैं। लक्ष्मण के ब्रह्मत्व[6] के विषय में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे कुछ साम्य अवश्य है, और 'अध्यात्म रामायण' मे उल्लिखित लक्ष्मण के नारायणांशत्व को भी हम इसी के अंतर्गत ले सकते हैं, पर भेद भी हैं; 'विनय पत्रिका' मे उस की कोई चर्चा नहीं मिलती है। 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे परस्पर इस विषय मे भेद यह है कि अध्यात्म रामायण' मे लक्ष्मण को स्पष्ट रूप से लोकाधार विष्णु और परमेश्वर कहा गया है, 'मानस' मे इस प्रकार का कोई कथन नहीं किया जाता और यद्यपि उन्हें राम के साथ एक स्थान पर अपरिवर्तनशील दिखाया जाता है अन्यत्र उन्हे राम से पृथक् अन्य भाइयों के साथ रखकर परिवर्तनशीलों मे स्थान दिया जाता है। भरत मे विश्व के पोषकत्व[7] तथा शत्रुघ्न मे शत्रु-

[1] उपर्युक्त मानस (९), विनय० (७), अध्यात्म० (१०)

[2] वही, मानस (१०), अध्यात्म० (११)

[3] वही, मानस (११), विनय० (८), अध्यात्म० (१२), (१९)

[4] वही, मानस(१२), अध्यात्म०(१३)–(१६)

[5] वही, मानस (१३), विनय० (९), अध्यात्म० (१८)

[6] वही, मानस (१४), अध्यात्म० (१७), (१८), (२०)

[7] वही, मानस (१५), विनय० (१०), अध्यात्म० (२१), (२२५)

सूदनत्व[1] के संबंध मे तीनो में पूर्ण साम्य है, 'अध्यात्म रामायण' में इतना और है कि भरत नारायण के शंख और शत्रुघ्न नारायण के चक्र हैं। बानरादि मे देवत्व[2] तथा सगुण ब्रह्म के उपासकत्व[3] के विषय में तीनों एकमत ज्ञात होते हैं यद्यपि 'विनय पत्रिका' मे स्पष्ट उल्लेख दोनों के संबंध मे नही मिलता।

सीता का मूलप्रकृतित्व[4] योगमायात्व और परमशक्तित्व[5] 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' मे समान रूप से मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में केवल प्रथम का अंशतः उल्लेख मिलता है शेष का वह भी नहीं। लोक में राम सीता की पूर्ण व्याप्ति[6] के उल्लेख 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे एक से मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' मे नही मिलते। सीता के लक्ष्मीत्व[7] के विषय मे 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' ने आंशिक समानता है, 'विनय पत्रिका' मे इस विषय का कोई उल्लेख नही है। 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' के बीच का यह अंतर उसी प्रकार का है जिस प्रकार का अंतर हम विष्णु के ब्रह्मत्व के संबंध में ऊपर देख चुके हैं। यों तो लक्ष्मी दोनों में परमशक्ति है[8] किन्तु सीता की तुलना मे 'मानस' मे वह कुछ भी नही है, पूर्वोक्त विचार मे यह अतर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

माया की त्रिगुणात्मकता[9] के संबंध मे 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे पूर्ण एकरूपता है, 'विनय पत्रिका' में कोई उल्लेख नहीं होता है। माया के मूलप्रकृतित्व[10] के संबंध मे भी इसी प्रकार दोनों में साम्य स्पष्ट है, 'विनय पत्रिका' मे उस का कोई उल्लेख नहीं होता। माया के कार्य क्षेत्र[11] के संबध में भी दोनो मे यथेष्ट साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस विषय का भी कोई

[1] उपर्युक्त मानस (१६), विनय० (११), अध्यात्म० (२२), (११६)

[2] वही, मानस (१७), विनय० (१२), अध्यात्म० (२३)

[3] वही, मानस (१८), विनय० (१२), अध्यात्म० (२३)

[4] वही, मानस (१९), विनय० (१३), अध्यात्म० (२४)

[5] वही, मानस (२०), अध्यात्म० (२५), (२६)

[6] वही, मानस (२१), अध्यात्म० (२७)

[7] वही, मानस (२२), अध्यात्म० (२८)

[8] वही, मानस (२३), अध्यात्म० (२९), (३०)

[9] वही, मानस (२४), अध्यात्म० (३१)

[10] वही, मानस (२५), अध्यात्म० (३२)

[11] वही, मानस (२६), अध्यात्म० (३३)

स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। माया के स्वतः जड़त्व तथा रामाश्रय से क्रियाशीलत्व[1] के संबंध मे तीनों समान है। माया के रामाधीनत्व[2] के विषय में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में पर्याप्त साम्य है, 'विनय पत्रिका' में यद्यपि इस विषय का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर पूर्वोक्त उल्लेख से इस प्रकार की ध्वनि ली जा सकती है। माया की सृष्टि[3] का जो उल्लेख 'मानस' में है वह अत्यंत अपर्याप्त है, 'विनय पत्रिका' में उस का यथेष्ट विस्तार मिलता है, और वह 'अध्यात्म रामायण' वाले उक्त विस्तार से पूर्ण एकरूपता रखता है। पुनः समस्त सृष्टि के राम रूप[4] होने का विचार भी तीनों मे पाया जाता है यद्यपि उस का जितना युक्तियुक्त प्रतिपादन 'विनय पत्रिका' में किया गया है उतना वह अन्य दो में से किसी में नहीं मिलता। संसार का मिथ्यात्व[5] तीनों मे समान रूप से प्रतिपादित है।

जीवत्व[6] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, और 'विनय पत्रिका' में कोई उल्लेख नहीं है। केवल 'अध्यात्म रामायण' मे बुद्धि के कारण, उसकी शक्ति, स्वभाव उस के तथा कार्यादि का यथेष्ट विस्तार कर के जीवत्व के यथार्थ स्वरूप-निरूपण का जैसा प्रयत्न किया गया है वह अन्य दो में नहीं हुआ है। शरीर के अनात्मत्व[7] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में यथेष्ट साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जीव में यथार्थ ईश्वरत्व[8] के संबंध मे भी इसी प्रकार दोनों में परस्पर कोई मतभेद नहीं है और 'विनय पत्रिका' में भी समान ध्वनि मिलती है। जीव पर माया के प्रभुत्व[9] और जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व[10] के संबंध में भी तीनों में यथेष्ट साम्य है।

[1] उपर्युक्त मानस (२७), विनय० (१४), अध्यात्म० (३४), (३५)

[2] वही, मानस (२८), अध्यात्म० (३६)

[3] वही, मानस (२९), विनय० (१५) अध्यात्म० (३७)५०)

[4] वही, मानस (३०), विनय० (१६) अध्यात्म० (५१)–(५३)

[5] वही, मानस (३१), विनय० (१७), अध्यात्म० (५८)

[6] वही, मानस (३२), अध्यात्म० (५४)–(५७), (६१)-(६४)

[7] वही, मानस (३३), अध्यात्म० (६०)

[8] वही, मानस (३४), विनय० (१९), अध्यात्म० (६५)–(६८), (७०)

[9] वही, मानस (३५), विनय० (२०) अध्यात्म० (५९), (६०), (७१)

[10] वही, मानस (३६), विनय० (२०), अध्यात्म० (७२)

इस पिछले प्रसंग में 'विनय पत्रिका' और 'अध्यात्म रामायण' में मन के द्वारा होने वाले अनर्थ का जैसा विस्तार हुआ है वैसा हमें 'मानस' में नहीं मिलता।

माया के विद्या[1] और अविद्या[2] आदि विस्तारों के संबंध में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' के बीच कोई अंतर नहीं है, 'विनय पत्रिका' में हमें यह विस्तार नहीं मिलता। जीव तथा ब्रह्म के अभेद ज्ञान से भवनाश[3] के संबंध में तीनों में यथेष्ट साम्य है। स्वरूप-ज्ञान से ब्रह्मत्व[4] तथा बोध ज्ञान के स्वरूप[5] के संबंध में भी तीनों में यद्यपि साम्य दिखाई पड़ता है किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में इसी प्रसंग में 'विज्ञान' का भी स्वरूप-निरूपण किया गया है जो अन्य दो में नहीं मिलता है। मुक्ति-साधन के लिए विषय-विराग तथा परमार्थ-चिंतन की आवश्यकता[6] का प्रतिपादन भी तीनों में किया गया है। कर्म-मार्ग से मुक्ति की असंभावना[7] और भक्ति-मार्ग से मुक्ति की अनिवार्यता[8] के संबंध में भी तीनों एक मत हैं, किन्तु और आगे बढ़ने पर 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में किंचित स्पष्ट अंतर ज्ञात होता है:[9] 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के अनुसार भक्ति ही चरम साध्य है, वह स्वतंत्र और निरपेक्ष है, ज्ञान-विज्ञानादि सभी उस के आधीन हैं, विमुक्त लोग भी उस की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, और हरिभक्त मुक्ति का निरादर कर के भी भक्ति पर लुब्ध रहते हैं। किन्तु 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार भक्ति विज्ञान की प्राप्ति के लिए एक साधन—यद्यपि सर्वश्रेष्ठ साधन—मात्र है, वह उस ज्ञानयोग नामक राजभवन के लिए सीढ़ी है जिस से जीव को

[1] उपर्युक्त मानस (३७), विनय० (२१) अध्यात्म० (७३)–(७५), (७७); (७९)

[2] वही, मानस (३८), विनय० (२२) अध्यात्म० (७६) (७८) (८०)

[3] वही, मानस (३९), विनय० (२२) अध्यात्म० (८१), (८२)

[4] वही, मानस (४०), विनय० (२२), अध्यात्म० (८३)

[5] वही, मानस (४१), विनय० (२२), अध्यात्म० (८४), (८५)

[6] वही, मानस (४२), विनय० (१८), अध्यात्म० (८६),

[7] वही, मानस (४३), विनय० (२०), अध्यात्म० (८७)

[8] वही मानस (४४), विनय० (२३), अध्यात्म० (८८)

[9] वही, मानस (४५), विनय० (२४)–(२५), अध्यात्म० (८८)

मुक्ति प्राप्ति होती है। और भी, 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' के अनुसार ज्ञानादि का साधन तथा उन के द्वारा भव-नाश अत्यत कठिन है[1] किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में इस आशय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी, इस विषय में तीनों समान हैं कि भक्ति से विमुख जीवों के लिए मोक्ष अत्यंत दुर्लभ है और भक्ति वाले ही मुक्ति प्राप्त करते हैं[2], यद्यपि 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में यह कथन भक्ति को ज्ञानादि की तुलना में श्रेष्ठ बता कर इस प्रकार का कथन किया गया है और 'अध्यात्म रामायण' में भक्ति को ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हुए यह कहा जाता है। भक्ति पर बल देकर 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में मुक्ति-प्राप्ति के लिए उस राम कृपा की आवश्यकता[3] बताई गई है जिस का उल्लेख 'अध्यात्म' रामायण' मे नही होता, और इसी प्रकार रामकृपा की सुलभता[4] पर दोनों में बहुधा एक से कथन किए गए हैं जब कि 'अध्यात्म रामायण' में इस प्रकार के कथन नहीं आते। रामभक्ति से अंतःकरण में अविद्या व्याप्त नहीं होती और विद्या का प्रादुर्भाव होता है[5], इस प्रकार का कथन 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में तो होता है किंतु विनय पत्रिका' में नहीं मिलता—कदाचित् इसलिए कि—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं—माया के विद्याविद्या भेद भी उस में हमे नहीं मिलते।

रामभक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से कथा श्रवण से होता है[6] इस संबध के उल्लेख तीनों मे समान रूप से मिलते हैं। किन्तु, इस कथा-श्रवण का लाभ सत्संग द्वारा ही होता है[7] इस प्रकार के कथन 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में ही मिलते हैं 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते। फिर भी संतों के लक्षण का जो अपूर्व विस्तार[8] 'मानस' और 'विनय पत्रिका'

[1] उपर्युक्त मानस (४६), विनय०(२४)-(२५)

[2] वही, मानस (४७) विनय० (२६)—(२९), अध्यात्म० (८९)

[3] वही, मानस (४८), विनय० (२७)

[4] वही, मानस (४९), विनय० (२८)

[5] वही, मानस (५०), अध्यात्म (९०)

[6] वही, मानस (५० अ), विनय० (३०), अध्यात्म० (९१)

[7] वही, मानस (५१), अध्यात्म० (९२), (९३), (९७)

[8] वही, मानस (५२), विनय० (३२), अध्यात्म० (९२)

में किया गया है वह 'अध्यात्म रामायण' में नहीं हुआ है। राम-कृपा की भाँति संत-कृपा की भी आवश्यकता[१] 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' मे बताई गई है, यद्यपि पहले की भाँति इस पर भी 'अध्यात्म रामायण' में विशेष कथन नही किया गया है। गुरुकृपा[२] को तीनों में भक्ति-साधना के लिए महत्व दिया गया है। नाम-जप[३] को भी रामभक्ति के प्रादुर्भाव के लिए इसी प्रकार तीनों में प्राधान्य दिया गया है। भक्ति की अन्य आवश्यक भूमिकाओ में से स्वरूपासक्ति[४] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में महत्वपूर्ण स्थान मिला है, किन्तु 'अध्यात्म रामायण' मे नही। यश कीर्तनासक्ति[५] को तीनों में समान स्थान मिला है। पूजा-सक्ति[६] को रामभक्ति की भूमिका के रूप में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में तो महत्वपूर्ण स्थान मिला है किन्तु 'विनय पत्रिका' मे उस का कोई विशिष्ट उल्लेख नही हुआ है। रामतीर्थों की यात्रा[७] तथा ब्राह्मण-सेवा[८] को रामभक्ति की भूमिकाओ में 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में स्थान मिला है किंतु 'अध्यात्म-रामायण' मे इन्हें कोई विशेष महत्व नही दिया गया है। अनात्म विपयों से मन की निर्लिप्तता[९] को तीनों में समान रूप से भक्ति की भूमिकाओं में स्थान दिया गया है। लोक-निरपेक्षा युक्त आराध्य मे अनन्याश्रय बुद्धि[१०] तथा वासना-विहीन और व्यापक प्रेम[११] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में महत्वपूर्ण स्थान मिला है किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में उस का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। सर्वस्व भाव[१२] को तीनों मे समान स्थान मिला है। लोक-सग्रह वृत्ति[१३] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में तो स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' मे नही मिला है। 'स्वदोषानुभूति

१ उपर्युक्त मानस(५३),विनय०(३१),(३३)

२ वही, मानस (५४), विनय० (३४), अध्यात्म० (९४) (९५), (१०१)

३ वही, मानस (५५), विनय० (३५), अध्यात्म० (९६), (१०३)

४ वही, मानस (५६), विनय० (३६)

५ वही, मानस (५७), विनय० (३७), अध्यात्म० (९८), (१००)

६ वही, मानस (५८), अध्यात्म० (१०२)

७ वही, मानस (५९), विनय० (३८)

८ वही, मानस (६०), विनय० (३९)

९ वही, मानस (६१), विनय० (४३), अध्यात्म० (१०२), (१०४)

१० वही, मानस (६२), विनय० (४०)

११ वही, मानस (६३), विनय० (४२)

१२ वही, मानस (६४), विनय० (४१), अध्यात्म० (१०४)

१३ वही, मानस (६५), विनय० (४४)

तथा भागवत भक्ति[१] को भी भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं मे इसी प्रकार प्रथम दो मे स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' में नहीं मिला है। वैराग्य-वृत्ति[२] तथा तन्मयता[३] को तीनों मे स्थान मिला है। शुद्ध प्रेमासक्ति[४] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' मे नहीं। भक्ति के अनेक साधनों का समाहार[५] 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे जिस प्रकार हुआ है वैसा 'अध्यात्म रामायण' में नहीं हुआ है। शिवभक्ति[६] को रामभक्ति के लिए स्वतंत्र भूमिका के रूप मे तीनों मे स्वीकार किया गया है, किंतु इस के अतिरिक्त 'विनय पत्रिका' मे हनुमान के रूप में भी शिव अवतीर्ण होते हैं और उन को भी वही स्थान प्रदान किया जाता है जो शिव को।

संसृति-सागर को पार करने के लिए राम के पारमार्थिक रूप का साक्षात्कार[७] तीनो मे महत्वपूर्ण माना गया है। राम के पारमार्थिक स्वरूप का यह साक्षात्कार उन के ध्यान द्वारा होता है[८] यह 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' स्पष्ट रूप से मान्य है किन्तु 'विनय पत्रिका' में इस का स्पष्ट उल्लेख नही होता। राम के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप के अधिकाधिक अवलंबन के[९] पक्ष में भी इसी प्रकार 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' मे स्पष्ट उल्लेख होते हैं किंतु 'विनय पत्रिका' मे नहीं होते। राम के अवतारी रूपों में से अपनी-अपनी भावना के अनुरूप किसी एक रूप का ध्यान किया जा सकता है[१०] इस विषय का स्पष्ट उल्लेख केवल 'मानस' मे होता है अन्य दो मे नहीं। योगाभ्यास से मोक्ष तथा चित्त की शुद्धि हो सकती है[११]

[१] उपर्युक्त मानस (६६), विनय० (४२), (४३)

[२] वही, मानस (६७), विनय० (४४)

[३] वही, मानस (६८), विनय० (४४) अध्यात्म० (१०४)-(१०५)

[४] वही, मानस (६९), विनय० (४४)

[५] वही, मानस (७०), विनय० (४४)

[६] वही, मानस (७१), विनय० (४५), (४६) अध्यात्म० (१०६)-(१०७)

[७] वही, मानस (७२), विनय० (४७) अध्यात्म० (१०८)

[८] वही, मानस (७३), अध्यात्म० (१०९)

[९] वही, मानस (७४), अध्यात्म० (११०), (१११)

[१०] वही, मानस (७५)

[११] वही, मानस (७६), अध्यात्म० (११२)

इस विषय मे 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' सहमत हैं; किन्तु 'मानस' मे यह भी कहा गया है कि रामभक्त को उस की कोई आवश्यकता नही होती, और 'विनय पत्रिका' में इस विषय का भी कोई उल्लेख नहीं होता।

ब्रह्मा भी राम के भक्त है।[१] इस प्रकार के उल्लेख तीनों मे होते है। वे भी अन्य जीवो की भाँति वाह्य पदार्थों में सत्यबुद्धि रखते हैं[२] इस विषय के उल्लेख 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में नही मिलते। सायुज्य, सारूप्य तथा सालोक्य नामक मुक्ति के तीन प्रमुख भेद[३] भी इसी प्रकार 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में मिलते हैं 'विनय पत्रिका में नही मिलते। क्रिया-मार्ग द्वारा राम की पूजा का विधान[४] 'अध्यात्म रामायण' में किया गया है, 'मानस' मे यह विधान नही रक्खा गया है, और 'विनय पत्रिका' में जब कि एक ओर राम की साधारण आरती का माहात्म्य कहा गया है दूसरी ओर एक आध्यात्मिक आरती का विधान किया गया है। संभवतः यह दूसरा आध्यात्मिक विधान ही गोस्वामी जी को इष्ट है।

यहाँ पर तीनों का तुलनात्मक अध्ययन समाप्त होता है।

७. उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन को देखने पर ज्ञात हुआ होगा कि 'मानस' आध्यात्मिक सिद्धातों की दृष्टिकोण से जितना सपन्न है उतना 'विनय पत्रिका' नहीं है—लगभग वैसे ही जैसे 'मानस' उतना संपन्न नहीं है जितना 'अध्यात्म रामायण'। इस अतर का कारण क्या हो सकता है? एक तो यह हो सकता है कि 'मानस' एक विचार और प्रतिपादनप्रमुख प्रबंध-ग्रंथ है और 'विनय पत्रिका' एक विश्वास और उद्गार प्रमुख गीति-ग्रंथ है—जिस से साधारणतः ऐसे अनेक विस्तार जो हमें 'मानस' में मिलने चाहिएँ 'विनय पत्रिका' में स्वभावतः न मिलने चाहिएँ; किंतु एक कारण इस का और हो सकता है: 'मानस' में 'अध्यात्म रामायण' की प्रतिच्छाया अत्यत स्पष्ट है, कदाचित् इस लिए कि "नानापुराणनिगमागमसम्मत" राम कथा कहने के लिए उस ने 'अध्यात्म रामायण' की आधार रूप में ग्रहण किया था और

[१] उपर्युक्त मानस (७७), विनय० (४८), अध्यात्म० (११३)

[२] वही, मानस (७८), अध्यात्म० (११४)

[३] वही, मानस (७९), अध्यात्म० (११७)

[४] वही, विनय० (४९), अध्यात्म० (११८)

'विनय पत्रिका' मे वह हमे बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ती है, जिससे मूल सिद्धातो मे अंतर कम होते हुए भी हमें 'अध्यात्म रामायण' के वह सब विस्तार उस मे नहीं मिल सकते जो 'मानस' मे मिलते हैं। फिर भी, एक बात हमे भूलनी न चाहिए : जो कुछ भी कवि ने लिखा है उस का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर है। फलतः इस बात के झगड़े मे हमं पड़ने की आवश्यकता नही है कि वैसे सिद्धान्तो का कहाँ तक हम उस के निश्चित सिद्धात माने जो 'मानस' के अतिरिक्त कवि की प्रामाणिक रचनाओं मे नहीं मिलते—और 'विनय पत्रिका' के अतिरिक्त भी कवि की ऐसी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जिन मे आध्यात्मिक सिद्धातो का प्रतिपादन हुआ है यद्यपि उन का पाठ सर्वथा निश्चित होने के कारण हमने उन्हें यहाँ विवेचन के लिए नहीं लिया है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि ऐसे सिद्धात उस की दृष्टि मे उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने ये दूसरे जो इन अन्य रचनाओं मे भी मिलते हैं।

एक दूसरे प्रकार का भी अतर 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के आध्यात्मिक विचारों मे दिखाई पड़ता है : ऐसे विचार भी हमे 'विनय पत्रिका' मे मिलते हैं जो 'मानस' में नही मिलते। इन मे से कुछ तो ऐसे हैं जो 'अध्यात्म रामायण' मे मिल जाते है, फिर भी कुछ ऐसे हैं जो दो मे से किसी में नहीं मिलते। इन के संबध में भी साधारणतः दो मे से एक बात हो सकती है : या तो ये विचार 'मानस' की कथा के ढाँचे में सुसंगत रूप मे रक्खे नहीं जा सकते थे, अथवा ये विचार 'मानस' रचना के समय कवि के मस्तिष्क मे नहीं थे।

यहाँ तक तो 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के पारस्परिक अतर के संबध मे हुआ। हमं देखना यह भी है कि सम्मिलित रूप से इन दोनो से जो सिद्धात हमे प्राप्त होते हैं 'अध्यात्म रामायण' से उन का क्या संबंध है। साधारणतः हम यह देखते है कि 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धात हमं यदि समस्त विस्तार पूर्वक नही तो मुख्यतः दोनों मे से किसी मे या दोनों मे मिल जाते हैं। इस लिए हमं यह मानना पड़ेगा कवि के आध्यात्मिक सिद्धांतों पर प्रभाव 'अध्यात्म रामायण' का ही है, यह दूसरी बात है कि स्वतः 'अध्यात्म रामायण' किस सप्रदाय विशेष का मुख-ग्रथ था। यह अतर प्रमुखरूप से किन सिद्धातों के सबंध मे है, साधारणतः कहाँ तक हम इस अंतर का माधान 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धातो से कर सकते हैं, और कहाँ तक हमे उन के लिए अन्य समाधान या समाधानों का आश्रय लेना पड़ेगा इस पर विचार करना शेष है।

ऊपर के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होगा कि प्रमुख रूप से 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के निम्नलिखित विचार 'अध्यात्म रामायण' सम्मत नहीं हैं :

(क) विष्णु का हीन ब्रह्मत्व,

(ख) लक्ष्मी का हीन शक्तित्व,

(ग) भक्ति का चरम साध्यत्व,

(घ) ज्ञानादि की भवनाश के लिए असमर्थता,

(ङ) मुक्ति के लिए रामकृपा की आवश्यकता,

(च) रामकृपा की सुलभता,

(छ) संतकृपा की आवश्यकता,

(ज) भक्ति की भूमिकाओ की बहुलता,

(झ) क्रियात्मक पूजा-विधान की गौणता, और

(ञ) हनुमद्भक्ति की आवश्यकता।

इन मे से (ङ), (च), (छ), (ज) और (झ) यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो 'अध्यात्म रामायण' के कुछ विचारों के तर्क-संगत विकास मात्र कहे जा सकते हैं। भक्ति को जिस समय चरम आध्यात्मिक साधन[1] के रूप मे ग्रहण किया जाता है भगवत्-कृपा के सिद्धात उस के विकास के साथ स्वभावतः उपस्थित हो जाते हैं, फलतः (ङ) और (च) 'अध्यात्म रामायण' के भक्ति प्रधान सिद्धातों के तर्क संगत विकास अवश्य ही कहे जा सकते हैं। (छ) 'अध्यात्म रामायण' के साधुसंग संबंधी उस सिद्धात का तर्कसंगत विकास है जिस मे कहा जाता है कि वह मोक्ष का मुख्य साधन है और जिस मे वह होता है उस में रामभक्ति के अन्य साधन स्वतः आ जाते हैं।[2] (ज) भक्ति को प्राधान्य[3] देने पर स्वाभाविक ही, और है इस संबंध मे विशेष तर्क करना अनावश्यक होगा। (क) तो—जैसा ऊपर कहा जा चुका है—स्वतः 'अध्यात्म रामायण' के वेदात-परक स्वभाव के अनुकूल नहीं है फलतः यदि तुलसीदास ने उसे महत्व नहीं दिया तो उन्हों ने 'अध्यात्म रामायण' का केवल एक तर्क-संगत अनुसरण किया।

किन्तु (क), (ख), (ग), (घ) तथा (ञ) इस प्रकार के विस्तार हैं कि उन्हें 'अध्यात्म रामायण' का तर्कसंगत विकास मात्र नहीं कहा जा सकता।

[1] उपर्युक्त अध्यात्म० (८९), (९०)

[2] वही, (९३)

[3] वही, (८९), (९०)

[4] वही, (११८)

(क) और (ख) में विष्णु को राम की तुलना में और लक्ष्मी को सीता की तुलना में जैसा हीन स्थान तुलसीदास देते हैं वह कोई भी वैष्णव नहीं दे सकता, और इस दृष्टि से देखा जावे तो तुलसीदास विष्णुभक्त नहीं हैं, वे रामभक्त हैं; वे विष्णु को पूर्ण रूप से वह स्थान नहीं दे सकते जो उन के आराध्य का है: विष्णु को भी राम की चरण-सेवा ही करनी पड़ेगी यदि तुलसीदास की रामभक्ति में उन को स्थान लेना है। इसी प्रकार, विष्णु की योग-माया लक्ष्मी को भी वे वह स्थान नहीं दे सकते जो उन के आराध्य की परम शक्ति का है: उसे भी सीता की चरण-सेवा करनी पड़ेगी अगर उस को उन की रामभक्ति में स्थान लेना है। (ग) में पुनः भक्त होने के नाते तुलसीदास यह स्थिति किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते कि भक्ति उस ज्ञान के लिए एक साधन मात्र है जिस से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। स्वभावतः वे भक्ति को ही चरम साध्य बताते हैं और कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञानादि तो उस से स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, और वह मोक्ष जो ज्ञान-विज्ञानादि के द्वारा प्राप्त होता है उस को रामभक्त पा कर भी उस की अवहेलना करते हैं और भक्ति पर लुब्ध रहते हैं। (घ) में इसी प्रकार भवनाश के संबंध में ज्ञान के विरुद्ध उन के द्वारा भक्ति का पक्ष-प्रतिपादन है। जब कि 'अध्यात्म रामायण' उस के लिए ज्ञान का प्रतिपादन करता है और भक्ति की अनिवार्यता उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए बताता है, तुलसीदास जी भक्त होने के नाते ही यह स्वीकार नहीं कर सकते कि भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से भी पूर्णतः भवनाश हो सकता है।

(ञ) में हनुमान रूप में शिव के अवतरित होने तथा हनुमद्भक्ति की आवश्यकता कदाचित् 'मानस' से स्वतंत्र और संभवतः बाद का विकास है। 'मानस' और 'मानस' के पूर्व के ग्रंथों में अवतार की यह बात हमें नहीं मिलती किन्तु 'विनय पत्रिका' और उस के पीछे के दो संग्रहों 'दोहावली' और 'बाहुक' में हमें यह बराबर मिलती है। 'दोहावली' के दो दोहों में वानरादि को देवताओं का अवतार बताते हुए हनुमान को शिव का अवतार इस प्रकार कहा जाता है:

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरैं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह बस बानर भे हनुमान॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरखा ते बानर भए हर ते भे हनुमान॥
(दोहा० १४२, १४३)

'बाहुक' में हनुमान का स्तवन करते हुए कहा जाता है :

बामदेव रूप भूप राम के सनेही नाम
लेत देत अर्थ धर्म काम के निधान हौ।
(बाहुक १४)

फिर भी नितांत निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन उल्लेखों का रचनाकाल 'मानस' से पीछे का है। एक कथन ऐसा अवश्य है जिस के संबंध में कदाचित् यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह कवि के जीवनांत के लगभग का—और इसलिए 'मानस' के बाद का—अवश्य होगा क्यों कि वह बाहुपीड़ा[1] के अवसर पर हनुमान से किया गया है :

पालो तेरे टूक को परेहू चूक मूकिए न
कूर कौड़ी दू को हौ आपनी ओर हेरिए।
भोरानाथ भोरे हो सरोष होते थोरे दोष
पोषि तोषि थापि आपने न अवडेरिए।
अंबु तू हौं अंबुचर अंब तू हौं डिंभ सो न
बूझिए बिलंब अवलंब मेरे तेरिए।
बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए॥
(बाहुक ३४)

किन्तु यदि इन दसो अंतरों पर समष्टि रूप से विचार किया जावे तो एक समाधान सब के मूल में समान रूप से ज्ञात होगा: वह है हमारे कवि की असीम रामभक्ति—उसी के प्रकाश में हमारे कवि ने 'अध्यात्म रामायण' से प्राप्त समस्त आध्यात्मिक सिद्धातों को कुछ न कुछ अपना रूप देने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर पुनः हम अपने कवि के स्वतंत्र और महान् व्यक्तित्व को देख सकते हैं जैसा हम ने अन्य क्षेत्रों मे देखा है। यही कारण है कि हम को उस के आध्यात्मिक विचारों में एक नवीनता ज्ञात होती है जो अन्यथा न ज्ञात होती, और इसी लिए उस के व्यक्तित्व का यह योगदान भी कदाचित् साधारण नहीं कहा जा सकता।

---

[1] देखिए ऊपर पृ० १५५-५६

परिशिष्ट अ

तुलसीदास द्वारा दी हुई तिथियाँ

जो तिथियाँ स्वयं कवि के द्वारा दी गई मानी जाती हैं निम्नलिखित हैं :—

(अ) 'रामचरित मानस' की तिथि[1] : संवत् १६३१, चैत्र शुक्ल ९, मंगलवार।

(आ) एक गीति की तिथि[2] : संवत् १६३१, ज्येष्ठ ६, स्वाती :

(१) संवत् १६३१, ज्येष्ठ शुक्ल ६,

(२) संवत् १६३१, ज्येष्ठ कृष्ण ६।

(इ) 'ज्ञान दीपिका' की तिथि[3] : संवत् १६३१, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार।

(ई) 'वाल्मीकि-रामायण' की हस्तलिखित प्रति की तिथि[4] : संवत् १६४१, मार्ग शुक्ल ७, रविवार।

(उ) 'सतसई' की तिथि[5] : संवत् १६४२, वैशाख शुक्ल ९, गुरुवार।

(ऊ) 'पार्वती मंगल' की तिथि[6] : जय संवत्, फाल्गुन शुक्ल ५, गुरुवार, आश्विन।

(ए) 'रामाज्ञा-प्रश्न' की हस्तलिखित प्रति की तिथि[7] : संवत् १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवार।

(ऐ) पंचायतनामे की तिथि[8] : संवत् १६६९, आश्विन शुक्ल १३, शुभ दिन (रविवार)।

(ओ) मीन के शनि की तिथि[9] :

(१) संवत् १६४०, चैत्र शुक्ल ५,

(२) संवत् १६६९, चैत्र शुक्ल २।

[1] मानस, बाल० ३४

[2] देखिए ऊपर पृ० २४०

[3] 'ज्ञानदीपिका' ७

[4] देखिए ऊपर पृ० १६४

[5] सत० (१) ९

[6] पा० मं० ५

[7] देखिए ऊपर पृ० १७६

[8] वही, पृ० १६३

[9] इ० ऐं० सन् १८९३, पृ० ०७

उपर्युक्त सभी तिथियों की गणना नीचे श्री एल्० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध कृति 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिए हुए चक्रों और निर्दिष्ट विधियों के अनुसार दोनों विगत और प्रचलित संवत्-वर्ष-प्रणालियों[1] में की गई है।

(अ) संवत् १६३१, चैत्र शुक्ल ९, मंगलवार

(१) सं० १६३१ विगत = सन् १५७४

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस अंश
चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(२)	मार्च	२२·४६
९ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	८+१		८·८६
	११		३१·३२

सौर उत्केन्द्रता ५·०९३२
३२४·८३६४
८·८६००
३३८·७८९६ ... सौर समी० +·१७

चांद्र उत्केन्द्रता १·३३६
२१ ७३६
८·३६०
३१ ४३२

सौर समी० +·१७०
३१·६०२
− २७ ५५०
४·०५२ ... चाद्र समी० −·३१
−·१४

−·१४
३१·१८

३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·२६५ को प्रारंभ होता है) +·०३
३१·२१

= बुधवार, मार्च ३१, सन् १५७४

[1] "हिन्दू प्रायः विगत वर्षों का प्रयोग करते हैं, प्रचलित वर्षों का नहीं जैसा कि यूरोपीय पचांगों मे होता है। हिन्दू वर्ष-प्रणाली का प्रथम वर्ष, जो १८ फर्वरी ३१०२ पू० ई० को प्रारंभ हुआ था, हिन्दू गणित के विचार से ० वर्ष है।" (स्वामी कन्नू पिलाइ: इंडियन क्रॉनॉलॉजी, धारा ५)

(२) संवत् १६३१ प्रचलित = सन् १५७३

चैत्र अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(३)	मार्च	३·५६
९ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	८+१		८·८६
	१२		१२·४२

सौर उत्केन्द्रता १५·९८४१
३२४·८३६४
८·८६००
३४९·६८१३ ··· सौर समी० + १८

चाद्र उत्केन्द्रता ५·१७९
२१·७३६
८·८६०
३५·७७५
सौर समी० + ·१८०
३५·९५५
− २७·५५०
८·४०५ ··· चाद्र समी० − ४०
− २२
− ·२२
१२·२०

३४८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·०० को प्रारंभ होता है) + ·०२
१२·२२

= गुरुवार, मार्च १२, सन् १५७३

(आ) (१) संवत् १६३१ ज्येष्ठ शुक्ल ६

क. संवत् १६३१ विगत = सन् १५७४

ज्येष्ठ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(५)	मई	२०·५३
९ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	५+१		५·९१
	११		२६·४४

सौर उत्केन्द्रता २९·५३०५
२३·७३२१
५·९१००
५९·१७२६ ··· सौर समी० + ·०६

चांद्र उत्केन्द्रता २७·०२४
१·९७६
५·९१०
३४·९१०

सौर समी० +·०६०
३४·९७०
−२७·५५०
७· ५२ ···चाद्र समी० −·४१
−·३५

−·३५
२६·०९

५८ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·२६ को प्रारम्भ होता है) +·०५
२६·१४

२६·१४ मई सन् १५७४ = सौर दिवस ५८·८८५

५८ दिवसों के लिए (चक्र ८)	४·५१३७
·८८५ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०६५०
६ तिथियो के लिए	५·९१००
	१०·४८८७

मघा ९·८४३५ से १०·९३७२ तक वर्तमान रहता है (चक्र ३)

∴ ६ ठी तिथि मघा में समाप्त होती है।

ख. संवत् १६३१ प्रचलित = सन् १५७३

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (६) मई १·६३

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{५+१}{१२}$ ५·९१

७·५४

सौर उत्केन्द्रता ५·०९३२
२९·५३०५
५·९१००
४०·५३३७ सौर समी० +·११

चाद्र उत्केन्द्रता १·३३६
१·९७६
५·९१०
९·२२२

सौर समी० +·११०
९·३३२ ... चांद्र समी० −·३७
−·२६

−·२६
७·२८

४० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·०० को प्रारंभ होता है) +·०५
७·३३

७·३३ मई, सन् १५७३ = सौर दिवस ४०·३३

४० दिवसों के लिए (चक्र ८) ३·०५८४
·३३ दिवस के लिए (चक्र ५) ·०२६६
६ तिथियों के लिए ५·९१००
८·९९५०

अश्लेषा ८·७४९८ से ९·८४३५ तक वर्तमान रहती है (चक्र ३)
∴ ६ठी तिथि अश्लेषा में समाप्त होती है।

(आ) (२) संवत् १६३१ ज्येष्ठ कृष्ण ६

क. संवत् १६३१ विगत = सन् १५७४

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (४) अप्रैल २१·०
२१ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २० २०·६७
२४ ४१·६७

सौर उत्केन्द्रता २३·७३२१
२०·६७००
४४·४०२१ ...सौर समी० +·१०

चांद्र उत्केन्द्रता २७·०२४
२०·६७०
४७·६९४

सौर समी० +·१००
४७·७९४
−२७·५५०
२०·२४४ चांद्र समी० +·४१
+·५१

+·५१
४२·१८

४४ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष मार्च २८·२६ को प्रारंभ होता है) +·०५
४३·२३

१२·२३ मई सन् १५७४=सौर दिवस ४४·९७ ४३·२३

४४	दिवसों के लिए (चक्र ८)	३·३८१८
·९७	दिवस के लिए (चक्र ५)	·०७८३
२१	तिथियां के लिए	२०·६७००
		२४·१३०१

धनिष्ठा २४·०६१६ से २५·१५५६ तक वर्तमान रहती है (चक्र ३)

∴ ६ठी तिथि धनिष्ठा में समाप्त होती है।

ख. स०, १६३१ प्रचलित=सन् १५७३

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (५) अप्रैल २·१०

२१ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २० / २५ २०·६७
२२·७७

सौर उत्केन्द्रता ५·०९३२
२०·६७००
२५·७६३२ ··· सौर समी० +·१४

चांद्र उत्केन्द्रता १·३३६
२०·६७०
२२·००६

सौर समी० +·१४०
२२·१४६ ··· चांद्र समी० +·३८
+·५२

+·५२
२३·२९

२६ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष मार्च २८·०० को प्रारम्भ होता है) +·०४
२३·३३

२३·३३ अप्रैल सन् १५७३ =सौर दिवस २६·२३

२६ दिवसों के लिए (चक्र ८) १·९२६६०
३३ दिवस के लिए (चक्र ५) ·०२६६४
२१ तिथियों के लिए २०·६७०००
२२·६२३२४

उत्तराषाढ़ २१·८७४५१ से २२·९६८२३ तक वर्तमान रहता है (चक्र ३)

∴ छठी तिथि उत्तराषाढ़ में समाप्त होती है।

(इ) संवत् १६३१, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार

(१) सं० १६३१ विगत = सन् १५७४

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (७) जून १९·०६

२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{१+१}{९}$ १·९७

२१·०३

सौर उत्केन्द्रता २३·७३२१
५९·०६११
१·९७००
८४·७६३२ ...सौर समी० — ·०१

चान्द्र उत्केन्द्रता २७·०२४
३·९५२
१·९७०
३२·९४६
सौर समी० —·०१०
३२·९३६
—२७·५५०
५·३८६ ...चान्द्र समी — ·३८
— ·३९ — ·३९
२० ६४

८४ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·६५ मार्च को प्रारंभ होता है) } +·०५
२० ६९

= चंद्रवार, जून २०, सन् १५७४

(२) स० १६३१ प्रचलित = सन् १५७३

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल } (२) जून २९·६९

२ तिथियो का समस्त व्याप्ति काल $\frac{१+१}{४}$ १·९७

३१·६६

सौर उत्केन्द्रता ५९·०६११
५·०९३२
१·९७००
६६·०२४३ ...सौर समी० +·२५

चाद्र उत्केन्द्रता ३·९५२
१·३३६
१·९७०
७·२५८
सौर ममी० +·२५०
७·५०८ ...चाद्र समी० −·४१
−·१६

−·१६
३१·५०

९५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·०० को प्रारंभ होता है) } +·०४

३१·५४

=बुधवार, जुलाई १, सन् १५७३

(ई) सवत् १६४१, मार्ग शुक्ल ७, रविवार

(१) सं० १६४१ विगत = सन् १५८४

मार्ग अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल } (१) नवंबर २२·५०

७ तिथियों के लिये समस्त व्याप्तिकाल $\frac{६+१}{८}$ ६·८९

२९·३९

सौर उत्केन्द्रता २०६·७१४१
३·४०६९
६·८९००
२१७·०११० ...सौर समी० −·१३

चांद्र उत्केन्द्रता १३·८३२
१२·५२७
६·८९०
३३·२४९

सौर समी० −·१३०

३३·११९
−२७·५५०

५·५६९ .. चाद्र समी० −·३८
−·५१

−·५१
२८·८८

२४६ सौर दिवसों के लिये काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·०७ मार्च को प्रारंभ होता है) −·०१

२८·८७

=रविवार, नवंबर २८, सन् १५८४

(२) स० १६४१ प्रचलित=सन् १५८३

मार्ग अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (२) नवंबर ४६१

७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ६+१ / ९ ६·८९

११·५०

सौर उत्केन्द्रता १४·२९८६
२०६·७१४१
६ ८९००

२२७·९०२७ सौर समी० − १०

चाद्र उत्केन्द्रता २५·९२२
१३·८३२
६·८९०

४६·६४४

सौर समी० −·१००

४६·५४४
−२७ ५५०

१८·९९४ चाद्र समी० +·४०
+·३०

+·३०
११ ८०

२२८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·५९ मार्च को प्रारंभ होता है) +·००

११·८०

=चंद्रवार, नवंबर ११, सन् १५८३

(उ) संवत १६४२, वैशाख ९, गुरुवार

(१) स० १६४२ विगत = सन् १५८५

वैशाख अमाचन्द्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(२)	अप्रैल	१९·१६
९ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	८+१ = ११		८·८६
			२८·०२

सौर उत्केन्द्रता २२·०४५
 ८·८६०
 ३०·९०५ ... सौर समी० +·१३

चाद्र उत्केन्द्रता २०·२१२
 ८·८६०
 २९·०७२

सौर समी० +·१३०
 २९·२०२
 −२७·५५०
 १·६५२ ... चाद्र समी० −·१४
 −·०१

 −·०१
 २८·०१

२१ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·५९ मार्च को प्रारंभ होता है) } +·०४
 २८·०५

= बुधवार, अप्रैल २८, सन् १५८५

(२) संवत् १६४२ प्रचलित = सन् १५८४

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(३)	मार्च	३१·२६
९ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	८+१ = १२		८·८६
			४०·१२

सौर उत्केन्द्रता ३·४०६
 ८·८६०
 १२·२६६ ... सौर समी० +·१६

चांद्र उत्केन्द्रता २२·०७९
८·८६०
३०·९३९
सौर समी० +·१६०
३१·०९९
−२७·५५०
३·५४९ चांद्र समी० −·२८
−·१२

−·१२
४०

१३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २७·८५ को प्रारंभ होता है) +·०४
४०·०४

=गुरुवार, अप्रैल ९, सन् १५८४

(ऊ) जय संवत, फाल्गुन शुक्ल ५, गुरुवार

(१) जय वर्ष प्रचलित=सं० १६४२ विगत=सन् १५८६

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(३)	फर्वरी	८·४६
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४+१		४·९२
	८		१३·३८

सौर उत्केन्द्रता २२·०४५७
२९५·३०५८
४·९२००
३२२·२७१५ सौर समी० +·१५

चांद्र उत्केन्द्रता २०·२१२
१९·७६०
४·९२०
४४·८९२
सौर समी० +·१५०
४५·०४२
−२७·५५०
१७·४९२ ...चांद्र समी० +·३३
+·४८

	+·४८
	१३·८६
३२१ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·११ मार्च को प्रारभ होता हैं)	—·००
	१३·८६

=रविवार, फर्वरी १३, सन् १५८६

१३·८६ फर्वरी, सन् १५८६=सौर दिवस ३२२·७५

३२२ दिवसो के लिए (चक्र ८)	२५·८५७७
·७५ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०६०६
५ तिथियों के लिए	४·९२००
	३०·८३८३
	—२९·५३०६
	·३०७७

अश्विनी का व्याप्तिकाल ० से १·९३७ तक (चक्र ३)

जब ५ मी समाप्त हुई तो अश्विनी ·३०७७ दिवस व्यतीत हो चुकी थी।

(२) जय वर्ष विगत=सं० १६४३ विगत=सन् १५८७

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	जनवरी	२८·८३
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{४+१}{१२}$			४·९२
			३३·७५

सौर उत्केन्द्रता ११·१५४०
२९५·३०५८
४·९२००
३११·३७९८ ... सौर समी० +·१३

चाद्र उत्केन्द्रता १६·३७०
१९·७६०
४·९२०
४१·०५०

सौर समी० +·१३०
४१·१८०
—२७·५५०
१३·६३० ... चांद्र समी० —·०२
+·११

	+·११
	३३·८६
३१० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·६२ मार्च को प्रारंभ होता है)	−·०१
	३३·८५

=गुरुवार, फर्वरी २, सन् १५८७

२·८५ फर्वरी, सन् १५८७= सौर दिवस	३११·३८
३११ दिवसों के लिए (चक्र ८)	२४·९६८३
·३८ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०३०७
५ तिथियो के लिए	४·९२००
	२९·९१९०
	−२९·५३०६
	·३८८४

अश्विनी का व्याप्तिकाल ० से १·०९३७ तक (चक्र ३)

∴जब ५मी समाप्त हुई अश्विनी ·३८८४ दिवस व्यतीत हो गई थी।

(ए) संवत् १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवार

(१) संवत् १६५५, विगत=सन् १५९८

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(५)	मई	२५·११
१० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	९		९·८४
	१४		१४·९५[1]

सौर उत्केन्द्रता २८·१०६६
२९·५३०५
९·८४००
६७·४७७१...सौर समी० +·०४

चाद्र उत्केन्द्रता ७·६९१
१·९७६
९·८४०
१९·५०७
सौर समी० +·०४०
१९·५४७...चाद्र समी० +·४१
+·४५

[1] पृष्ठ ५५४ पर पाद-टिप्पणी देखिए

			+·४५
			३५·४०
६८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·४७ मार्च को प्रारभ होता है)			+·०५
=शनिवार, जून ४, सन् १५९८			३५·४५
(२) स० १६५५ प्रचालत = सन् १५९७			
ज्येष्ठ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(६)	मई	६·२१
१० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	९+१ / १६		९·८४
			१६·०५[1]

सौर उत्केन्द्रता ९·४६७७
२९·५३०५
९·८४००
४८·८३८२ ... सौर समी० +·०९

चाद्र उत्केन्द्रता ९·५५८
१·९७६
९·८४०
२१·३७४
सौर समी० +·०९०
२१·४६४ ... चांद्र समी० +·४०
+·४९

	+·४९
	१६·५४
४९ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·२१ मार्च को प्रारंभ होता है)	+·०५
	१६·५९

=चंद्रवार, मई १६, सन् १५९७

दोनों दशाओं में पूर्णांक से अतर इतना कम है—केवल ·०५ है—कि यदि किसी दूसरे प्रकार से गणित द्वारा परिणाम में एक दिन का अतर आवे तो कदाचित् असंभव नही है। ग्रियर्सन का कहना है, 'चैत्रादि विगत वर्ष लेने से यह रविवार, जून ४, सन् १५९८ के बराबर होता है' (इ० ऐं० १८९३, पृ० ९६)। यह परिणाम याकोबी के चक्रों पर प्राप्त प्रतीत होता है, जैसे कि उन के दूसरे परिणाम है, अतः ठीक हो सकता है।

(ऐ) संवत् १६६९ शुक्र १३, रविवार (शुभ दिन)

(१) सं० १६६९ विगत = सन् १६१२

आश्विन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(३)	सितंबर	१५.०३
१३ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल	१२		१२.८०
	१५		२७.८३०

सौर उत्केन्द्रता १४७.६५२९
२३.२७५७
१२.८०००
१८३.७२८६ ...सौर समी० —.१७५

चाद्र उत्केन्द्रता ९.८८०
१९.००४
१२.८००
४१.६८४
—२७.५५०
१४.१३४
सौर समी० —.१७५
१३.९५९ ...चाद्र समी० +.०२०
—.१५५

—.१५५
२७.६७५

१८३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८.०१ मार्च को प्रारंभ होता है)	+.०२
	२७.६९५

=रविवार, सितंबर २७, सन् १६२१

(२) सं० १६६८ प्रचलित = सन् १६११

आश्विन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(५`	सितंबर	२६.६६
१३ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१२+१		१२.८०
	१८		३९.४६

सौर उत्केन्द्रता ४.६३६८
१४७.६५२९
१२.८०००
१६५.०८९७... सौर समी० —.१८

चांद्र उत्केन्द्रता २०·८७१
१·८८०
१२·८००
४३·५५१
सौर समी० −·१८०
४३·३७१
−२७·५५०
१५·८२१ ···चांद्र समी० +·२०
+·०२

+·०२
३६·४८०
+·०१५
३६·४९५

१६५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २८·८४ मार्च को प्रारंभ होता है)
=बुधवार, अक्टूबर ९, सन् १६११

(ओ) (१) शनि : संवत् १६४० चैत्र शुक्ल ५

क. सं० १६४० विगत =सन् १५८३

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	मार्च	१३·३६
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४+१ / ९		४·९२
			१८·२८

सौर उत्केन्द्रता २५·११०
३२४·८३६
४·९२०
३५४·९४६ .. सौर समी० +·१८

चाद्र उत्केन्द्रता २·२१०
२१·७३६
४·९२०
२८·८३६
सौर समी० +·१८०
२९·०४६
−२७·५५०
१·४९६ ···चांद्र समी० −·१३
+·०५

	+·०५
	१८·३३
३५५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·३३ मार्च को प्रारभ होता है)	+·०२
	१८·३५

=मार्च १८ ३३, सन् १५८३

मार्च १८·३५, सन् १५८३ =सौर दिवस ३५५ ०१४

(१) सौर मध्यन्य देशान्तर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर

३५५ दिवस (चक्र १७ ए)	३४७·७४९५°
·०१४ दिवस (चक्र १७ सी)	·०१३८°
	३४७·७६३३°

शनि का मध्यन्य देशातर

सन् १५०० के लिए (पृ० २०५)	३९·१४१९	
८३ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	२९४·१८००°	
३५५ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	११·८८००°	
	३४५·२०१९°	
		−३४५·२०१९°
		२·५६१४°(१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०५)	२३६·६२४२°
	३६०
	५९६·६२४२°
शनि का मध्यन्य देशातर	−३४५·२०१९°
	२५१·४२२३°(२)
(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३४५·२०१९ (३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+१·२°(४)
(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा लो	−·६०००°
और (२) में जोड़ो	२५१·४२२३°
	२५० ८२२३°(५)
(६) शनि का केन्द्र संबधी समी० (५) के लिये (पृ० २०६)	−७·२°(६)

(७) विपर्यास चिह्न सहित (६) का आधा ले कर (५) में जोड़ो

+३·६०००° +२५०·८२२३ = २५४·४२२३° (७)

(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए −७·४° (८)

(९) विपर्यास चिह्न सहित (८) लेकर (१) में जोड़ो

+७·४०००° +२·५६१४° = ९·९६१४° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६) +१·००° (१०)

(११) जोड़ो (८) और (१०) −७·४+१·०० = ६·४° (११)

(१२) जोड़ो (३) और (११) ३४५·२०१९ − ६·४००० − ३३८·८०१९° (१२)

मीन का प्रारंभ ३३०°

∴ मीन में शनि ८·८०१९°

(२) शनि : संवत् १६६९, चैत्र शुक्ल २

सं० १६६९ विगत = सन् १६१२

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	मार्च	२१·८४
२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१+१ / ९		१ ९७
			२३·८१

सौर उत्केन्द्रता ४ ६३६८०
३२४·८३६४
१ ९७००
३३१ ४४३२ ... सौर समी० +·९७

चाद्र उत्केन्द्रता २०·८७१
२१·७३६
१ ९७०
४४ ५७७

सौर समी० +·१७०
४४·७४७
−२७·५५०
१७·१९७ ... चांद्र समी० +·३१
+·४८

$$\begin{array}{r} +\cdot ४८ \\ \hline २४\cdot २९ \end{array}$$

३६१ सौर दिनों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २८-८३ को प्रारभ होता है) } +·०२ = २४·३१०

= मार्च २४· ३१, सन् १६१२

मार्च २४· ३१, सन् १६१२ =सौर दिवस ३६१·४७

(१) सौर मध्यन्य देशान्तर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर

३६१ दिनों के लिये (चक्र १७ ए)	३५३·६६३१°
·४७ दिन के लिए (चक्र ११ सी)	·४४५°
	३५४·१०६६°

शनि का मध्यन्य देशातर

सन् १६०० के लिए (पृ० २०५)	१८१·०४८८°
१२ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	१४६·६३००°
३६१ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	१२·०८००°
·४ दिवस के लिए	० ०१५०°
	३३९ ७७३८°
	—३३९·७७३८°
	१४·३३२८° (१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर

शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०५)	२३६ ६२४६°
	३६०°
	५९६·६२४६°
शनि का मध्यन्य देशातर	—३३९ ७७३८°
	२५६·८५०८° (२)

(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३३९·७७३८° (३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+१·४° (४)
(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा लो	—·७०°
और (२) में जोड़ो	२५६ ८५°
	२५६·१५° (५)

(६) शनि का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६)   ७·४° (६)

(७) विपर्यास चिह्न सहित (६) का आधा लो

और (५) में जोड़ो   +३·७०° + २५६·१५° = २५९·८५°   (७)

(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए   −७·५   (८)

(९) विपर्याप्त चिह्न सहित (८) लेकर

(१) में जोड़ो   +७·५०° + १४·३३° = २१·८३°   (९)

(१०) वार्षिक समी० (७) के लिए (पृ० २०६)   +२·१   (१०)

(११) जोड़ो (८) तथा (१०)   +७·५° + २·१° = −५·४°   (११)

(१२) जोड़ो (३) तथा (११) ३३९·७७३८° − ५·४००० = ३३४·३७३८° (१२)

मीन का प्रारंभ   ३३०°

∴ मीन में शनि   ४·३७३८°

अतः गणना से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :

(अ) 'रामचरित मानस' की तिथिः सं० १६३१, चैत्र शुक्ला ९, मंगलवारः

(१) विगत सं० १६३१—बुधवार, मार्च ३१, सन् १५७४,

(२) प्रचलित सं० १६३१—गुरुवार, मार्च १२, सन् १५७३।

(आ) (१) एक गीति की तिथिः सं० १६३१, ज्येष्ठ शुक्ला ६, स्वातीः

क. विगत सं० १६३१—ज्येष्ठ शुक्ला ६, मघा,

ख. प्रचलित सं० १६३१—ज्येष्ठ शुक्ला ६, अश्लेषा।

(२) एक गीति की तिथिः सं० १६३१, ज्येष्ठ कृष्णा ६, स्वातीः

क. विगत सं० १६३१—ज्येष्ठ कृष्णा ६, धनिष्ठा,

ख. प्रचलित सं० १६३१—ज्येष्ठ कृष्णा ६, उत्तराषाढ़।

(इ) 'ज्ञान दीपिका' की तिथिः सं० १६३१, आषाढ़ शुक्ला २, गुरुवारः

(१) विगत सं० १६३१—चंद्रवार, जून २०, सन् १५७४,

(२) प्रचलित सं० १६३१—बुधवार, जुलाई १, सन् १५७३।

(ई) 'वाल्मीकि रामायण' की हस्तलिखित प्रति की तिथिः सं० १६४१, मार्ग शुक्ला ७, रविवार :

(१) विगत सं० १६४१—रविवार, नवंबर २८, सन् १५८४,

(२) प्रचलित सं० १६४१—चंद्रवार, नवंबर ११, सन् १५८३,

(उ) सतसई की तिथिः सं० १६४२, वैशाख शुक्ला ९, गुरुवार :

(१) विगत सं० १६४२—बुधवार, अप्रैल २८, सन् १५८५,

(२) प्रचलित स० १६४२—गुरुवार, अप्रैल ९, सन् १५८४ ।

(ऊ) 'पार्वती मगल' की तिथिः जय मंवत्, फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार, अश्विनी :

(१) विगत जय—गुरुवार, फर्वरी २, सन् १५८७, अश्विनी,

(२) प्रचलित जय—रविवार, फर्वरी १३, सन् १५८६, अश्विनी ।

(ए) 'रामाज्ञा-प्रश्न' की हस्तलिखित प्रति की तिथि : स० १६५५, ज्येष्ठ शुक्ला १०, रविवार :

(१) विगत स० १६५५—शनिवार (या रविवार ?), जून ४, सन् १५९८,

(२) प्रचलित सं० १६५५—चद्रवार (या रविवार ?), मई १६, सन् १५९७ ।

(ऐ) पंचायतनामे की तिथि—सं० १६६९, आश्विन शुक्ला १३, रविवार :

(१) विगत स० १६६९—रविवार, सितवर २७, सन् १६१२,

(२) प्रचलित स० १६६९—बुधवार, अक्टूबर ९, सन् १६११ ।

(ओ) मीन के शनि की तिथि :

(१) सं० १६४० (विगत) चैत्र शुक्ला ५, मीन मे,

(२) सं० १६३९ (विगत) चैत्र शुक्ला २, मीन मे ।

परिशिष्ट आ

बेनीमाधवदास द्वारा दी हुई तिथियाँ

निम्नलिखित तिथियाँ 'मूल गोसाईंचरित' के लेखक द्वारा दी गई हैं-

(अ) तुलसीदास की जन्म-तिथि : संवत् १५५४, श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, जब बृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे और शनि वृश्चिक् के थे।[1]

(आ) तुलसीदास की यज्ञोपवीत-संस्कार तिथि : संवत् १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार।[2]

(इ) तुलसीदास की विवाह-तिथि : संवत् १५८३, ज्येष्ठ शुक्ला १३, गुरुवार।[3]

(ई) तुलसीदास की स्त्री की देहात-तिथि : संवत् १५८९, आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार।[4]

(उ) तुलसी की रामदर्शन-तिथि : संवत् १६०७, माघ कृष्णा १५, बुधवार।[5]

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति-तिथि : संवत् १६३३, मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मंगलवार।[6]

(ए) तुलसीदास की देहात तिथि : संवत् १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार।[7]

इन सभी तिथियों की गणना एल्० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध कृति 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिए हुए चक्रों और निर्दिष्टि विधियों के अनुसार दोनों विगत और प्रचलित संवत्-वर्षों में की गई है, परंतु पहले मे उन की गणना विस्तारपूर्वक की गई है, दूसरे में केवल दो तिथियों की विस्तारपूर्वक की गई है अर्थात् कवि की जन्म-तिथि और 'रामचरित मानस' की समाप्ति तिथि की; दूसरी तिथियाँ विगत-संवत्-वर्ष में शुद्ध ठहरती हैं, इस लिये उन के केवल सप्ताह-दिवस प्रचलित-संवत्-वर्ष में मालूम किए गए हैं।

[1] मू० गो० च० २

[2] वही ९

[3] वही १६

[4] वही १९

[5] वही २३

[6] वही ४१

[7] वही ११९

(अ) श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, संवत् १५५४

(१) विगत संवत १५५४=सन् १४९७

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस अंश
श्रावण[1] अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	जुलाई	२९·४९
७ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल	६ + १		६·८९
	१४		३६·३८

सौर उत्केन्द्रता ६·००६०
८८ ५९१७
६·८९
१०१ ४९ ... सौर समी० — ·०६

चाद्र उत्केन्द्रता १७·६२०
५·९२८
६·८९
३०·४४

सौर समी० — ·०६
३० ३८
— २७ ५५
२·८३ .. चाद्रसमी० — ·२३
— २९

— ·२९
३६·०९

१३१ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·२४ मार्च को प्रारंभ होता है) + ·०३

३६ १२

तिथि अगस्त ५, सन् १४९७ को सूर्योदय के ·१२ दिवस पश्चात् समाप्त हुई। 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी', धारा ११३ के अनुसार 'सायाह्न' सूर्योदय से २४ घटिका (·४० दिन, देखो दृष्टि-चक्र) से ३० घटिका तक (·५० दिन, देखो दृष्टि-चक्र) वर्तमान रहता है, और जैसा कि भाषा मे 'साँझ' दिन के

[1] यह मास शुद्ध और अधिक दोनों था (चक्र १०), इस लिए 'अधिक श्रावण' के किसी सकेत की अनुपस्थिति मे गणना 'शुद्ध श्रावण' मे करनी पड़ेगी

सूर्यास्त में विलीन होते हुए समय का द्योतक होता है, उस से हम मोटे तौर पर सूर्योदय से २९ घटिका (·४८ दिन) बाद के काल का अर्थ ले सकते हैं। इस प्रकार तिथि अगस्त ५·४८, सन् १४९७ के होती है।

चंद्र : अगस्त ५·४८, सन् १४९७=सौर दिवस १३१·१४ को

चाद्र विस्तार श्रावण शुक्ल ७ को $७ \times १२ = ८४^\circ$

चाद्र देशातर=चांद्र विस्तार+सौर देशांतर (देखो धारा २८७)

सौर देशातर=मध्यन्य देशातर+समी०

१३१ दिन $१२६·९७४५^\circ + १·६६६७^\circ = १२८·६४१२^\circ$

·१४ दिन $= ·१३८०^\circ$

$१२८·७७९२^\circ$

चाद्र देशातर $१२८·७७९२ + ८४^\circ = २१२·७७९२^\circ$

वृश्चिक् का प्रारंभ २१०°

∴ वृश्चिक् में $२·७७९^\circ$

बृहस्पति : अगस्त ५·४८, सन् १४९७=सौर दिवस १३१·१४ को

(१) सौर मध्यन्य देशातर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर

१३१ दिन (चक्र १७ ए) $१२६·९७४५^\circ$

·१४ दिन (चक्र १७ सी) $·१३८०^\circ$

$१२७·११२५^\circ$

३६०°

$४८७·११२५^\circ$

बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर (चक्र १७)

सन् १४०० वर्ष (पृ० २०२) $१६९·५९०१^\circ$

९७ वर्ष (पृ० २०३) $६३·७०००^\circ$

१३१ दिन (पृ० २०३) $१०·८८००^\circ$

·१४ दिन $·११००^\circ$

$२४४·२८०१^\circ$

$-२४४·२८०१^\circ$

$२४२·८३२४^\circ$ (१)

(२) बार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर

बार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०२) १७१·३३७४°
+३६०°
५३१·३३७४°
बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर −२४४·२८०१°
२८७·०५७३° (२)

(३) बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर २४४·२८०१° (३)

(४) बार्हस्पत्य वर्षीय समी० (१) के लिए (पृ० २०३) −११° (४)

(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा लो +५·५°
और (२) मे जोड़ो २८७ ०५७३°
२९२ ५५७३° (५)

(६) बार्हस्पत्य केन्द्र सवंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०४) −४ ७° (६)

(७) विपर्यास चिह्न सहित (६) का आधा ले कर +२ ८५°
(५) में जोड़ो २९२ ५५७३°
२९५ ४०७३° (७)

(८) केन्द्र सवधी समी० (७) के लिए (पृ० २०४) −४ ६° (८)

(९) विपर्यास चिह्न सहित (८) लो +४·६°
और (१) मे जोड़ो २४२ ८३२४°
२४७ ४३२४° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०३) −११·३° (१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़ो −४ ६ − ११ ६ = −१६ २° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़ो २४४ २८०१ − १६ २ = २२८ ०८०१°
वृश्चिक् का प्रारंभ २१०°
∴ वृश्चिक् मे १८ ०८°

मंगल : अगस्त ५ ४८, सन् १४९७ = सौर दिवस १३१·१४ को

(१) सौर मध्यन्य देशातर ऋण मगल का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर (जैसा कि ऊपर है) ४८७ ११२५°

मंगल का मध्यन्य देशातर

सन् १४०० के लिए (पृ० २००) २२ १२२४°
९७ वर्षों के लिए २०६·३१००°
१३१ दिवसों के लिए ६८ ६५००°

·१४ दिवस ·०७५०°

२१७ १५७४°

−२१७ १५७४°

१८१·०५५१° (१)

(२) मंगल के उच्चनीच विन्दु का देशांतर ऋण मंगल का देशांतर

मंगल के उच्चनीच विन्दु का देशांतर (पृ० २००) ४१०·०५२८°

मंगल का मध्यन्य देशांतर −२१७·१५७४°

१९२·९५७४° (२)

(३) मंगल का मध्यन्य देशांतर २१७·१५७४° (३)

(४) मंगल का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २००) −१७° (४)

(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा +८·५°

(२) में जोड़ो १९२·८१°

२०१·३१° (५)

(६) मंगल का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०१) −४·३° (६)

(७) विपर्यास चिह्न सहित (७) का आधा +२·१५°

लेकर (५) में जोड़ो २०१·३१°

२०३·४६° (७)

(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०१) −४·७° (८)

(९) विपर्यास चिह्न सहित (८) को लेकर (१) में जोड़ो

४·७+१८१·०५५१°=१९४·६५५१° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २००) −२४०° (१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़ो −४·७ −२४= −२८·७° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़ो

२१७·१५७४−२८·७०००=२६८·४५७४° (१२)

धनुष का प्रारंभ २४०°

∴ धनुष में २८·४५°

शनि : अगस्त ५·४८, सन् १४९७ =सौर दिवस १३१·१८ को

(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर (ऊपर के अनुसार) ४८७·११२°

शनि का मध्यन्य देशातर		
सन् १४०० के लिए (पृ० २०५)	२५७ २३४९°	
९७ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	१०५·२५०°	
१३१ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	४·३८०°	
१४ दिवस के लिए	·००४°	
	३६६ ८६९°	
	−३६६·८६९	
	१२० २४३	(१)
(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का मध्यन्य ऋण शनि का मध्यन्य देशातर		
शनि के उच्चनीच विन्दुका मध्यन्य (पृ० २०५)	२३६·६२४२°	
	३६०°	
	५९६ ६२४२°	
शनि का मध्यन्य देशातर	−३६६ ८६९०°	
	२२९ ७५५२°	(२)
(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३६६ ८६९°	(३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+५ ७°	(४)
(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा ले कर	−२ ८५०°	
(२) मे जोड़ो	२२९·७५५°	
	२२६ ९०५°	(५)
(६) शनि का केन्द्र सवंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६)	−५ ६°	(६)
(७) विपर्यास चिह्न सहित (६) का आधा ले कर	+२ ८००°	
(५) मे जोड़ो	२२६·९०५°	
	२२९ ७०५°	(७)
(८) केन्द्र सवंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०६)	−५·९°	(८)
(९) विपर्यास चिह्न सहित (८) ले कर	+५·९००°	
(१) मे जोड़ो	१२० २४३°	
	१२६·१४३°	(९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६)	+५·५°	(१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़ो −५·९+५·५ = −·४° (११)

(१२) (३) और (११) जोड़ो
३६६·८६९°
−·४००°
३६६·४६९° (१२)
३६०°
∴ मेष में ६·४६९°

(अ) (२) श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, सवत् १५५४

प्रचलित संवत् १५५४=सन् १४९६

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(१)	जुलाई १०·५८
७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	६+१	६·८९
	१४	१७ ४७

सौर उत्केन्द्रता
१६·८९७७
८८·५९१७
६·८९
११२·३७९४ ...सौर समी० −·०९

चाद्र उत्केन्द्रता
२१·४६३
५·९८
६·८९
३४·३३३

सौर समी० −·०९
३४·२४३
−२७·५५
६·६९३ ...चाद्र समी० −·४१
−·५०

−·५०
१६·९७

११० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·६००० मार्च को प्रारंभ होता है) +·०४
१७·०१

तिथि जुलाई १७, सन् १४९६ को सूर्योदय के पश्चात् ·०१ दिन व्यतीत होने पर समाप्त हुई. परंतु चूँकि हमारा संबंध तिथि की साँझ से है, जिस को हम ने ४८ दिन के बराबर माना है, इस लिए तिथि जुलाई १७ ४८, सन् १४९६ के बराबर है ।

चंद्र : जुलाई १७·४८, सन् १४९६ = सौर दिवस १११ ८८ को
चांद्र देशांतर = चांद्र विस्तार + सौर देशांतर (देखो धारा २८७)
श्रावण शुक्ला ७ को चांद्र विस्तार = ७ × १२ = ८४°
सौर देशांतर = सौर मध्यन्य देशांतर + सौर समी०

१११ दिन (पृ० २०७)	१०८ ३६२५°
८८ दिन	८६७३°
	१०९ २२९८°

चांद्र देशांतर = ८४° + १०९ २२° = १९३ २२°
मकर का प्रारंभ २७०°
∴ मकर मे २३ २२

वृहस्पति : जुलाई १७·४८, सन् १४९६ = सौर दिवस १११·८८ को
(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण वार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर
सौर मध्यन्य देशांतर (चक्र १७ ए और सी)
१०७·२६२५° + ·८६७३° + ३६०° = ४६८ ·१२९८°
वार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर (चक्र १७)

सन् १४०० (पृ० २०२)	१६९·५९०१°
९६ वर्ष (पृ० २०३)	३३·३५°
१११ दिवस (पृ० २०३)	९·२२°
·८८ दिवस	·७०°
	२१२·८६०१°

−२१२·८६०१°
२५५·२२९७° (१)

(२) वार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशांतर ऋण वार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर

वार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशांतर (पृ० २०२)	५३१·३३७४°
वार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर	२१२·८६०१°
	३१८ ४७७३° (२)

(३) बार्हस्पत्य मध्यम देशांतर	२१२·८६०१	(३)
(४) बार्हस्पत्य वार्षिक समी० (२) के लिए (पृ० २०३)	−११·५°	(४)
(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा लेकर	+५·७५°	
(२) में जोड़ा	३१८·४७७३°	
	३२४·२२७३°	(५)
(६) बार्हस्पत्य केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०४)	−३·०°	(६)
(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा लेकर	+१·५००	
(५) में जोड़ा	३२४·२२७३°	
	३२५·७२७३°	(७)
(८) केंद्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०४)	−२·९°	(८)
(९) विपरीत चिह्न सहित (८) को लेकर	+२·९°	
(७) में जोड़ा	३२५·७२७३°	
	३२८·६२७३°	(९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०३)	−११·५४°	(१०)

(११) (८) तथा (१०) को जोड़ा −२·९° −११·५४° = −१४·४४ (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़ा २१२·८६०१ − १४·४४ = १९८·४२०१° (१२)

तुला का प्रारंभ	१८०°
∴ तुला में	१८·४२०१°

मंगल : जुलाई १३-१४, सन् १४९६ = सौर दिवस १११·८८८ को

(१) सौर मध्यम देशांतर ऋण मंगल का मध्यम देशांतर

सौर मध्यम देशांतर (जैसा कि ऊपर है)		१०८·२२९८°
मंगल का मध्यम देशांतर (चक्र १३)		
सन् १४०० के लिए (पृ० २००)	२२·२२२४°	
९६ वर्षों के लिए (पृ० २००)	१४·८३°	
१११ दिवसों के लिए	५८·१३°	
·८८८ दिवस के लिए	·४६°	
	९५·६४२४°	−९५·६४२४°
		१२·५८७४° (१)

(२) मंगल के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण मंगल का मध्यन्य देशातर

मगल के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २००) ४९०.०५२८°

मंगल का मध्यन्य देशातर −९५.६६२४°

३९४.३९०४°

−३६०°

३४.३९०४° (२)

(३) मगल का मध्यन्य देशातर ९५.६६२४° (३)

(४) मंगल का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २००) +५.०° (४)

(५) विपर्यास चिह्न सहित (४) का आधा ले कर −२.५°

(२) मे जोड़ो ३४.३९°

३१°.८९° (५)

(६) मगल का केंद्र संबंधी समी० (५) के लिए

(पृ० २०१°) +६.२° (६)

(७) विपर्यास चिह्न सहित (६) का आधा ले कर —३.१°

(२) में जोड़ो ३४.३९°

३१.२९° (७)

(८) केंद्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०१) +६ १° (८)

(९) विपर्यास चिह्न सहित (८) को ले कर − ६.१°

(१) में जोड़ो १२ ४६७°

६.३६७° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २००) +२° (१०)

(११) (८) और (९) को जोड़ो ६ १+२° ८ १° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़ो ९५.६६२४°+८ १°=१०३ ७६२४ (१२)

कर्क का प्रारंभ ९०°

∴ कर्क में १३.७६°

शनि : जुलाई १७.४८, सन् १४९६=सौर दिवस १११ ५८ को

(१) सौर मध्यन्य देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशांतर (ऊपर के अनुसार) ४६८.१२९८°

शनि का मध्यन्य देशांतर	
सन् १४०० के लिए (पृ० २०५)	२५७·२३४९°
९६ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	९३·०३००°
१११ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	३·७१००°
·८८ दिवस के लिए	·०३००°
	३५४·००४९°
	– ३५४ ००४९°
	११४ १२४९° (१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशांतर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०५)

२३६ ६२४ + ३६० = ५९६·६२४°

शनि का मध्यन्य देशातर	३५४·००४°
	२४२·६२०° (२)
(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३५४·००४९° (३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+६·८° (४)
(५) विपर्यास्त चिह्न सहित (४) का आधा ले कर	– ३·४°
(२) मे जोड़ो	२४२ ६२०°
	२३९·२२००° (५)
(६) शनि का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६)	– ६ ६° (६)
(७) विपर्यास्त चिह्न सहित (६) का आधा ले कर	+३·३°
(५) में जोड़ो	२३९·२२°
	२४२·५२° (७)
(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०६)	– ६·८° (८)
(९) विपर्यास्त चिह्न सहित (८) को ले कर	+६ ८°
(१) मे जोड़ो	११४ १२४°
	१२०·९२४° (९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६)	+५ ८° (१०)

(११) (८) और (१०) की जोड़ो – ६·८ + ५·८ = – १·०° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़ो ३५४·००४ – १·० = ३५३·००४° (१२)

मीन का प्रारंभ ३३०°

∴ मीन मे २३·००४°

(आ) संवत् १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार

(१) विगत सवत् १५६१ = सन् १५०५

माघ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(१) जनवरी	५ २८
५ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल	४ + १	४ ९२
	६	१० २०

सौर उत्केन्द्रता	२६५ ७७५२		
	१८ ३५५९		
	४ ९२००		
	२८९·०५११	सौर समी०	+·०८
चाद्र उत्केन्द्रता	१७ ७८४		
	२४ २०४		
	४·९२०		
	४६·९०८		
सौर समी०	+ ०८		
	४६·९८८		
	− २७·५५०		
	१९ ४३८	. चाद्र समी०	+·४१
			१० ६१
२८८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७ १५ मार्च को प्रारंभ होता है)			−·०१
			१० ६८

= शुक्रवार, जनवरी १०, १५०५ ई०

(२) प्रचलित संवत् १५६१ = सन् १५०४

माघ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(३) जनवरी	१६ ९१
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४ + १	४·९२
	८	२१·८३

= रविवार

(इ) संवत् १५८३ ज्येष्ठ शुक्ला १३, बृहस्पतिवार

(१) विगत संवत् १५८३ = सन् १५२६

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(६)	मई	११·३६
१३ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१२+१ / ११		१२·८०
			२४·१६

सौर उत्केन्द्रताः २५.५३०५
१४·९८३२
१२·८०००
५३·३१३७ … सौर समी० +·०८

चांद्र उत्केन्द्रताः १·९७६
१०·५८०
१२·८००
२५·३५६
सौर समी० +·०८
२५·४३६ चांद्र समी० +·१८
२४·४२

५८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·८४ मार्च को प्रारंभ होता है) +·०५
२४·४७

= बृहस्पतिवार, मई २४, सन् १५२६

(२) प्रचलित संवत् १५८३ = सन् १५२५

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(२)	मई	२२·००
१३ तिथियों का समस्त व्याप्ति काल	१२ / १४		१२·८०
			३४·८०

= शनिवार

(ई) संवत् १५८९, आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार

(१) विगत संवत् १५८९ = सन् १५३२

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	मार्च	४·६२
२५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२४+१ / ३२		२४·६१
			२९·२३

सौर उत्केन्द्रता	८ ६९४१		
	५९.०६११		
	२४.६१००		
	९२.३६५२	... सौर समी०	+ ०४
चान्द्र उत्केन्द्रता	१९.०३०		
	३.९५२		
	२४ ६१०		
	४७ ५९२		
सौर समी०	−.०४०		
	४७.५५२		
	−२७ ५५०		
	२०.००२	...चान्द्र समी०	+.४१
			२९.६०

६८ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २७.३९ को प्रारंभ होता है)	+.०५
	२९.६५

=बुधवार, मई २९, सन् १५३२

(२) प्रचलित सवत् १५८९=सन् १५३१

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(३)	मई	१६.३६
२५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२४		२४.६१
	२७		४०.९७

=शुक्रवार

(उ) संवत् १६०७, माघ कृष्णा १५. बुधवार

(१) विगत संवत् १६०७=सन् १५५१

पौष अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(२)	दिसंबर	८ ६६
३० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२९+१		२९.५३
	३२		३८ १९
या माघ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	जनवरी	७.१९

सौर उत्केन्द्रता	१९.३५७६		
	२६५.७७५२		
	२८५.१३२८	.सौर समी०	+.०७

चांद्र उत्केन्द्रता १८·८०२

१७·७८४

३६·५८६

−२७·५५०

९·०३६

सौर समी० +·०७०

९·१०६ ···चाद्र समी० −·३८

−६·८८

७० सौर दिवसों के लिए काशी की कालशुद्धि (सौर वर्ष २८·३१ मार्च को प्रारम्भ होता है) } +·०५

६·९३

=बुधवार, जनवरी ६, सन् १५५१

(२) प्रचलित संवत् १६०७=सन् १५५०

माघ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (६) जनवरी १७·८२

=शुक्रवार

(ऊ) संवत् १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मंगलवार

(१) विगत संवत् १६३३=सन् १५७६

मार्ग अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (३) नवंबर २०·९७

५ तिथियों का समाप्तिकाल ४+१ ४·९२

८ २५·८९

सौर उत्केन्द्रता २०६·७१४१

१·९४८७

४·९२

२१३·५८२८ . सौर समी० − ·१४

चांद्र उत्केन्द्रता १३·८३२

१९·३३९

४·९२°

३८·०९१

सौर समी० — ·१४०

३७·९५१

— २७·५५०

१०·४०१ .. चाद्र समी० — ·३१

२४३ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २७ ७८ मार्च को प्रारभ होता है) — ·००५

२५·४३५

=रविवार, नववर २५, सन् १५७६

(२) प्रचलित सवत् १६३३=सन् १५७५

मार्ग अमाचंद्र का
मध्यन्य समाप्तिकाल (५) नवंबर ३·०७

५ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल ४ ४·९२

९ ७·९९

सौर उत्केन्द्रता १२·८४०४

२०६·७१४१

४·९२

२२४·४७४५ . सौर समी० — ·११

चांद्र उत्केन्द्रता २३·१८१

१३·८३२

४ ९२०

४१·९३३

सौर समी० — ·११०

—४१·८२३

— २७·५५०

१४·२७३ . चाद्र समी० + ·०५

७ ६३

२२५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २८ ५२ मार्च को प्रारंभ होता है) + ·००१

७ ९३१

=चद्रवार, नवंबर ७, सन् १५७५

(ए) संवत् १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार

(१) विगत संवत् १६८० = सन् १६२३

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल		(३) जून	१७·५९
१८ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल		१७ + १	१७·७२
		२१	३५·३१

सौर उत्केन्द्रता   २१·५८९३
५९·०६११
१७·७२००
९८·३७०४ ... सौर समी० — ·०५

चाद्र उत्केन्द्रता   १२·११२
३ ९५२
१७·७२०
३३·८६४
— २७·५५०
६·३१४

सौर समी०   — ·०५०
६·२६४ ...चाद्र समी० — ·४०

३४·८६

९९ सौर दिनों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·९४ मार्च को प्रारंभ होता है)	+ ·०४
	३४·९०

= शनिवार, जुलाई ४, सन् १६२३

(२) प्रचलित सवत् १६८० = सन् १६२२

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(६)	जून	२८·२३
१८ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल	१७		१७·७२
	२३		४५·९५

= चंद्रवार

उपर्युक्त गणना से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :—

(अ) तुलसीदास की जन्मतिथि : सं० १५५४ श्रावण शुक्ला ७, जब वृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे और शनि वृश्चिक के थे :

(१) विगत सं० १५५४, श्रावण शुक्ला ७ : चद्रमा वृश्चिक् के, बृहस्पति भी वृश्चिक् के, मंगल धनुष के और शनि मेष के,

(२) प्रचलित सं० १५५४, श्रावण शुक्ला ७ : चद्रमा मकर के, बृहस्पति तुला के, मगल कर्क के और शनि मीन के।

(आ) तुलसीदास की यज्ञोपवीत सस्कार तिथि : सं० १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार :

(१) विगत सं० १५६१—शुक्रवार, जनवरी १०, सन् १५०५,

(२) प्रचलित सं० १५६१ —रविवार।

(इ) तुलसीदास की विवाह-तिथि : सं० १५८३, ज्येष्ठ शुक्ला १३, बृहस्पतिवार :

(१) विगत सं० १५८३—बृहस्पतिवार, मई २४, सन् १५२६,

(२) प्रचलित सं० १५८३—शनिवार।

(ई) तुलसीदास की स्त्री की देहात-तिथि : सं० १५८९, आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार :

(१) विगत सं० १५८९—बुधवार, मई २९, १५३२ ई०,

(२) प्रचलित सं० १५८९—शुक्रवार।

(उ) तुलसीदास की रामदर्शन-तिथि : सं० १६०७, माघ कृष्णा १५, बुधवार :

(१) विगत सं० १६०७—बुधवार, जनवरी ६, सन् १५५५,

(२) प्रचलित सं० १६०७—शुक्रवार।

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति-तिथि : सं० १६३३ मार्ग शीर्ष शुक्ला ५, शुक्रवार :

(१) विगत सं० १६३३—रविवार, नवंबर २५, सन् १५७६,

(२) प्रचलित सं० १६३३—चद्रवार, नवंबर ७, सन् १५७५।

(ए) तुलसीदास की देहात-तिथि : सं० १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार :

(१) विगत सं० १६८०—शनिवार जुलाई ४, सन् १६२३

(२) प्रचलित सं० १६८०—चंद्रवार।

परिशिष्ट इ

तुलसी साहिब द्वारा दी हुई तिथियाँ

निम्नलिखित तिथियाँ तुलसी साहिब ने अपने पूर्व जन्म की आत्मकथा में दी हैं :—

(अ) तुलसीदास की जन्म-तिथि : संवत् १५८९, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।[१]

(आ) वैराग्य धारण करने के पश्चात् उन के काशी आगमन की तिथि : संवत् १६१५, चैत्र १२, मंगलवार।[२]

(इ) 'घट रामायण' की रचना-तिथि : संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।[३]

आगे के पृष्ठो में इन तिथियों की गणना उन चक्रों और विधियों के अनुसार की गई है जिन्हें एल्० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिया है। समस्त तिथियों की गणना दोनों विगत और प्रचलित संवत्-वर्ष प्रणालियों में की गई है। परंतु पहिली तिथि अर्थात् तुलसीदास की जन्म-तिथि की गणना पूर्णरूप से की गई है, अन्य दो तिथियाँ सप्ताह के दिन निकाल कर छोड़ दी गई हैं क्यों कि वे चरित-लेखक द्वारा दिए गए सप्ताह-दिवसों में नहीं मिलतीं।

(अ) संवत् १५८९, शुद्ध[४] भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार

(१) १५८९ विगत = सन् १५३२

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस अंश
भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(६)	अगस्त	३०·७४

१ 'घट रामायण' (बेलवेडियर प्रेस संस्करण) पृ० ४१५

२ वही पृ० ४१७

३ वही

४ इस वर्ष में 'अधिक' भाद्रपद भी था किंतु 'अधिक' का निर्देश न होने के कारण 'शुद्ध' भाद्रपद में ही गणना समीचीन होगी।

११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{१०+१}{१७}$ $\frac{१०·८३}{४१·५७}$

सौर उत्केन्द्रता ८·६९४१
११८·१२२०
१० ८३००
१३७·६४६१ सौर समी० —·१५

चान्द्र उत्केन्द्रता १९·०३०
७·९०४
१० ८३०
३७·७६४

सौर समी० —·१५०
३७·६१४
—२७·५५०
१०·०६४ चान्द्र समी० —·३५
१०·०७०

१६७ दिनो के लिये काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २७·३९८ मार्च को प्रारंभ होता है) } —·०२६
१०·०४४

=मगलवार सितवर १०, सन् १५३२

(२) स० १५८९ प्रचलित=सन् १५३१

भाद्रपद अमाचन्द्र का
मध्यन्य समाप्ति काल } (७) अगस्त १२ ८५

११ तिथियों का समस्त व्याप्ति काल $\frac{१०+१}{१८}$ १० ८३

=बुधवार

(अ) सवत् १६१५, चैत्र शुक्ला १२, मगलवार

(१) स० १६१५ विगत=सन् १५५८

चैत्र अमाचन्द्र का
मध्यन्य समाप्तिकाल } (७) मार्च १९·४१

१२ तिथियों के लिये समस्त व्याप्तिकाल $\frac{११+१}{१९}$ ११·८१

=बृहस्पतिवार

(२) सं० १६२५ प्रचलित = सन् १५५७

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(१)	फर्वरी	२८·५१
१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	११+१		११·८१
	१३		

= शुक्रवार

(आ) संवत् १६१५, चैत्र कृष्णा १२, मगलवार

(१) सं० १६१५ विगत = सन् १५५९

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(३)	फर्वरी	७·२१
१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६		२६·५८
	२९		

= रविवार

(२) सं० १६१५ प्रचलित = सन् १५५८

फाल्गुन अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(५)	फर्वरी	१७·८८
१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६+१		२६·५८
	३२		

= बुधवार

(इ) संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार

(१) सं० १६१८ विगत = सन् १५६१

भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(१)	अगस्त	१०·७०
११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१०+१		१०·८३
	१२		

= बृहस्पतिवार

(२) सं० १६१८ प्रचलित = सन् १५६०

भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	अगस्त	२१·३३
११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१०+१		१०·८३
	१५		

= रविवार

संक्षेप में गणना द्वारा निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :—

(अ) तुलसीदास की जन्म-तिथि : सं० १५८९, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार :

(१) विगत सं० १५८९—मंगलवार, सितंबर १०, सन् १५३२,

(२) प्रचलित स० १५८९—बुधवार, अगस्त ११, सन् १५३२।

(आ) वैराग्य धारण करने के पश्चात् उन के काशी आगमन की तिथि : संवत् १६१५, चैत्र शुक्ला १२, मगलवार :

(१) विगत, सं० १६१५—बृहस्पतिवार,

(२) प्रचलित स० १६१५—शुक्रवार।

(आ) वही : संवत् १६१५, चैत्र कृष्णा १२, मंगलवार :

(१) विगत सं० १६१५—रविवार,

(२) प्रचलित सं० १६१५—बुधवार।

(इ) 'घट रामायण' की रचना-तिथि : संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार :

(१) विगत सं० १६१८—बृहस्पतिवार,

(२) प्रचलित सं० १६१८—रविवार।

परिशिष्ट ई

भगवान ब्राह्मण तथा एक दूसरे लिपिकार द्वारा दी हुई तिथियाँ

तिथियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) 'रामचरित मानस' बालकांड की एक हस्तलिखित प्रति की तिथि (पुष्पिका)[1] : संवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार।

(आ) 'रामगीतावली' की एक हस्तलिखित प्रति की तिथि (पुष्पिका) :[2]

(१) संवत् १६६६, श्रावण शुक्ला (?) १२, बुधवार,

(२) संवत् १६६६, श्रावण कृष्णा (?) १२, बुधवार।

नीचे के पृष्ठों में इन तिथियो की गणना एल्० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिये गए चक्रों और निर्दिष्ट विधियों के अनुसार की गई है, और यह समस्त गणना विगत तथा प्रचलित संवत्-वर्ष की दोनों प्रणालियो में की गई हैं।

(अ) संवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार

विगत सं० १६६१ = सन् १६०४

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस अंश
वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	अप्रैल	१८·८५
६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	५+१		५·९१
	१०		२४·७६

सौर उत्केन्द्रता २८·८१७५
५·९१००
३४·७२७५ ... सौर समी० +·१३

चान्द्र उत्केन्द्रता १६·२६४
५·९१०

[1] देखिए ऊपर पृ० १८७ [2] वही पृ० २००

सौर समी० +·१३०
२२·३०४ ... चाद्र समी० +·३७
२५ २६

२८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·०२ मार्च को प्रारभ होता है) +·०२
२५·२८

=मंगलवार, अप्रैल २५, सन् १६०४

(२) प्रचलित सं० १६६१=सन् १६०३

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (५) मार्च ३१·९५
६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ५+१ ५·९१
११ ३७·८६

सौर उत्केन्द्रता ३·१७८७
५·९१००
९·०८८७ ··· सौर समी० +·१७५

चाद्र उत्केन्द्रता १८·१३०
५·९१०

सौर समी० +·१७५
२४·२१५ ··· चाद्र समी० +·२७०
३८ ३०५

१० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·७६ मार्च को प्रारम्भ होता है) +·०४
३८·३४५

=वुधवार, अप्रैल ७, सन् १६०३

(आ) (१) संवत् १६६६ श्रावण शुक्ला १२, वुधवार

क. विगत सं० १६६६=सन् १६०९

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (६) जुलाई २१·३३
१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ११+१ ११ ८१
१८ ३३ १४

सौर उत्केन्द्रता ८८·५९१७
२६·४२०२
११·८१००
१२६·८२१९... सौर समी० +·१३

चांद्र उत्केन्द्रता ५·९२८
१·००२
११·८१०
सौर समी० +·१३०
१८·८७० ... चांद्र समी० +·३१

१२७ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·३२ मार्च को प्रारंभ होता है) ३३·५८ +·०४ ३३·६२

=बुधवार, अगस्त २, सन् १६०९

ख. प्रचलित सं० १६६६=सन् १६०८

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (७) जुलाई २·४४

१२ तिथियो का समस्त व्याप्तिकाल ११+१ / ११ ... ११·८१ / १४·२५

सौर उत्केन्द्रता ७·७८१३
८८·५९१३
११·८१००
१०८·१८३० ...सौर समी० —·०८

चांद्र उत्केन्द्रता २·८६८
५·९२८
११·८१०
२०·६०६
सौर समी० —·०८०
२०·५२६ ...चाद्र समी +·४१

१०७ सौर दिवसो के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·०६ मार्च को प्रारंभ होता है) १४·५८ +·०४ १४·६२

=बृहस्पतिवार, जुलाई १४, सन् १६०८

(आ) (२) संवत् १६६६ श्रावण कृष्णा १२, बुधवार

क. विगत सं० १६६६ = सन् १६०९

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	जून	२१·८०
२७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६ + १		२६·५८
	३१		४८·३८

सौर उत्केन्द्रता	५९·०६११		
	२६·४२०२		
	२६·५८००		
	११२·०६१३	... सौर समी०	— ०९
चांद्र उत्केन्द्रता	३·९५२		
	१·००२		
	२६·५८०		
	३१·५३४		
सौर समी०	—·०९०		
	३१·४४४		
	—२७·५५०		
	३·८९४	...चांद्र समी०	—·३०

१११ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·३२ मार्च को प्रारंभ होता है)	४७·९९
	+·०४
	४८·०३

= मंगलवार जुलाई १८, सन् १६०९

ख. प्रचलित सं० १६६६ = सन् १६०८

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(५)	जून	२·९१
२७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६ + १		२६·५८
	३२		२९·४९

सौर उत्केन्द्रता	७·७८१३		
	५९·०६११		
	२६·५८००		
	९३·४२२४	... सौर समी०	—·०४

```
चांद्र उत्केन्द्रता   २·८६८
                      ३·९५२
                     २६·५८०
                     ------
                     ३३·४००
सौर समी०            —·०४०
                     ------
                     ३३·३६०
                    —२७·५५०
                     ------
                      ५·८१० ... चाद्र समी०   —·३१
                                            ------
                                            २९·०६
९३ सौर दिनो के लिए काशी की शुद्धि     }
(सौर वर्ष २८·०६ मार्च को प्रारंभ होता है) }  +·०४
                                            ------
                                            २९·१०
```

=बुधवार, जून २९, १६०८ ई०

संक्षेप में, गणना द्वारा निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :

(अ) 'रामचरित मानस' बालकाड की हस्तलिखित प्रति की तिथि :

संवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार :

(१) विगत संवत् १६६१—मंगलवार, अप्रैल २५, सन् १६०४,

(२) प्रचलित संवत् १६६१—बुधवार, अप्रैल ७, सन् १६०३।

(आ) 'राम गीतावली' की हस्तलिखित प्रति की तिथि :

(१) संवत् १६६६, श्रावण शुक्ला १२, बुधवार :

क. विगत संवत् १६६६—बुधवार, अगस्त २, सन् १६०९,

ख. प्रचलित संवत् १६६६—बृहस्पतिवार, जुलाई १४, सन् १६०८।

(२) संवत् १६६६, श्रावण कृष्णा १२, बुधवार :

क. विगत संवत् १६६६—मगलवार, जुलाई १८, सन् १६०९,

ख. प्रचलित संवत् १६६६—बुधवार, जून २९, सन् १६०८।

—

परिशिष्ट उ

कवि की अन्य रचनाओं में मिलने वाले दोहावली के दोहे[1]

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है			दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		
१	रामाज्ञा०		७-३-७	११५	मानस, लंका०		४८
२	„		३-१-७	११६	„	अयोध्या०	८७
३	„		३-२-७	११७	रामाज्ञा०		४-३-१
४	„		३-५-७	११८	„		४-२-४
५	„		७-४-७	११९	„		४-२-६
६	मानस, बाल०		२१	१२०	„		४-३-३
९	„	„	२०	१२१	„		४-३-२
११	„	„	२६	१२२	„		४-४-७
२५	„	„	१९	१२३	मानस, अयोध्या०		९२
२६	„	„	२७	१२४	„	किष्किंधा०	२७
२७	रामाज्ञा०		३-४-४	१२६	मानस, उत्तर०		१२२
२८	„		५-१-१	१२८	„	„	११९
३०	मानस, बाल०		२२	१२९	„	लंका०	३
३१	„	„	२५	१३०	„	„	१
३२	„	„	२४	१३१	„	सुंदर०	४६
३३	रामाज्ञा०		२-४-७	१३२	„	उत्तर०	६१
३९	„		६-४-७	१३३	„	„	९०
५०	मानस, बाल०		२९	१३४	„	„	९०
१०१	„	लंका०	२	१३६	„	„	९२
१०५	„	बाल०	२९	१३७	„	„	८९
११३	„	उत्तर०	७२	१३८	„	„	७८
११४	„	„	२५	१६१	„	„	९१

[1] ई० पें० १८९३ पृ० १२४-१२७ भी देखो।

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है			दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		
१६३	मानस	सुंदर०	४९	२२८	रामाज्ञा०		६-५-७
१६४	रामाज्ञा०		६-३-७	२२९	,,		६-४-१
१७१	,,		७-४-३	२३०	,,		२-३-१
१७२	,,		३-१-१	२३१	,,		७-१-२
१७४	,,		६-५-६	२३२	,,		३-४-१
१७५	,,		१-३-७	२३३	,,		५-४-१
१७९	मानस,	उत्तर०	१३०	२३७	मानस,	किष्किंधा०	१
१८१	,,	बाल०	२८	२३८	,,	,,	,,
१८२	रामाज्ञा०		७-६-१	२४१	,,	अयोध्या०	७७
१८४	,,		७-२-७	२४७	,,	,,	९२
१८५	मानस,	उत्तर०	२२	२६१	,,	उत्तर०	७०
१८९	,,	बाल०	२६५	२६२	,,	,,	,,
१९३	,,	,,	३२	२६३	,,	,,	७१
१९५	,,	,,	३१	२६४	,,	अरण्य०	३९
१९६	,,	,,	१०	२६५	,,	,,	,,
१९९	,,	अयोध्या०	१२६	२६६	,,	,,	४४
२०५	,,	,,	२३१	२६७	,,	अयोध्या०	४७
२०६	,,	,,	२१५	२६९	,,	अरण्य०	४७
२०९	रामाज्ञा०		४-४-२	२७०	,,	उत्तर०	७३
२१०	,,		३-४-६	२७१	,,	अयोध्या०	१८०
२११	,,		४-४ ६	२७२	,,	लंका०	७८
२१२	,,		७-३-३	२७३	,,	उत्तर०	११८
२१३	,,		७-३-४	२७५	,,	,,	८९
२१४	,,		३-४-५	२७६	,,	बाल०	१४०
२१७	मानस,	अयोध्या०	४२	३३८	,,	,,	५
२१८	रामाज्ञा०		७-३-५	३४०	,,	उत्तर०	३३
२२०	,,		२-३-७	३४७	,,	अयोध्या०	२८१
२२६	,,		३-३-५	३६४	,,	बाल०	७
२२७	,,		३-३-६	३६९	,,	,,	६

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है	
३७०	मानस, उत्तर०	९५	५२४	,, सुंदर०	३७
३७२	,, बाल०	७	५४०	,, अयोध्या०	७०
३८६	,, उत्तर०	७८	५४१	,, ,,	१७४
४०७	,, ,,	३९	५४२	,, अरण्य०	५
४२०	रामाज्ञा०	७-४-२	५४३	,, सुंदर०	४३
४२१	मानस, अयोध्या०	६३	५५०	,, उत्तर०	९८
४३६	मानस, बाल०	२७४	५५१	,, ,,	,,
४५०	,, ,,	१५९	५५२	,, ,,	९९
४६१	रामाज्ञा०	७-३-१	५५३	,, ,,	,,
४६२	,,	१-३-३	५५५	,, ,,	१००
४६३	,,	१-३-४	५६१	,, ,,	१०३
४८०	मानस, अयोध्या०	१७२	५६२	,, ,,	,,
४८४	,, लंका०	१६	५६५	,, बाल०	३२
५०३	,, अयोध्या०	१७९	५६७	रामाज्ञा०	६-४-४
५२२	,, ,,	३१५	५६९	,,	३-३-७
५२३	मानस, अयोध्या०	३०६			

सहायक ग्रंथ-सूची

नीचे की सूची इस विषय के ऐसे अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्य तक ही सीमित है जिस का उपयोग प्रस्तुत लेखक ने इस ग्रंथ को तैयार करने में किया है। इस के अतिरिक्त कतिपय छोटे-मोटे संकेत पादटिप्पणियो मे मिलेंगे जो इस सूची में सम्मिलित नहीं किए गए हैं। सहायक हस्तलिखित प्रतियों का किंचित पूर्ण परिचय पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है, अतएव उन का परिचय न दे कर अन्यत्र दिए गए परिचय का स्थल-संकेत मात्र यहाँ किया गया है। मुद्रित पुस्तकें प्रायः प्रसिद्ध हैं, अतः उन के परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है।

हस्तलिखित प्रतियाँ

कवितावली	(सं० १७९७) (हिं० खो० रि० १९२६-२८ नं० ४८२ एच् १) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध), यह प्रति कृति की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों में सब से प्राचीन है।[1]
कवितावली	(सं० १८२०) पं० विजयानंद त्रिपाठी, भदैनी, काशी। यह कृति की दूसरी सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति है और मुद्रित प्रति से इस के पाठ में बहुत अंतर है।[2]
कृष्ण-गीतावली	(सं० १७९७) (हिं० खो० रि० १९२६-२८ नो० ४८२ एच् १) राजकीय-पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध)। यह कृति की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों में सब से प्राचीन है।[3]
गीतावली	(सं० १७९७) (हिं० खो० रि० १९२६-२८ नो० ४८२ आर) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध)।[4]
गीतावली	(सं० १६८९) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। कवि के देहावसान के ९ वर्ष बाद की है, और 'गीतावली' पाठ की प्राप्त प्रतियों में सब से प्राचीन है, इस कारण विशेष महत्व पूर्ण है।[5]

[1] देखिये ऊपर पृ० २०७

[2] वही, २०७

[3] वही, २०५

[4] वही, १९५

[5] वही, १९८-९९

जानकी मंगल : (सं० १६३२) (हिं० खो० रि० १९२०-२२ नो० १९८६ ई) कामदकुंज, अयोध्या। प्रति इस समय अप्राप्य है।[1]

जानकी मंगल : (स० १९१०) डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक, पटुवाडाँगर, नैनी-ताल के पास हैं। प्रसिद्ध से भिन्न स्वतंत्र कृति है।[2]

दोहावली : (१७९७ वि० सं०) (खो० रि० १९२६-२८ नं० ४८२ क्यू) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध)। 'दोहावली' की प्राप्त प्रतियों में यह सब से प्राचीन है।[3]

पदावली रामायण : (सं० १६६६ ?) राम नगर (बनारस स्टेट) के चौधरी छुन्नी सिंह के पास है। 'गीतावली' के 'पदावली रामायण' पाठ की एक मात्र प्राप्य प्रति है, और 'गीतावली' पाठ की इस से प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।[4]

बरवै : (स० १७९७) (खो० रि० १९२६-२८ नं० ४८२ एम्) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ (अवध)। कृति की प्राप्य प्रतियों मे यह सब से प्राचीन है।[5]

रत्नावली : (सं० १८६४) पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगज, जिला एटा।[6]

रत्नावली लघु दोहा संग्रह : (सं० १८७४) पडित भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगज, जिला-एटा।[7]

रत्नावली लघु दोहा संग्रह : (स० १८७५) पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली कासगज, जि० एटा।[8]

राम गीतावली : (सं० १६६६) चौधरी छुन्नी सिंह, रामनगर (बनारस स्टेट) के पास है। 'विनय पत्रिका' की राम गीतावली की एक मात्र तथा 'विनय पत्रिका' की सब से पुरानी प्राप्य प्रति है।[9]

रामचरित मानस . (स० १६६१) केवल बालकाड है (हिं० खो० रि० १९०१

[1] देखिए ऊपर पृ० १७८
[2] वही, पृ० १८०-१८१
[3] वही, २०६ तथा परिशिष्ट उ
[4] वही, १९६
[5] वही, ८३
[6] वही, ८३-८४
[7] वही, ८४
[8] वही
[9] वही, १९९-२०४

नो० २२) यह जनककिशोरी शरण, श्रावणकुंज, वासुदेव घाट, अयोध्या के पास है।[१]

रामचरित मानस : (सं० १६४३) केवल बालकाड है, पंडित भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली कासगज, ज़िला एटा के पास है।[२]

रामचरित मानस : (तिथि नही है) केवल अयोध्या काड है। मुन्नीलाल उपाध्याय, राजापुर, जिला बांदा के पास है। यह प्रति कवि-हस्तलिखित कही जाती है।[३]

रामचरित मानस : (१६४३ सं०) केवल अरण्यकांड। पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली कासगज, ज़िला एटा के पास है।[४]

रामचरित मानस : (सं० १६७२) केवल सुंदरकांड की दुलही की प्रति जिस का उल्लेख 'मानसाक' के संपादकों ने किया है।[५]

रामचरित मानस : (सं० १६६४) केवल सुंदरकाड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है।[६]

रामचरित मानस : (स० १६९७) केवल लंकाकाड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है।[७]

रामचरित मानस : (सं० १६९३) केवल उत्तरकांड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है।[८]

रामचरित मानस : (सं० १७०४) काशिराज पुस्तकालय, रामनगर (बनारस स्टेट) में है। पूरे ग्रंथ की सब से प्राचीन प्राप्य प्रति है।[९]

राममुक्तावली : (१६८९ सं०) काशिराज पुस्तकालय रामनगर, बनारस स्टेट में है। यह कृति की सब से प्राचीन प्राप्य प्रति है।[१०]

रामलला नहछू : (सं० १६६५), प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। कवि के जीवन-काल की है और मुद्रित प्रति से कुछ भिन्न पाठ की

१ देखिए ऊपर पृ० १८२-१८५
२ वही, १८५-१८६
३ वही, १८६-१८८
४ वही, १८८-१९०
५ वही, १९०-१९१
६ वही, १९१-१९२
७ वही, १९२-१९३
८ वही, १९३-१९४
९ वही, १९४-१९५
१० वही, २०२-२०३

है। प्राप्त प्रतियों मे सब से प्राचीन है।[1]

रामाज्ञा-प्रश्न : (सं० १६५५) (हि० खो० रि० पंजाब, १९२२-२४ नो० ४८२ ई) प्राप्ति स्थान अनिर्दिष्ट है। कवि-हस्तलिखित कही जाती है।[2]

रामाज्ञा-प्रश्न : (सं० १६८९) (हिं० खो० रि० १९०० नो० ७) काशिराज पुस्तकालय, रामनगर (बनारस स्टेट) मे है। पाठ का नाम "रामायण सगुनौती" है।[3]

विनय पत्रिका : (स० १६०६) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। पाठ का नाम "राम गीतावली विनय पत्रिका" है।[4]

शूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा : (स० १८७०) प० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगज, ज़िला एटा के पास है।[5]

सतसई : (सं० १९०३) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है।[6]

प्रकाशित ग्रंथ

अध्यात्म रामायण: मूल संस्कृत तथा मुनिलाल द्वारा हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर (स० १९८९)।

इन्डेक्स वर्बोरम अव् दि तुलसी रामायण : डॉ० सूर्यकांत शास्त्री कृत, पजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर (सन् १९३७)।

इम्पीरियल गजेटियर अव् इंडिया : जिल्द २ (नवीन संस्करण), क्लैरेन्डन प्रेस, ऑक्सफर्ड (सन् १९०८)।

इस्त्वार द ला लितरात्यूर इंदुई ए इंदुस्तानी : गार्सां द तासी कृत, द्वितीय संस्करण, तीन जिल्दों में, अदोल्फ लाबीत, पेरिस (सन् १८७०-७१)।

ऐन्साइक्लोपीडिया अव् रिलिजन ऐन्ड एथिक्स : हेस्टिंग्ज द्वारा सपादित, टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा (सन् १९२१)।

[1] देखिए ऊपर पृ० १७३-१७५

[2] वही, १७६-७७

[3] वही, १७८

[4] वही, २००

[5] वही, ८२

[6] वही, १९५

कवितावली: चंपाराम मिश्र की टीका सहित, इंडियन प्रेस, प्रयाग (सं० १९९०)।

कवितावली रामायण : वैजनाथ कुर्मी की टीका सहित, चतुर्थ संस्करण, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९१२)।

गज़ेटियर अव् दि एटा डिस्ट्रिक्ट : ई० आर० नीव, आई० सी० एस० द्वारा संपादित, यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९११)।

गज़ेटियर अव् दि एन० डबल्यू० पी० : जिल्द १ (बुंदेलखंड) ई० टी० ऐटकिंसन, बी० ए० द्वारा संपादित, एन० डबल्यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १८७४)।

गज़ेटियर अव् दि एन०डबल्यू० पी० : जिल्द ४, (आगरा डिवीज़न) भाग १, ई० टी० ऐटकिंसन, बी० ए० द्वारा संपादित, एन० डबल्यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १८७६)।

गज़ेटियर अव् दि बनारस डिस्ट्रिक्ट : एच० आर० नेविल, आई० सी० एस० द्वारा संपादित यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९०९)।

गज़ेटियर अव् दि बांदा डिस्ट्रिक्ट : डी० एल्० ड्रेक ब्रॉकमेन द्वारा संपादित, यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९०९)।

गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनय पत्रिका : भगवतदास क्षत्री द्वारा संपादित, सरस्वती यंत्रालय, काशी में मुद्रित (सं० १९९३)।

गोस्वामी तुलसीदास : डॉ० श्यामसुंदर दास और डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल द्वारा लिखित, हिंन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०, इलाहाबाद (सन् १९३१)।

घट रामायण : तुलसी साहिब कृत, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९१६-१७)।

तुलसी के चार दल : सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए० द्वारा लिखित, इंडियन प्रेस, प्रयाग (सन् १०३५)।

तुलसी-ग्रंथावली : (तीन भागों में) पं० रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं० १९८०)।

तुलसी-दर्शन : डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

(सन् १९३८)।
तुलसीदास और उनकी कविता : रामनरेश त्रिपाठी लिखित, हिंदी मदिर, प्रयाग (सन् १९३७)।
तुलसीदास कृत अयोध्याकांड : ('राम चरित मानस' का) राजापुर की प्रति से मुद्रित, स्व० लाला सीताराम, राय बहादुर, किशोर ब्रदर्स, इलाहाबाद (सन् १९९८)।
तुलसी सतसई : बिहारीलाल चौबे द्वारा सपादित, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता।
तुलसी-संदर्भ : प्रस्तुत लेखक कृत, विवेक कार्यालय प्रयाग (सन् १९३५)।
थियॉलॉजी अव् तुलसीदास : रेव० जे० एन्० कारपेंटर, डी० डी० कृत, क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी मदरास (सन् १९१८)।
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता : रणछर पुस्तकालय. डाकौर (सं० १९६०)।
प्रसन्न राघव नाटक : गोविन्द देव शास्त्री, काशी (सन् १८६८)
भक्तमाल : नाभादास कृत, प्रियादास की टीका तथा सीताराम शरण भगवान प्रसाद 'रूपकला' की टिप्पणियों सहित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९२६)।
भविष्य (महा) पुराण मूल संस्कृत : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई (स० १९६७)।
महा नाटक : हनुमान कृत ('हनुमन्नाटक' नाम से प्रसिद्ध) कालीकृष्ण बहादुर, कलकत्ता. (१७६२ शाके) द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद सहित सपादित।
मानस-मयंक : शिवलाल पाठक कृत, खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर (सन् १९२०)।
मानस हंस : यादवशंकर जामदार कृत, डा० केशव लक्ष्मण नाखरे द्वारा हिंदी में अनूदित, नागपुर (सन् १९२६)।
मिश्रबंधु विनोद : स्व० प० गणेश बिहारी मिश्र, रावराजा डॉ० श्याम बिहारी मिश्र, तथा रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा लिखित, भाग १-२-३ गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ (सं० १९९५)।
मूल गोसाईंचरित : बेनीमाधवदास कृत, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० १९१९)।
मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिन्दुस्तान : सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन कृत,

एशियाटिक सोसाइटी अव् बेंगाल, कलकत्ता (सन् १८८९)।
रामचरित मानस : गीता प्रेस, गोरखपुर, (सं० १९९७)।
रामचरित मानस : रामनरेश त्रिपाठी कृत टीका सहित, हिन्दी मंदिर, प्रयाग (सं० १९९२)।
रामचरित मानस : विजयानंद त्रिपाठी द्वारा संपादित, भारती भंडार, काशी (सन् १९३७)।
रामचरित मानस : पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्णदास, डॉ० श्यामसुंदर दास, बाबू कार्तिक प्रसाद तथा बाबू अमीर सिंह द्वारा संपादित इंडियन प्रेस, प्रयाग (सन् १९०२)।
रामचरित मानस : रामकिशोर वकील द्वारा संपादित, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९२५)।
रामायण अव् तुलसीदास और दि बाइबिल अव् नदर्न इंडिया : जे० एम० मेकफी, एम० ए०, पी एच्० डी० कृत, टी० एंड० टी क्लार्क, एडिनबरा (सन् १९३०)।
रामायण अव् तुलसीदास : एफ०एस० ग्राउस द्वारा अनूदित, राम नारायण लाल पुस्तक-विक्रेता इलाहाबाद, छठा संस्करण (सन् १९२२)।
रामायण : रामचरण दास की टीका सहित, तृतीय संस्करण, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, (सन् १९२४)।
वाल्मीकि रामायण : मूल पाठ चन्द्रशेखर शास्त्री की टीका सहित, सस्ती पुस्तक माला, काशी।
शिवपुराण भाषा : शिवसिंह द्वारा अनुवादित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९१५)।
शिवसिंह सरोज : शिवसिंह सेंगर कृत, रूपनारायण पांडे द्वारा संपादित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, सप्तम संस्करण (सन् १९२६)।
शुकोक्ति सुधासागर : रूप नारायण पाँडे द्वारा श्रीमद्भागवत का हिंदी में शब्दानुवाद। पाडुरंग जावजी, बंबई (सं० १९८७)।
श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी : शिवनंदन सहाय कृत, विहार स्टोर, आरा (सन् १९१६)।
षोडस रामायण संग्रह : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बंबई, (सं० १९७७)।
स्केच अव हिन्दी लिटरेचर : ई० ग्रीव्स लिखित, क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी फॉर इंडिया (सन् १९१८)।

हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सन् १९००, १९०१, १९०२, १९०३, १९०४, १९०५, १९०६-०८, १९०९-११, १९१७-१९, १९२०-२२, १९२३-२५, और १९२६-२८ के लिए।

हिंदी-नवरत्न : स्व० पं० गणेश विहारी मिश्र, रावराजा डॉ० श्यामविहारी मिश्र और रायबहादुर पं० शुकदेव विहारी मिश्र कृत, तृतीय संस्करण, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ (सं० १९९१)।

पत्र-पत्रिकाएँ

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन : चौबीसवाँ वार्षिकोत्सव अधिवेशन, इन्दौर, निबंधमाला स्वागत समिति, इन्दौर।

इंटरनैशनल ओरियंटल कॉंग्रेस, वेन, प्रोसीडिंग्स : सन् १८९६।

इंडियन ऐंटीक्वेरी : सन् १८९३, १९१२, १९१३।

एशियाटिक रिसर्चेज : सन् १८३१, जिल्द १६।

एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल, प्रोसीडिंग्स : सन् १८४६।

कल्याण, मानसांक सं० १९९५।

जर्नल अव् रायल एसियाटिक सोसाइटी : सन् १९०३, १९०७, १९१३, १९१४।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका : जिल्द ३, ९ प्राचीन संस्करण, तथा जिल्द ७, ९ नवीन संस्करण।

मर्यादा : सन् १९१२।

माधुरी : जिल्द ७, भाग २, जिल्द ८, भाग १; जिल्द १२, भाग २; जिल्द १३, भाग ३।

विशाल भारत : जिल्द ११ तथा २३।

वीणा : सन् १९३८।

सनाढ्य-जीवन : तुलसी स्मृति अंक, सन् १९३८।

सरस्वती : जिल्द ११, भाग १; जिल्द १९-२०, १३ भाग २, जिल्द २७ भाग २।

सुधा : जिल्द ६, भाग २।

हिन्दुस्तानी : सन् १९३२, १९३३, १९३४, १९३७, १९३९।

नामानुक्रमणिका[1]

[1] कवि और कथा के पात्रों के नामों के अतिरिक्त समस्त नामों की अनुक्रमणिका।

शुद्धि-पत्र

बाएँ सिरे पर बाहर की संख्याएँ पृष्ठों की हैं, कोष्ठकों के भीतर की पंक्तियों की हैं।

	अशुद्ध	शुद्ध		अशुद्ध	शुद्ध
१३ (१३)	१९९०	१९८०	१३५ (२९)	उपर्युक्त	उपर्युक्त प्रथम
२६ (१६)	१९९९	१९९४	१३९ (२)	बाहुवीर	बाहुपीर
२७ (२५)	गीता लेकर	गीता से लेकर	१५३ (५)	के	की
२७ (२८)	१९१५	१९९५	१५८ (२१)	बस	बात
२८ (२)	है	हैं	१६० (२२)	।'	'
३० (१३)	किया कि वह	किया वह	१६५ (१९)	को	की
३१ (३०)	१९३१	१९३२	१६७ (९)	जो	जी
३६ (२८), ३७ (२)	चार	दो	१६७ (१४)	जी मदतर	जी से मंदतर
४९ (११)	पुत्र का कुछ	पुत्र कुछ	१७५ (२७)	से और	से कोई
५६ (२४)	एक	२१. एक	१८२ (२१)	पढने	पडने
६७ (४)	चहोये	चहीये	१८७ (१०)	प्रात	प्राप्त
७४ (५)	जी एक	जी की एक	१८८ (११)	पहला	दूसरा
७५ (८)	के	की	१८९ (२१)	१६५	८०
७७ (१५)	ही	है	२०० (२९)	६	ई
७७ (२७)	है था	था	२०५ (४)	आवश्यक	अनावश्यक
८३ (२४)	इस	इन	२१० (३)	जिनसे	जिन मे
९१ (९)	उद्धत	उद्धृत	२११ (५)	५०	५
९३ (२४)	करें यह	करें कि यह	२११ (१६)	विपय	विपय-निर्वाह
९६ (३)	ब्रॉकमैन	ड्रूक ब्रॉकमैन	२१२ (१०)	रचला	रचना
१०१ (१२)	कपता	करता	२१२ (१९)	विपय	विपय-निर्वाह
१०३ (१५)	जीत	जोत	२१२ (२३)	मैं	के
११४ (७)	तुलसीदास)	(तुलसीदास)	२१३ (२७)	भी	ही
१२७ (७)	स्वामी	गोस्वामी	२१७ (७)	प्रकार	प्रकार राम के
१२९ (१९)	तुलसीदास के	तुलसीदास के संबंध मे	२२२ (२३)	सं'दीपिनी	न'दीपिनी' को
			२३८ (१५)	ने तथा	ने

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
२४८ (१५) का	को	३८५ (६) उस	उन
२५५ (१५) १०५	(१०५)	३८७ (१०) राम के चरित	चरित राम के
२६० (२२) जिन	जिस	३९२ (५) तादात्म्य	तादात्म्य
२८३ (६) करता	कराता	३९४ (९) जाई	गाई
२८४ (२३) पर	में	३९८ (२९) होई।	होई। (मानस, बाल० ११६)
२९१ (२२) अन्यथा	अन्यथा साथ के		
२९६ (१७) "सीता	सीता	३९९ (८) को	की
२९७ (३) ३६	३६ अ.	३९९ (९) प्रगन्न	प्रसन्न
३११ (२१) था	था वह	४०० (८) जगदाधर	जगदाधार
३१३ (१५) निःश्वास'	निःश्वास	४०० (२२) (२१)	(१२)
३१५ (१०) कौशल्या	कौशल्या के	४०२ (१०) उत्तर०	मानस, उत्तर०
३२० (३) कि	के	४०५ (१३) जोरे, मोंरें	जोहे, मोहे
३२१ (१५) एकाथ	एकाध	४०५ (१९) किंतु	और पुनः
३२६ (२१) नट वि	नटनि	४०६ (२) शिव	तुलसीदास
३३३ (२०) परशुराम	परशुराम का	४०७ (३) इन्ह नाथ	इन्ह कह नाथ
३३७ (१२) प्रर्याप्त	पर्याप्त	४०८ (२४) २०२	२००
३४१ (२) 'भागवत'	'भागवत्'	४०८ (२६) २००	२०२
३४३ (२१) में	में उपस्थित किया है	४०९ (८) ३०७	१५
		४०९ (१३) उत्तर०	सुंदर०
३४४ (१७) प्रधानतः में	प्रधानतः	४१० (१३) लागु न	न लागु
३४६ (२३) जब वह	जब	४११ (८) ७९	७८
३५७ (३०) करता	कहता	४१२ (१९) रजइ	रचइ
३५८ (१८) में कवि को	में	४१२ (२९) समझना	समझना
३६० (१) चौपाइयों	अर्द्धालियों	४१४ (१९) संस्कारों	संस्कारों
३६० (६) सब	सव	४१४ (२८) १७	१६
३७० (२४) सुबोधिता	सुबोधता	४१९ (३०) ११८-१९	११७-१८
३७२ (१७) थी	थीं	४२३ (२८) ११०	१०२-०३
३८४ (४) कौदंडा।	कोदंडा। (मानस, बाल० १४७)	४२३ (२९) ३६	३५
		४२७ (२४) मोरि	मोहिं

	अशुद्ध	शुद्ध
४२८ (९)	को	की
४२८ (११)	प्रथान	प्रधान
४२९ (४)	मोसे	पोसे
४२९ (१६)	४४	४३
४३० (३)	।	—यद्यपि
४३२ (७)	हौती	होती
४३२ (१३)	रामभक्ति	५० अ.रामभक्ति
४३२ (२८)	लाई ।	लाई । (मानस उत्तर० १२६)
४३५ (५)	३१२	३१-२
४३५ (२०)	१६	६१
४३९ (१०)	४६	४५
४३९ (१३)	४७	४६
४४० (८)	अयोध्या,१२९	किष्किंधा० ३
४४४ (३)	अंता ।	अता । (मानस, उत्तर० ४५)
४५३ (२०)	परख	पराव
४५६ (२०)	उस	उन
४५८ (६)	तव	तव
४५९ (८)	पाइहि ।	पाइहि । (मानस, लंका० ३)
४६३ (६)	वह	उन्हे
४६३ (१८)	मन	मम
४६५ (२)	७७	२७
४६५ (९)	१२	११
४६५ (२२)	३३	३२
४६५ (२६)	३२	३१
४६५ (२८)	३३	३२
४६६ (५)	सरभंग ने	सरभंग

	अशुद्ध	शुद्ध
४६६ (१९)	उत्तर०	लंका०
४६६ (३०)	७९	७८—९
४६८ (३०)	उत्पति	उत्पत्ति
४६९ (१३)	मार	भारं
४७० (१७)	ता	तम
४७० (२८)	चक्रवर्ती ।	चक्रवर्ती । (विनय० २७)
४७२ (१०)	५६	५५
४७२ (१८)	पूडो	बूडो
४७२ (१९)	वहे	बेद
४७४ (२०)	उस माया	उस की माया
४७४ (२२)	१७६	१७७
४७५ (४)	७५	५५
४७८ (८)	विपिति	विपति
४८० (२)	आई ।	आई । (विनय० १६७)
४८० (९)	सुनि, सुगन	सुनि, सुमग
४८५ (२०)	१८९	१९०
४८९ (७)	सुनत	सुनि
४९२ (२३)	भलेहि	भलहि
४९२ (२५)	२४७	२४०
४९३ (२७)	९१३	११३
४९४ (२९)	१०२	१००
४९५ (२६)	सतसग	देहि सतसंग
४९६ (१८)	करन	कारन
५०० (८)	नीको	नीके
५०० (११)	प्रतीति	प्रतीनि प्रीति
५०१ (४)	२९	१२९
५०१ (२०)	९	९९

	अशुद्ध	शुद्ध		अशुद्ध	शुद्ध
५०१ (२४)	जप सभी	जप से भी	५३० (१०)	'अध्यात्म रामायण'	'अध्यात्म रामायण' में
५०४ (६)	भजनि	भंजनि	५३६ (२५)	उस, की	कवि, को
५०४ (१४)	कहते हैं	न केवल कहते हैं	५३७ (२८)	माधान	समाधान
५०८ (२३)	१४०	१४१	५३८ (२२)	ही, और है	ही है, और